ॐ

परमात्मने नमः।

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं. 25

योगसार प्रवचन

(भाग-१)

श्रीमद् योगीन्द्रदेव विरचित योगसार शास्त्र पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा १ से ६८ तक)

हिन्दी अनुवाद व सम्पादन :
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जिनबिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, विलेपार्ले, मुम्बई के अवसर पर दिनांक 17 मई से 22 मई 2015 तक)

ISBN No. : 978-81-907806-7-4

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) – 364250, फोन : 02846–244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट),
   मुम्बई–400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए–4, बापू नगर, जयपुर, राजस्थान–302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली–422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर कुन्दकुन्द कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट–360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप–सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक : **देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

प्रकाशकीय

(द्वितीयावृत्ति)

अनन्त कालचक्र के प्रवाह में अनादि काल से अनुत्पन्न–अविनष्ट ऐसे अनन्त जीव, भव दु:ख से पीड़ित हैं। आधि–व्याधि, उपाधि से त्रस्त और शारीरिक तथा मानसिक दु:ख से दु:खित आत्माओं को सच्चा सुख और दु:ख–मुक्ति का उपाय प्राप्त नहीं हुआ है – एक ओर यह परिस्थिति है, जबकि दूसरी ओर इसी दु:ख से छूटने का उपाय शोधनेवाले अनेक सन्त भी कालचक्र के प्रवाह में होते आये हैं। जिनके द्वारा प्रतिपादित सच्चे सुख का मार्ग अंगीकार करके अनेक जीव शाश्वत् सुख को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और भविष्य में होते रहेंगे।

दोषरूप विभावभावों के साथ दु:ख और मलिनता का होना अनिवार्य परिस्थिति है। दोषरूप विभावभावों का मूल कारण खोजकर ज्ञानी–धर्मात्माओं ने उसे मिटाने का उपाय ढूँढ़कर निष्कारण करुणा से उसे जगत् के समक्ष रखा है। ऐसे ही कालचक्र के प्रवाह में वर्तमान शासन नायक अन्तिम तीर्थादिनाथ भगवान महावीर के शासन में होनेवाले दिगम्बर आचार्य, मुनि–भगवन्त एवं ज्ञानी–धर्मात्माओं ने इस मार्ग को अपनी अनुभवपूर्ण सशक्त लेखनी द्वारा ग्रन्थारूढ़ किया है।

प्रस्तुत प्रवचन के ग्रन्थ रचयिता श्रीमद् भगवत् योगीन्द्रदेव लगभग १४०० वर्ष पहले हो गये हैं। ग्रन्थ रचयिता आचार्य भगवान का विशेष इतिहास उपलब्ध नहीं है परन्तु उनकी कृतियों के अवलोकन से इतना नि:सन्देह कहा जा सकता है कि आचार्य भगवान प्रचुर स्वसंवेदन में झूलनेवाले अध्यात्मरसिक महासन्त हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा पूज्यपाद आचार्य आपके प्रेरणास्रोत रहे हों, ऐसा प्रतीत होता है। श्रीमद् योगीन्द्रदेव की अन्य कृति परमात्मप्रकाश भी अध्यात्मरस से भरपूर है, जिसमें उनका अतीन्द्रिय स्वसंवेदन का रस झलक रहा है। आपश्री के द्वारा रचित अन्य कृतियाँ – नौकार श्रावकाचार, अध्यात्म सन्दोह, सुभाषिततन्त्र, तत्त्वार्थटीका भी सर्व मान्य है। इन सबमें योगसार ग्रन्थ महत्वपूर्ण माना जाता है।

योगसार ग्रन्थ में संसार परिभ्रमण से भयभीत जीवों को सम्बोधन करने के लिए ग्रन्थ रचना की गयी है, जो रचनाकार प्रारम्भ में ही बतलाते हैं। तत्पश्चात् शास्त्र के अन्तिम भाग में अपनी

भावना के लिए इस ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा उल्लेख भी प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ की हिन्दी टीका करने का सौभाग्य ब्रह्मचारी पण्डितश्री शीतलप्रसादजी ने प्राप्त किया है। जीव, संसार परिभ्रमण से मुक्त होकर स्व-स्वरूप का अवलम्बन ग्रहण करे, इस मुख्य उद्देश्य को प्रकाशित करते हुए प्रत्येक दोहे की रचना की गयी है। जिसमें अन्तरात्मा, बहिरात्मा, परमात्मा का स्वरूप; आत्मज्ञानी ही निर्वाण का पात्र है; तप का स्वरूप; परिणामों से बन्ध-मोक्ष; पुण्यभाव का निषेध; मूल आत्मस्वरूप का अस्ति-नास्ति से वर्णन; सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र का महत्त्व इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों को दर्शाते हुए इन दोहों की रचना की गयी है।

अतीन्द्रिय आनन्द की कलम और शान्तरस की स्याही से लिखे गये अमृत से भरपूर इन ग्रन्थों के वचनों का रसपान करानेवाले, इन आगमों में समाहित गूढ़ अध्यात्मरहस्यों का उद्घाटन करनेवाले, मूल मोक्षमार्ग-प्रकाशक, निष्कारण करुणामूर्ति, सिंहवृत्तिधारक, उन्मार्ग का ध्वंस करनेवाले और जैनधर्म के प्रणेता, विदेहीनाथ सीमन्धर भगवान का दिव्य सन्देश लाकर भरत के जीवों के तारणहार बनकर पधारे इन दिव्यदूत, दिव्यपुरुष, सुषुप्त चेतना को जागृत करनेवाले अनन्त गुण से दैदीप्यमान गुणातिशयवान्, मंगलकारी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अनेक दिगम्बर सन्तों द्वारा रचित शास्त्रों पर प्रवचन किये हैं। उनमें योगसार ग्रन्थ भी एक है। योगसार ग्रन्थ संक्षिप्त में लिखा होने पर भी उसमें मूल परमार्थ किस प्रकार रहा है, उस पर पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश डालकर हम सब पर अनन्त उपकार किया है।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के शब्दों में कहें तो पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का अचम्भा / आश्चर्य है ! पूज्य गुरुदेवश्री के उपकारों का वर्णन मर्यादित कलम शक्ति में समाविष्ट हो सके - ऐसी सामर्थ्य नहीं है। रूपी द्वारा अरूपी का कितना वर्णन हो ! जड़ द्वारा चैतन्य की कितनी महिमा हो ! अत: पूज्य गुरुदेवश्री के प्रस्तुत प्रवचनों को हृदयंगम करके, उनके द्वारा दर्शाये गये मार्ग पर चलना ही उनके प्रति यथार्थ उपकार व्यक्त किया कहलायेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रवचन अक्षरश: प्रकाशित हो - ऐसा प्रस्ताव हमारे समक्ष आने पर हमने सहर्ष स्वीकार किया और शीघ्र प्रकाशित करने की भावना के साथ - ऐसा निर्णय लिया गया कि पूज्य गुरुदेवश्री के जितने प्रवचन हुए हैं, वे सब अक्षरश: ग्रन्थारूढ़ करना है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावनायोग में अनेक जिनमन्दिर हुए, प्रतिष्ठाएँ हुईं, प्रवचन हुए और जैनधर्म का मूल में से उद्योत हुआ। पामर में से परमेश्वर होने का मार्ग, दोष पर विजय प्राप्त करके, जैन होने का मार्ग जयवन्त रहे तथा पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी शाश्वत् रहे ऐसी हमारे ट्रस्ट की भावना तथा मुख्य उद्देश्य के साथ योगसार प्रवचन भाग-१ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

योगसार ग्रन्थ में कुल १०८ गाथाएँ हैं और उन पर पूज्य गुरुदेवश्री के ४५ प्रवचन हुए हैं। योगसार प्रवचन भाग-१ में २४ प्रवचन अवतरित किये गये हैं। जिनमें गाथा १ से ६८ तक का समावेश होता है। शेष २१ प्रवचन योगसार प्रवचन, भाग-२ में प्रकाशित किये गये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की मूल वाणी तथा भाव यथावत् प्रकाशित रहे तदर्थ सी.डी. में से अक्षरशः उतारकर, जहाँ आवश्यकता लगी वहाँ कोष्ठक भरकर वाक्य रचना पूर्ण की गयी है। जहाँ स्पष्टरूप से सुनाई नहीं दिया वहाँ डॉट (.....) करके रिक्त स्थान छोड़ा गया है। प्रवचनों का सम्पादन कार्य पूर्ण होने के बाद प्रवचनों को सी.डी. के साथ मिलाने का कार्य चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा किया गया है। इन प्रवचनों का हिन्दीभाषी मुमुक्षु समाज भी अधिक से अधिक लाभ ले तथा पूज्य गुरुदेवश्री के सी.डी. प्रवचन सुनते समय इस प्रकाशन का उपयोग कर सके। इस भावना से इस प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद एवं सी.डी. से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। तदर्थ संस्था आपका सहृदय आभार व्यक्त करती है। प्रस्तुत द्वितीय संस्करण में, पूर्व प्रकाशन की अशुद्धियों को यथासम्भव दूर कर दिया गया है, फिर भी यदि कोई अशुद्धि ज्ञात हो तो सूचित करने का विनम्र अनुरोध है।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः योगसार अर्थात् निजस्वरूप के साथ जुड़ान करना, उसका सार। ऐसे नवनीत समान, भव्य जीवों के लिए प्रकाशस्तम्भ समान, प्रस्तुत प्रवचनों का मुमुक्षुजीव रसास्वादन करके भवसागर से पार हो जायें - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

सम्पादकीय

परम पूज्य श्रीमद् योगीन्द्रदेव द्वारा रचित योगसार शास्त्र पर, अध्यात्ममूर्ति जीवनशिल्पी अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरस से भरपूर योगसार प्रवचन का शब्दश: हिन्दी प्रकाशन साधर्मीजनों को स्वाध्याय हेतु समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

वीतरागी सन्तों की पावन परम्परा में हुए श्रीमद् योगीन्द्रदेव, अध्यात्म के ख्यातिप्राप्त आचार्य हैं, किन्तु स्वरूपगुप्त आचार्य के सन्दर्भ में कुछ विशिष्ट उल्लेख के अभाव में उनके जीवन के सन्दर्भ में उनके अन्तरंग के अतिरिक्त उनकी कृतियाँ ही एकमात्र सहारा हैं। जिनके परिशीलन एवं अन्य सन्दर्भों के आधार पर श्रीमद् योगीन्द्रदेव का समय ईसा की छठवीं शताब्दी ज्ञात होता है। आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थों की रचना तत्कालीन अपभ्रंश भाषा में करके उन्हें जनसामान्य के लिए अधिक उपयोगी बनाया है।

आचार्य योगीन्द्रदेव कृत परमात्मप्रकाश, योगसार एवं नौकार श्रावकाचार (अपभ्रंश) तथा अध्यात्म संदोह, सुभाषिततन्त्र व तत्वार्थ टीका (संस्कृत) सर्वमान्य रचनाएँ हैं, साथ ही दोहापाहुड़ (अपभ्रंश), अमृताशीति (संस्कृत) तथा निजात्माष्टक (प्राकृत) – ये तीनों रचनाएँ भी आपके नाम पर प्रकाश में आयी हैं, किन्तु इन तीनों के रचनाकार ये ही योगीन्द्र हैं या अन्य कोई – यह अभी तक शोध–खोज का विषय है।

प्रस्तुत योगसार ग्रन्थ १०८ दोहों की संक्षिप्त किन्तु सारभूत रचना है। आचार्यदेव के अनुसार जो जीव भवभ्रमण से भयभीत हैं, उनके लिए इस ग्रन्थ की रचना की है; साथ ही अन्तिम दोहे में आत्मसम्बोधन हेतु दोहे रचना का उल्लेख भी किया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों की सरल भाषा में अभिव्यक्ति की गयी है। वर्तमान में पूज्य गुरुदेवश्री के द्वारा चर्चित अध्यात्म के अनेक विषयों का इसमें स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है।

पुण्य–पाप की एकता के सन्दर्भ में पुण्य को भी पाप कहनेवाला कोई विरला ही होता है (दोहा ७१) – यह उल्लेख पुण्यभाव में धर्म माननेवाले अज्ञानी जीव को सही दिशाबोध देता है।

इस ग्रन्थ में आत्मा की तीन अवस्थाओं का वर्णन, श्री पूज्यपादस्वामी के समाधितन्त्र का एवं अन्य आध्यात्मिक विषयों का समावेश भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य का योगीन्द्रदेव पर प्रभाव परिलक्षित करता है।

जिन्होंने इस कलिकाल में लुप्त प्राय: आध्यात्मिक विद्या को अपने सातिशय दिव्यज्ञान एवं अध्यात्म रस झरती मंगलवाणी से पुनर्जीवित किया है – ऐसे निष्कारण करुणामूर्ति स्वात्मानुभवी सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सन् १९६६ में इस ग्रन्थ पर अत्यन्त भाववाही ४५ प्रवचन किये हैं, जिनका संकलनरूप प्रकाशन 'हूँ परमात्मा' तथा 'आत्म सम्बोधन' नाम से प्रकाशित हुआ है।

वर्तमान समय में परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के ९२०० प्रवचन श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई के सत्प्रयत्नों से सी.डी./डी.वी.डी. में उपलब्ध हैं और देश-विदेश के अनेक मुमुक्षु मण्डलों में सामूहिक तथा व्यक्तिगतरूप से भी अनेक साधर्मी इन प्रवचनों का रसपान करते हैं। विगत कुछ दिनों से इन प्रवचनों के शब्दश: प्रकाशन की उपलब्धता ने इस कार्य को गति प्रदान की है और सभी लोग सरलता से पूज्यश्री की वाणी का अर्थ समझ रहे हैं। अत: योगसार प्रवचन सुनते समय सबके हाथ में यह प्रवचन ग्रन्थ रहे और सभी जीव गुरुवाणी का भरपूर लाभ लें – इस भावना से प्रस्तुत प्रकाशन किया जा रहा है।

इस प्रकाशन में ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाइप में दिया गया है; आवश्यकतानुसार पैराग्राफ का प्रयोग किया गया है। यदि कहीं वाक्य अधूरा रह गया हो तो उसे कोष्टक भरकर अथवा डॉट (..........) का निशान बनाकर प्रस्तुत किया है। यदि आप इस ग्रन्थ को सामने रखकर सी.डी. प्रवचन सुनेंगे तो आपको निश्चित ही कई गुना लाभ होगा।

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ के अनुवाद का उत्तरादायित्व प्रदान करने हेतु प्रकाशक ट्रस्ट के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले—**'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञान-दीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ—यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी

श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से

2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता। 2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है। 3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं। 4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है। 5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं। 6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती। 7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। 8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। 9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है। 10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दोहा नं.	दिनांक	पृष्ठ नं.
1	1 से 3	06.06.1966	1
2	4 से 6	07.06.1966	22
3	7 से 9	08.06.1966	43
4	10 से 12	09.06.1966	63
5	13 से 15	11.06.1966	83
6	16 से 17	12.06.1966	105
7	18 से 19	13.06.1966	124
8	19 से 20	14.06.1966	143
9	21 से 23	15.06.1966	162
10	23 से 26	16.06.1966	183
11	26 से 28	17.06.1966	204
12	29 से 32	19.06.1966	222
13	32 से 34	20.06.1966	241
14	35 से 38	21.06.1966	261
15	38 से 42	22.06.1966	282
16	42 से 45	23.06.1966	303
17	46 से 49	24.06.1966	325
18	50 से 53	26.06.1966	346
19	53 से 56	27.06.1966	369
20	57 से 58	28.06.1966	388
21	59 से 62	29.06.1966	408
22	62 से 64	30.06.1966	429
23	64 से 66	01.07.1966	449
24	66 से 68	02.07.1966	468

ॐ

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

योगसार प्रवचन

(भाग - एक)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के योगसार पर हुए
धारावाहिक प्रवचन

सिद्धों को नमस्कार

णिम्मल-झाण-परिट्ठिया, कम्म-कलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु, ते परमप्प णवेवि॥१॥

निर्मल ध्यानारूढ़ हो, कर्म कलंक नशाय।
हुये सिद्ध परमात्मा, वन्दत हूँ जिनराय॥

अन्वयार्थ - **(जेण)** जिन्होंने **(णिम्मलझाण परिट्ठिया)** शुद्ध ध्यान में स्थित होते हुए **(कम्मकलंक डहेवि)** कर्मों के मल को जला डाला है **(परुअप्पा लद्धउ)** तथा उत्कृष्ट परमात्म पद को पा लिया है, **(ते परमप्प णवेवि)** उन सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ३, सोमवार, दिनाङ्क ०६-०६-१९६६
गाथा १ से ३ प्रवचन नं. १

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति सिद्धस्वरूपी आत्मा है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' इस आत्मा का स्वरूप जैसे सिद्ध भगवान, अशरीर सिद्ध परमात्मा आठ कर्मरहित हुए, उनका यहाँ पहले माङ्गलिक करेंगे। ऐसा ही आत्मा, सिद्ध समान आत्मा है, उसके अन्तरस्वरूप में उसका योग अर्थात् आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अन्तर व्यापार द्वारा सार अर्थात् प्रगट सिद्ध परमात्मदशा प्रगट करना, उसे यहाँ योगसार कहा जाता है। समझ में आता है?

'योगेन्द्रदेव' महामुनि दिगम्बर सन्त लगभग चौदह सौ वर्ष पहले भरतक्षेत्र में, महाप्रभु कुन्दकुन्दाचार्य के बाद भरतक्षेत्र में हुए हैं। लगभग पूज्यपादस्वामी के बाद ये हुए हैं। इन्होंने यह परमात्मप्रकाश एक बनाया है और एक यह योगसार (बनाया है)। अपने परमात्मप्रकाश के व्याख्यान पूर्ण हो गये हैं। अब योगसार (चलेगा)।

देखो, पहला नमस्कार माङ्गलिक करते हैं। पहले माङ्गलिक करते हैं। 'योगेन्द्रदेव' स्वयं 'योगसार' के प्रारम्भ में माङ्गलिक (करते हैं)। स्वयं महासन्त हैं, आचार्य हैं, अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्ति जाने के पात्र और योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थकर्ता 'योगेन्द्रदेव' शुरुआत में महान माङ्गलिकरूप में सिद्ध परमात्मा को याद करते हैं, सिद्ध भगवान का स्मरण करते हैं।

सिद्धों को नमस्कार

णिम्मल-झाण-परिट्ठिया, कम्म-कलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु, ते परमप्प णवेवि॥१॥

जिन्होंने... तीसरे पद में **'जेण'** शब्द है न? **'जेण'** अर्थात् **जिन्होंने... 'णिम्मलझाण परिट्ठया'-शुद्ध ध्यान में स्थिर होकर...** देखो! यहाँ से बात ली है। कर्म नष्ट हुए और यह ध्यान हुआ – ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया? **'णिम्मलझाण परिट्ठया'** ये सिद्ध भगवान कैसे हुए? परम आत्मा अशरीरी-णमो सिद्धाणं...। यह पाँच

पद में दूसरा पद है, वे सिद्ध परमात्मा किस प्रकार, किस विधि, किस उपाय से सिद्ध पद को प्राप्त हुए – यह बात पहले प्रसिद्ध करते हैं।

'**णिम्मलझाण परिट्ठया**' निर्मल अर्थात् शुद्ध ध्यान। भगवान आत्मा शुद्ध सच्चिदानन्द, ज्ञानानन्दस्वरूप, उसमें शुद्ध, निर्मल, एकाकार, स्वरूप के ध्येय से अन्तर में एकाकार होकर निर्मल ध्यान में (स्थिर होकर सिद्ध हुए हैं)। यहाँ तो ध्यान से बात ली है। भगवान आत्मा (में) मोक्षमार्ग की शुरुआत ही ध्यान से होती है। कुछ समझ में आया? पर तरफ के जितने विकल्प, शुभाशुभभाव (होते हैं), वह तो बन्ध का कारण है। यह आत्मा, परमात्मा सर्वज्ञदेव ने शुद्धस्वरूप देखा है। कुछ समझ में आया? भगवान ने (ऐसा आत्मा देखा है)।

'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल' – सर्वज्ञ परमेश्वर से कहते हैं कि हे नाथ! 'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, निज शुद्ध सत्ता से सबको आप देखते हो लाल।' हे सर्वज्ञदेव! आप तो सर्व जीवों को शुद्ध सत्ता आनन्दमय है – ऐसा देखते हो। कुछ समझ में आया? 'प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल, निजसत्ता से शुद्ध...' निजसत्ता – अपना अस्ति, जो निज है। निज सत्ता से शुद्ध परमानन्द मूर्ति अनाकुल शान्तरस है। 'निजसत्ता से शुद्ध सबको देखते...' हे परमात्मा! समस्त आत्माओं को उनकी निज सत्ता में – निज अस्ति में स्वयं की अस्ति में, स्वयं की हयाती में, अपने अस्तित्व में, अपने अन्तर आत्मा की मौजूदगी में, भगवान आप तो सब आत्माओं को शुद्ध देखते हो। समझ में आता है कुछ?

यह 'निजसत्ता से शुद्ध सबको देखते' – समस्त आत्माएँ, परमात्मा निजसत्ता से शुद्ध है। ऐसी निजसत्ता, सत्ता अर्थात् अपना होनापना, अस्तित्व; होनापना। अनादि का भगवान आत्मा, उसका होनापना पवित्र और शुद्धस्वरूप से ही उसका अस्तित्व है। उसमें (होनेवाला) कितना ही पुण्य-पाप का विकार, वह कहीं उसका निज अस्तित्व नहीं है, वह निज सत्ता नहीं है – ऐसा भगवान देखते हैं; इस प्रकार जो कोई आत्मा अपने शुद्धस्वरूप का ध्यान (करे...) देखो! उसमें एकाकार होकर निजसत्ता की शुद्धता को लक्ष्य में ध्येय में, स्थिरता में लेकर ज्ञान-श्रद्धा और चारित्र (द्वारा) इस निज शुद्ध सत्ता को

आश्रय बनाकर, (जो) अन्दर निर्मल ध्यान द्वारा स्थिर हुए, इसके द्वारा हे प्रभु! आप सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं। कुछ समझ में आया?

'**णिम्मलझाण परिट्ठया**' पहले यहाँ से माङ्गलिक शुरु किया है। कर्म मिटे और कर्म गले और कर्म मन्द पड़े, इसलिए आप ध्यान में आये – ऐसा नहीं लिया है। अभी कितने ही कहते हैं न? ज्ञानावरणीय (कर्म का) क्षय होवे तो ज्ञान होगा – ऐसा कहो। ज्ञान की उत्पत्ति होगी तो ज्ञानावरणीय का क्षय हो जाता है – ऐसा मत कहो – ऐसा (कहते हैं)। कुछ समझ में आया? यहाँ पहले शब्द से यह शुरू किया है, देखो! इसमें कर्म को याद भी नहीं किया। '**णिम्मलझाण परिट्ठया परिट्ठया**' शब्द है। निर्मल शुद्ध अन्तर एकाग्र परिस्थित.... परिस्थित – पर (अर्थात्) समस्त प्रकार से स्थिर हुए, स्वरूप में एकाग्र (हुए)। यों तो शुक्लध्यान लेना है। कुछ समझ में आया? एकदम सिद्धपद है न? परन्तु प्रथम '**परिट्ठया**' कहा है न? सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, उसमें निर्मल शुद्धस्वरूप की भगवान की दृष्टि में निर्मलरूप परिणमे, तब उसका ध्यान एकाग्र होता है, स्वभाव में एकाग्र होता है परन्तु वह ध्यान समस्त प्रकार से स्वरूप में स्थिरता नहीं करता। कुछ समझ में आया?

धर्मदशा प्रगट होने के काल में, धर्मदशा के प्रगट काल में इस शुद्ध चैतन्यमूर्ति की एकाग्रता का अंश प्रगट होता है, तब उसे धर्म की शुरुआत कहते हैं। यह भगवान तो शुरुआत करने के पश्चात् पूर्णता की प्राप्ति के काल के समय, उन्होंने क्या किया? – यह बात करते हैं। आहा...हा...! कहते हैं कि जिन्होंने शुक्लध्यान में स्थित होते हुए..., **शुद्ध ध्यान स्थित होते हुए....** ऐसा लिखा है। भगवान आत्मा! निर्मल शब्द है न? इसलिए उसमें सब आ जाता है, शुक्ल निर्मल भी आ जाता है।

यह आत्मा प्रभु, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आत्मा में – निजसत्ता में, सत्ता के अस्तित्व में, अपने होनेपने में तो अकेला अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। निजसत्ता–अपना होनापना जो कायमी असली है, उसमें तो अकेला अतीन्द्रिय आनन्द ही पड़ा है। भान नहीं है, बाहर में गोते खाता है, धूल में और कहीं पैसे में और स्त्री में, पुत्र में, होली में बाहर में कहीं सुख है – ऐसा मूढ़ अनादि से मानता है। समझ में आया? मिथ्याभ्रमणा करके

(मानो) बाहर में कहीं सुख, राजपाठ, बादशाहत, इन्द्र के इन्द्रासन या लक्ष्मी का बड़ा ढेर – पुञ्ज धूल का पड़ा हो (उसमें सुख) मानता है; है नहीं; सुख तो भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ऐसा फरमाते हैं कि भाई! तेरे अस्तित्व में सुख है; दूसरे के अस्तित्व में तेरा सुख नहीं है। समझ में आया इसमें कुछ? दूसरे के अस्तित्व में, परमात्मा –दूसरे सिद्ध भगवान हों, परन्तु उनके अस्तित्व में तेरा अस्तित्व का आनन्द वहाँ नहीं है, आहा...हा...! अभी सर्वज्ञ ऐसा बोले सही 'केवलीपण्णत्तो धम्मो सरणं' – भगवान जाने एक भी अर्थ समझे तो! बाबूभाई! है? तुम ऐसे के ऐसे सब युवा लोगों ने ऐसे के ऐसे बिताया। ऐसा कि दूसरे होंगे इसलिए भूले परन्तु हम भूले हैं, इसलिए ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

'केवली पण्णत्तो धम्मो सरणं' वे सर्वज्ञ परमेश्वर निज अस्ति में–त्रिकालवस्तु में अकेला अतीन्द्रिय आनन्द ही भगवान ने देखा है। इस आत्मा में, हाँ! उस अतीन्द्रिय आनन्द की नजर करके उसमें जो '**परिट्ठिया**' (अर्थात्) विशेषरूप से ध्यान में स्थिर हुए। बाहर से अत्यन्त उपेक्षा करके अन्दर में स्थिर हुए। शुद्धध्यान में से पहला माङ्गलिक वाक्य ही यह प्रयोग किया है '**णिममलझाण परिट्ठिया जेण**'। समझ में आता है? जिन्होंने – भगवान सिद्ध हुए उन्होंने, ...जो भगवान सिद्ध हुए उन्होंने, भगवान आत्मा के शुद्धस्वरूप में लीनता का ध्यान किया, यह उसकी क्रिया! मोक्ष प्राप्त करने की, मोक्ष के मार्ग की यह क्रिया है। बीच में कोई दया, दान, व्रत का विकल्प आता है, वह कोई मोक्ष के मार्ग की क्रिया नहीं है। आहा...हा...!

पहले से आचार्य ने (यह बात शुरु की है)। 'योगसार'... योग अर्थात् आत्मा के उपयोग में जुड़ान करना, वह मोक्ष का मार्ग है। उपयोग में जुड़ान करना, वही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? पर में कहीं जुड़ान हो, रागादि व्यवहार हो परन्तु वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं है। बन्ध के मार्ग के सब विकल्प हैं। भगवान आत्मा अपने आनन्द के अन्दर पहले प्रतीत में अनुभव में लिया हो, फिर उस आनन्द को पूर्ण पर्याय में प्राप्त करने के लिये जिन्होंने स्वरूप में लगनी लगाई है, ध्यान की लगन अन्दर में लगी, अन्दर में छटपटाहट लगी – ऐसे ध्यान में **स्थित होते हुए... 'कम्मकलंक डहेवि'** यह अब ऐसा लिया।

कर्मों के मल को जला डाला है। कर्म के कलंक को जला दिया है। कर्म जले, इसलिए ऐसा ध्यान हुआ है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

'कर्म विचारे कौन ?' वे तो जड़ पदार्थ हैं, निमित्त हैं, तू विकार करे तो कर्म का आवरणरूप से निमित्त होता है और स्वरूप का ध्यान करे तो वे मिट जाते हैं। वे कर्म कहीं कन्धा पकड़कर (नहीं कहते कि) नहीं, तू ऐसा कर। ऐसा है नहीं, आहा...हा... ! कहते हैं, कर्म कलंक... आहा...हा... ! कर्म का कलंक है, मैल है। आठ कर्म.... यहाँ सिद्ध है न ? इसलिए आठों ही कर्म कहे हैं। सिद्ध है तो सही न ? आठों ही कर्मरूपी कलंक के मैल को... आठ कर्म हैं न ? आठ – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र, और आयुष्य। ऐसा मल, उसे जला दिया...। '**डहेवि**' भाषा ऐसी है। उन्होंने नाश किया, वह तो जला दिया – ऐसा कहते हैं, भाई ! आहा...हा... ! नाश किया ऐसा हलका शब्द नहीं डाला, जला दिया, राख कर दिया। अर्थात् ? कर्मरूप जो पर्याय थी, उसकी पर्याय दूसरे जड़, दूसरे पुद्गलरूप हुई। अकर्मरूप पर्याय हो गयी। जला डालने का अर्थ कहीं दूसरी चीज नहीं, परमाणु जल नहीं जाते।

यह आत्मा अपने स्वरूप के अन्तरदृष्टि और ध्यान में स्थिर हुआ, सिद्ध भगवान का आत्मा.... तब उन्होंने कर्म के कलंक की, आठ कर्म की जो पर्याय थी, उसका व्यय हो गया, तब उन्होंने जलाया – ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहा...हा... ! कर्म तो उस समय टलने की योग्यता से ही टले हैं; आत्मा कहीं उन्हें टाले और कर्म को जलाये – ऐसा कभी (नहीं है)। वे तो जड़ हैं। जड़ का कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है परन्तु यहाँ तो यह कहा है कि जिस विकार के संग में, संग था, तब कर्म का निमित्तपने आवरण था, वह संग छूटा, इसलिए आवरण की अवस्था में दूसरी दशा हो गयी। उसे यहाँ कर्म कलंक को जलाया – ऐसा कहा जाता है। '**डहेवि**' मूल में से जला दिया – ऐसा कहते हैं। फिर से कर्म पर्यायरूप हो – (ऐसा) अब है नहीं। फिर ? दो पद हुए।

'परु अप्पा लद्धउ', 'परु अप्पा लद्धउ' – क्या प्राप्त हुआ ? भगवान आत्मा शक्तिरूप से परमात्मा था, शक्ति के सत्व के स्वभाव के सामर्थ्यरूप से परमात्मा ही था। उसका ध्यान करके **परु** अर्थात् वर्तमान पर्याय में उत्कृष्टरूप से **परमात्म पद को पा**

लिया। पर्याय में – अवस्था में... जो स्वरूप अन्तर में (पूर्ण था, उसे) पर्याय में प्रगट पूर्ण प्राप्त किया अर्थात् पर्याय में पहले शुद्धपद प्रगट था – ऐसा नहीं है। समझ में आया? वस्तु तो शुद्ध थी, वस्तु तो निज आनन्द और शुद्ध सत्ता, सत्त्व सम्पूर्ण सामर्थ्य वही है परन्तु उसकी दशा का ध्यान करने पर, दशा में ध्यान करने पर उसकी दशा में, वर्तमान अवस्था में – हालत में '**परु लद्धउ अप्पा**' परमात्मरूपी दशा को उस आत्मा ने प्राप्त किया। आहा...हा...! समझ में आया?

'**परु अप्पा लद्धउ**' '**परु**' अर्थात् उत्कृष्ट अर्थात्? बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के तीन प्रकार हैं। उसमें यह '**परु**' अर्थात् उत्कृष्ट जो परमात्म पद है, उसे प्राप्त किया। बहिरात्मा में तो पुण्य और पाप, शरीर वाणी को अपना माने, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। जो उसकी वस्तु में नहीं है, उसकी चीज में नहीं है, और बाह्य में पुण्य और पाप के भाव तथा उसके बन्धन व फल, उसे अपना माने उसे बहिरात्मा-बहिर्दृष्टि – बाह्य आत्मा को माननेवाला – ऐसे मूढ़ को बहिरात्मा कहते हैं।

अन्तर में आनन्द और शुद्ध हूँ – ऐसे पूर्णानन्द की जिसे प्रतीति हुई परन्तु पर्याय में अभी पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई, यह ऐसे जीव को पूर्ण स्वरूप शक्ति से पूर्ण हूँ – ऐसी प्रतीत अनुभव हुआ परन्तु पर्याय में – अवस्था में पूर्ण पर्याय प्रगट नहीं हुई, उसे अन्तरात्मा कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ तो कहते हैं, '**परु अप्पा लद्धउ**' अब अन्तरात्मा भी नहीं। अन्तर के स्वरूप की एकाग्रता द्वारा जो उत्कृष्ट परमात्म पद को प्राप्त हुआ, उसका अर्थ – वह परमात्म पद की पर्याय नयी प्रगट हुई है। वह पर्याय अनादि की थी, अनादि की सिद्ध समान उसकी दशा थी, पर्याय में सिद्ध दशा थी, ऐसा नहीं है; वस्तु में सिद्ध शक्ति थी। समझ में आया? उसे प्राप्त किया।

'**ते परमप्प णवेवि**' ऐसे परमात्मा को, उसके उपाय द्वारा जिन्होंने निजपद की पूर्णदशा प्राप्त की – ऐसे परमात्मा को पहचान कर, ख्याल में लेकर, अपने लक्ष्य में लेकर ऐसे **सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करता हूँ**। लो, यह पहला माङ्गलिक किया। 'समयसार' में भी यह लिया है, वहाँ भी सिद्ध को ही पहले लिया है। यहाँ सिद्ध को पहले

लिया। श्रोताओं को कहते हैं, इन सिद्ध को नमस्कार करते ही कहते हैं कि भाई! सिद्ध समान की पर्याय प्रगट हुई, उन्हें नमस्कार कौन कर सकता है? समझ में आया? वह जिसके हृदय में, ज्ञान की दशा में सिद्धपद को स्थापित कर सके और विकारादि मुझ में नहीं है, मैं पूर्णानन्द सिद्ध समान शक्ति हूँ - ऐसे श्रद्धा-ज्ञान में सिद्ध को स्थापित करे, वह सिद्ध को वास्तविक नमस्कार कर सकता है। समझ में आया?

नमस्कार अर्थात्? नमना है, उनकी दशा कैसी होती है? - उसकी प्रतीति न हो तो नमेगा किसे? समझ में आया? इसलिए वहाँ तो ऐसा कहा है न? यहाँ भी वही शैली है। 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं **वदित्तु सव्वसिद्धे** मैं सर्व सिद्धों को नमस्कार करता हूँ। अर्थात्? अभी तक जितने सिद्ध भगवान हुए, उन सबको मेरी ज्ञानदशा में, मेरी वर्तमान ज्ञानकला में स्थापित करता हूँ, वन्दन करता हूँ अर्थात् आदर करता हूँ। अभी तक अनन्त सिद्ध हुए, अनादि से होते आ रहे हैं, छह महीने आठ समय में छह सौ आठ मुक्त पद को प्राप्त करते हैं - ऐसा केवलज्ञानी भगवान ने देखा है। छह महीना और आठ समय में छह सौ आठ (जीव) मुक्ति प्राप्त करते हैं - ऐसे आत्माएँ अनन्त काल से सिद्ध समूह इकट्ठे हुए हैं। सिद्ध समूह यह आता है न? सिद्ध समूहम् - ऐसा कहीं आता है, पूजा में आता है। समझ में आया?

उन बड़े सिद्धों का बड़ा नगर वहाँ भरा हुआ है, वहाँ सिद्धों की बस्ती है। आहा...हा...! ऊपर जहाँ सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं, वहाँ सब सिद्ध की बस्ती विराजती है, अनन्त सिद्ध, अनन्त सिद्ध विराजते हैं परन्तु सबकी सत्ता भिन्न है। ऐसे अनन्त सिद्ध उनकी नगरी में विराजमान हैं। कहते हैं, ऐसे (सिद्ध भगवान को) यहाँ मैं, मेरे वर्तमान ज्ञान में, ऊर्ध्व में रहे होने पर भी, उन्हें यहाँ नीचे उतारता हूँ। प्रभु! पधारो, पधारो मेरे आँगन में। आहा...हा...!

कहते हैं अरे...! सिद्ध को आदर देनेवाले का आँगन कितना उज्ज्वल होगा! शशीभाई! एक राजा आये तो भी आँगन साफ करते हैं। हैं? वस्त्र बिछायें, ऐसा करें, धूल करे, यह रेत-बेत समान करे, बारीक करे, बारीक शोध डाले, कंकड़ न रहे (इसलिए) अनन्त सिद्ध परमात्मा अशरीरी एक रूप 'णमो सिद्धाणं' ऐसे अनन्त निर्मल पर्याय को,

उत्कृष्ट पद को प्राप्त (हुए) ऐसे अनन्त सिद्धों को मैं वन्दन करता हूँ अर्थात् आदर करता हूँ। अर्थात्? आदर करता हूँ अर्थात् कि उनके अतिरिक्त राग और अल्पज्ञ और निमित्त का आदर मैं दृष्टि में से छोड़ देता हूँ। समझ में आया?

हमारा आँगन उज्ज्वल किया है प्रभु! आहा...हा...! अनन्त सिद्धों को स्वयं यहाँ बुलाते हैं। प्रभु पधारों न यहाँ! वे तो उतरते नहीं। अपनी ज्ञान कला की प्रगट दशा में अनन्त सिद्धों को यहाँ अन्दर समाहित करते हैं, विकास करते हैं कि ओ प्रभु! निर्विकल्प पर्याय में प्रभु प्राप्त होओ, प्रभु आओ। समझ में आया? जिसकी ऐसी दृष्टि हुई है, वह अनन्त सिद्धों को अपनी पर्याय के आँगन में पधराता है। यह उसने भगवान को नमस्कार किया, कहा जाता है। ऐसे सब 'णमो सिद्धाणं, णमो अरिहन्ताणं' पहाड़ा बोले जाये, उसमें कुछ हो – ऐसा नहीं है। समझ में आया? बाबूभाई? कितना बोल गये ऐसे के ऐसे? 'णमो सिद्धाणं, णमो अरिहन्ताणं', 'णमो सिद्धाणं णमो अरिहन्ताणं' परन्तु नमो क्या? नमते हो वह चीज कैसी है? मैं नमस्कार करनेवाला उसे आदर किस भाव से देते हो? तेरे भाव में क्या शुद्धता आयी है? – उसकी कुछ खबर बिना 'णमो अरिहन्ताणं' ऐसे पहाड़े तो अनन्त बार बोले हैं, उसमें कुछ नहीं हुआ। गडिया कहते हैं न? गडिया क्या कहलाता है? पहाड़ा। तुम्हारे कहते हैं न? एक एकडे एक, बिगड़े दो बोलते हैं न? क्या कहते हैं तुम्हारे? पहाड़ा। समझ में आया?

इस एक गाथा में... आहा...हा...! समझ में आया? अपनी पर्याय में सिद्ध को याद करते हैं न? सब भूलकर, हाँ! अकेले सिद्ध ही मानो नजर में तैरते हों, और नमस्कार करने योग्य, नमने योग्य तो मानो, अनन्त सिद्धों का समूह, ऐसी पर्याय को ही मानो नमने योग्य इस जगत में वस्तु हो, कोई राग और निमित्त और अल्प पर्याय में नमने योग्य जगत में नहीं हो – ऐसी जिसकी अन्तर में दृष्टि हुई है, वह उन अनन्त सिद्धों को अपने ज्ञान में पधराता है। आहा...हा...! समझ में आया? चिमनभाई! यह बातें ऐसी हैं। आहा...हा...! कहीं भी ध्यान में प्रभु! आपने तो निर्मल ध्यान किया था न? उसका भरोसा? उसका भान? और उस निर्मल ध्यान द्वारा उस पूर्णानन्द की शक्ति की व्यक्तता... शक्ति में तो था, हाँ! परन्तु प्रगटता हुई – ऐसी दशा को प्राप्त ऐसे परमात्मा को ही मैं नमस्कार करता हूँ। प्रभु! उनका

ही मैं आदर करता हूँ – ऐसा कहकर पहली गाथा में महा–माङ्गलिक किया है। अपन ने शुरुआत यहाँ की और... प्रकृतिक कहाँ का मैल है ! है ? ऐई... ! हरिभाई ! कहाँ का कहाँ आकर पड़ा ? अब कभी यह सवा तीस वर्ष में पहले वांचा जाता है।

मुमुक्षु : यह मकान भी पहला हुआ, यहाँ तो बड़ा गड्ढा था।

उत्तर : हाँ, वे ठीक कहते हैं, यह तो खड्ढा था, वहाँ गहराई करिये – ऐसा कहते हैं। ऐसे जिसकी पर्याय में अनादि का गड्ढा है, अज्ञान में, मिथ्याभ्रम में, मैं रागी और द्वेषी का बड़ा गड्ढा है, छोड़ गड्ढा, कहते हैं। अन्दर सिद्ध का बँगला था, समझ में आया ?

मैं सच्चिदानन्दप्रभु सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने ऐसा कहा। परमेश्वर के मुख में ऐसा आया कि तू सिद्ध समान, तुझे मैं देखता हूँ न ! केवलज्ञानी परमात्मा ने उनकी वाणी में इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण की सभा में बड़े इन्द्र, लोक के, अर्धलोक के स्वामी... समझ में आया ? दक्षिणेन्द्र के स्वामी सौधर्म इन्द्र, उत्तर के स्वामी ईशान इन्द्र, ऐसे इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान फरमाते हैं, भाई ! हम तुझे सिद्ध समान देखते हैं न ? तू देखना सीख न ! कहो, चन्द्रकान्तभाई ! यह किस प्रकार की (बात है) ? इसमें धर्म क्या होगा ?

आत्मा परमानन्द की पर्याय जो प्राप्त हुई, उसका भरोसा किया, उपाय का भरोसा किया, उस शक्ति में था, वह प्रगट हुआ, उस शक्ति का भरोसा किया और उसमें नमन किया अर्थात् अन्दर स्वरूप की ओर का अन्तर विनय और आदर किया है। समझ में आया ? उसे माङ्गलिक कहते हैं। देखो न ! सिद्धसमान अपने स्वरूप को ध्याकर – ऐसा आता है न ? 'समयसार' पहली गाथा में। सिद्ध भगवान, वे प्रतिछन्द के स्थान पर है, ऐसा आता है न ? प्रतिछन्द नहीं ? हे भगवान ! आप सिद्ध हो, ऐसा बोले। बड़ा मकान होता है न ? पाँच लाख, दस लाख, करोड़, दो करोड़ का, उसमें आवाज सामने आती है, लो ! हे भगवान ! तुम सिद्ध हो, ऐसी सामने (आवाज / प्रतिध्वनि) लो। यहाँ बोले, हे प्रभु ! तुम पूर्ण हो। ऐसा बोले वहाँ आवाज ऐसी आती है हे प्रभु ! तू पूर्ण हो – ऐसा आता है। समझ में आया ? होता है न बड़ा मकान ? करोड़ों, दो–दो करोड़ और पाँच–पाँच करोड़ के मकान है ? प्रतिध्वनि पड़े, नहीं वह मैसूर का मकान, देखने गये थे ? बड़ा नहीं ? तीन करोड़ का।

वहाँ एक बंगला है, है... बड़ा मकान! पाँच-पाँच करोड़, दस-दस करोड़ के बंगले विदेश में होते हैं, राजाओं के। वे तो धूल के बड़े ढेर वहाँ होते हैं परन्तु अन्दर ऐसी आवाज आती है, हे नाथ! तुम पूर्ण हो, वहाँ सामने आवाज (प्रतिध्वनि) आती है कि हे नाथ! तुम पूर्ण हो। ऐसे सिद्ध भगवान को... है ?

इसलिए यह अन्दर में यह एकाकार होता है, यह वास्तविक प्रतिध्वनि पड़ती है - ऐसा कहते हैं।

सिद्ध परमात्मा स्वयं को ध्याने में वे प्रतिछन्द के स्थान पर हैं। जैसे, आवाज करते हैं न ? यह परमात्मा की आवाज अन्दर से आती है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।'

'चेतनरूप अनूप अमूरति, सिद्धसमान सदा पद मेरौ।
मोह महातम आतम अंग, कियौ परसंग महा तम घेरौ॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि, कहौं गुन नाटक आगमकेरौ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग, बेगि मिटै भववास वसेरौ॥'

(समयसार नाटक, उत्थानिका, श्लोक-११)

इस शरीर मिट्टी में धूल में चैतन्य अमृत जैसा सागर भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र, वह इस कलंक में बसता है, वह उसे कलंक है। समझ में आया ? इसी में आता है न ? जन्म धारण करना कलंक है। इसी में आयेगा। नहीं ? हैं ? इसमें आता है! एक श्लोक आता है, जन्म करना, वह जीव को कलंक है। शरम, शरमजनक जन्म आता है न ? शरम जनक जन्मौं तले... आहा...हा...! अरे...!

एक मैसूर(पाक) चार सेर घी का पिया हुआ हो, उसे मरे हुए गधे के चमड़े में ऐसे ढाँकना, गधा मर गया हो और उसका सड़ा हुआ चमड़ा हो, चार किलो घी का पिया हुआ मैसूर, पाँच किलो, दस किलो बढ़ा, अब देश में ले जाना है, डालो गधे के खोले में, डालेगा ? अरे...र...र...! इसी प्रकार यह तीन लोक का नाथ अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति, उसे मैसूर की उपमा क्या देना ? समझ में आया ? ऐसा आनन्दकन्द जिसे दर्शन-ज्ञान -चारित्र की पर्याय से पूर्णानन्द को प्राप्त करे - ऐसा जिसका स्वरूप, उसे इस माँस की हड्डियों में रखकर शोभा करना, वह कलंक है, कलंक है। समझ में आया ? अशरीरी होने

के लिये सिद्ध को याद किया है। समझ में आया? शरीर-फरीर अब नहीं, हम अशरीरी होनेवाले हैं; हम एक-दो भव में अशरीरी होंगे - ऐसी कौल-करार करके सिद्ध को नमस्कार करते हैं, आहा...हा...! एक श्लोक हुआ। यह सिद्ध को नमस्कार किया है, हाँ!

☆ ★ ☆

अरहन्त भगवान को नमस्कार

घाइ-चउक्कहँ किउ विलउ, णंत-चउक्कु पदिट्ठु।
तह जिणइंदहँ पय णविवि, अक्खमि कव्वु सु-इट्ठु॥२॥

चार घातिया क्षय करि, लहा अनन्त चतुष्ट।
वन्दन कर जिन चरण को, कहूं काव्य सुइष्ट॥

अन्वयार्थ - (**घाइचउक्कहं विलउ किउ**) जिसने चार घातिया कर्मों का क्षय किया है (**णंतचउक्कुपदिट्ठु**) तथा अनन्तचतुष्टय का लाभ किया है (**तह जिणइंदहं पय**) उस जिनेन्द्र के पदों को (**णविवि**) नमस्कार करके (**सुइट्ठुकव्वु**) सुन्दर प्रिय काव्य को (**अक्खमि**) मैं कहता हूँ।

☆ ★ ☆

अब, **अरहन्त भगवान को नमस्कार**। दूसरा श्लोक, अरहन्त भगवान को नमस्कार।

घाइ-चउक्कहँ किउ विलउ, णंत-चउक्कु पदिट्ठु।
तह जिणइंदहँ पय णविवि, अक्खमि कव्वु सु-इट्ठु॥२॥

जो अरहन्त भगवान... ओ...हो...! **जिसने 'घाइचउक्कहँ विलउ किउ' जिसने चार घातिया कर्मों को...** विलय अर्थात् **क्षय किया है...** सिद्ध भगवान के तो आठ कर्मों का क्षय है। अरहन्त भगवान विराजते हों, अभी महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। अरहन्त भगवान अभी भरत-ऐरावत में नहीं हैं। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ वर्तमान में अरहन्त पद में श्री 'सीमन्धर प्रभु' विराजते हैं। ऐसे बीस तीर्थङ्कर विराजते हैं

और महाविदेहक्षेत्र में लाखों केवली भी विराजते हैं। अरे... ! उन लाखों केवलियों और अरहन्तों की सत्ता का स्वीकार करके अन्तर में नमन (करना), वह कोई अपूर्व बात है। समझ में आया?

जो कोई '**जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।**' जो कोई अरहन्त परमात्मा विराजते हैं, वे कैसे हैं? **जिन्होंने चार घातिया कर्मों का क्षय किया है...** ऐसा स्पष्टीकरण क्यों किया? क्योंकि अभी चार कर्म निमित्तरूप से बाकी हैं। अरहन्त को चार कर्म अभी बाकी हैं। जब 'महावीर' परमात्मा यहाँ समवसरण में विराजमान थे, तब भगवान अरहन्त पद में थे, तब चार कर्मों का नाश हुआ – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय। चार कर्म बाकी थे – वेदनीय, आयु (गोत्र, नाम)। उसका भी पता नहीं होता। भगवान जाने (कितने बाकी होंगे)! घर में गद्दों की संख्या का पता, घर में कितने हैं, वह (पता होता है), धूल का लोचा कितना, उसका इसे सब पता पड़ता है। चिमनभाई! आहा...हा...! यह चार कर्म किसने नष्ट किये? और चार कर्म किसे रहे? और आठ किसने नष्ट किये? क्या आठ होंगे? भगवान जाने! भगवान तो जानते ही हैं। कहते हैं, ओहो...! जिसने अरहन्त के द्रव्य, गुण और पर्याय को जाना, परमेश्वर त्रिलोकनाथ अरहन्त पद, जहाँ आगे वाणी उठती है, वाणी निकलती है। सिद्ध को वाणी नहीं होती, सिद्ध परमात्मा तो अशरीरी हो गये हैं, उन्हें वाणी, शरीर नहीं होता। अरहन्त को शरीर और वाणी होते हैं, क्योंकि वहाँ चार अघातिया कर्म शेष रहे हैं। भगवान अभी महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। समवसरण में इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान की वाणी इच्छा बिना निकलती है। उन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश किया है। आहा...हा...! जिसने ऐसे अरहन्त पद के द्रव्य-गुण तो ठीक, परन्तु उनकी पर्याय की इतनी सामर्थ्य है – ऐसा जिसने ज्ञान में जाना, कहते हैं कि वह आत्मा अन्दर में अपने साथ ऐसी पर्यायवाला ऐसा आत्मा और मैं उनकी नात की जाति का आत्मा.... समझ में आया? सिद्धों का नातेदार हूँ, आता है। आया था न? उस बोल में आया था, लड़के नहीं बोलते थे? मैं सिद्ध का नातेदार हूँ। आहा...हा...! मैं निगोद और ऐसे संसारी का नातेदार नहीं हूँ। नातेदार नहीं कहते? दशाश्रीमाली। हमारी नात पाँच-पचास करोड़ है। है हमारे नातेदार। है? नातेदार

हों और उनके लड़कों का विवाह होता हो तो भले गरीब हो, भले भीख माँगता हो तो भी उसकी नात में वह जीमने जाता है। गन्दे व्यक्ति के घर में बँगला हो तो वहाँ जीमने साथ जाता है? है?

मुमुक्षु : परन्तु इसे जातिभोज में निमन्त्रण नहीं होता।

उत्तर : इसे उस प्रकार का निमन्त्रण नहीं होता और उसे तो बिना (निमन्त्रण) हमारी जाति है, दशाश्रीमाली का जातिभोज है, इसलिए हम जायेंगे और वह भी फिर चाहे जैसा उसका लड़का हो, खजूर बँटती हो, तब वह दशाश्रीमाली का लड़का हो वह मण्डप में घुस जाता है और वह (गन्दा व्यक्ति) हो, वह दरवाजे के पास खड़ा रहता है, खजूर लेनी हो तो वहाँ खड़ा रहे, अन्दर नहीं घुसे, उसकी हद इतनी होती है। समझ में आया? यह सब देखा है या नहीं? यह सब हमने तो देखा है, सबकी बातें (देखी है)। हाँ, वह बनिया गरीब हो तो भी अन्दर चला जाता है। हमारी जाति का लड़का है, दूसरे को तो जाति बाहर हो इसलिए खड़ा रहता है। इसी प्रकार सिद्ध परमात्मा को यहाँ कहते हैं, प्रभु! मैं तो आपका नातेदार हूँ, हाँ! इस थोड़े काल में प्रभु आपके साथ अनुभव करने, वहाँ आनेवाला हूँ। समझ में आया? यहाँ अरहन्त के स्वरूप को पहले जानता है, तब उसे आत्मा के द्रव्य के साथ मिलाता है कि मैं ऐसा? यह भगवान ऐसे और मैं ऐसा क्यों? यह अल्प पर्याय क्यों? मेरी दशा में अल्प अवस्था क्यों? यह राग क्यों? अन्दर में जाता है, दृष्टि करता है, वहाँ पूर्ण स्वरूप है – ऐसी प्रतीति होने पर उसे क्षायिक समकित होता है। क्षायिक हुआ तो केवलज्ञान लेकर ही रहेगा। समझ में आया?

'**घाइचउक्कहं किउ**' देखो, चारघातिया कर्म का '**विलउ**' फिर भाषा कैसी है? विलय। समझ में आया? विशेष लय। भगवान अरहन्त में (घातिकर्म का) नाश कर डाला है। '**अणंत चउक्कपदिट्ठु**' अनन्त चतुष्टय का लाभ। '**दिसु**' है न अन्दर? '**प्रदिसु**' प्रदेश में प्राप्त किया। चार घातिया का ध्यान द्वारा भगवान ने नाश किया और चार को प्राप्त किया। चार का नाश और चार की प्राप्ति। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य – ऐसी चार दशा को अरहन्त भगवान ने प्राप्त किया, उन्हें अरहन्त कहते हैं। समझ में आया? भगवान जाने अरहन्त कैसे होंगे? णमो अरहन्ताणं। मर जाता

है। णमो अरहन्ताणं शब्द में मर जाता है परन्तु अरहन्त किसे कहना ? – इसका पता भी उसे नहीं होता।

मुमुक्षु : भगवान तो सच्चे थे न ?

उत्तर : किसके सच्चे ? धूल में, जाने बिना ? समझ में आया ?

प्रवचनसार में शुरुआत में कहते हैं या नहीं ? कि हे प्रभु ! 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं, मैं आपको वन्दन करता हूँ, परन्तु मैं कौन हूँ ? मैं कौन हूँ ? आपको वन्दन करता हूँ तो आप कौन हो ? और मैं वन्दन करनेवाला कौन हूँ ? दोनों का मुझे भान है। प्रभु ! मैं वन्दन करनेवाला तो दर्शन-ज्ञानमय आत्मा हूँ। मैं आपको वन्दन करनेवाला तो दर्शन -ज्ञानमय भगवान आत्मा हूँ। मैं वन्दन करता हूँ। मैं सिद्धों को, अरहन्तों को नमस्कार करता हूँ। मैं अर्थात् कौन हूँ ? समझ में आया ? भगवान तुम भी कौन हो ? कि भगवान को नमस्कार करते हैं। यह हम मनुष्य हैं। नहीं, यह ? नहीं, नहीं; तुम मनुष्य नहीं। यह तू कर्मवाला नहीं, तू रागवाला नहीं, आहा...हा... !

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त बेदह जिसका जानना-देखना आनन्द स्वभाव वह मैं। वह मैं। मैंपना लागू पड़े, वहाँ कभी वह चीज हटनी नहीं चाहिए। समझ में आया ? राग-द्वेष तो मिट जाते हैं, वे कहाँ इसके मैंपने में थे ? वन्दन करनेवाला कहता है, मैं ज्ञान -दर्शनमय हूँ। यहाँ सब पुस्तक आये हैं न ? इस प्रवचनसार में है 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' कहते हैं प्रभु ! मैं वन्दन करनेवाला, मैं अर्थात् मेरी सत्ता, मेरे अस्तित्व में, मैं होनेपने में दर्शन -ज्ञानमय, मेरा होनापना है। ज्ञाता-दृष्टापना वह मेरा होनापना है। वह आपको – इस पूर्ण परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। विकल्प उत्पन्न हुआ है, वह व्यवहार नमस्कार है, स्वरूप में एकाग्रता हुई वह निश्चय नमस्कार है।

यहाँ कहते हैं, चार घातिया कर्मों का नाश होकर क्या प्राप्त किया ? अनन्त चतुष्टय का लाभ लिया। लो, यह लाभ सवाया, बनिये नहीं लिखते ? है ? क्या कहलाता है ? दरवाजे पर लिखते हैं, दरवाजे पर, है ? दरवाजे पर लिखते हैं न, लाभ सवाया, किसका ? धूल सवाया। यह रुपया है, इसका सवाया, ओहो... ऐसा ! ऐ... चन्दूभाई ! है ? समता का फल... क्या कुछ बोलते हैं। समता का फल मीठा है ? दूसरा एक कुछ आता है

न? धीरज बड़ी बात है और लाभ सवाया-लाभ सवाया है। जाओ! अन्त में वहाँ रखना, कहते हैं।

यहाँ तो अरहन्त ने लाभ प्राप्त किया। सर्वज्ञ परमेश्वर अरहन्त ने लाभ प्राप्त किया। प्रभु! आपने क्या लाभ प्राप्त किया? – वह मेरे ज्ञान में है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जो अनन्त काल से आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख जो शक्तिरूप से था, उसे भगवान आपने पर्याय-अवस्थारूप से प्राप्त किया। वह प्राप्त किया – ऐसी आपकी सत्ता का हमें स्वीकार है। ऐसे अरहन्त होते हैं, उसका हमें ज्ञान है, उसका भान है। वह भानवाले हम नमस्कार करते हैं। अन्ध श्रद्धा से, अन्ध होकर नमस्कार करते हैं – ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। शशीभाई! आहा...हा...! धाधड़क... देखो न! परमेश्वर, जैन परमेश्वर के अलावा यह बात कहीं नहीं है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा ने कहा हुआ वीतरागमार्ग, इसके अतिरिक्त यह मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं हो सकता परन्तु उनके मार्ग में पड़े हुए को भी उसका पता नहीं होता। अन्ध श्रद्धा से दौड़ पड़े हैं, जहाँ जन्में (वहाँ) भगवान... भगवान... भगवान... (करते हैं)। कहाँ वे अरहन्त कौन हैं, वे तुम्हारे? कोई हो गया होगा राजा-बाजा, कोई हो गया होगा। है? कोई भगवान हो गये होंगे, भगवान हो गये होंगे। लिखा है न? उसमें लिखा है, हाँ! एक अरहन्त नाम का राजा हो गया। आहा...हा...! कुछ पता नहीं होता।

यहाँ कहते हैं – अरहन्त तो, परमात्मा आत्मा थे, उन्हें अनादि से चार घातिया कर्म का सम्बन्ध था, आठ का सम्बन्ध था परन्तु चार का अभाव किया और चार दशा प्रगट की। अनन्त केवलज्ञान-दर्शन आदि चार के नाम नहीं दिये? परन्तु उसका अर्थ... **'अणंत चउक्कपदिट्ठु'** अनन्त चतुष्टय प्राप्त किया।

'तहिं जिणइदहं पय' आहा...हा...! **उन जिनेन्द्र के पदों को...** ऐसे जिनेन्द्र के चरण-कमल को। ऐसे **'तहिं जिणइदहं पय' 'तहि'** अर्थात् वे जिनेन्द्र-ऐसे जिनेन्द्र उनके **पदों को...** अर्थात् चरण-कमल को **'णविवि' नमस्कार करके...** मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। ऐसे अरहन्त भगवान को नमस्कार। देखो, इसमें श्रद्धा का भान आया, ज्ञान का आया, स्थिरता पूर्ण की तब चारित्र का आया और शक्तिरूप से थी वह प्रगटरूप

से दशा हुई। अभी चार बाकी है, इसलिए उन्हें अरहन्त कहते हैं। आठों अभाव हो गये हों, उन्हें सिद्ध कहते हैं। उन्हें **नमस्कार करके... जिनेन्द्र के पदों को नमस्कार करके... 'सुइट्ठु कव्व'** क्या कहते हैं? **'सुइट्ठु कव्व'** प्रिय काव्य कहूँगा... समझ में आया? काव्य को प्रियपने की उपमा दी है। यह काव्य कहूँगा न? यह काव्य-श्लोक; **'सुइट्ठु कव्व' सुन्दर प्रिय काव्य को कहता हूँ।** जिसमें आत्मा का अधिक हित-मार्ग प्रवर्तित हो - ऐसे को मैं कहता हूँ। यह अरहन्त को नमस्कार किया। समझ में आया? पहचान कर किया है, हाँ! अब ग्रन्थ रचने की योग्यता बताते हैं।

☆ ★ ☆

ग्रन्थ को कहने का निमित्त व प्रयोजन

संसारहँ भयभीयहँ, मोक्खहँ लालसियाहँ।
अप्पा-संबोहण-कयइ, दोहा एक्कमणाहँ ॥३॥

इच्छक जो निज मुक्ति का, भव भय से डर चित्त।
उन्हीं भव्य सम्बोध हित, रचा काव्य इक चित्त॥

अन्वयार्थ - (**संसारहँ भयभीयहँ**) संसार का भय रखनेवालों के लिए व (**मोक्खहँ लालसियाहँ**) मोक्ष की लालसा धारण करनेवालों के लिए (**अप्पासंबोहण-कयइ**) आत्मा का स्वरूप समझाने के प्रयोजन से (**एक्कमणाहं**) एकाग्र मन से (**दोहा कय**) दोहों की रचना की है।

☆ ★ ☆

ग्रन्थ को कहने का निमित्त और प्रयोजन। तीसरा श्लोक

संसारहँ भयभीयहँ, मोक्खहँ लालसियाहँ।
अप्पा-संबोहण-कयइ, दोहा एक्कमणाहँ ॥३॥

आचार्य महाराज 'योगीन्द्रदेव' कहते हैं कि यह काव्य किसके लिये बनाता हूँ? कि **संसार से भय रखनेवाले के लिये** चार गति से भय प्राप्त हों उनके लिये है। जिन्हें

चार गति में रहना है और मजा करना है, दु:खी होना है, ऐसा (उनके लिये नहीं)। समझ में आता है? '**संसारहं भयभीयाहं**' 'संसार' शब्द से चारों गति, हाँ! जिसे स्वर्ग के सुख से भी भय हुआ है, क्योंकि स्वर्ग के सुखों की कल्पना, वह दु:ख है। यह चक्रवर्ती का राज्य और बादशाह की एक दिन की अरबों रुपयों की आमदनी हो, वह (सुख की) कल्पना मानी है, वह दु:ख है। आहा...हा...! उस दु:ख से जिसे त्रास हुआ है कि अब यह दु:ख नहीं, अब नहीं, अब नहीं।

मुमुक्षु : यहाँ तो धर्म करके सुख मानते हैं?

उत्तर : धर्म करके वह पैदा करना चाहता है, ऐसा कहते हैं। धर्म करेंगे तो पैसे, रोटी से सुखी होंगे, भक्तामर जपेंगे, 'भक्तामर प्रणत मोलि मनी प्रभाना' इसलिए बोलते हैं? नंगे, भूखे न रहें शरीर के ढँकनेवाले... कपड़े मिला करेंगे। सदा भिखारी रहा करेंगे, आहा...हा...! ऐ... चन्द्रकान्तभाई! कितने ही बनिये प्रात:काल उठकर भक्तामर करते हैं न? है? सुर-ताल लगाकर गाते होंगे उसमें? है? रोज बोलें कि जिससे सब समान रहे। धूल में भी नहीं रहता, सुन न! अब बाहर में तो पुण्य होगा ऐसा रहेगा, मर जायेगा तो भी, लाख तेरे भक्तामर जप तो भी पूर्व के पुण्य अनुसार रहनेवाला है, बाकी बदलने का कुछ है नहीं। परन्तु मूढ़ अभी चार गति के दु:ख से थका नहीं है।

कहते हैं चार गति के दु:ख से थका हो - ऐसे जीव के लिये यह मेरी बात है। आहा...हा...! मोक्षार्थी के लिये मेरी यह बात है, है?

मुमुक्षु : दूसरे बोल में...

उत्तर : वह बाद में कहेंगे। यहाँ तो पहले नास्ति से लेते हैं न? संसार का भय रखनेवाले, चार गति से त्रास (हुआ है) अरे...! अवतार, अवतरित होना, वह दु:खरूप है। जन्म-मरण संयोग, वह सब दु:खरूप है। चार गति की प्राप्ति, यह इन्द्रपद की प्राप्ति भी दु:खरूप है, क्योंकि इन्द्रपद की प्राप्ति में लक्ष्य जाता है कि यह ठीक है, वह सब राग दु:खरूप है। आहा...हा...! समझ में आया?

(साधना में) कुछ कमी रही (हो) और पुण्य के कारण धर्मात्मा स्वर्ग में जाता है तब ऐसा देखता है कि अरे...! हमारे राग बाकी रह गया, उसका पुण्य हो गया और उसमें

यह संयोग मिला। अरे... ! हमारा काम कम रहा, हमें स्वरूप में स्थिरता करनी चाहिए, उतनी नहीं हो सकी और यह उसका फल आया। समझ में आया ? ऐसा उल्टा खेद करते हैं, इन्द्रपद देखकर खेद करते हैं। अरे... ! यह फल आया ? अरे... ! हमारा आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु पूर्ण केवलज्ञान की प्राप्ति करे – ऐसी ताकतवाला, उसे यह संयोग का फल मिला ! अरे... ! हमने काम बाकी रखा, हमारा काम अधूरा रह गया, स्वरूप में स्थिरता होनी चाहिए उतनी नहीं हुई; इसलिए राग बाकी रह गया, उसका यह फल है। फिर स्मरण करता है कि भगवान के मन्दिर कहाँ हैं ? देव कहते हैं पधारो अन्नदाता ! भगवान की प्रतिमाएँ हैं, मन्दिर है, उनकी पूजा करो – आचार है, व्यवहार है, भगवान की पूजा करो। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि जिसे संसार का भय लगा है, यह निर्णय करना चाहिए, उसे कहता हूँ (– ऐसा) कहते हैं। समझ में आया ? '**संसारहं भयभीयाहं**' संसार से '**भयभीयाहं**' भय रखनेवाले। आहा...हा... ! एक बार ऐसा फाँसी पर चढ़ाने का निश्चित करे न तो कँपकँपी छूट जाये। हुआ था न ? राजकोट में। ढीला पड़ गया, ढीला, हाँ ! वहाँ हम गये थे। जेल में एक को फाँसी चढ़ाने का था, बाईस वर्ष का युवक। एक लड़की को मार डाला था, फाँसी का नक्की हो गया था, जेलर साथ में, एक हमारे साथ सब बड़े (लोग) थे। उन लोगों को दर्शन करने का भाव है (ऐसा कहा) इसलिए हम वहाँ गये थे। सब साथ गये थे। जिसने खून किया, उसे बाहर नहीं निकालते, बाईस वर्ष का युवा इसलिए उसका अमलदार साथ आया, महाराज ! बेचारा पैर लगा ऐसा करके, परन्तु ऐसा ढीला हो गया। निश्चित हो गया था बाईस वर्ष का युवा, फाँसी का निश्चित हो गया था। हाय... हाय... ! ऐसा नीचे ढाला जाली में, उसे बाहर निकालते नहीं। भाई ! तेरा नाम क्या ? क्या किया था ? 'बटुक' बाईस वर्ष का युवा। फाँसी का निश्चित हो गया, फिर बारह महीने में फाँसी दी, बारह महीने में दे दी। फाँसी दी, बारह महीने में फाँसी दी। आहा...हा... ! एक बार फाँसी पर चढ़ने का यह त्रास है। वे लोग कहते थे कि उस कमरे में हम फाँसी पर चढ़ाते हैं, उन्होंने कमरा बताया। अमलदार लोग साथ आये, महाराज आये हैं, सबको पैर लगना हो, दर्शन करने आवे न ! उस जगह ले गये, दो हाथ पीछे बाँधे फिर दो कड़े थे, वहाँ सूत की डोरियाँ तीन दिन मक्खन में डुबोकर रखे, तीन दिन डुबोकर रखे, इसलिए झट

चिपक जाये। यहाँ रेशा नहीं होता फिर वह आधे घण्टे में देह छूट जाये। पाँच मिनट बाद आधा घण्टा रखते हैं, सब बताया था। आहा...हा...! परन्तु वह प्रदर्शन देखो! वह अन्दर घुसे, तब उसके कन्धे काँप गये, नक्की हो गया था परन्तु जहाँ अन्दर गिरा, और पैर बाँधा, पहले हाथ बाँधा, फिर वहाँ खड़ा रखकर पैर बाँधते हैं और यहाँ टोपी डालते हैं, उसके एक मरण के यह दु:ख के त्रास... अरे...! चार गति के दु:ख का त्रास जिसे लगा हो – ऐसे जीवों के लिये यह मेरा 'योगसार' का उपदेश है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिसे उसमें मिठास वर्तती हो, भव करना हो, अभी कहीं स्वर्ग में जाना हो और सेठाई करना हो, एक-दो सेठ अवतार, 'अहमदाबाद' में 'माणिकचौक' में लेना हो... ऐई...!

नहीं, नहीं, यह तो वे एक थे न? 'वगसरा' में कालीदासभाई थे, वे पहले गृहस्थ थे, पैढी थी। 'राम श्रीपाल' की पैढ़ी थी, लाखोंपति। फिर बेचारे गरीब हो गये। एक स्वयं भाई रह गया था, फिर साधारण घर किया, फिर सुनने आते, महाराज! तुम मोक्ष की बातें करते हो, परन्तु मोक्ष नहीं चाहिए? तो तुम्हारे क्या चाहिए? इस अहमदाबाद में माणिकचौक में झवेरी होना है। गधा, तेरा नाम इनके हीरे ढोने के लिए। परन्तु वे भी मजाकिया थे। मैंने कहा – क्या करते हो यह? माणिकचौक में निकले तो देखे, देखो, यह झवेरी! देखो यह झवेरी! लोग एक दिन में देखो कितना? परन्तु वे हैं क्या? कहाँ जाना है तुम्हारे? कि हमें तो अभी झवेरी होना है। परन्तु मर जाओगे, वहाँ गधा नहीं होओगे। फिर दाँत निकालते हैं, ऐसे अवतार जिसे धारण करना है, जिसे जन्म-मरण का त्रास नहीं है, उसके लिये हमारा उपदेश लागू नहीं पड़ता। आहा...हा...! समझ में आया? एक बात।

मोक्ष की लालसा धारण करनेवाले को... अब देखो! अस्ति-नास्ति की है। (भव) भय से त्रास और मोक्ष की अभिलाषा। जिसे अकेली मोक्ष की अभिलाषा है। मुझे तो छूटना है। देखो, यह पुण्य बन्धन होकर स्वर्ग में जाना यह नहीं रहा। मुझे तो छूटना, छूटना और छूटना है। आहा...हा...! ऐसा '**मोक्खहं लालसियाहं**' मोक्ष की लालसा अर्थात् अभिलाषा। मोक्ष की अभिलाषा धारण करनेवालों के लिये यह मेरा योगसार है – ऐसा आचार्यदेव योगीन्द्रदेव कहते हैं। समझ में आया?

'अप्पास बोहण कयइ' ऐसे आत्मा के स्वरूप को **समझाने के प्रयोजन से...**

उस आत्मा के लिये, ऐसा। इसमें है, गुजराती किया है न? '**अप्पासंबोहण कयइ**' अन्त में स्वयं अपने लिये भी कहते हैं, भाई! अन्त में ऐसा कहते हैं, पीछे है न! भाई! पीछे है यह मेरे लिये कहा है ऐसा लिखा है और यहाँ जरा ऐसा कहा है। ऐसे जो आत्माएँ हैं, चार गति से भय प्राप्त हैं और जिन्हें मोक्ष की अभिलाषा है। जिन्हें आनन्द प्राप्त है, दुनिया मेरे कुछ चाहिए नहीं। लाख चक्रवर्ती का राज, इन्द्र का हो तो उसके घर, वह विष्टा उसके घर रही; इस प्रकार जिसे अन्तर में आत्मा की छटपटाहट लगी है – ऐसे जीवों के लिये यह मेरा योगसार का उपदेश है। अन्यत्र क्षार के क्षेत्र में हम (बीज) बोते नहीं – ऐसा कहते हैं। जिसमें क्षार भरा हो, उस क्षेत्र में बोये तो बीज जल जाता है – ऐसा बीज हम व्यर्थ नहीं रखते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

आत्मा का स्वरूप समझने के प्रयोजन से... देखो, फिर विशिष्टता क्या? कि एक तो चार गति का त्रास जिसे वर्तता है और मोक्ष की अभिलाषा, उसे मुझे कहना है क्या? यह आत्मा का स्वरूप – एक बात, भाई! आहा...हा...! पुण्य करेगा तो ऐसा करेगा, व्यवहार करेगा यह बात ही यहाँ नहीं है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! आत्मा का सम्बोधन, आत्मा का स्वरूप समझाने के लिये, एक बात है। तेरा स्वरूप क्या है? तेरे अन्दर जात क्या है? भाई! तेरे स्वरूप में क्या पड़ा है? और यह विकार-फिकार वह तेरी जाति नहीं है – ऐसे आत्मा के स्वरूप को समझाने के लिये **एकाग्र मन से...** मैं भी अभी मेरे एकाग्र मन से दोहे की रचना करूँगा। लो, समझ में आया। कहते हैं, समझाना है उसे आत्मा का स्वरूप, हाँ! एक बात कही। आहा...हा...! आत्मा का सम्बोधन, भाई! तू यह है न! तेरा स्वरूप यह है न भाई! राग और विकार रहित तेरी वस्तु है न! वह मुझे समझाना है क्योंकि इस चार गति से डरा है, मोक्ष का अभिलाषी है, उसे इतना स्वरूप समझाते हैं। उसके लिये मैं भी एकाग्र मन से दोहे की रचना करूँगा। मेरा भी बराबर एकाग्र मन से जो भाव उसमें चाहिए, वह आयेगा, मैं उसकी रचना करूँगा। ऐसा कहकर यह तीन दोहे माङ्गलिकरूप से कहे हैं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव)

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ४, मंगलवार, दिनाङ्क ०७-०६-१९६६

गाथा ४ से ६ प्रवचन नं. २

यह योगसार चलता है। योगीन्द्रदेव एक आचार्य दिगम्बर मुनि हुए हैं। उन्होंने इस 'योगसार' (अर्थात्) आत्मा के स्वभाव का व्यापार कैसे करना? और यह कैसे भूला है? - इसमें अधिकार (कहते हैं)। भूला है - यह भी खोटा भाव है न? यह योगसार है। स्वरूप में कैसे रमना? परन्तु यह किसके लिए कहते हैं? एक तो चार गति के भव के भय से दु:खी हुआ हो। चार गति के दु:ख से डर लगा हो और जिसे मोक्ष की लालसा, अभिलाषा हो, उसके लिए यह योगसार है। यह इसकी पहली शर्त है।

मुमुक्षु - देवगति में तो लाभ है न?

उत्तर - देवगति में धूल में भी लाभ नहीं है। देवगति में क्या लाभ है? है? देवगति में लाभ है? दु:ख है, दु:ख। वहाँ चार गति का दु:ख कहा है। श्वेताम्बर में एक ऐसा दृष्टान्त आता है कि 'लावो देवमयीभवी' - उत्तराध्ययन में (आता है)। देवगति का मनुष्यपना प्राप्त किया था, उसमें से मनुष्यपना प्राप्त करे तो मूल से पूँजी रही। मनुष्यपने में नारकी में जाए तो पूँजी खोई। देव होवे तो लाभ हुआ। सुना है? आता है। यह धूल में भी लाभ नहीं है।

यहाँ तो पहले से चार गति में परिभ्रमण करना जो दु:ख है और जिसे चार गति के दु:ख का भय लगा है; स्वर्ग में उत्पन्न होना भी भय है, दु:ख है, आकुलता है; वहाँ कहीं शान्ति नहीं है। समझ में आया? इससे कहते हैं। वह उत्तराध्ययन में आता है, भाई! व्यापारी का दृष्टान्त दिया है। दस हजार की पूँजी हो और दस हजार को संभाले तो मूल से पूँजी रही; खोवे तो गई; बढ़ावे तो पूँजी बढ़ाई। इस प्रकार मनुष्यपना प्राप्त करके मनुश्रूपना होवे तो पूँजी बराबर रखी; मनुष्यपना (पाये पीछे) नरक में जाए तो पूँजी खोई

और मनुष्यपना मरकर 'देव होवे तो' यह याद आ गया अभी। उसमें ऐसा है। देव पाये तो लाभ पाया। धूल में पाया। समझ में आया? देव में लाभ कहाँ? यहाँ तो चार गति का पाना ही दु:ख और अलाभ है। आहा...हा...!

प्रश्न – उसकी अपेक्षा तो ठीक है न?

उत्तर – जरा भी अच्छा नहीं है। उसकी अपेक्षा अच्छा क्या धूल होगा? चारों गतियाँ भट्टी (हैं) यह आकुलता के दु:ख से भट्टी जलती है। है? सच्चा होगा? तुम्हें कहाँ उसका अनुभव है? इसलिए इतनी बात की है कि जिसे भय (लगा है – ऐसा) तीसरी गाथा में आया था।

संसारहँ भयभीयहँ, मोक्खहँ लालसियाहँ।
अप्पा-संबोहण-कयइ, दोहा एक्कमणाहँ ॥३॥

जिसे आत्मा को चार गति में भटकने का त्रास लगा है और जिसे आत्मा की मोक्षदशा की ही अभिलाषा और लालसा है, उसके लिए मैं यह एक मन से, एकाग्र होकर यह योगसार शास्त्र, दोहा कहता हूँ – ऐसा कहते हैं। अब, लिया देखो! संसार का पहला कारण।

☆ ★ ☆

संसार का कारण : मिथ्यादर्शन

कालु अणाइ अणाइ जिउ, भव-सायरु जि अणंतु।
मिच्छा-दंसण-मोहियउ, णवि सुह दुक्ख जि पत्तु॥४॥

जीव काल संसार यह, कहे अनादि अनन्त।
मिथ्यामति मोहित दु:खी, सुख नहिं कभी लहन्त॥

अन्वयार्थ – **(कालू अणाइ)** काल अनादि है **(जिउ अणाइ)** संसारी जीव अनादि है, **(भव सायरु जि अणंतु)** संसारसागर भी अनादि अनन्त है, **(मिच्छादंसणमोहियउ)** मिथ्यादर्शन कर्म के कारण मोही होता हुआ जीव **(सुह ण वि दुक्ख जि पत्तु)** सुख नहीं पाता है, दु:ख ही पाता है।

☆ ★ ☆

मिथ्यादर्शन संसार का कारण है। इसमें कर्म खोलेंगे। यहाँ कर्म की जरूरत नहीं है, तो भी अर्थ करेंगे।

कालु अणाइ अणाइ जिउ, भव-सायरु जि अणंतु।
मिच्छा-दंसण-मोहियउ, णवि सुह दुक्ख जि पत्तु॥४॥

काल अनादि है.... अनादि का काल है। किसी समय काल की आदि है? जब पूछो तब काल अनादि है। वर्तमान, भूत और भविष्य – ऐसा अनादि काल चला आता है। अनादि का काल है। आचार्य, तीन साथ में लेते हैं। अनादि काल, जीव अनादि। संसार में भटकनेवाले जीव भी अनादि हैं। निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक, चार गतियों में भटकनेवाले दु:खी, दु:खी, दु:खी हैं। एक थोड़ी-सी प्रतिकूलता आती है वहाँ चिल्लाता है। एक जरा-सी अनुकूलता आवे, वहाँ हर्ष का सबड़का मानता है। मानता है, सबड़का मानता है। धूल में भी नहीं है। दु:खी... दु:खी... दु:खी है। जरा कोई पाँच-पचास लाख मिले, अभी तो पाँच-पचास लाख में भी सुख नहीं होता।

मुमुक्षु – रुपये की कीमत घट गयी है।

उत्तर – कीमत घट गयी, कोई रास्ते में कहा था कि रुपया घट गया। कोई कहता था, हैं? रुपये का भाव घट गया – ऐसा कहता था कोई। क्या कहता था, नहीं? सवेरे। रुपया का भाव घट गया, कहता था। छत्तीस, घट गया – ऐसा कुछ होगा। अपने को कुछ पता नहीं पड़ता। रुपये का भाव (क्या)? रुपया तो है वह है। कल्पना में घालमेल किया – ऐसा कुछ आया है या नहीं? तुम्हें तो सब पता होता है।

काल अनादि और संसारिक जीव भी अनादि। संसारी जीव अनादि। इसमें यह सिद्ध करना है न? उसमें से सिद्धपने का उपदेश देना है। संसारी जीव भी अनादि के परिभ्रमण करते हैं। कभी संसार नहीं था और जीव को संसार नया हुआ है। ऐसा है नहीं। कल कोई प्रश्न करता था, भाई! है? यह अशुद्धता आयी कहाँ से? यह संसार आया कहाँ से? संसार पर्याय में अशुद्धता अनादि की है। फिर दोनों बाहर बातें करते थे। मैं अन्दर सुनता था, उस सोने के पत्थर की.... सोना और पत्थर दोनों इकट्ठे हुए।

यह तो अनादि का आत्मा है, समझ में आया? और यह आत्मा सत्तारूप से अनादि और उसकी पर्याय भी अनादि की है, मलिन पर्याय अनादि की है। समझ में आया? गन्ने का रस और छिलका दोनों इकट्ठे हैं। पहले छिलका नहीं था और रस के साथ छिलका लगा, ऐसा है? सेरड़ी – गन्ना... समझ में आता है? इसी प्रकार खान में सोना और पत्थर दोनों साथ ही है। पहले सोना था और फिर पत्थर लगा, ऐसा है नहीं। इसी प्रकार दूध में पानी और दूध दोनों दूहने में इकट्ठे होते हैं। पानी बाद में दूध में आया ऐसा नहीं है, हाँ! दूसरे डाल दें वह नहीं, अन्दर पानी होता ही है। जब उबलते हैं तब मावा होकर पानी उड़ जाता है। पानी और दूध का भाग दोनों इकट्ठे ही हैं। इसी प्रकार तल तिल और तेल, खल और तेल, तिल में होती है न खल? खल और तेल... पहले, बाद में किसे कहना? खल... खल। खल अर्थात् ***कूंचा*** और तेल दोनों साथ ही हैं। भिन्न करो तो हो सकते हैं। इसी प्रकार जीव अनादि है। चकमक में अग्नि अनादि है। चकमक में अग्नि और चकमक दोनों अनादि के साथ हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार संसार की अशुद्ध मलिनदशा, ...जो आत्मा शुद्ध द्रव्यरूप अनादि से है.... 'शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन' ध्रुव द्रव्य ध्रुवरूप से अनादि है और उसकी पर्याय मलिन वह अनादि की है, पहले निर्मल थी और बाद में मलिन हुई – ऐसा है नहीं, ऐसा होता नहीं। कच्चे चने को सेंके तो उगते नहीं परन्तु जहाँ तक कच्चा है वहाँ तक उगता है। यह चने की कच्चेपन की दशा पहले से ही है। समझ में आया? यह चना होता है न? चना, पहले से ही वह कच्चा है। ऐसा नहीं है कि पहले सिंका हुआ था और फिर कच्चापन लगा – ऐसा नहीं है। इसी प्रकार आत्मा संसार की विकारी दशावाला, वस्तु से तो शुद्ध चिदानन्द, सद्चिदानन्दस्वरूप है, तथापि इस पर्याय में विकार कैसे आया? (यह) बड़े-बड़े त्यागियों को भी शंका थी, बहुतों को शंका है, लो न! आया इसमें। देखो! समझ में आया? ऐ...ई...! कर्म के कारण मलिन, कर्म के कारण मलिन – ऐसा भी नहीं है। समझ में आया?

यह जीव अनादि, संसारी मलिन दशा है, मलिनता न हो तो इसे आनन्द का अनुभव चाहिए और आनन्द अन्दर न हो तो आनन्द आयेगा कहाँ से? यदि अन्दर में आनन्द न हो तो आनन्द प्राप्त कहाँ से होगा? और मलिनता ही न हो, तब तो इसे पुरुषार्थ करना,

समझना, श्रद्धा करना यह कुछ नहीं रहता। शास्त्र क्या, उसे समझना कुछ नहीं रहता। समझ में आया? इसलिए **संसारी जीव अनादि है**। दो बातें (की)।

तीसरा **भव सायरुजि अणतुं** चौरासी के अवतार भी अनादि के हैं। कोई पहला अवतार है – ऐसा है नहीं। नरक में अनन्त बार गया, स्वर्ग में अनन्त बार गया, निगोद में अनन्त भव किये – पशु में अनन्त बार गया; मनुष्य अनन्त बार हुआ। यह भवसागर महा गहरा अनादि का है – ऐसा कहते हैं। काल अनादि, भगवान जीव भूला हुआ अनादि... 'अपने को आप भूलकर हैरान हो गया।' स्वयं ही स्वयं को अनादि से भूला हुआ है क्योंकि इसकी दृष्टि इन्द्रिय ऊपर है। भगवान अन्दर कौन है? इसका उसे पता नहीं है। उसका माहात्म्य नहीं है, इसलिए कर्मजन्य उपाधि, उसके लक्ष्य से उसके अस्तित्व में अपना अस्तित्व स्वीकार किया है। इस प्रकार स्वयं सत्ता भिन्न आनन्दकन्द है – ऐसी स्वसत्ता की अन्तर्मुखदृष्टि नहीं है। बहिर्मुखदृष्टि में इन्द्रियाँ, अल्पज्ञान, राग-द्वेष आदि का अस्तित्व दिखाई देता है। समझ में आया? वह संसार है।

संसार सागर भी अनादि अनन्त है... लो, समझ में आया? अनादि अनन्त है। भव सागर अनादि है, इतना। समझ में आया? संसार अनादि है। यहाँ तीन लेना है। अनादि लेना है, भविष्य की बात नहीं लेना... भव सागर भी अनादि का है। अब कैसे अनादि का और कैसे संसार है? काल अनादि, जीव अनादि, भव सागर भी अनादि। वह है कैसे इस भव सागर का भटकना? उसका सिद्धान्त सिद्ध करते हैं।

मिच्छादंसण मोहियउ लो! मिथ्याश्रद्धा से मोहित होता हुआ... यह सिद्धान्त है अकेला। कर्म-फर्म के कारण नहीं, हाँ! मिथ्याश्रद्धा से मोहित, भगवान आत्मा के आनन्दस्वभाव को भूला हुआ और पुण्य और पाप के भाव, शरीरादिक की क्रिया, उसका अस्तित्व ऐसा देखता है। अन्दर में पूर्ण अस्तित्व है, उसका इसे पता नहीं है; पता नहीं है इसी का नाम मिथ्यात्व है। अज्ञान, मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व – ऐसे मिथ्यात्वों से अनादि काल से मोहित है। मिथ्याश्रद्धा में विमोहित है, उसमें इसे रुचि है, उसमें इसकी प्रीति है। जगत की कर्मजन्य उपाधि के संयोग में इसकी लगन लगी है, मिथ्यादर्शन के मोह के कारण... समझ में आया? जिसमें सुख नहीं है, उसमें सुख मानता

है; जिसमें दु:ख है, उसमें सुख मानता है; दु:ख है, उसे सुख मानता है। यह भाव इसे क्यों है ? मिथ्यादर्शन के कारण मोहित हुआ। समझ में आया ? विपरीत श्रद्धा की। भगवान आत्मा पूर्णानन्द (स्वरूप है)।

'उपजे मोह विकल्प से' आता है न, श्रीमद् में ? 'उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार, उपजे मोह विकल्प से'। वहाँ कर्म-फर्म की बात नहीं है। पर में सावधानी, राग में पुण्य में उसके फल में, इस मिट्टी में, इन्द्रियों में, शरीर में, उसकी अवस्था में, बाहर की सुविधाओं में, असुविधाओं में इसमें मुझे यह दु:ख और मुझे यह सुख - ऐसी कल्पना, वह मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ? 'उपजे मोह विकल्प से' स्वरूप के भान बिना पर की सावधानी की मिथ्याश्रद्धा से 'उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार'। यह सारा संसार विकार में उत्पन्न होता है।

'अन्तर्मुख अवलोकते' परन्तु भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, सच्चिदानन्द प्रभु है, ऐसे 'अन्तर्मुख अवलोकते विलय होत नहीं वार'। संसार का व्यय होकर मुक्ति का उत्पाद होवे, उसमें इसे देर नहीं लगती परन्तु इस मिथ्यादर्शन के कारण अनादि से मोहित है। आहा...हा...! एक जरा सी सुविधा मिले वहाँ तो ऐसा मानो... आहा...हा...! पच्चीस (रुपये) का वेतन हो और तीस (होकर) पाँच बढ़े, वहाँ तो इसे घर में हर्ष होता है, लो! पाँच बढ़े वहाँ (ऐसा कहता है) आज लापसी करो, लो! महीने में पाँच बढ़े, बारह महीने में साठ बढ़े... हैं ? और जहाँ इससे कुछ और पाँच घटे और कुछ गुनाह हुआ... जाओ...! हाय...हाय...! समझ में आया ? मोह के कारण, व्यर्थ का... बाहर में घटा-बढ़ा वह कहाँ तेरे आत्मा को छूता है ? परन्तु कल्पना से बड़ा और कल्पना से घटा... अज्ञानी ऐसा मानता है। लड़का हुआ, लड़का अब हमारा वंश रहा, हमारे धूल रही, तेरा वंश वहाँ कहाँ से रहा ? तू यहाँ और वहाँ वंश कहाँ से आया ? समझ में आया ? कुछ दुकान बढ़िया चली (तो).... आहा...हा...! अब हम बढ़े, हाँ! हरिभाई!

'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये' - सोलह वर्ष में पुकार करते हैं, हाँ! 'परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि नय पर तौलिये'.... अरे! मिथ्या मोह के कारण यह बढ़ा, मेरा वेतन बढ़ा, मेरा वेतन। तेरा वेतन अर्थात् क्या ? आत्मा का वेतन बढ़ा ?

दो हजार के पाँच हजार हुए, हैं ? पहले साधारण व्यापार करते थे, उसमें पाँच हजार की आमदनी थी। अभी तो पचास-पचास हजार की आमदनी हो गयी। अभी बहुत बादशाही है। मूढ़ है न ? परन्तु मूर्ख !

किसकी ? होली सुलगती है वहाँ। कषाय और मोह वह मिथ्याश्रद्धा से इस मान्यता में सब संसार खड़ा किया, वहाँ कहाँ सुख और दुःख था ? ओ...हो... ! कैसे होगा ? धीरुभाई ! हैं, कान्तिभाई ! पाँच सौ-पाँच सौ का वेतन हो, अकेला हो, लो ! तो वह कितना अधिक अनुकूल लगेगा, सब व्यवस्था (होवे) आहा...हा... ! धूल में भी नहीं। विपरीत मान्यता से मोहित यह पर में सुविधा-असुविधा अज्ञानी मान रहा है। कहो, बाबूभाई ! क्या होगा यह ? लो, शब्द क्या है ? एक तो काल अनादि, संसार अनादि, भवसागर अनादि। संसारी (अर्थात्) जीव अनादि, ऐसा।

मुमुक्षु - अनन्त लिखा है। भवसागर अनन्त....

उत्तर - यह भव सागर अनन्त है न अनादि का ? अनन्त संसार है। अनादि का अनन्त है। आहा...हा... ! कहीं अन्त है ? चौरासी के अवतार में कहाँ इसका अन्त है ? अनन्त भव... अनन्त भव... अनन्त भव... अनन्त-अनन्त भव। उसमें मिथ्यादर्शन से मोहित है, वर्तमान बात करते हैं। जहाँ-जहाँ तू है, वहाँ तेरी विपरीत श्रद्धा से मोहित है। यह महान संसार का मूल कारण पहले लिया है। समझ में आया ? सात व्यसन से भी यह पाप बड़ा है, यह बाहर के इन्द्रिय संयम और बाहर का त्याग करे परन्तु अन्दर में जिसे अभी दया-दान के भाव हुए, मुझे धर्म है, उनसे धर्म होगा (-ऐसे) मिथ्यादर्शन में मोहित प्राणी अनादि का अज्ञानी है। समझ में आया ? आहा...हा... !

बाहर का जरा त्याग हुआ और संयम लिया ऐसा माना। कहाँ संयम था ? आत्मा के भान बिना, सम्यग्दर्शन और अनुभव के बिना जो चैतन्यमूर्ति आनन्द है, उसका तो अन्दर में भान नहीं और यह दया-दान-व्रत-भक्ति और क्रियाकाण्ड यह सब तो राग है। इस राग का विवेक सम्यग्दर्शन से होता है, मिथ्यादर्शन में इसका अविवेक रहता है, विपरीत श्रद्धा के कारण उसका अत्याग रहता है।

मुमुक्षु - किसका ?

उत्तर – राग का। श्रद्धा में राग का अत्याग, वह मिथ्यादर्शन से मोहित, विकल्प की सूक्ष्मता, दया, दान, व्रतादि का जो अन्दर उठे, उसे मिथ्यादर्शन से मोहित प्राणी उसे स्वयं को लाभदायक मानता है। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु – पूरा जगत मानता है।

उत्तर – पूरा जगत उसमें पड़ा है। यह तो अनादि की बात करते हैं। साधु होकर बैठा... साधु किसे कहना ? आत्मा का भान तो अभी है नहीं। जिसमें अनादि उदय संसार, स्वभाव में नहीं, उसे एक समय का राग विकल्प मेरा है, लाभदायक माना है, वह महामिथ्यादर्शन से मोहित प्राणी है। समझ में आया ? उसका सब त्याग और बाहर का वैराग्य वह अज्ञान-पाड़ा खा जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

एक ही बात ली है – **मिच्छादंसण मोहियउ** समझ में आया ? फिर सातवीं गाथा में कर्म नहीं डाला, देखा था, उन्होंने वहाँ क्या किया है ? सातवीं में आता है न ? वहाँ भी मिथ्यादर्शन आता है, हाँ ! सातवें में कहीं आता है न ? सातवें में आता है, सात में। वहाँ भी **मिच्छादंसण मोहियउ** वहाँ मिथ्यादर्शन और मोही जीव इतना लिया है। मैंने कहा, वहाँ क्या लिया है ? पहले से डाल न ! भाई ! मूल कर्म बिना तो लोगों को चलता नहीं, हैं ! क्या कहा ?

मुमुक्षु – रट गया है।

उत्तर – रट गया है, भाई ! तेरा आत्मा उस राग के बिना रह सके ऐसा तत्त्व है। उसे तू रागसहित रह सकता हूँ, उसके बिना नहीं रह सकता, यह मिथ्यादर्शन से मोहित मूढ़ बहिरात्मा है। समझ में आया ? अथवा यह बहिर अर्थात् रागादि पुण्यभाव दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव, उसके द्वारा मेरा निश्चय प्राप्त होगा, वह मिथ्यादर्शन से मोहित प्राणी राग का त्याग करना नहीं चाहता। समझ में आया ?

मिच्छादंसण मोहियउ मोहि होता हुआ.... सुह ण वि – सुख प्राप्त नहीं करता... लो ! यह सिद्धान्त। फिर शब्द वहाँ यह लिया है। मिथ्याश्रद्धा से मोहित प्राणी सुख को प्राप्त नहीं करता। सुख और दुःख ऊपर ही शुरुआत की है क्योंकि दुनिया को सुख चाहिए है न ? मिथ्याश्रद्धा के कारण, वह गहरे-गहरे जिसे आत्मा के स्वभाव का पता

रहित पुण्य-पाप के भाव व्रत, भक्ति, जप, तप का भाव यह राग, मोह, विकार है। इस विकार में मोहित प्राणी इस ऐसे स्वभाव में सावधान नहीं होता है। मोही प्राणी सुख को प्राप्त नहीं करता, आत्मा की ओर नजर नहीं करता और यहाँ मोहित उस सुख को प्राप्त नहीं करता। तब क्या प्राप्त करता है? दु:ख। समझ में आया?

अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, उसे इस राग और विकल्प में मोहित प्राणी, उनमें सावधान में एकाकार हुआ, आंशिक सुख को प्राप्त न करता हुआ दु:ख को ही प्राप्त करता है। संसार के सुख-दु:ख दोनों को यहाँ दु:ख में गिनने में आया है। यह सुख जो कहा, वह आत्मा के सुख की बात कहने में आयी है। समझ में आया? यह जो सुख कहा, वह संसार की बात नहीं है।

सुह ण वि कल दोपहर में आया था, वह सुन्दर सुख आया था या नहीं? वह यहाँ बात नहीं है। आत्मा के सुख को (प्राप्त नहीं करता) क्योंकि अपना निज स्वरूप अखण्ड ज्ञायक शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, जिसमें राग के कण की मिलावट, मिलाप नहीं। मिलावट और मिलाप नहीं। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पंच महाव्रत के परिणाम का राग उसे और स्वभाव को मिलाप नहीं, तथापि अज्ञानी उसे अपना रूप, स्वरूप छोड़ने योग्य नहीं अर्थात् मुझसे भिन्न पड़ने योग्य नहीं - ऐसा मानकर मिथ्यादर्शन से अकेला दु:खी... दु:खी और दु:खी हो रहा है। जरा भी आत्मा के आनन्द के सम्यग्दर्शन के अन्तर्मुखता के सुख को मिथ्यादर्शन में प्राप्त नहीं करता। कहो समझ में आया? चौथी गाथा (पूरी) हुई। अपने को तो यहाँ गाथा का सार-सार लेना है न? पाँचवीं।

☆ ★ ☆

मोक्षसुख का कारण : आत्मध्यान

जइ बीहउ चउ-गइ-गमण, तो पर-भाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ, जिम सिव-सुक्ख लहेहि॥५॥

चार गति दु:ख से डरे, तो तज सब परभाव।
शुद्धात्म चिन्तन करि, लो शिव सुख का भाव॥

अन्वयार्थ - **(जई)** यदि **(चउगइगमणु वीहउ)** चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है **(तो)** तो **(परभाव चएवि)** परभावों को छोड़ दे **(णिम्मलउ अप्पा झायहि)** निर्मल आत्मा का ध्यान कर **(जिम)** जिससे **(सिवसुक्ख लहेवि)** मोक्ष के सुख को तू पा सके।

☆ ★ ☆

अब, उसके सामने गुलांट खाता है, देखो! मिथ्यादर्शन से मोहित जीव चौरासी में भटकता है। समझ में आया? अन्तिम ग्रैवेयक, नौवें ग्रैवेयक (गया) 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो, पे निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो' नौवें ग्रैवेयक में, दिगम्बर साधु पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, वह मूढ़ जीव है। अट्ठाईस मूलगुण वह राग है, उसमें हित मानता है। मिथ्याश्रद्धा से मोहित प्राणी मूढ़ है, उसे आत्मा के ज्ञान और आनन्द का पता नहीं है। ऐसे वह पालने से मरकर चार गति में भटकनेवाला है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उसके सामने अब बात है, लो!

दुःख का कारण मिथ्यादर्शन कहा, उसमें जरा भी सुख नहीं है। उसमें - मिथ्याश्रद्धा में कहाँ से (होगा)? लोग मिथ्यादर्शन की व्याख्या ही संक्षिप्त करते हैं। समझ में आया? हम देव-शास्त्र-गुरु को मानते हैं, कुदेव-कुगुरु को नहीं मानते, हम पंच महाव्रत पालन करते हैं... परन्तु यह पंच महाव्रत राग है, वह मेरा है उन्हें पालन करूँ और (वे) रखने योग्य है, उस भाव को ही मिथ्यादर्शन कहा है। सुन न! उस जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, वह अज्ञानी है। भले दिगम्बर साधु त्यागी होकर बैठा हो परन्तु उसके पंच महाव्रत के... है तो कहाँ उसके पास? परन्तु ऐसा कोई दया, दान, राग की मन्दता का भाव मुझे हितकर है, मुझे लाभदायक है, वह मिथ्यादर्शन से मोहित है। जिसे मिथ्यादर्शन का जहर चढ़ा है। समझ में आया? उसे जरा भी आत्मा के अमृत का स्वाद नहीं होता।

मोक्षसुख का कारण : आत्मध्यान। देखो यह कहा, व्यवहार - भ्यवहार नहीं - ऐसा कहते हैं देखो!

जइ बीहउ चउ-गइ-गमण, तो पर-भाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ, जिम सिव-सुक्ख लहेहि ॥५॥

ओ...हो... ! संसार में परिभ्रमण का कारण एक मिथ्यादर्शन भाव कहा, तब मुक्ति के उपाय के लिए एक आत्मध्यान कहा। बात गुलाँट खाती है, समझ में आया ? यह शुभ-अशुभविकल्प, राग यह बहिर चीज स्वरूप में नहीं है। इसे हितकर मानना ही मिथ्यादर्शन और मोह है। मिथ्यादर्शन में मोहित जीव है। जबकि आत्मा के मोक्ष का कारण, आत्मा के धर्म का कारण कौन ? कि **जो चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है...** फिर से लिया, चार गति... पहले समुच्चय बात थी। पहले भाषा में समुच्चय थी, यह चार गति स्पष्ट की। समझ में आया ? इतना था यह, समुच्चय था।

यहाँ चार गति का भय (कहकर) खुला कर दिया। जिसे स्वर्ग में अवतरना है... यह दया, दान, व्रत, भक्ति पालन कर... वह भी दुःखरूप है। चार गति में स्वर्ग में अवतरित होना, वह दुःखरूप है। कितने ही कहते हैं भाई ! अपने अभी पुण्य करो, व्रत पालो, स्वर्ग में जाऊँगा फिर भगवान के पास जाऊँगा... धूल में भी नहीं जा। यहाँ अभी तो आत्मा का अनादर करता जाता है, भगवान का निषेध करता है। भगवान ने कहा – तेरा आत्मा अन्दर आनन्द है इस क्रियाकाण्ड में – दया, दान, व्रत के परिणाम से तुझे आत्मा का हित नहीं है – ऐसा भगवान ने कहा, वह तो यहाँ मानता नहीं। समझ में आया ? इस प्रकार जिसे चार गति के दुःख का त्रास है, भय है, भय.... आहा...हा... !

चारों गतियों के भ्रमण से भयभीत है.... समझ में आया ? दूसरी एक बात आती है, उस बैल की। एक बैल था और उसे नाथ करने के लिए लुहार के यहाँ ले गये थे। दुःख तो बहुत होता है, उसमें बैल खो गया तो ढूँढ़ने के लिए लुहार के यहाँ आये। (वहाँ जाकर पूछते हैं), यहाँ नहीं ? (लुहार कहता है) परन्तु यहाँ नहीं आयेगा। तू कहाँ ढूंढ़ने आया ? किसी न किसी के खेत में देखने जा तो ठीक है, यहाँ नाथ के लिए आया था, वहाँ फिर से आयेगा ? नाथ करते हैं या नहीं ? पैर बाँधे हों, लोहे से ऐसा करके नाथ करते हैं। उसमें आठ-पन्द्रह दिन में बैल खो गया। यहाँ आया है ? परन्तु यहाँ नहीं आयेगा। यहाँ तो नाथ करे, वहाँ आता होगा ? इसी प्रकार चौरासी की गति में जिसे त्रास (लगा) है, वह फिर से गति में अवतरित नहीं होता। उसके लिए यह बात करते हैं, कहते हैं। समझ में आया ? तब क्या करना ?

....भयभीत हुआ हो तो परभावों को छोड़ दे। एक सिद्धान्त, बहुत संक्षिप्त, अत्यन्त संक्षिप्त। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, यह पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, तप और जप – यह सब राग परभाव है, परभाव है। इसे श्रद्धा में से छोड़! यहाँ से बात शुरु की है। समझ में आया? यदि चार गति से भय पाया हो (तो) **परभावों को छोड़ दे।** बहुत संक्षिप्त बात। यहाँ उसका अर्थ है कि जो लोग ऐसा कहते हैं न कि भाई! व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त होगा.... यहाँ कहते हैं कि जो व्यवहार है, वह परभाव है, उसे छोड़ तो आत्मा प्राप्त होगा। आहा...हा...! समझ में आया?

यही पुकार करते हैं। व्यवहार करो... व्यवहार करो... भाई! पहले व्यवहार करो- दया पालो, संयम पालो, इन्द्रिय दमन करो। धूल में भी तेरा पालन राग है। सुन न!

मुमुक्षु – विभाव की ठीक से सम्हाल रखते हैं।

उत्तर – हाँ, सम्हाल रखो। विभाव की सम्हाल रखो (-ऐसा) उसका अर्थ हुआ या नहीं? समझ में आया या नहीं? वह कल भी कोई आया था, भाई! जयपुरवाला... वह कहता था कि अब गड़बड़ तो बाहर चली है। वह हमारे स्थानकवासी में बड़ा विद्वान है- गति... कैसा? गतिलाल, गतिलालजी पाटनी। वे यह आत्मधर्म पढ़ते हैं, स्थानकवासी हैं, बड़े से बड़ा पण्डित है, वह यह पढ़ता है कि निश्चय के बिना व्यवहार-फ्यवहार नहीं होता। पूरे साधु सब अभी ऐसा कहते हैं। अब निश्चय की बात करने लगे हैं। निश्चय से मुक्ति होती है, यह बात सत्य परन्तु व्यवहार के बिना नहीं होती – यह बात भी सत्य। इसलिए परभाव का अभाव करना – ऐसा नहीं। समझ में आया? व्यवहार अर्थात् परभाव। व्यवहार का अर्थ दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप का विकल्प उठता है, वह सब परभाव है। वह व्यवहार अर्थात् परभाव, उस परभाव के बिना नहीं चलता, निश्चय उसके बिना नहीं होता। (-ऐसा माननेवाले) मूढ़ है। यहाँ तो पहले से ही कहा है, देखो! क्या कहते हैं? आहा...हा...!

परभाव चहवि 'चहवि' अर्थात् छोड़ दे। तेरी दृष्टि में यह मिथ्यात्वभाव पड़ा है। यह परभाव हो, कुछ-कुछ राग की मन्दता हो, कषाय की मन्दता हो, तो अपने.... वह कहता था, अशुभ में से शुभ और शुभ में से शुद्ध (होंगे)। बातें तो चलने लगी हैं, (ऐसा

वह) कहता है। धूल में भी नहीं होता। शुभ को छोड़ तो लाभ होता है, शुभ में से शुद्धता होती है ऐसा नहीं। समझ में आया? यह क्या कहा? देखो! पढ़ो।

जइ वीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि। परभाव की व्याख्या क्या? जितना भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा का भण्डार है, उससे (विपरीत) जितना एक तीर्थंकर गोत्र जिस भाव से बाँधे, वह परभाव, परभाव, परभाव है। समझ में आया? यदि तुझे चार गति के दु:ख का भय लगा हो तो परभाव को छोड़। **परभाव चहवि** छोड़ दे परभाव। यह परभाव माने तो न! सावद्ययोग प्रत्याख्यान, फिर ऐसा कहता था। सावद्ययोग का प्रत्याख्यान होता है। सुन न! शुभभाव के प्रत्याख्यान उस समय छूटता नहीं, इसलिए ऐसा करते हैं। दृष्टि में तो समस्त भाव का निषेध है। समझ में आया? सावद्ययोग के प्रत्याख्यान में अशुभ छूट जाता है और शुभ दृष्टि में से छूटता है परन्तु अस्थिरता में से नहीं छूटता, इतना सावद्ययोग का त्याग करता है। दृष्टि में से तो सब पाप और पुण्य परिणाम का त्याग है। अस्थिरता के नहीं छूटते इसलिए सावद्ययोग का इस प्रकार त्याग किया जाता है। **कर्मे हणं ते** सामायिक, सावद्ययोग और प्रत्याख्यान। उसे एक पत्र आया था न? एक पत्र आया था। सामायिक-महावीर की सामायिक का हम बहुत प्रचार करते हैं। कहा, महावीर की सामायिक को पहचानना तो पड़ेगा, सामायिक किसे कहना? यह बैठा ऐसा करके, णमो अरिहंताणं बोले वह सामायिक? मिथ्यादर्शन की बड़ी शल्य तो अन्दर पड़ी है।

मुमुक्षु – बोलता है....

उत्तर – बोले उसमें क्या? राग मुझे लाभदायक, यह शरीर मुझे है, इसका अर्थ यह हुआ। राग मुझे लाभदायक है (–ऐसा माननेवाला) इस शरीर को जीव मानता है। समझ में आया? एक कहता था, शरीर और जीव भिन्न है। अरे...! शरीर और जीव भिन्न का अर्थ – शरीर, कर्म, राग, पुण्य-पाप, यह सब शरीर है। भगवान आत्मा तो चिदानन्द ज्ञातास्वरूप है। राग के कण को भी अपना माने, वह बहिरआत्मा, शरीर को ही आत्मा मानता है। समझ में आया? क्योंकि राग का लक्ष्य जाएगा, शरीर की क्रिया पर और वह क्रिया होगी उसे मानेगा कि इसकी क्रिया कर सकता हूँ।

'परभाव चहवि' कहते हैं, यदि तुझे चार गति का डर लगा हो (तो) परभाव

छोड़। देखो ! पहले त्याग की बात की... यह त्याग... किसका त्याग ? इस शुभ-अशुभभाव का त्याग। घरबार कब आ गये थे तो उनका त्याग करे ? घरबार तो उनके घर में बाहर ही पड़े हैं। यहाँ कहाँ अन्दर में आ गये हैं ? यह (गति) थी, उसकी पर्याय में उसकी बात करते हैं। उसकी पर्याय में पर्यायरूप से पकड़ा हुआ परभाव, उसे द्रव्यदृष्टि से तू छोड़। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह कहेंगे, देखो ! छोड़कर फिर करना क्या ? यहाँ तो अभी परभाव को छुड़ाकर पूरी लम्बी व्याख्या है। व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी परभाव है। समझ में आया ? दया, दान, व्रत, भक्ति का परिणाम परभाव है। छोड़ ! वह गति का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं।

'अप्पा झायहि णिम्मलउ' अब तब करना क्या ? यह तो नास्ति हुई। **निर्मल आत्मा का ध्यान कर....** लो ! यह मोक्ष का मार्ग... भगवान आत्मा निर्मल... निर्मल क्यों लिया ? कि दूसरी अशुद्ध पर्याय मलिन दिखती है न ? उस अशुद्धता को छोड़ - ऐसा कहा। अशुद्ध जो विकारी पर्याय है, पुण्यादि, वह तो छोड़ने योग्य है। तब अब (कहते हैं) आत्मा का ध्यान (कर) ! परन्तु आत्मा कैसा है, यह समझे बिना ध्यान किसका करेगा ? समझ में आया ? अनादि अनन्त सच्चिदानन्द स्वसत्ता से विराजमान पूर्णानन्द का नाथ केवलज्ञान सत्ता से भरपूर तत्त्व है। अकेला केवलज्ञान से भरा हुआ तत्त्व है। ऐसे भगवान आत्मा को, जिसमें अनन्त निर्मल गुण पड़े हैं, निर्मल गुण पड़े हैं ! मलिनता का त्याग, निर्मल गुणों से भरे हुए भगवान का ध्यान उसकी पर्याय में कर - ऐसा कहते हैं।

अप्पा यह वस्तु है। **अप्पा** यह वस्तु है - निर्मल आत्मा। ध्यान कर, यह पर्याय है। क्या कहा ? मोक्ष के सुख का उपाय, यह मोक्ष का मार्ग.... आत्मा अखण्डानन्द आनन्दकन्द ज्ञानमूर्ति, उसका ध्यान करना, वह मोक्ष का मार्ग है। ध्यान में दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों आ गये हैं। अपनी सत्ता शुद्ध सत्तावाला पदार्थ, अशुद्ध मलिनता का जहाँ त्याग (हुआ), वहाँ शुद्ध सत्ता का आदरना, उस शुद्ध सत्ता का आदर करना, ध्यान करना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। अब इसमें व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है, इसका निषेध हो जाता है। अरे... ! परन्तु शास्त्र में मोक्ष के मार्ग दो कहे हैं। मोक्ष का मार्ग दो - निश्चय और एक व्यवहार। अरे ! चल... चल... ! मोक्षमार्ग दो कैसे ? मार्ग तो एक ही है। आत्मा का ध्यान करना, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है।

भगवान आत्मा शुद्ध सहजानन्द की मूर्ति में सावधानपने श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति में उसे आश्रय बनाना, वह एक ही मुक्ति का मार्ग है। संवर, निर्जरा का मार्ग यह एक ही आत्मा की ओर का ध्यान, वह संवर निर्जरा का मार्ग है। समझ में आया? भाई! पाँच हाथ बाहर में नियम लिया, लो! परन्तु धूल में, नियम किस काम का तेरा? नियम, अन्दर में हाथ जोड़ कि पुण्य-पाप के दोनों विकल्प छोड़ने जैसे हैं; निर्विकल्प आत्मा का ध्यान आदरणीय है। उसने वास्तविक प्रत्याख्यान या पच्चक्खाण किया, बाकी तो अज्ञानरूप प्रत्याख्यान है। समझ में आया इसमें? देखो!

'अप्पा झायहि' बहुत संक्षिप्त में बात (की)। आत्मा, उसे पहचान। आत्मा अर्थात् पुण्य-पाप रहित, एक समय की पर्याय जितना नहीं... भगवान पूर्णानन्द प्रभु, जिसके अन्तर्मुख के अवलोकन से संसार की कहीं गन्ध नहीं रहती। ऐसे आत्मा का निर्मल.... वापस वह निर्मल.... निर्मल है न? उस मलिन पर्याय को छोड़ने का कहा। निर्मल आत्मा त्रिकाली का ध्यान कर। लो! यह मोक्ष का मार्ग। इसमें सामायिक, प्रौषध और प्रतिक्रमण और ये कब, कहाँ आयेंगे?

मुमुक्षु - ध्यान की पर्याय भी सामायिक है।

उत्तर - वह सामायिक है। आत्मा अखण्डानन्द प्रभु के सन्मुख देखकर एकाग्र होने का नाम सामायिक है, उसका नाम प्रौषध है, उसका नाम प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान है, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। आहा...हा...! समझ में आया?

'णिम्मलउ अप्पा झायहि' निर्मल आत्मा का ध्यान है.... भगवान विराजता है न! कहते हैं। पूर्णानन्द का नाथ, उसकी दृष्टि कर, उसका ज्ञान कर, और उसमें स्थिर हो – इन तीनों को यहाँ ध्यान में समाहित कर लिया है। यह मोक्षमार्ग – सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्राणि मोक्षमार्गः यह शब्द तत्त्वार्थसूत्र का है। इन तीनों को यहाँ ध्यान में समाहित कर दिया है। आहा...हा...! और तीनों को आत्मा शुद्ध पवित्र, उसकी ओर का अवलोकन, श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति (हुए) उसे यहाँ ध्यान कहते हैं। उस निर्मल आत्मा का ध्यान ही मोक्ष का मार्ग अथवा मोक्षसुख का कारण है। वह पूर्ण सुख का कारण है। समझ में आया?

दूसरे प्रकार से कहें तो यहाँ जो वह शुभभाव आदि था न ? वह आत्मध्यान नहीं था, वह परध्यान था। समझ में आया ? साधु के अट्ठाईस मूलगुण वह परभाव, परध्यान है; वह आत्मध्यान नहीं। वह परध्यान था, परभाव का ध्यान था। अद्भुत बातें, भाई! भगवान आत्मा, अपने शुद्ध निर्मल स्वभाव को अन्तर्मुखदृष्टि करके स्थिरता-ध्यान करे, एक ही आत्मा के पूर्ण आनन्दरूपी मोक्षसुख का यह एक ही उपाय है। देखो, इसमें दो मोक्षमार्ग हैं – ऐसा नहीं है। इस आत्मा का ध्यान, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया ?

यह तो अभी आगे आयेगा। यहाँ तो पहले से सिद्ध करते जाते हैं।

'अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि' देखो! एक-दो पद में कारण और कार्य दो बताये। पहले में आत्मा शुद्ध भगवान पवित्र है, वह व्यवहार के विकल्प से भिन्न है, उसका ध्यान कर, इसे (परभाव को) छोड़। यहाँ ध्यान कर तो **'लहेवि'**। **'जिम'** प्राप्त करे। क्या ? **'जिम'** अर्थात् **जिससे....** जिससे **'सिवसुक्ख लहेवि'** मोक्ष के सुख को तू **प्राप्त कर सके**। लो, यह आत्मा के पूर्ण आनन्द के सुख को प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहा...हा... ! इसमें भगवान की मूर्ति या पूजा या जात्रा-वात्रा तो कहीं आयी नहीं, हाँ! इसमें। यह परभाव शुभ हो, उसका लक्ष्य छोड़, यहाँ ध्यान कर। इतना मोक्ष का कारण है।

मुमुक्षु – ठीक है।

उत्तर – क्या ठीक है ? परन्तु अभी तुम्हें मन्दिर बनाना है न ठीक ? अभी से होश उड़ जायेंगे।

मुमुक्षु – वह तुम्हारे लिये नहीं।

उत्तर – दो के मार्ग अलग होंगे ? यह तो हमारे कहे न, होश उड़ जाये, होश उड़ जाये। होश उड़ जाता है, क्या करना ? उसे यथार्थ तत्त्व की दृष्टि होवे कि ओ...हो... ! हम यह कर नहीं सकते, होने के काल में होता है। विकल्प, राग आता है, वह भी मेरे वहाँ एकाग्र रहनेयोग्य नहीं है – ऐसा होता है। आहा...हा... ! तब वे कहते हैं, बात अच्छी करते हैं परन्तु फिर लाखों के मन्दिर बनाते हैं। परन्तु कौन बनाता है ? सुन तो सही। वापस गाँव

-गाँव में मन्दिर.... बाँकानेर, मोरबी, राजकोट, और गोंडल, जैतपुर, पोरबन्दर, हैं ? इनकी ओर के बहुत अधिक रह गये, लाठी, बिछिया, बोटाद, लींबड़ी, बढ़वाण, कांप, जोरावरनगर, चारों ओर मन्दिर-मन्दिर।

भाई ! तुझे पता नहीं, प्रभु ! उस समय वे पर्याय वहाँ होने के काल में होती है। जिसे उनका प्रेम होता है, उस शुभभाव को निमित्त कहते हैं। ऐसा भाव – व्यवहार आये बिना नहीं रहता परन्तु वह व्यवहार बन्ध का कारण है – ऐसा इसे जानना चाहिए। कहो, समझ में आया ? बाबूभाई ! यह ९९ वें यात्रा से मोक्ष हो वह हराम है, यहाँ इनकार करते हैं। यह सब वहाँ मन्दिर बनाने में पड़नेवाले हैं। यह भी यहाँ से जानेवाले हैं, हैं ?

कर्ता कहाँ है ? कर्ता ही नहीं, यहाँ तो विवाद ही यह है, करे कौन ? वहाँ रजकणों की अवस्था होने के काल में होती है, उसे करे कौन ? यह तो यहाँ लगी है। सवा तीन-तीन वर्ष होने आये तो भी तुम्हारा चलता नहीं। करना हो तो हो, तो अभी तक क्यों नहीं हुआ ? यहाँ तो कहते हैं कि किस संयोग में वहाँ आगे जो रजकण की रचना होने के काल में हुए बिना रहनेवाली नहीं है, उसमें आत्मा के शुभपरिणाम का अधिकार नहीं है कि शुभ परिणाम किया इसलिए हुआ और शुभपरिणाम हुए इसलिए यहाँ आत्मा में एकाग्रता होगी – ऐसा भी नहीं है। शुभ हुए, इसलिए वहाँ हुआ ऐसा नहीं और शुभ हुआ, इसलिए आत्मा की तरफ जाया जाता है – ऐसा भी नहीं है। अरे... ! आहा...हा... ! यह मार्ग वीतराग का है। आहा...हा... ! कहो, प्रवीणभाई ! शुभभाव किये, इसलिए हुआ – ऐसा भी नहीं और शुभभाव हुआ, इसलिए आत्मा में अन्तर में एकाग्र होना सरल पड़ेगा (– ऐसा भी नहीं)। ए... मोहनभाई ! इन्होंने तो कराया है न पहले, अब कहाँ हैं इन्हें। ये बहुत सब कहते हैं, हाँ ! कि बात तो बहुत ऊँची करते हैं, सत्य लगती है परन्तु फिर यह पूजा, भक्ति और लप तो बड़े-बड़े गाँव-गाँव में बढ़ाते जाते हैं। ऐ...ई... ! चिमनभाई ! परन्तु बापू ! तुझे पता नहीं है। कौन बढ़ाये ? यह तो उसके काल में होता है; किसी के करने से नहीं होता ?

यहाँ तो बहुत वर्ष पहले मन्दिर बनाने का भाव था, लो ! पहले जब (संवत) १९९५ में गये न ! तब से बात थी। एक स्फटिक की मूर्ति लाओ। कहाँ ? घोघा में थी। कहाँ

गये शान्तिभाई ! सो गये होंगे। समझ में आया ? स्फटिक की मूर्ति घोघा में है, उसे यहाँ लाकर रखना। ऐसी बातें चलती थी, हम सुनते थे। न आया तो नहीं हुआ, न हो तो क्या ? यह (संवत) १९९७ में होने का था, वह हुआ। भाई ! यह बातें ऐसी हैं। पर के कार्य आत्मा करे, वह तो बहिरात्मा पर को (और) अपने को दोनों को एक मानता है। भिन्न मानने की उसकी योग्यता नहीं है, वहाँ तक चार गति के भय से छुटकारा नहीं है। आहा...हा... !

'जिम सिवसुक्ख लहेवि' देखो मोक्ष के सुख को पाता है – एक बात। चार गति में सुख नहीं है – ऐसा सिद्ध किया। मोक्ष के सुख को पाता है। शिव अर्थात् मोक्ष ! शिव अर्थात् शंकर का सुख – ऐसा नहीं। शिवसुख नहीं आता ? नमोत्थुणम में शब्द में शिव लयो शिव अर्थात् निरूपद्रव। उपद्रवरहित आत्मा के आनन्द की (प्राप्ति)। नमोत्थुणम में आता है परन्तु अर्थ कहाँ से आता होगा ? 'सिवमलयमरुयमणंतमरुमफ्खयमव्बाहमपुणरवित्ति' आता है न ? किसे पता एक भी शब्द का ? पहाड़े बोलते जाते हैं।

यहाँ भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ योगीन्दुदेव कहते हैं। आत्मा क्या है ? – उसे पहले जानना और फिर उसका ध्यान करना अर्थात् दृष्टि का पलटा मारना। ऐसी (बहिर्मुख) दृष्टि है, (उसे) ऐसी (अन्तर्मुख) करना। उससे – ध्यान से शिवसुख प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त मोक्ष के सुख की प्राप्ति का दूसरा उपाय वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग में नहीं है। अन्यत्र तो है नहीं। पाँचवीं (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

आत्मा के तीन प्रकार

ति-पयारो अप्पा मुणहि, परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतर-सहिउ, बाहिरु चयहि णिभंतु॥६॥

विविध आत्मा को जानके, तज बहिरातम रूप।
अन्तर आतम होय के, भज परमात्म स्वरूप॥

अन्वयार्थ – **(अप्पा तिपयारो मुणहि)** आत्मा के तीन प्रकार जानो, **(परू)** परमात्मा **(अंतरू)** अन्तरात्मा **(बहिरप्पु)** बहिरात्मा **(णिभंतु)** भ्रान्ति या शङ्का रहित

होकर (**बाहिरूचयहि**) बहिरात्मापना छोड़ दे (**अंतरसहिउ**) अन्तरात्मा होकर (**परिझायहि**) परमात्मा का ध्यान कर।

☆ ★ ☆

छठवीं। अब तीन प्रकार के आत्मा (कहते हैं)। आत्मा.... आत्मा... करते हैं न? परन्तु आत्मा की पर्याय के तीन प्रकार हैं। पर्याय के, हाँ! समझ में आया? अकेला सब आत्मा अनादि निर्मल ही है – ऐसा कहते हैं वह मिथ्या; अकेला मलिन ही है – ऐसा कहते हैं वह मिथ्या। यह तीन प्रकार के आत्मा... समझ में आया? **आत्मा के तीन प्रकार** –

ति-पयारो अप्पा मुणहि, परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतर-सहिउ, बाहिरु चयहि णिभंतु॥६॥

आत्मा को तीन प्रकार जानो। आत्मा की पर्याय – अवस्था से, हाँ! अवस्था से। द्रव्यरूप से तो त्रिकाल एकरूप है। पर्याय में-अवस्था में-हालत में भूल, भूल का मिटना और निर्भूल की पूर्णता की प्राप्ति सब पर्याय में है। क्या कहा यह? बहिरात्मपना भी उसकी पर्याय में है। राग, पुण्य को अपना मानना, वह उसकी पर्याय में है। अन्तर आत्मपना – आत्मा शुद्ध है – ऐसा मानना उसकी पर्याय में है और पूर्ण परमात्मारूप परिणमित होना, वह भी उसकी पर्याय में है।

आत्मा को तीन प्रकार जानो। परमात्मा.... पहले यह लिया। उत्कृष्ट परमात्मदशा। शक्तिरूप से परमात्मा तो प्रत्येक आत्मा है। क्या कहा? जो परमात्मा की पर्याय प्रगट होनी है, सादि-अनन्त.... वह सब शक्तियाँ वर्तमान अन्तरात्मा में पड़ी हैं। वर्तमान शक्ति पड़ी है परन्तु प्रगट पर्याय की अपेक्षा यहाँ परमात्मा की बात करते हैं। समझ में आया? अप्रगटरूप से – शक्तिरूप से तो प्रत्येक आत्मा में जितनी परमात्मा की पर्याय प्रगट होनी है, वह सब अप्रगटरूप से – शक्तिरूप से अन्दर आत्मा में अभी पड़ी है। समझ में आया? परन्तु प्रगट पर्याय की अपेक्षा से परमात्मा होवे, उसे यहाँ परमात्मा गिना गया है। आहा...हा...!

अन्तरात्मा.... दूसरा अन्तरात्मा परमपूर्ण हो गया। अन्दर वस्तु जो परमात्मशक्ति है और इस अन्तरात्मा की सभी पर्यायें ये भी सब शक्तियाँ अन्दर है और बहिरात्मा की समस्त पर्यायों की भी शक्तियाँ अन्दर पड़ी हैं। सब पड़ी है, एक समय में सब पड़ी है। उसमें इसने आत्मा राग से, पुण्य से भिन्न निर्विकल्प शुद्ध परमात्मा का स्वरूप उसे पर्याय में प्रगट नहीं हुआ परन्तु वस्तु से ऐसा है। ऐसा जिसने श्रद्धा-ज्ञान से ध्यान करके निर्णय किया है, उसे वर्तमान दशा की निर्मलता के, अपूर्ण निर्मलता की अपेक्षा उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। समझ में आया?

बहिरप्पु, बहिरप्पु यह बाहर में आत्मा माननेवाला। अन्तर में भले परमात्म शक्ति, अन्तरात्म शक्ति, बहिरात्म शक्ति सब पड़ी है। समझ में आया? परन्तु जो वर्तमान अवस्था में बाहर, बाहर.... भगवान पूर्ण शुद्ध निर्मलानन्द है, उसके अतिरिक्त के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, देहादि की क्रिया को अपनी माननेवाला, उसमें से हित माननेवाला.... जिससे हित माने उसे भिन्न नहीं मान सकता, उसे बहिरात्मा कहा जाता है।

यहाँ ऐसा नहीं कहा कि इतनी क्रिया नहीं करता, इसलिए वह अन्तरात्मा है.... बाहर की, और इतनी क्रिया अन्दर राग की करता है, इसलिए बहिरात्मा है। यह रागादि की क्रिया दया, दान, व्रत के परिणाम जो आस्रवतत्त्व है, वह बहिर तत्त्व है, उसे आत्मा का हित (करनेवाला है – ऐसा) माननेवाला बहिरात्मा है। समझ में आया?

बहिरप्पु, बहिरात्मा.... अथवा किसी भी कर्मजन्य उपाधि के संसर्ग में आकर कहीं भी उल्लसित वीर्य से, उल्लसित वीर्य से उत्साह करना, वह बहिरात्मा है। क्या कहा? भगवान आत्मा को आनन्दमूर्ति के उल्लसित वीर्य का आदर छोड़कर, बाहर की किसी भी कर्मजन्य उपाधिभाव या संयोग किसी भी संसर्ग में आने पर उसमें उल्लसितरूप से अन्दर वीर्य उल्लसित हो जाये... यह...! आहा...हा...! ऐसे पर में विस्मयता हो उसे बहिरात्मा कहा जाता है। समझ में आया? आहा...हा...! अन्तर के आनन्द से प्रसन्न न हुआ; वह तो बाहर के शुभाशुभभाव और उसके फल, उसके संयोग जो बाह्य, आत्मा के स्वभाव से बाहर वर्तते हैं, बाहर में प्रसन्न हुआ, उन्हें ही आत्मापना माना, उसे बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि कहते हैं। आहा...हा...!

छह खण्ड का राजा, छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा हुआ, उसे अन्तर में बाह्य त्याग न दिखने पर भी, अन्तर में राग का विवेक और राग का त्याग वर्तता है। राग का विवेक अर्थात् भिन्न और आत्मा की एकता में उसका त्याग वर्तता है। बहिरात्मा को बाह्य त्याग नग्न दिगम्बर (हुआ हो), महा अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, चमड़ी उतार कर नमक छिड़कने पर भी क्रोध न करे, अन्तर में उसे राग का अत्याग और राग के साथ एकत्वबुद्धि पड़ी है, वह बहिरात्मा, बाह्य बुद्धि में प्रसन्न होनेवाला है। समझ में आया? आहा...हा...!

शरीर की निरोगता मुझे साधन होगी... शरीर की निरोगता मेरे आत्मा को साधन होगी, रोग के समय मुझे प्रतिकूलता थी, अब शरीर में कुछ निरोगता हुई, कुछ पैसे इत्यादि की व्यवस्था हुई, अब मैं निर्विघ्न धर्मध्यान कर सकूँगा। अब क्या है? परन्तु लड़के -बड़के ठिकाने लगे हों तो बढ़िया रहे, लो! नहीं (तो) वहाँ उनके पास जाना पड़ेगा। आहा...हा...! आत्मा के अतिरिक्त रजकण से लेकर सभी प्रकार की बाह्य रिद्धियाँ, कहीं उनमें अनुकूलता मान ली जाये और प्रतिकूलता के संसर्ग में कहीं उसके कारण अरुचि हो, उसे बुद्धि बहिरात्म है। बाहर में रुकी हुई बुद्धि है। आहा...हा...! यह तो स्वयं आचार्य कहेंगे आगे, हाँ! यहाँ तो अभी साधारण बात करते हैं।

भ्रान्ति अथवा शंकारहित होकर.... अब तीन में से भ्रान्ति और शंकारहित होकर **बहिरात्मपना छोड़ दे....** इन शुभाशुभभाव से लेकर पूरे जगत की सामग्री, इस अनुकूल -प्रतिकूलता में उल्लसित वीर्य को छोड़ दे। आहा...हा...! इस हर्ष के भाव में चढ़ा हुआ तेरा भाव वह बहिरात्मा है, कहते हैं। प्रतिकूल सामग्री में खेद में चढ़ा हुआ तेरा भाव भी बहिरात्मा है। समझ में आया?

भ्रान्ति अथवा शंकारहित होकर बहिरात्मपना छोड़ दे, अन्तरात्मा होकर.... भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप है – ऐसी दशा को प्राप्त करके, अन्तरात्मा की दशा को बहिरात्मा की श्रद्धा-ज्ञान से त्याग करके, श्रद्धा-ज्ञान में बहिरात्मा बुद्धि का त्याग करके, श्रद्धा-ज्ञान में अन्तरात्मा को ग्रहण करके परमात्मा का ध्यान कर। अन्तरात्मा का ध्यान करने का नहीं रहा फिर। समझ में आया?

(मुमुक्षु : प्रमाण वचन गुरुदेव)

बहिरात्मा का स्वरूप

मिच्छा-दंसण-मोहियउ, परु अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुण संसार भमेइ॥७॥

मिथ्यामति से मोहिजन, जाने नहिं परमात्म।
भ्रमते जो संसार में, कहा उन्हें बहिरात्म॥

अन्वयार्थ – **(मिच्छादंसणमोहियउ)** मिथ्यादर्शन से मोही जीव **(परू अप्पा ण मुणेइ)** परमात्मा को नहीं जानता **(सो बहिरप्पा)** यही बहिरात्मा है **(पुण संसार भमेइ)** वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता है। **(जिण भणिउ)** ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ५, बुधवार, दिनाङ्क ०८-०६-१९६६
गाथा ७ से ९ प्रवचन नं. ३

योगसार, छठवीं गाथा चली। तीन प्रकार के आत्मा का वर्णन चला – परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा। जो परमात्मा.... यद्यपि परमात्मा जो है, उसकी शक्ति में अन्दर अन्तरात्मा और बहिरात्मा तो है परन्तु प्रगट पर्याय की अपेक्षा से यह बात ली है। **पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरू चयहि णिभंतु**। परमात्मा का स्वरूप जानकर, अन्तरात्मा होकर, बहिरात्मपना छोड़कर, परमात्मा का ध्यान करना – यह इसका सार है। तीन प्रकार के (आत्मा) बतलाकर हेतु क्या? यह तीन प्रकार की प्रगट पर्याय की बात है। समझ में आया? परमात्मा हुए, उनकी शक्ति में तो बहिरात्मा, अन्तरात्मा है परन्तु प्रगटरूप से पर्याय है, उसकी यहाँ बात है न?

अन्तरात्मा है, उसे आत्मा का भान हुआ, उसे परमात्मा की शक्ति भी अन्दर पड़ी

है और बहिरात्मा की शक्ति भी पड़ी है। बहिरात्मा बाह्य है और रागादि को अपना मानता है परन्तु अन्दर शक्ति में अन्तरात्मा, परमात्मा की सब शक्ति पड़ी है। ऐसे तीनों प्रकार की शक्ति प्रत्येक जीव में है। उसमें से परमात्मा का स्वरूप जानकर, अन्तरात्मा होकर, बहिरात्मा को छोड़कर, परमात्मा को प्राप्त करने को ध्यान करना – ऐसा उसका सार है। अब सातवीं – **बहिरात्मा का स्वरूप** –

मिच्छा-दंसण-मोहियउ, परु अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुण संसार भमेइ॥७॥

मिच्छादंसणमोहियउ लो! यह शब्द आया। उसमें मिथ्यादर्शन था न? उस **मिथ्यादर्शन से मोही जीव....** लो, यहाँ कर्म निकाल दिये। यहाँ नहीं लिखा। अनादि काल का आत्मा मिथ्या श्रद्धान से मोहित हुआ राग को अपना स्वरूप मानता है, पुण्य के फल को अपना मानता है, पाप के फल में दुःखी हूँ – ऐसा मानता है। इस प्रकार अनादि काल से भ्रम में ज्ञान के क्षयोपशम से ज्ञान का कुछ विकास हुआ तो पण्डिताई (करके) मैं पण्डित हूँ – ऐसा मानता है; क्षयोपशम कम हो तो दीन हूँ – ऐसा मानता है। यह सब मिथ्यादर्शन के कारण मोहित हुए जीव हैं। समझ में आया?

मेरा स्वरूप एक समय में त्रिकाल शुद्ध चैतन्य द्रव्यस्वभाव है, उसका अन्तर में अनुभव – वेदन, आश्रय नहीं करता। मिथ्याश्रद्धा द्वारा कर्म के उदय से प्राप्त सामग्री – बाह्य और अभ्यन्तर.... समझ में आया? अभ्यन्तर अर्थात् क्या? राग-द्वेष। घातिकर्म के निमित्त से अन्दर हुआ पुण्य-पाप, राग-द्वेष का भाव। अघाति से प्राप्त बाहर में अनुकूल प्रतिकूल संयोग। इन सब चीजों में मैंपना स्वीकार करता हुआ, इनमें मैं हूँ, यह मेरे हैं – ऐसा मानता हुआ, मिथ्यादर्शन से मोहित हुआ है।

'परु अप्पा ण मुणेइ' परमात्मा को नहीं जानता.... समझ में आया? अपना स्वरूप शुद्ध चिदानन्दमूर्ति अनन्त दर्शन-ज्ञान सम्पन्न, समृद्धिवाला – वह कौन है, उसे नहीं जानता। मात्र बाहर की अल्पज्ञ अवस्था, राग अवस्था और बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में अपने अस्तित्व का स्वीकार, वहाँ दृष्टि पड़ी है। समझ में आया? कहो, थोड़ा पैसा मिले, वहाँ कहता है (कि) हम पैसेवाले हैं... पैसावाला नहीं – ऐसा कहते हैं।

अनन्त लक्ष्मीवाला-आनन्दवाला है। लक्ष्मीवाला नहीं, मूढ़ है। व्यर्थ में मानता है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – व्यर्थ का होगा? मजा करता है।

उत्तर – मजा करता है – भटकने का।

मिच्छादंसणमोहियउ देखो, यहाँ किसी कर्म के कारण मोहित है – ऐसा नहीं है। अपना स्वरूप शुद्ध चिदानन्दप्रभु अनाकुल आनन्द को स्पर्श किये बिना – उसे छुए बिना, इन बाह्य की चीजों – कर्म के निमित्त से प्राप्त बाह्य और अभ्यन्तर (चीजें) यह सब कर्म -सामग्री है; आत्म-सामग्री नहीं। शुभाशुभभाव होवे असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ या बाहर की अनन्त प्रकार की सामग्रियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता, यह सब कर्म के फल का साम्राज्य है। उसमें चैतन्य नहीं है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया इसमें? परन्तु इसे जहाँ पास हो, उसे मैं पास हुआ – ऐसा माने तो मिथ्यादर्शन से मोहित हुआ है – ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

मुमुक्षु – तो क्या फेल हुआ मानें?

उत्तर – परन्तु इस अज्ञान में पास-फेल यह तो कर्म की सामग्री का फल है। इसलिए जरा क्षयोपशम हो और उसमें वह भाव आया, वह कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। मिथ्यादर्शन से मोहित प्राणी उसमें प्रसन्न होता है, उसे अपना स्वरूप मानता है – ऐसा इसमें कहते हैं। कहो, समझ में आया या नहीं?

मुमुक्षु – बहुत लम्बी व्याख्या की है।

उत्तर – लम्बी होगी या नहीं। ए.... भरतभाई! लड़के किसलिए ना करेंगे? आहा...हा...! **'परु अप्पा ण मुणेइ'** देखा? भगवान पूर्णानन्द एक समय में अनन्त समृद्धि का, पूर्णस्वरूप प्रभु आत्मा का है। उसे न मानकर बहिरात्मा मूढ़ होकर उस अल्पज्ञ अवस्था को या विकार को या बाह्य संयोग को वह मिथ्यादृष्टि जीव, मोहित होता हुआ (अपना) मानता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – उसकी व्याख्या ही ऐसी की **'परु अप्पा ण मुणेइ'**।

उत्तर – **'ण मुणेइ'** नहीं जानता। यहाँ जानता नहीं और ऐसा मानता है। यह कहते हैं। समझ में आया? दो ही बात।

भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन, आनन्द का धाम अकेला, वह भी पूर्ण आनन्द, ज्ञान.... यहाँ अपूर्ण पर्याय की बात नहीं है। पूर्ण भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव एकरूप अभेद चिदानन्द प्रभु – ऐसे आत्मा की श्रद्धा न करता हुआ, न मानता हुआ, इतनी बड़ी सत्ता के स्वीकार को स्वीकार में न करता हुआ, अल्पज्ञ राग-द्वेष की पर्याय की सामग्री का स्वीकार करके वहाँ मोहित हुआ, मूर्च्छित होकर पड़ा है, उसे बहिरात्मा कहते हैं। अन्तर स्वभाव की प्रतीति नहीं और बाह्य की प्रतीति है, उसे बहिरात्मा कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

अन्तर स्वभाव महान परमात्मस्वरूप है, परिपूर्ण आनन्द, ज्ञानादि है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान नहीं करता। **'परु अप्पा ण मुणेइ'** ऐसा। अपना परमात्मस्वरूप जो पूर्ण शुद्ध, ध्रुव परिपूर्ण है, उसे नहीं जानता परन्तु **'मिच्छादंसणमोहियउ'** बाहर में मोहित हो गया है। **'सो बहिरप्पा'** – उसे भगवान बहिरात्मा कहते हैं। देखो, **'जिणभणिउ'** है न? **'जिण'** अर्थात् वीतराग भगवान के मुख से ऐसी बात आयी, ऐसे जीवों को बहिर – उनका बाहर में ही लक्ष्य और उसका अस्तित्व उन्होंने माना है। समझ में आया? कहीं पुण्य की सामग्री कम-ज्यादा मिले, पाप की सामग्री प्रतिकूल कम-ज्यादा मिले, अन्दर में शुभाशुभभाव कम-ज्यादा हो और ज्ञान का हीनाधिकपना परलक्ष्य से उघाड़ हो, उसे आत्मा मानते हैं। समझ में आया? उतना आत्मा नहीं... उसे आत्मा मानते हैं। परन्तु भगवान परिपूर्ण स्वरूप अन्दर, परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने जिसे आत्मा कहा है, वह आत्मा तो परमशुद्ध चिदानन्दस्वरूप है, परमात्मस्वरूप वह वस्तु है। ऐसी वस्तु का स्वीकार न करता हुआ, आदर न करता हुआ, आश्रय नहीं करता हुआ, परसन्मुखता के झुकाव में उसकी बुद्धि बाहर मारी गयी है। समझ में आया? विद्यमान पदार्थ भगवान पूर्ण प्रभु – ऐसे विद्यमान को न स्वीकार करके एक क्षणिक दशा ज्ञान की, दर्शन की, या क्षणिक राग की विकारी (दशा) या क्षणिक संयोगी दशा, उसे अपना मानता है, वह मिथ्यादर्शन के मूढ़पने के कारण मानता है। कहो, समझ में आया? **वही बहिरात्मा है।**

वह बारम्बार.... 'पुण संसारु भमेइ' ऐसा। पुनः संसार में भटकेगा। अनन्त काल तो भटका परन्तु इस बुद्धि से जिन्हें महत्व दिया है, उससे वह छुटेगा नहीं, पुण्य -पाप का भाव, संयोग और अल्पज्ञदशा आदि को महत्व दिया है, वह महत्व उसकी दृष्टि में से छूटेगा नहीं तो वह अल्पज्ञपना, विकार और संयोग उसका छूटेगा नहीं। चार गति में वह परिभ्रमण करेगा। कहो, समझ में आया ? है या नहीं ? सामने पुस्तक है ? अनादि -अनन्त लिखा है न ? यह श्लोक देखने को लिखा है। चौथा श्लोक देखने को लिखा है। कहो, समझ में आया ?

'सो बहिरप्पा जिणभणिउ' वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी परमात्मा ने उसे – मिथ्यादृष्टि जीव को बहिरात्मा कहा है। कहो, इसमें कुछ समझ में आया ? ऐ... ई... ! लड़कों ! इसमें कुछ समझ में आया या नहीं ? एक ओर परमात्मा का पिण्ड प्रभु पूरा द्रव्य – वस्तु है – ऐसा कहते हैं। आत्मा में.... परिपूर्ण ज्ञान-दर्शन, आनन्दादि पूर्ण वस्तु एक ओर पड़ी है, स्वयं प्रभु; और एक ओर उसकी वर्तमान दशा में अल्पज्ञ ज्ञान, अल्प दर्शन, अल्प वीर्य और राग-द्वेष की विपरीतता, पुण्य और पाप के कारण संयोग की अनुकूलता-प्रतिकूलता – इन सबको अपना मानता है। यहाँ मानता नहीं अर्थात् यहाँ उसे (अपना) मानता है, उसका नाम मिथ्यादृष्टि और बहिरात्मा कहा जाता है। वह बहिरात्मा पुनः पुनः चार गति में भटकने के भाववाला है। **संसारु भमेइ**। लो ! वह भटकेगा। समझ में आया ?

यहाँ इन्होंने जरा दृष्टान्त दिया है। जैसे, शराब पीकर चेष्टाएँ होती हैं, उन सब चेष्टाओं को मूर्ख अपनी मानता है। शराब पीकर फिर चेष्टा होती है न ? ऐसा हो, ऐसा करे, और वैसा करे और ऐसा करे.... इन सब चेष्टाओं को अपनी मानता है। इसी प्रकार कर्म के संयोग से हुई चेष्टाएँ – विकार और पर, इन सबको मिथ्याभाव से मिथ्यात्वभाव की मदिरा पीया हुआ, उसके कारण कर्म के भाव से होनेवाली चेष्टाएँ, पुण्य-पापभाव आदि, कर्म मन्द पड़े और उघाड़ आदि ये सब कर्म की चेष्टाएँ हैं। कुछ समझ में आया ?

इन सब भावों को अपना मानता है। समझ में आया ? जैसे, शराब पीकर सब

चेष्टाएँ हों अथवा किसी के शरीर में भूत लगा हो, भूत आता है न अपने ? समयसार में। फिर भूत जैसी चेष्टा हो, वह मानता है कि यह मेरी (चेष्टा) हुई। ऐ... ई... ! आता है या नहीं ? हैं ? भूताविष्ट.... भूत प्रविष्ट किया हो, फिर यह हो तो जानता है कि यह सब मुझे होता है। मैं ज्ञानानन्द भिन्न आत्मा, यह भिन्न आत्मा है – ऐसा जिसे पता नहीं, वह भूत की चेष्टा वे मेरी। ऐसी अनादि काल के कर्म के संग की चेष्टा-अभ्यन्तर और बाह्य, यह सब मेरी है (ऐसा अज्ञानी मानता है)। समझ में आया ? वह भूत है, भूत!

यह किसकी बात चलती है ? पूरा नहीं जानता इसलिए जानना। एक समय में भगवान चिदानन्दमूर्ति पूर्ण है, उसकी दृष्टि करना अर्थात् उसकी सत्ता का स्वीकार होने पर अल्पज्ञ और राग-द्वेष, संयोग की सत्ता, सब का स्वीकार भूल जाएगा। कहो, समझ में आया या नहीं ? धीरुभाई ! आहा...हा... ! बड़ी मशीन और.... लो, चलते हों और पच्चीस, पचास, सौ लोग काम करते हों, दो सौ मनुष्य काम करते हों, हैं ?

प्रश्न – मशीन (यन्त्र) हों इसलिए चलाना न ?

उत्तर – वह भूत... सब कर्म की चेष्टाओं के सब फल हैं। पुण्य-पाप के फल बाहर में आये, अन्दर में घाति के फल राग-द्वेष आये, अल्पज्ञपना राग-द्वेष इत्यादि अन्दर आया। तीन कर्म के कारण अल्पज्ञ अल्पदर्शी और अल्पवीर्य, एक कर्म के कारण विपरीतता (आयी) और दूसरे कर्मों के कारण संयोग (प्राप्त हुए)। कहो, समझ में आया या नहीं ? क्या करना इसमें ? उत्साह भंग हो जाये, ऐ...ई... ! पढ़ने में पास होवे तो मिथ्यादर्शन से मानता है कि मैं अब कुछ बढ़ा। क्या होगा ? ऐ...ई... ! आशीष ! क्या करना इसमें ?

भाई ! बड़ा परमेश्वर एक ओर पड़ा है, उसे तू पीठ देकर, आड़ मारकर, उससे विपरीत अल्पज्ञानादि और रागादि विकल्प तथा संयोग उनका स्वीकार करे तो परमात्मा त्रिलोक के नाथ का अनादर और मिथ्यात्वभाव होता है। आहा....हा... ! समझ में आया, कुछ ? '**पुण संसारु**' भगवान ने उसे बहिरात्मा कहा है। **ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।** वह चार गति में भटकता है। लो ! यह सातवाँ श्लोक (पूरा) हुआ। आठवाँ.... अपने तो इस श्लोक का सार-सार कहना है न ! यह सब कथन पढ़ेंगे तो पार कहाँ आवे ? यह तो सब आधार दिये हैं।

☆ ★ ☆

अन्तरात्मा का स्वरूप

जो परियाणइ अप्पु परु, जो परभाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु, सो संसारु मुएइ॥८॥

परमात्मा को जानके, त्याग करे परभाव।
सत् पंडित भव सिन्धु को पार करे जिमि नाव॥

अन्वयार्थ – **(जो अप्पु परू परियाणइ)** जो कोई आत्मा और पर को अर्थात् आप से भिन्न पदार्थों को भले प्रकार पहचानता है **(जो परभाव चएइ)** तथा जो अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों को त्याग देता है। **(सो पंडिउ)** वही पण्डित भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है, वह **(अप्पा मुणहु)** अपने आप का अनुभव करता है, सो **(सो संसार मुएइ)** वही संसार से छूट जाता है।

☆ ★ ☆

अब, **अन्तरात्मा का स्वरूप।**

जो परियाणइ अप्पु परु, जो परभाव चएइ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहु, सो संसारु मुएइ॥८॥

क्या कहते हैं? **'जो अप्प परू परियाणइ' जो कोई आत्मा को और पर को आपसे भिन्न पदार्थ को भले प्रकार पहचानता है....** क्या कहा? जो कोई स्वरूप आत्मा पूर्णानन्द, पूर्ण ज्ञान को जाने और उससे भिन्न अल्प ज्ञान, राग-द्वेष और परचीज सब भिन्न है, उसे भी जाने। (जाने) दोनों को। जो कोई आत्मा.... समझ में आया? **आत्मा को और पर को....** दोनों को **आपसे भिन्न पदार्थ को भले प्रकार पहचानता है....** यह तो **'परियाणइ'** की व्याख्या की है। अपने से – भगवान पूर्णानन्द प्रभु से भिन्न सब, उसे **भले प्रकार पहचानता है....** जानता है। कहो, समझ में आया?

जो परभाव चएइ लो, वह **अपने आत्मा के स्वभाव को छोड़कर अन्य सब भावों का त्याग कर देता है....** क्या कहा? भगवान आत्मा...! देखो! अन्तर आत्मा की

व्याख्या! इस जगत में उसे पण्डित कहते हैं, उसे शूरवीर कहते हैं, उसे वीर कहते हैं... समझ में आया? कि जिसने आत्मा के पूर्ण स्वरूप अखण्डानन्द को जाना और उससे भिन्न विकार और पर आदि वस्तु को जाना कि यह है। दोनों के बीच में जिसे भेदज्ञान हुआ है... समझ में आया? वह **'परभाव चएइ'** वह अपना शुद्ध स्वभाव, परमानन्द के आश्रय से भिन्न परवस्तु, उसके उत्पन्न हुए भाव का आदर नहीं करता अर्थात् उन्हें छोड़ता है। वह व्यवहार, विकल्प को भी यहाँ छोड़ता है। अन्तर परमात्मा के स्वरूप को जानता हुआ, पर आदि के स्वरूप को जानता हुआ.... जानने का तो दोनों का कहा, फिर स्वभाव को जानता हुआ आश्रय करता हुआ विकारादि परिणाम को छोड़ता हुआ, छोड़कर।

'सो पंडिउ'! लो कम ज्ञान हो, अधिक हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। उसे पण्डित कहा जाता है। समझ में आया? वह ग्यारह अंग पड़ा हो या न पड़ा हो, प्रश्न का उत्तर देना आवे या न आवे उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे को समझाना आवे या न आवे उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; मात्र चैतन्यानन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ स्वभाव परमात्मा मेरा, उसे जाना, उससे विपरीत जितना पुण्य-पाप, विकार, कर्म की सामग्री आदि जाना कि यह पर है। उस स्वभाव का आदर करके पर का आदर नहीं करता, उसने परभाव को दृष्टि में छोड़ा है। देखो! यह त्याग हो गया। इस त्याग के बिना आगे त्याग उसका बढ़ता नहीं। समझ में आया? अन्तर स्वभाव के आश्रय के अवलम्बन बिना पर का – राग का त्याग नहीं होता और उस राग के त्याग बिना उसे दूसरा त्याग सच्चा नहीं होता। समझ में आया?

अन्तरात्मा, पण्डित, शूरवीर, वीर, भेदज्ञानी, लघुनन्दन... समझ में आया? वह परमात्मा का लघुनन्दन है। कहते हैं कि उसका कार्य क्या? अपने पूर्ण स्वरूप शुद्ध आनन्द को जाना और उसका अनुभव किया कि यही आत्मा; इसके अतिरिक्त शुभ अशुभराग, दया, दान, व्रत के परिणाम ये सब परभाव हैं। ऐसा जिसे दृष्टि में से छूट गये हैं, दृष्टि में जिसका त्याग वर्तता है, दृष्टि में जिसके त्रिकाल स्वभाव का आदर वर्तता है। समझ में आया? उसे वास्तव में परभाव का त्यागी (कहते हैं)। यही कहा है न? वह परभाव का त्याग करता है। उसे वास्तव में परभाव का त्याग है। उसे त्यागी कहा जाता है। इसमें समझ में आया?

जहाँ अन्दर में रागादि का आदर वर्तता है, उसने तो सब-पूरा संसार ग्रहणरूप पड़ा है। उसे जरा भी राग का त्याग आंशिक भी नहीं है, वह तो बाहर के निमित्त का असद्भूत व्यवहारनय से त्याग हुआ – ऐसा भी उसे नहीं है। पूर्णानन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु, अनन्त गुण का पिण्ड – ऐसा आत्मा, ऐसे स्वभाव का श्रद्धा में आदर है, वेदन है कि यह आत्मा। शुद्ध की श्रद्धा-ज्ञान द्वारा वेदन द्वारा यह पूरा आत्मा है – ऐसा जिसे स्वभाव का ग्रहण वर्तता है, उसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के राग का अन्तर में दृष्टि की अपेक्षा से त्याग वर्तता है उसे पण्डित और ज्ञानी अन्तरात्मा कहते हैं। समझ में आया? बाहर से इतना छोड़ा हो – यह बात यहाँ नहीं ली है।

छह खण्ड का राज्य हो, बाहर में छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, अड़तालीस हजार पाटन, बहत्तर हजार नगर आदि की सामग्री हो, वह सामग्री को जहाँ पररूप दृष्टि में आयी, उस ओर के झुकाव का राग ही जहाँ पर है, मेरे स्वभाव में नहीं; स्वभाव में वह नहीं और उसमें मैं नहीं – ऐसा जहाँ भान आया तो सब दृष्टि में तो उसे त्याग ही है। आहा...हा...! छह खण्ड के राज्य का दृष्टि में त्याग है। धीरुभाई! यह अद्भुत बात।

कहा न? '**चएइ**', '**परभाव चएइ**' कहा न? स्वभाव का आदर करके, स्वभाव को जानकर, अपने को जानकर। '**परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ। सो पंडिउ अप्पा मुणहिं।**' ये रागादि मेरे नहीं हैं। इस राग के फलरूप बन्धन और बन्धन का फल वह भी मेरा नहीं है। सम्पूर्ण छह खण्ड का राज्य मेरा नहीं है। इन्द्र के इन्द्रासन, सम्यग्दृष्टि को अन्तरात्मा में इन इन्द्र के इन्द्रासनों का दृष्टि में त्याग वर्तता है। समझ में आया? और सम्पूर्ण आत्मा पूर्ण स्वरूप को जानता हुआ उसका आदर वर्तता है। कहो, समझ में आया?

बहिरात्मा में बाहर एक लंगोटी भी न हो, नग्नदशा हो; अन्तर में पूर्णानन्द के नाथ का आदर नहीं और राग के कण का आदर है, उसे सम्पूर्ण चौदह ब्रह्माण्ड के पदार्थों का अन्दर श्रद्धा में आदर है। समझ में आया? उसे जरा भी त्याग नहीं है। आहा... हा...! '**परभाव चएइ**' यह शब्द रखा है न? परभाव छूटे ही नहीं। परन्तु स्वभाव कौन है? – उसे जाने बिना यह भिन्न इस प्रकार छूटे? समझ में आया? प्रौषध, प्रतिक्रमण में बैठा

हो, सामायिक में नाम धराकर... परन्तु अन्दर में पूर्ण शुद्ध अखण्ड आनन्दस्वरूप – ऐसे आत्मा का अन्तर में ज्ञान और आदर नहीं है, वहाँ पर का ही अकेला ज्ञान और आदर वर्तता है। दया, दान, विकल्प आदि का आदर (वर्तता है)। इसलिए उसे परमात्मा का त्याग वर्तता है, उसे परम स्वभाव का त्याग वर्तता है। ऐ...ई...! परमात्मा का त्याग वर्तता है। परन्तु उसे त्याग है या नहीं?

ज्ञानी को पूरा राजपाट (होवे), चक्रवर्ती का या इन्द्र का राज (होवे तो भी) त्याग वर्तता है। अभ्यन्तर में स्वभाव की अधिकता की महिमा में, आत्मा के ज्ञान की अधिकता के भान में बाहर के पदार्थ और उसका कारणभाव-शुभाशुभभाव या बन्धभाव-कर्म के रजकण, इन सबका जिसे दृष्टि में त्याग है। लो! ओ...हो...! अब यह ऐसा माने कि यह तीर्थंकरप्रकृति बँधती है, इसलिए मुझे लाभ होगा? और यह शुभभाव होता है, इसमें मुझे भविष्य में लाभ होगा.... जिसे जिस भाव का त्याग वर्तता है, उससे लाभ होगा – ऐसा मानता है? इस स्वरूप में एकाग्र होऊँगा तो लाभ होगा – ऐसा मानता है। समझ में आया? कहो, प्रवीणभाई! ऐसा अद्भुत मार्ग!

नग्न मुनि होकर बैठा हो, लो! कहते हैं कि एक अंश का त्याग नहीं है। त्याग होवे तो उसे अन्दर पूर्ण परमात्मा का त्याग है और भोग होवे तो चौदह ब्रह्माण्ड का उसे भोग है, चौदह ब्रह्माण्ड का (भोग है), जिसे एक राग के कण का आदर है, उसे पूरे चौदह ब्रह्माण्ड का आदर है। यह क्या कहते हैं परन्तु? '**जो परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ।**' ऐसे छूटते हैं, दृष्टि में से छूटते हैं। दृष्टि के भाव में से जहाँ स्वभाव आया नहीं और परभाव दृष्टि में से छूटा नहीं, वह बाहर का त्याग करता है (– ऐसा) कौन कहता है? (–ऐसा) कहते हैं। समझ में आया?

'**सो पंडिउ**' उसे भगवान पण्डित कहते हैं। समझ में आया? उसमें (सातवीं गाथा में) ऐसा कहा था न? '**जिणभणिउ पुण संसारु भमेइ**' भगवान ने ऐसा कहा था कि बहिरात्मा संसार में भटकेगा। यह पण्डित है, वह तो ज्ञानी है, पण्डित है। यह सब आ गया, बारह अंग का सार (आ गया)। आहा...हा...! बारह अंग और चौदह पूर्व में कहना था, जो वीतरागपने का आदर, राग का आदर नहीं - वह बात इसे आ गयी। वह पण्डित है, जा! समझ में आया?

'सो संसार मुएइ' लो ! है न अन्तिम शब्द ? **वह संसार से छूट जाता है।** देखो ! परभाव को दृष्टि में से छोड़ता है। जिसे श्रद्धा में.... श्रद्धा अर्थात् अकेली मान्यता – ऐसा नहीं। जो श्रद्धा में आत्मस्वरूप पकड़ा है, ज्ञान से वेदन पकड़कर पूरा प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञान में प्रत्यक्ष हो गया है। समझ में आया ? इससे आत्मा का कोई रहस्य कुछ बाकी नहीं रहता। स्वरूप दृष्टि में आ गया है और उससे विरुद्ध का त्याग वर्तता है; इस कारण उसे संसार छूट जाएगा, लो ! **'सो संसार मुएइ'**। दूसरा संसार में भटकेगा – ऐसा कहा था न ? उसके सामने यह। उसमें कहा था **'संसारु भमेइ'**। बहिरात्मा बाह्य चीजों को कर्म की सामग्री को; कर्म की सामग्री अर्थात् समस्त (सामग्री) अल्पज्ञपना, अल्प वीर्यपना, राग-द्वेषपना, संयोगपना, स्त्री, पुत्र, सब हीनपना, दीनपना, सब (अपना मानता है)। समझ में आया ? बाहर की चीज से अधिकपना माना और स्वरूप का अधिकपना दृष्टि में से छूट गया, बस ! वह संसार में भटकेगा। क्योंकि उसकी अधिकता दृष्टि में से छूट गयी है; इसलिए नये कर्म बाँधेगा और चार गति में परिभ्रमण करेगा। भगवान अन्तर-आत्मा अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप को (अपना मानता है) उसका तो पता नहीं होता और बाह्य त्याग की बातें करना। कहो, अब....

मुमुक्षु – पंचम काल में उससे धर्म होता है।

उत्तर – पंचम काल में धर्म, धर्म की रीति से होता होगा या दूसरी रीति से होता होगा ? मुँह से खाते होंगे या कान से खाते होंगे पंचम काल में ? हैं ? मुँह से खाते हैं ? पंचम काल में अन्तर नहीं पड़ता है ? मार्ग में कुछ अन्तर पड़ता होगा ?

यहाँ तो कहते हैं कि **अपने आत्मा का अनुभव करता है।** देखो, **'अप्पा मुणहिं।'** भगवान आत्मा, शुभाशुभराग के अभावस्वभावस्वरूप पूर्ण ज्ञान, आनन्दस्वरूप है। ऐसे आत्मा को अन्तर आत्मा (अनुभव करता है)। अन्तर आत्मा चौथे गुणस्थान से है या नहीं ? है ? **अपने आत्मा का अनुभव करता है।** यह चौथे से है या यह अन्तर आत्मा आठवें (गुणस्थान से) है ? आहा...हा... ! क्या इसमें पाठ है ? देखो न ! देखो ! **'सो पंडिउ'** अन्तर आत्मा की व्याख्या है, **'अप्पा मुणहिं।'** जो ज्ञानी आत्मा है, स्व-पर को जानता है, परभाव को छोड़ता है, वह पण्डित **'अप्पा मुणहिं'** आत्मा को जानता है। जानने

का अर्थ क्या? **'सो संसार मुएइ'**। जानने का अर्थ वह अनुभव करता है। देखो! इन्होंने यहाँ अर्थ किया है। जानने की व्याख्या क्या?

अपने कलश टीकाकार तो यही अर्थ करते हैं। जानने का अर्थ क्या? यह ज्ञान करना चाहिए, अकेला? अन्दर स्थिरता, आत्मा का अनुभव करना, आनन्दस्वरूप का अनुभव (करना), उसे जाना कहा जाता है। आत्मा ऐसा पर में अनादि से स्थिर था, वह दृष्टि बदलकर अन्तर में आया तो स्थिरता के बिना किस प्रकार अन्दर आया? वह अन्तर में स्वरूपाचरण का भाव प्रगट हुआ। अनन्तानुबन्धी का अभाव हुआ, चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण प्रगट हुआ। समझ में आया? अभी पण्डितों में इसका बड़ा विवाद चलता है। दूसरे कहते हैं होता नहीं, चौथे में मात्र ज्ञान ही होता है; अनुभव, आचरण तो पाँचवें में होता है। ऐसे पके हैं न! उस थोर (काँटेदार वृक्ष) पर केले पके, यह केले में काँटे पके। समझ में आया?

कहते हैं, **अपने आत्मा का अनुभव करता है...** देखो! शीतलप्रसादजी कितना अर्थ ठीक करते हैं! भगवान आत्मा...! है न उनका श्लोक? इसमें श्लोक है, वह इन्होंने नहीं रखा? इसमें उनका श्लोक इनने नहीं रखा है। इनका बनाया हुआ है वह नहीं। इनने कहाँ बनाया है? यह तो दूसरों ने बनाया है न? वह इसमें नहीं।

'सो संसार मुएइ' जो स्वरूप का आदर करनेवाला, शुद्ध चैतन्यवस्तु का अनुभव करनेवाला, परमभाव को छोड़नेवाला बीच में भेदज्ञान होने से क्रम-क्रम से संसार को छोड़ देता है। छूट जाएगा, संसार रहेगा नहीं – ऐसे जीव को पण्डित और ज्ञानी और वीर व शूरवीर कहा जाता है। कहो, समझ में आया? बहुत आधार लिये हैं।

☆ ☆ ☆

परमात्मा का स्वरूप

णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु, विण्हु बुद्धु सिवु संतु।
सो परमप्पा जिण-भणिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥९॥

निर्मल-निकल-जिनेन्द्र शिव, सिद्ध विष्णु बुद्ध शान्त।
सो परमातम जिन कहे, जानो हो निर्भ्रान्त॥

अन्वयार्थ – **(णिम्मलु)** जो कर्मफल व रागादि मल रहित है **(णिक्कलु)** जो निष्फल अर्थात् शरीर होता है **(सुद्धु)** जो शुद्ध व अभेद एक है **(जिणु)** जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया है **(विण्हु)** जो विष्णु है अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा सर्व लोकालोक व्यापी है, सर्व का ज्ञाता है **(बुद्धु)** जो बुद्ध है अर्थात् स्व-पर तत्त्व को समझनेवाला है **(सिवु)** जो शिव है, परम कल्याणकारी है **(संतु)** जो परम शान्त व वीतराग है **(सो परमप्पा)** वही परमात्मा है **(जिणभणिउ)** ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है **(एकउ णिभंतु जाणि)** इस बात को शङ्का रहित जान।

☆ ★ ☆

नौवीं (गाथा) **परमात्मा का स्वरूप**। पहले बहिरात्मा का कहा, दूसरा अन्तरात्मा का कहा, अब परमात्मा का (स्वरूप) कहते हैं।

णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु, विण्हु बुद्धु सिवु संतु।
सो परमप्पा जिण-भणिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥९॥

देखो ! इसमें यह आया, हाँ ! '**जिणभणिउ**'। कुन्दकुन्दाचार्य जैसे '**जिणभणिउ**' कहते हैं, यह भी '**जिणभणिउ**' ऐसी सीधी बात करते हैं, हाँ ! '**एहउ जाणि णिभंतु**' पहले बहिरात्मा की बात की। वह बहिर, वस्तु जो अन्तर में कायम की चीज है, उसे न मानकर क्षणिक और विकारी और संयोग को स्वीकारता है, वह बहिरात्मा है। अन्तरात्मा, त्रिकाली ध्रुवस्वरूप को – स्वभाव को स्वीकारता है और क्षणिक रागादि का आदर नहीं करता, परभाव को छोड़ता हुआ, अपने स्वरूप का अनुभव करता हुआ संसार से मुक्त होता है।

अब, परमात्मा की बात है। **जो कर्ममल, और रागादि मलरहित है.... 'णिम्मलु'** यहाँ तो राग-द्वेष के मलरहित है। परमात्मा को (अब मल नहीं है)। अन्तरात्मा को अभी राग-द्वेष थे। भिन्न पड़े थे परन्तु पूर्णतः छूटे नहीं थे, पूर्णतः छूट जाये तो परमात्मा हो जाये। दृष्टि से एकत्वबुद्धि से छूटे थे। अन्तर आत्मा में सम्यग्दृष्टि को पुण्य-पाप का भाव एकत्वबुद्धि से छूटा था परन्तु स्थिरता द्वारा पूर्ण छूटा नहीं था। वह यहाँ

(परमात्मपद में) रागादि मल पूर्णतः छूट गये। पहले थे... समझ में आया? उन्हें पूर्णतः (छोड़ा) 'विहूयरयमला' आता है या नहीं? लोगस्स में विहूयरयमला आता है। आठ कर्म के रजकण को और पुण्य-पाप के मलिनभाव को परमात्मा ने विहूय अर्थात् छोड़ा है, उन्हें परमात्मा, उन्हें सिद्ध भगवान कहा जाता है। उन्हें अरहन्त भी कहा जाता है।

'णिम्मलु णिक्कलु' जिन्हें कल नहीं (अर्थात्) शरीर नहीं। लो! यहाँ तो परमात्मा लिये – शरीर रहित। जिन्हें शरीर नहीं, अकेला आत्माशरीर है, अकेला आत्मा का शरीर रहा.... यह शरीर धूल का नहीं रहा, उन्हें परमात्मा कहा जाता है। लो! कोई कहता है, वहाँ भी अभी शरीर होता है। वहाँ भी अभी भगवान की सेवा चाकरी करें। हैं? बैकुण्ठ में जाये तो सेवाचाकरी करे। ऐसे के ऐसे हैं उसके भगवान। यहाँ परोसा हो और उसके साधु को बहुत लड्डू दिये हों (तो) वहाँ भी उसे लड्डू मिलते हैं। वहाँ भी लड्डू और थालियाँ, वहाँ भी नौकरी और चाकर, वह तो संसार रहा, वह का वह।

परमात्मा तो उसे कहते हैं कि जिसे शरीर नहीं, जिसे राग नहीं। सिद्ध परमात्मा शुद्ध अभेद एक व्याख्या की है। वे शुद्ध हैं। अकेले भगवान हैं, उन्हें अशुद्धता बिल्कुल नहीं है। दो पना, उसे अशुद्धता और कर्म आदि कुछ नहीं है। वह नकार किया था। यह शुद्ध एक है, ऐसा।

'जिणु' जिसने आत्मा के सर्व शत्रुओं को जीत लिया.... लो, जिसने सभी शत्रु पहले थे और जीता, और परमात्मा वीतराग हुए, उन्हें परमात्मा और परमेश्वर कहते हैं। लो! यह णमो सिद्धाणं की व्याख्या चलती है। सिद्ध भगवान ऐसे हैं, उन्हें परमात्मा कहते हैं। बाकी कोई जगत का करता है और अमुक है और अमुक है, वह कोई परमेश्वर – वरमेश्वर ऐसा कोई है ही नहीं। **शत्रुओं को जीत लिया....**

'विण्हु' (विष्णु)। ऐसे सिद्ध भगवान को विष्णु कहते हैं। वे विष्णु जगत को रचते हैं, वे विष्णु नहीं। ज्ञान की अपेक्षा से सर्व लोकालोक में व्याप्ते हैं, उसे विष्णु कहते हैं। भगवान परमात्मा एक समय के ज्ञान में तीन काल तीन लोक ज्ञातारूप से जानते हैं, एक समय में युगपत् जानते हैं, एक समय में पूरा जानते हैं, उसे परमात्मा कहते हैं। दूसरे कहते हैं कि वे अनियत को जानते हैं। अनियत को जानते हैं अनियतपने, ऐसा। पढ़ा है

या नहीं ? ऐ... ! देवानुप्रिया ! पढ़ाया है या नहीं वह ? क्या अभी हाँ करते हो ? यह क्रमबद्ध का वहाँ नहीं आया, क्या था उसमें ? हैं, हाँ... ई.... !

मुमुक्षु – शास्त्र में भी नाम नहीं लिखे....

उत्तर – क्या शास्त्र में अनन्त के कितने नाम लिखे ? कितने के नाम लिखें शास्त्र में ? सिद्धान्त, शास्त्र में सिद्धान्त दें कि भाई ! इस अग्नि में से मरकर मनुष्य नहीं होता। समझ में आया ? मनुष्य मरकर अग्नि में जाएगा, परन्तु कौन-सा मनुष्य ? दृष्टान्त तो कितने दें ? दृष्टान्त नहीं दिये इसलिए अनियत है ? ऐसा कहाँ से निकाला ? वाणी में सब आता ही नहीं, वाणी में तो पूरा आता नहीं। सर्वज्ञ की वाणी में भी पूरा नहीं आता। तीन काल तीन लोक जितना ज्ञात हुआ, उतना सब कहाँ से आयेगा एक साथ ? उसके न्याय, उसके समुदाय से पूरा तत्त्व कैसा है – ऐसा आता है। समझ में आया ?

यहाँ तो भगवान परमेश्वर को विष्णु कहते हैं। क्यों ? कि ज्ञान की अपेक्षा से सर्व लोकालोक व्यापी.... कोई सामान्य विशेष जानने का बाकी नहीं। भविष्य का कोई समय उन्हें बाकी नहीं कि इस समय में ऐसा आवे तो होगा, नहीं तो नहीं होगा – ऐसा भगवान को (नहीं है)। ऐसा वे सर्वज्ञ को नहीं मानते।

मुमुक्षु – संयोग कौन सा आवे यह निश्चित नहीं ?

उत्तर – कहाँ सब निश्चित नहीं ? ऐसे और ऐसे पके हैं, हैं ?

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव – गुण, राजनीति में चार। त्रास बिना प्रभु जड़ चेतन की कोई न लोपे काल। सारी दुनिया तीन काल तीन लोक भगवान का ज्ञान उस प्रकार परिणमित हो रहा है। उसमें कोई अनियत बाकी होगा ? भविष्य की कोई पर्याय, पानी को अग्नि आवे तो गर्म होगा, न आवे तो नहीं होगा – ऐसा होगा या नहीं ? हैं ? रतिभाई ! कैसा होगा ? कैसा नहीं होगा ? अग्नि का संयोग मिला नहीं, तो ? पानी गर्म नहीं होगा, लो ! परन्तु जिसे गर्म होने का काल है, उसे अग्नि का निमित्त वहाँ नहीं है – ऐसा कौन कहता है ? दोनों निश्चित हो गये हैं, अनादि से सब निश्चित है। जहाँ पर्याय जो होनी है, वहाँ उस पर्याय को अनुकूल निमित्त सामने होता ही है। समझ में आया ?

मुमुक्षु – उपादान तैयार हो और निमित्त न हो तो..... ?

उत्तर – निमित्त न हो यह प्रश्न ही नहीं है। एक कारण हो और दूसरा कारण न हो – यह बात ही झूठी है। समझ में आया ? ऐसे भगवान ने समस्त कारणों को एक साथ देखा है, इसमें आगे-पीछे भगवान के ज्ञान में कुछ नहीं है। भगवान के ज्ञान में लोकालोक ज्ञात हो गया है, भूत-भविष्य और वर्तमान तीन काल सब ज्ञात हो गये हैं।

मुमुक्षु – उसमें पुरुषार्थ मारा जाता है।

उत्तर – इसी में पुरुषार्थ है। भगवान ने जो जाना, उनकी सर्वज्ञदशा इतनी – ऐसी सर्वज्ञदशा की पर्याय का स्वीकार करने जाये, तब उसके द्रव्यस्वभाव में, ज्ञायकस्वभाव में दृष्टि पड़े बिना उसका स्वीकार नहीं होता। समझ में आया ? भगवान की एक समय की एक ज्ञान की पर्याय इतना – तीन काल तीन लोक ज्ञाता, युगपत्‌रूप से जाने सचराचर... ऐसे ज्ञान का स्वीकार, वह क्या राग से कर सकते हैं ? राग के आश्रय से स्वीकार होता है ? यह पर्याय से स्वीकार होता है परन्तु पर्याय के आश्रय से स्वीकार होता है ? समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञप्रभु अकेला ज्ञ-मूर्ति प्रभु, ज्ञ-मूर्ति अर्थात् सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा का आश्रय लिये बिना सर्वज्ञ की पर्याय का निर्णय नहीं होता। यह निर्णय होने पर उसे क्रमबद्ध का (निर्णय होता है) और वीतरागी पर्याय प्रगट हो गयी। सब निर्णय हो जाता है, यही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ कहीं अलग है क्या ? अन्तर की झुकावदशा कर्तृत्व में थी, वह अन्तर में अकर्तृत्व में गयी, वह पुरुषार्थ है। समझ में आया ?

एक राग का भी कर्ता नहीं। अनन्त संयोग पदार्थ में अपनी उपस्थिति के कारण वहाँ फेरफार होता है – ऐसा वह नहीं मानता। वह तो, मेरी उपस्थिति मुझमें है, उनकी उपस्थिति उनमें है, उनसे होता है – ऐसा जानता हुआ पर का कर्ता नहीं होता। कहो, समझ में आया ? पूरे साँचे (मशीन) को ऐसे हिलावे....

मुमुक्षु – पर का भले न करे परन्तु पर में निमित्त तो होता है न ?

उत्तर – किसे निमित्त होता है ? यह मानता है कि मैं वहाँ जाकर निमित्त था ? क्या

कहा समझ में आया ? वहाँ होवे, तब सामने की चीज को निमित्त कहते हैं ? कि तू वहाँ निमित्त होने जा ? किसी को भी निमित्त होने जा ? उसकी पर्याय का काल नहीं और तू निमित्त होने जाये कब ? ऐसे सूक्ष्म काल में निमित्त होना – ऐसा कहा है ? वहाँ कार्य हो तब साथ में हो उसे निमित्त (कहते हैं) उसके ज्ञान में आवे कि साथ में एक चीज है। यह तो क्रमबद्ध नियम हो गया। समझ में आया ?

मुमुक्षु – होवे ही न निमित्त ?

उत्तर – परन्तु होवे कौन ? कौन हो ? ए... प्रवीणभाई ! दूसरे को निमित्त, किसको निमित्त परन्तु ? वह निमित्त किस पर्याय का है, वह निमित्त वहाँ होता है ? उसे पता है कि यह पर्याय अभी हुई और यह निमित्त इसे है ? असंख्य समय पहले इसे विचार आवे कि मैं ऐसा निमित्त होऊँ परन्तु निमित्त किसका ? जो नैमित्तिक पर्याय का उसका काल नहीं उसमें तू निमित्त हो, उसका अर्थ क्या ? समझ में आया ? निमित्त होऊँ, यह तो अज्ञानी का भ्रम है। यह तो वहाँ पर्याय काल होता है, तब जो हो उसे एक समय के काल की अपेक्षा से उसे निमित्त कहते हैं, एक समय की अपेक्षा से। और यह कहता है मैं वहाँ निमित्त होऊँ.... उसका अर्थ, असंख्य समय का तेरा उपयोग, उसे निमित्त होऊँ अर्थात् किसका निमित्त परन्तु ? किस पर्याय का निमित्त ? किस पर्याय का निमित्त ? बड़ा भ्रम। धीरुभाई ! आहा...हा... ! सब ऐसा कहते हैं कि वहाँ के सब मूर्ख हैं। ऐसा भी कहते हैं। वे तो स्वतन्त्र हैं न ! स्वतन्त्र हैं। उन बेचारों को उनकी जवाबदारी का पता नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं.... समझ में आया ? भगवान को विष्णु कहा जाता है। परमात्मा अर्थात् विष्णु, हाँ ! परमात्मा अर्थात् विष्णु। विष्णु अर्थात् परमात्मा ऐसा नहीं। यह परमात्मा ऐसे होवें, वे एक समय में तीन काल-तीन लोक जानें, उन्हें विष्णु कहा जाता है। सर्वज्ञ परमेश्वर को विष्णु कहा जाता है। जगत का कर्ता-हर्ता अन्य कोई विष्णु नहीं है। इन्हें (भगवान को) परमात्मा कहा जाता है।

बोध.... लो ठीक ! '**णिम्मलु**' कहा। '**णिक्कलु**' कहा, '**सुद्ध**' कहा। इतने तीन बोल लिये और '**जिणु**' कहा। जिन से शुरु किया... फिर विष्णु लिया फिर बुद्ध लिया.. वह बुद्ध **स्वपर तत्त्व को समझनेवाला बुद्ध...** लो, उसे बुद्ध कहते हैं। क्षणिक को माने,

वह बुद्ध नहीं। बुद्ध अर्थात् स्व-पर के तत्त्व को भेद डालकर जाने, उसे बुद्ध कहते हैं। परमात्मा अपने स्वरूप को पूर्णरूप जानते हैं, इसके अतिरिक्त लोकालोक है, उसे वे जानते हैं। स्व-पर के जाननेवाले, वे सर्वज्ञ भगवान परमेश्वर तीर्थंकर या सिद्ध भगवान उन्हें यहाँ शुद्ध कहा गया है। दूसरे बौद्ध जो देव हैं, वे बुद्ध नहीं। वह तो अज्ञानी था, क्षणिक को माननेवाला था।

यह तो भगवान परमेश्वर, जो स्व-पर तत्त्व को समझनेवाला – स्व परमात्मा मैं – ऐसा केवलज्ञान में ज्ञान है और यह सब मुझसे पर है – ऐसा उनमें ज्ञान है। दोनों चीज का पूरा-सम्पूर्ण ज्ञान है, उसे बुद्ध कहा जाता है। अन्य तो कहते हैं कि आत्मा त्रिकाल है या नहीं? यह मैं नहीं कहता, यह हम नहीं कहते। आत्मा नित्य है या नहीं? यह अपने को पता नहीं पड़ता। इस काम में पड़ना नहीं। कहो, ठीक! त्रिकाल शाश्वत् है, इस काम में पड़ना नहीं! ऐसी जाति की दृष्टि घुट गयी, दृष्टि घुट गयी। वह मनुष्य को राजा का कुँवर था। राजकुमार परन्तु वैराग्य से आया हुआ, बाहर से दुःखी.... दरिद्र दुःख और दरिद्र और मरण वह इनके दुःख से ऐसा.... अन्दर अस्तित्व पूरा कौन है? उस पर लक्ष्य गया नहीं और वहीं का वहीं मर गया, देह छूट गया। समझ में आया?

'**सिव**' लो, '**सिव**'। ऐसे परमेश्वर को शिव कहते हैं जिन्होंने राग-द्वेषरहित, शरीररहित पूर्ण शुद्धदशा प्रगट की है, उन्हें शिव कहते हैं। शिव अर्थात् परम कल्याणकारी। परम कल्याणकारी। वह परम कल्याण करनेवाला स्वयं परमात्मा को कहते हैं। उन्होंने स्वयं का पूर्ण स्वरूप, पूर्ण कल्याणमय प्रगट किया। '**सिव**'.... णमोत्थुणम में आता है – शिव आता है न? शिव 'सिवमलयमरुयमणंत' शिवम्, अलयम, अरुयं, ऐसा शब्द है। 'अचलम्अरुयम्' रोगरहित ऐसे परमात्मा को विष्णु कहते हैं, उन्हें बुद्ध कहते हैं, उन्हें जिन कहते हैं, उन्हें शिव कहते हैं – ऐसी दशा प्रगटी हो उन्हें। हैं? समझ में आया? परम कल्याणकारी।

'**संतु**' शान्त, वीतराग। परम शान्त वीतराग, परम अकषाय परिणमन से, पूर्ण अकषाय परिणमन से भगवान परमात्मा को अकेली शान्तरस की पूर्ण धारा वीतरागरूप परिणमित हो गयी है। शान्त... शान्त... शान्त... शीतल स्वभाव जिनका, वीतरागी अकषाय

स्वभाव, जिनकी पर्याय में **संतु** – पूर्ण शान्ति, वीतराग पर्यायरूप परिणमित हुए हैं, उन्हें शान्त कहते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु – कुछ न बोलते हों (उन्हें शान्त कहते हैं)।

उत्तर – न बोलता हो तो क्या करे? न बोलता हो तो वह तो प्रकृति का स्वभाव है। कषाय मन्द हो और न बोलता हो और मौन रहे तो उससे कहीं शान्त है?

अकषायस्वभाव से परिणमित होकर वीतरागी सन्त हो गये। शान्तदशा का परिणमन (हुआ) उसे शान्ति कहते हैं, उसे वीतराग कहते हैं। '**सो परमप्पा**' लो! उसे परमात्मा कहते हैं। समझ में आया?

तीनों आत्मा की व्याख्या हुई – बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा – ऐसी व्याख्या सर्वज्ञ परमात्मा के सिवाय अन्यत्र नहीं हो सकती। पर्याय में पलटते हैं, बहिरात्मा हो सकते हैं, वे अनादि से, स्वयं के कारण अन्तरात्मा हो सकते हैं, अपने पुरुषार्थ से परमात्मा हो सकते हैं। शक्ति की व्यक्ति के पुरुषार्थ से... यह सब द्रव्य और पर्याय का जहाँ परिपूर्ण स्वीकार हो, वहाँ यह वस्तु सम्भव हो सकती है, अन्यत्र नहीं हो सकती। कहो, समझ में आया? **वही परमात्मा है।** '**जिणभणिउ**' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। लो! समझ में आया?

इस बात को शंकारहित जान। '**णिभंतु जाणि**' ऐसा कहा है न? ऐसा जान। '**णिभंतु**' – भ्रान्ति छोड़ दे कि दूसरा कोई भगवान होगा। कोई ब्रह्मा उत्पन्न करनेवाला, कोई विष्णु रक्षा करनेवाला, कोई शंकर टालनेवाला.... हैं? ऐसे महेश, शंकर वह महेश – ऐसा कोई नहीं है। निर्भ्रान्त होकर ऐसे परमात्मा को जान। परमात्मा ऐसे होते हैं, ऐसे अनन्त परमात्मा हैं। सिद्ध भगवान अनन्त हैं। यदि तुझे परमात्मा होना हो तो तू परमात्मस्वरूप जो तेरा है, उसे जान और राग-द्वेष को छोड़; तो परमात्म शक्ति तो तुझमें अभी पड़ी है। परमात्मा कहीं बाहर से नहीं आते। समझ में आया?

ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इस बात को शंकारहित जान। निर्भ्रान्त हो जा, निसन्देह हो जा, निर्भय हो जा! वस्तु ऐसी ही है। इसके सिवाय कोई परमात्मा सत्य नहीं हो सकता। उन्हें शरीर नहीं होता.... होता। जिन्हें कुछ खाने-पीने की वृत्ति नहीं होती। भगवान को खाना-बाना नहीं होता भगवान फिर खाये और फिर थाल चढ़े, किसका?

थाल चढ़ते हैं या नहीं ? जीमने का थाल.... ऐसा कुछ आता है न ? 'जमोने थाल जिवण मोरारी....' ऐसा आता है। सब सुना है। 'जमोने थाल जिवण मोरारी....' परन्तु किसका थाल ? भगवान को थाल कैसा ? भगवान को भोजन कैसा ? वे तो अनन्त आनन्द का भोजन प्रति समय कर रहे हैं। परमात्मा अनन्त अमृत का अनुभव कर रहे हैं, उन्हें फिर दूसरा भोजन-फोजन कैसा ? समझ में आया ?

तू निर्भ्रान्त ऐसे परमात्मा को जान ! इसके अतिरिक्त कोई सच्चा भगवान नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया ? फिर कोई ऐसा कहते हैं न ? भगवान अपना सब हिसाब रखते हैं। हैं ? यहाँ का जो काम करे, उसे तो याद न हो अल्पज्ञ प्राणी है, दूसरे परमात्मा उसका हिसाब रखे, हिसाब.... धर्म राजा बहियाँ देखता है फिर लेना-देना लिखकर इसे नरक में भेजता है। कितने का काम करता होगा ? चित्रगुप्त का चौपड़ा/बहियाँ.... कितनी बहियाँ रखता होगा ? एक समय में अनन्त मरते, निगोद के जीव एक समय में अनन्त मरते हैं और एक समय में अनन्त उत्पन्न होते हैं। वे अनन्त कितने ? समझ में आया ? पार नहीं... सिद्ध से अनन्तगुने जीव। आहा...हा... ! उनकी बहियाँ कितनी रखते होंगे ? यहाँ दो बहियाँ रखने में परेशानी आ जाती है। एक काले बाजार का और एक वह अच्छा साफ-सुथरा। दो रखते हैं न ? दो प्रकार की बहियाँ, दूसरे को बताने को दूसरा और दूसरे को बताने को वह। उसमें तो परेशानी आ जाती है।

मुमुक्षु – उसमें तो.....

उत्तर – वहाँ कहाँ भगवान ऐसा था ? वे किसी का नामा-थामा नहीं करते। इसका नामा है सही बात, सत्य, हाँ ! भगवान के ज्ञान में लेखा है कि यह जीव इस भव में मोक्ष जाएगा – ऐसा लेखा है। नौंध है, भगवान के ज्ञान में नौंध है। आहा...हा... ! भगवान के ज्ञान में नौंध है, वह रोजनामचा है उन्हें यह ज्ञान में। यह जीव इस भव में (केवल) ज्ञान प्राप्त करेगा, इतने भव में मोक्ष जाएगा। ऐसा भगवान के ज्ञान में नौंध है। तदनुसार वहाँ जाएगा। दूसरा होगा नहीं, उसके बदले वह कहता है नौंध कर रखी है, बहियों में लिखा है – ऐसा नहीं। ऐसे परमात्मा को परमात्मा जानना (जिसे) आत्मा का हित करना हो, उसे इस प्रकार पहचान करना।

(श्रोता – प्रमाण वचन गुरुदेव)

बहिरात्मा पर को आप मानता है

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुणु संसारु भमेइ ॥१०॥

देहादिक जो पर कहे, सो मानत निज रूप।
बहिरातम वे जिन कहें, भ्रमते बहु भवकूप॥

अन्वयार्थ – (**देहादिउ जे पर कहिय**) शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है। (**ते अप्पाणु मुणेइ**) उन रूप ही अपने को मानता है। (**सो बहिरप्पा**) वह बहिरात्मा है। (**जिणभणिउ**) ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है (**पुणु संसार भमेइ**) कि वह बारम्बार संसार में भ्रमण करता रहता है।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ६, गुरुवार, दिनाङ्क ०९-०६-१९६६
गाथा १० से १२ प्रवचन नं. ४

यह योगसार, यह शास्त्र योगीन्द्रदेव कृत है। जो परमात्मप्रकाश बनाया है, उन्होंने यह बनाया है। दसवीं गाथा में बहिरात्मा की व्याख्या थोड़ी आयी है, साधारण आयी थी, अब विशेष विस्तार से कहते हैं। **बहिरात्मा पर को आप मानता है।**

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ, पुणु संसारु भमेइ ॥१०॥

यह श्लोक है। यह आत्मा अखण्ड आत्मा शुद्ध चैतन्य वस्तु अभेद पदार्थ है, उसे छोड़कर जो कुछ यह शरीर, घर, धन-धान्य, मकान, आबरू, कीर्ति, शरीर की क्रिया या अन्दर में पुण्य-पाप का भाव (होता है), वह सब मेरा है – ऐसा मानता है, वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। जुगराजजी!

जो स्वरूप में नहीं... ज्ञान-आनन्द, वह आत्मा का त्रिकाली शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसमें नहीं ऐसे पुण्य-पाप के, शुभ-अशुभ के विकल्प अथवा चार गति, छह काय, लेश्या, कषाय आदि भाव, वह परभाव है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। इस देहादि परभाव में सब आ गया। शरीर से लेकर अन्दर राग की मन्दता के शुभभाव, ये सब आत्मा से बाह्य है। ठीक होगा? रतिभाई!

यह बाह्य जो है, **शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहा गया है....** शास्त्र में अथवा वस्तुस्वरूप में आत्मा आनन्द, ज्ञायकस्वरूप अभेद है, उससे यह दया, दान, व्रत आदि के भाव या हिंसादि के भाव या कषाय या गति, ये सब आत्मा के स्वभाव से बाह्य -बाहिर-अन्तर स्वरूप में नहीं – ऐसे बाहिर कहे गये हैं। ऐसे बाह्य भाव को आत्मा माने, उसे यहाँ मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मूढ़ कहा है। समझ में आया?

देहादिउ जे पर कहिया जिन्हें पर कहा है – ऐसा, फिर यहाँ शब्द है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमूर्ति के अतिरिक्त (जितने भाव हैं, उन सबको परभाव कहा है)। यहाँ दो लाईनों में इतना डाला है। यह तो उसमें इन्होंने विस्तार किया है। कोई साधु-गृहस्थ का चारित्र पाले और उसे आत्मा का स्वभाव जाने तो वह साधु, श्रावक तो मिथ्यादृष्टि है। यह तो इनने शुभभाव की व्याख्या की है। समझ में आया? श्रावक या मुनि का जो शुभभाव व्यवहार है न? पंच महाव्रत के, बारह व्रत के विकल्प हैं, उनके छह प्रकार के – श्रावक के छह प्रकार के कर्तव्य हैं न? व्यवहार कर्तव्य है न? देवदर्शन, गुरुपूजा इत्यादि.... ऐसा जो आचरण है, व्यवहार से शुभराग है। ऐसे मुनि को भी पंच महाव्रत आदि का आचरण, वह राग – शुभराग है। वह आचरण मेरा है और उस आचरण से मुझे हित होता है – ऐसा माननेवाले की दृष्टि बाहिर है, मिथ्यादृष्टि है, उसकी बहिरात्मदृष्टि है, अन्तर्दृष्टि नहीं। समझ में आया?

तब (कोई कहता है) ज्ञानी को ऐसे भाव तो होते हैं? ऐसे भाव होने पर भी उन्हें अपना स्वरूप नहीं जानता, उनसे हित नहीं मानता – ऐसे श्रावक और मुनि के व्यवहार आचरण के जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार – ऐसे (आचार) आते हैं न? काल में पढ़ना इत्यादि नहीं आता? ऐ...ई...! प्रवचनसार में तो ऐसा कहते हैं,

तुम्हारे प्रताप से ऐसा होगा.... यहाँ कहते हैं कि ऐसे भाव से लाभ मानें तो उसे बहिरात्मा –मिथ्यादृष्टि कहा है। देखो, लिखा इसमें, ए...ई... ! वहाँ तो निमित्त का कथन किया है। प्रवचनसार में तो ऐसा भाव वहाँ होता है, उसका निमित्त का कथन किया है। ज्ञान में विनय से पढ़ना, काल में पढ़ना इत्यादि आठ बोल आते हैं न ? सम्यक्त्व के व्यवहार के आठ बोल आते हैं। चारित्र के आठ – पाँच समिति, तीन गुप्ति.... ऐसा देखकर चलना इत्यादि... तप के बारह प्रकार, ये सब विकल्पात्मक भाव हैं, राग हैं; यह मेरा स्वरूप है अथवा इससे मेरा कल्याण (है – ऐसा मानता है)। जिससे कल्याण माने, वह उसे स्वरूप माने, उसे साधन माने तो भी वह मिथ्यादृष्टि है – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह साधन नहीं है; साधन, स्वभाव में साधन है। समझ में आया ?

जो अन्तर का आवश्यक – कर्तव्य है, स्वरूप में स्थिरता वह.... अन्य व्यवहार आवश्यक, उसे परमार्थ से आत्मा का स्वरूप जाने.... **देहादिउ जे पर कहिया** देखो। **देहादिउ जे पर कहिया** वे सब पर हैं। शुभविकल्प – वृत्ति उत्पन्न होती है, वे सब पर हैं, विकार हैं, विभाव हैं, सदोष हैं। आहा...हा... ! कहो समझ में आया ? ऐसे शुभ आचरण को (परभाव कहते हैं)। दूसरी भाषा, यहाँ तो अभी लक्ष्य में यह आया था। उदय का बोल है न ! भाई ! उदय के बोल, वह अभी लक्ष्य में आया था। इक्कीस बोल में कोई बोल जो है, वह आत्मा को माने तो बहिरबुद्धि – मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु – आत्मा का तत्त्व है, ऐसा लिखा है।

उत्तर – यह आत्मा का तत्त्व (कहा), वह तो एक समय की पर्याय का ज्ञान कराने को (कहा है)। एक समय की पर्याय में उसका ज्ञान कराने को... वस्तुदृष्टि की दृष्टि से वह बहिर्भाव है। समझ में आया ? ऐ... देवानुप्रिया ! ऐ... भोगीभाई !

देहादिउ जे पर कहिया यहाँ तो भगवान कहते हैं – ऐसा अपने सिद्ध करना है। योगीन्दुदेव ऐसा कहते हैं न कि देह, शरीर, वाणी, मन, कर्म, धन, धान्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र आदि यह सब भगवान आत्मा से भिन्न चीज है। एक ओर ली, यह तो अभी स्थूल बात थी। अब रही अन्दर में, यह बाह्य की बात हुई। अब अन्दर में जो कोई शुभपरिणाम उठते हैं, विभाव के आचरण, जिन्हें व्यवहार आचरणरूप से शास्त्र में कहा – ऐसा जो शुभ

आचरण – भाव उत्पन्न होता है, वह भी वास्तव में बहिर्भाव है, क्योंकि अन्तर स्वभाव में नहीं है और अन्तर स्वभाव में रहता नहीं है। समझ में आया? अन्तर स्वभाव में है नहीं और अन्तर स्वभाव में शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति भगवान आत्मा है, उसमें यह दया, दान, व्रतादि के परिणाम शुभविकल्प या ज्ञानाचार-दर्शनाचार के परिणाम वह विभाव है। वह ज्ञानानन्दस्वरूप में नहीं है तथा उस ज्ञानानन्द की पूर्ण प्राप्ति हो, तब वह रहते नहीं हैं; इसलिए उसकी चीज नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...!

देहादिउ जे ऐसा प्रयोग किया है न? भगवान एक ओर रह गया। एक समय में अखण्ड आनन्दकन्द अभेद चिदानन्द की मूर्ति, उसे आत्मारूप से जाने, तब तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन हुआ, वह तो जैसा जिसका स्वभाव, उस प्रकार उसका स्वीकार... और ऐसा आत्मा न मानकर, उस आत्मा से बाह्य चीजें जो विकल्पादि उत्पन्न होते हैं, जो उसमें नहीं है, उत्पन्न हों, फिर भी उसके स्वभाव में नहीं रहते और उसके स्वभाव को साधनरूप से मदद नहीं करते हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा – ऐसा विकल्प शुभ है, वह वास्तव में बहिर्भाव है, विभाव है। पंच महाव्रत के परिणाम – अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, यह भी एक विकल्प, विभाव है। यह उसका स्वरूप नहीं है। उस विभाव को स्वभाव माने या विभाव को स्वभाव का साधन माने या विभाव मेरी चीज में है ऐसा माने, (वह बहिरात्मा है)। समझ में आया? शान्तिभाई! क्या होगा यह? अद्‌भुत....! कहो, समझ में आया?

यह पुण्यपरिणाम और पुण्य का फल, शुभभाव इससे बँधा पुण्य, यह उसके फलरूप से तुम्हें यह हजार (रुपये) वेतन मिलता है, यह तीनों मुझे मिलते हैं – ऐसा मानना, वह मूढ़ है, ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! इसे शेयर मार्केट में एक हजार वेतन मिलता है। यह आया था, निवृत्ति लेकर आता है। यह तो पुण्य के परमाणु और पुण्य का भाव और उसके फल की बाहर की विचित्रता देखो, यह एकदम बढ़ा – ऐसा माननेवाला मूढ़ है। यह कहते हैं। रतिभाई! आहा...हा...! ऐ...ई...! लक्ष्मी और अधिकार बढ़ने से क्या बढ़ा? क्या परिवार या परिवार से.... यह बढ़ा तो तू बढ़ा? या गुमढ़ा बढ़ा। गुमढ़ा समझते हो? फोड़ा... फोड़ा.... होता है।

एक सेठ को था, अपने एक भाई थे न ? ब्यावर... ब्यावर है न ? नहीं थे एक सेठ ? हम आहार करने गये थे। मोतीलालजी, ब्यावर में मोतीलालजी सेठ थे न ? गृहस्थ व्यक्ति, खानदानी व्यक्ति, बड़े गृहस्थ परन्तु पूरे शरीर में सुपारी-सुपारी जितने (फोड़े) पूरे शरीर में इतनी-इतनी गाँठें, हाँ! ब्यावर में मोतीलाल सेठ थे। उनके यहाँ आहार करने गये थे। बड़े गृहस्थ, इज्जतदार। बड़े सेठ, बड़े व्यक्ति... शरीर देखो तो सर्वत्र इतनी -इतनी गाँठें निकली हुई, हाँ! सुपारी (जैसी) – ऐसे गृहस्थ थे। लाख दवायें कितनी करते होंगे ? धूल में भी कुछ नहीं हुआ, मरते तक शरीर ऐसा का ऐसा रहा, लो! यह मुझे हुआ – ऐसा मानना, बहिरात्मबुद्धि है – ऐसा कहते हैं। यह आत्मा में नहीं हुआ, यह तो जड़ की दशा में है।

इसी प्रकार जड़ की दशा में सुन्दरता, कोमलता, आकृति, नरमायी, इत्यादि जड़ की दशा में होने पर 'मुझे हुआ', 'यह मुझे हुआ, यह मैं हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं नरम हूँ, मैं सुन्दर हूँ – यह बुद्धि शरीरादि को, पर को अपना माननेवाले की बुद्धि है।' समझ में आया ?

शरीरादि.... आदि में सब डाला है, हाँ! **जिन्हें आत्मा से भिन्न कहा गया है।** भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने परमार्थस्वरूप अपना निज स्वभाव, सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञायकमूर्ति अखण्डानन्द ध्रुव, अनादि-अनन्त स्वभाव, उससे जितने बहिर्भाव हैं, उन्हें अपना माने, उनसे अपने को लाभ माने – ऐसा यह मेरा कर्तव्य है, ऐसा माने, लो! ऐसा कर्ता निकलता है या नहीं ? रामजीभाई का याद आया। समझ में आया ? जिन्हें – रागादि को जिसका कर्तव्य स्वीकार करे, उस कर्तव्य से भिन्न कैसे होगा ? कहो, रतिभाई! समझ में आया ? यह शुभभाव दया, दान, भक्ति, व्रतादि का शुभभाव मेरा कर्तव्य है और मैं वास्तव में उसका रचनेवाला हूँ – ऐसा जो मानता है, वैसे कर्तव्य को कैसे छोड़ेगा ? ऐसे कर्तव्य को माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहा...हा... !

मुमुक्षु – व्याख्या लम्बी बहुत हो गयी।

उत्तर – लम्बी हो गयी। मस्तिष्क में उदयभाव याद आ गया। यह तो थोड़े बोल हैं, बहुत बोल हैं उसमें, नहीं ? असिद्धत्वभाव, लो न! असिद्धभाव, यह पढ़ने से उदयभाव दिमाग में आ गया। उदयभाव कितना असिद्ध है ? चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धभाव है।

यह सब असिद्धभाव, अपूर्णभाव, मलिनभाव, विपरीतभाव, खण्ड-खण्डभाव.... समझ में आया? उसे अपना स्वरूप माने, वह बहिरवस्तु है। भगवान अन्तर चिदानन्द की मूर्ति अखण्ड आनन्दकन्द ध्रुव चैतन्य है। उसे अपना स्वरूप न मानकर, जो उसमें से निकल जाता है, टिकता नहीं है.... टिकते तत्त्व के साथ जो टिकता नहीं है, उसे अपना माने उसे बहिरात्मा मूढ़ जीव कहते हैं। अद्भुत व्याख्या कठोर! ए... रतिभाई!

बहिर – ऐसा शब्द है न यहाँ तो? बहिर। **देहादिउ सो बहिरप्पा.... बहिरप्पा** बाहिर में आत्मा माननेवाला, ऐसा... भगवान आत्मा ज्ञायक की मूर्ति, चैतन्यसूर्य अनाकुल आनन्द का कन्द – ऐसा स्वतत्त्व स्वयंसिद्ध, उसे अपना न मानकर, उससे बाह्य के किसी भी विकल्प आचारादि के, व्यवहार आचार के, हाँ! व्यवहार क्रिया के, व्यवहार महाव्रत के.... समझ में आया? समकित का व्यवहार श्रद्धा के आठ विकल्प, ज्ञानाचार के, चारित्राचार के व्यवहार के यह सब विभाव मेरा स्वभाव है अथवा इस विभाव से मेरा हित होगा – ऐसा माननेवाला उस विभाव को ही बहिर, बहिर को ही आत्मा मानता है। है न?

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ। उसे आत्मा जानता है। हम शब्दार्थ करते हैं। यह तो महासिद्धान्त है। आहा...हा...! समझ में आया?

देहादिउ जे पर कहिया एक स्व रह गया, इसके अतिरिक्त (बाकी सब) पर। **ते अप्पाणु मुणेइ**। उसे आत्मा माने अर्थात् उससे हित माने अर्थात् उस पुण्य-पाप के रागादि विभाव आचार को अपने स्वभाव का साधन माने तो स्वभाव और विकार दो एक माननेवाला, उसे ही आत्मा मानता है। **सो बहिरप्पा** उसकी दृष्टि ही चिदानन्द ज्ञायकभाव तरफ नहीं है, उसकी दृष्टि वहाँ आगे वह खण्ड-खण्ड आदि रागादिभाव या अल्पज्ञ आदि, उसमें जिसकी बुद्धि पड़ी है, वे सब (बहिरात्मा हैं)। उसमें कहा था न? पण्डित, भेदविज्ञानी पण्ड्या अर्थात् बुद्धिवाला – ऐसा कहा न? यहाँ अपण्ड्या लेना, ऐसा मेरा कहना है। है?

पुण्य-पाप का रागभाव, शरीरभाव, वाणी से भिन्न – ऐसा भेदज्ञान, ऐसा पर से भेदज्ञान, स्वभाव तरफ की एकता (जिसे हुई है), उसे पण्डित कहा है। उस जीव को अन्तरात्मा कहा है। उसने आत्मा है, वैसा जाना, माना कहा जाता है। उससे विरुद्ध

विकल्प रागादि को अपना स्वरूप माने, उसे अपण्ड्यो कहा है अर्थात् एकत्वबुद्धिवाला कहा है, इसलिए अपण्डयो कहा अर्थात् मूर्ख कहा है, बहिरात्मा कहा है। यह तो फिर उस पण्ड्या पर दिमाग गया कि पण्ड्या अर्थात् क्या होगा? उसमें लिखा है, पण्ड्या अर्थात् बुद्धि। भेदविज्ञान की बुद्धि और यह (अज्ञानी) अभेद (मानता है)। स्वरूप में राग और पुण्य भिन्न है, उन्हें एक माननेवाला, वह अपण्ड्या, मूर्ख और बहिरात्मा है। समझ में आया?

सो बहिरप्पा जिणभणिउ देखो! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में सेकेण्ड के असंख्य भाग में ज्ञान की ज्योत केवलज्ञानरूप से पूर्ण प्रगट हो गयी, चैतन्यसूर्य अन्दर पूर्ण सत्व पड़ा है। सर्वज्ञस्वभावी सत्व। आत्मा अर्थात् सर्वज्ञ-ज्ञ-स्वभावी, ज्ञ -स्वभावी, ज्ञ साथ में पूरा ज्ञ लो तो सर्वज्ञस्वभावी – ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी वस्तु आत्मा का अन्तर ध्यान करके जो सर्वज्ञस्वभाव जिसकी दशा में – अवस्था में प्रगट हो गया – ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर यह कहते हैं कि ऐसे सर्वज्ञस्वभावी आत्मा के अतिरिक्त दूसरी चीज को अपने लाभ के लिये माने, हित के लिये माने अर्थात् अपनी माने, उसे बहिरात्मा कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया या नहीं? ऐ... प्रवीणभाई! भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... ए... भगवान...! भगवान... भगवान... करे, यह विकल्प है, कहते हैं। इस विकल्प से आत्मा को लाभ माननेवाला बहिरात्मा है – ऐसा यहाँ कहते हैं, लो!

मुमुक्षु – आपने सब पक्का कराया।

उत्तर – पक्का करा लेना है, उसकी शैली प्रमाण बोले न! कहो, धीरुभाई! क्या है इसमें?

एक, दो वस्तु है। एक ओर भगवान पूर्णानन्द का नाथ परमात्मस्वरूप स्वयं परम स्वरूप है, आत्मा अर्थात् परमस्वरूप। शुद्ध ध्रुव चैतन्य भगवान परमस्वरूप आत्मा को अपना मानना, वह तो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और धर्म दशा हुई। ऐसा इसने अनन्त काल से नहीं माना। ऐसे स्वभाव से विरुद्ध अल्पज्ञ अवस्था, अल्पदर्शी, अल्प वीर्य या पुण्य -पाप के विकल्प या संयोगी बाह्य चीज में कहीं भी मुझे साधन है, हितकर है, लाभकारक है, मेरा है, उसमें मैं हूँ, वे मेरे हैं – ऐसी मान्यता को **बहिरप्पा** (कहते हैं)। यह आत्मा

अन्तर में से उछलकर बाहर को अपना मानता है। समझ में आया? हैं? सब आ गया? मन्दिर और पूजा, यात्रा और यह सब विकल्प हैं, वे मेरे हैं (– ऐसा माननेवाला बहिरात्मा है)। ये हो भले परन्तु विभावरूप हेय है।

मुमुक्षु – सब रोज पूजा करते हैं।

उत्तर – कौन करता था? करता कब है? किया था अभी? अभी इसमें पूजा की या नहीं? आज थी न समवसरण की (पूजा)? आज जल्दी थी, सवा सात (होती है परन्तु) आज सात (बजे) थी। ऐसा कहते थे न? कोई कहता था? हो, उसके काल में भाव हो, परन्तु वह भाव अन्तर में स्वरूप की शान्ति को या स्वरूप की अखण्डता को वह भाव कुछ मदद करता है या स्वभाव को लाभ करता है – ऐसा नहीं है। फिर भी वह भाव व्यवहाररूप से आये बिना नहीं रहता है। अरे... अरे...!

जैसे आत्मा है, परिपूर्ण प्रभु सच्चिदानन्दस्वरूप अखण्डानन्द एक है, इसी प्रकार यह शरीरादि जड़ भी है या नहीं? मिट्टी आदि है, यह रजकण है या नहीं? ऐसे वस्तु एक रूप से प्रभु अन्तर शुद्ध चैतन्य का भान होने पर भी, जैसे दूसरी चीज कहीं चली नहीं जाती – ऐसे अन्दर में जब तक पूर्ण दशा प्राप्त न हो, तब तक ऐसा व्यवहार खड़ा होता है परन्तु वह पररूप से होता है, स्वरूप से गिनने के लिये नहीं होता। आहा...हा... चिमनभाई! बहुत कठिन बात है। ए.... मोहनभाई! क्या परन्तु? तब ऐसा कहोगे तो पूरे दिन कोई कुछ नहीं करेगा। कहाँ गये?

मुमुक्षु – उत्साह उड़ जाता है।

उत्तर – उत्साह उड़ जाता है! सत्य का तो सत्य स्वरूप है – ऐसा रखना चाहिए। सत् के कोई खण्ड करना चाहिए? सत्यवस्तु को वस्तुरूप से रखो, फेरफार मत करो। आहा...हा...! कहो, रतनलालजी! कैसा है? ऐसी कठोर बात (सुनेंगे तो) इन्दौरवाले सब चिल्ला उठेंगे।

यहाँ तो कहते हैं कि श्रावक का व्यवहार आचरण और साधु का व्यवहार आचरण, यह भी मुझे हितकर है – ऐसा माननेवाला बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है – ऐसा कहते हैं। क्योंकि यहाँ तो उदयभाव में राग लिया है न? समझ में आया? भगवान आत्मा.... फिर

वापस किये बिना रहे नहीं, कितने ही फिर ऐसा कहते हैं। भाई! तुम्हें पता नहीं है, बापू! वह भाव होता है, आता है। आत्मा का कर्तृत्व नहीं परन्तु कमजोरी के काल में वह भाव आता है, फिर भी हितकारी नहीं है। हितकारी नहीं है तो लाये किसलिए? लाता नहीं परन्तु आता है। आहा...हा...! आ...हा...! ए... बजुभाई!

बहिरप्पा जिणभणिउ, जिणभणिउ वीतराग परमेश्वर ने ऐसा कहा है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा पूर्ण दशा जहाँ प्रगट हुई, वाणी में इच्छा बिना यह बात ऐसे आयी है। आहा...हा...! ए... कान्तिभाई! यह अद्भुत बात, भाई! अन्य कितने ही कहते हैं, यह सोनगढ़ की (बात अटपटी है) परन्तु यह सोनगढ़ की है या किसी के घर की है यह?

मुमुक्षु – सोनगढ़ की हो तो क्या आपत्ति?

उत्तर – परन्तु यह सोनगढ़ का अर्थात ऐसा, ऐसा उसके मन में (होता है)। अकेला एकान्त... ऐसा! हमारा अनेकान्त है – ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि यह बाहर के विकल्प हैं, भाई! हो, परन्तु यह कोई आत्मा का कल्याण करनेवाले हैं और आत्मा का स्वरूप है – ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व है। मेरे स्वरूप में मैं हूँ और वे मेरे में नहीं हैं, इसका नाम अनेकान्त कहा जाता है परन्तु यह मैं शुद्ध भी हूँ और मलिनभाव भी हूँ – ऐसा अनेकान्त हो सकता है? समझ में आया? मैं निश्चयस्वरूप से शुद्ध अखण्ड आनन्द हूँ, वैसे व्यवहारस्वरूप से विकल्प और विभाव भी मैं हूँ – ऐसा कोई हो सकता है? समझ में आया? अद्भुत बात... परन्तु इसमें कभी अनन्त काल में यह बात लक्ष्य में नहीं ली है। आहा...हा...!

'सो बहिरप्पा जिणभणिउ' ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। 'पुण संसार भमेइ' बस! फिर से ऐसा का ऐसा परिभ्रमण करेगा। अनादि काल से ऐसे पर को अपना मानता आया है और पर को इसे छोड़ना नहीं, तो पर को छोड़ना नहीं अर्थात् पर में वह परिभ्रमण करेगा। **पुणु संसार भमेइ** देखो! बारम्बार.... ऐसे फिर **पुणु** का (अर्थ किया) **संसार में भ्रमण किया करता है**। ऐसा आत्मा अनादि काल से आत्मा की मूल चीज को जाने बिना, असली स्वभाव को जाने बिना, विकृतरूप को अपना स्वरूप मानकर (परिभ्रमण किया करता है)। कहो, समझ में आया?

एक मनुष्य होता है, नहीं वह रूप धारण करता ? सिर पर अमुक करे और ऐसा (करे)। मुसलमान बहुत करते हैं। सिर पर कपड़ा ओढ़ते हैं और कपड़ा बाँधते हैं और ऐसा करते हैं। वे तो मानते हैं कि मैं तो मनुष्य हूँ, मैं यह नहीं। हाथी जैसा रूप धारण करे ऐसे सिर पर सींग नहीं लगाते ? हैं ? हाथी का मुखौटा डालते हैं – ऐसा करते हैं। मैंने देखा था। एक बार वहाँ उपाश्रय के पास निकला था, उपाश्रय के पास निकला था। सब एक-एक बार को ठीक से देख लिया है, वह व्यक्ति निकला था और सिर पर हाथी का मुखौटा... यह देखो परन्तु वह मानता होगा कि मैं हाथी नहीं। हैं ? इसी प्रकार इस शरीर के मुखौटे के ऊपर लाल चमड़े के, यह वाणी धूल की और यह मानता है कि मेरी.... अब इसे करना क्या ? और उसमें पुण्य और पाप के भाव उत्पन्न हों, वह बारीक चमड़े के टुकड़े हैं, वे कोई आत्मा का स्वभाव नहीं है। विभाव... विभाव, विकार.... सदोष, उपाधि है, उसे अपना स्वरूप माने; विकृतरूप को अविकृत माने.... विकृतरूप कहा न ? हाथी को, मनुष्य था, उसे अपना माने ऐसे आत्मा में होनेवाली विकृतदशा, शुभाशुभभाव के सम्बन्ध और उसका फल, उसे अपना माननेवाला विकृत को ही अविकृत मानता है, वह विकृत को कैसे छोड़ेगा ? इसलिए विकृत में बारम्बार भ्रमण करेगा। लो, यह दशवीं गाथा हुई।

☆ ★ ☆

ज्ञानी पर को आत्मा नहीं मानता है

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु ण होहि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, अप्पा अप्प मुणेहि ॥११॥

देहादिक जो पर कहे, सो निज रूप न मान।
ऐसा जान कर जीव तू, निज रूप हि निज जान॥

अन्वयार्थ – (**देहादिउ जे पर कहिय**) शरीर आदि जिनको आत्मा से भिन्न कहे गये हैं। (**ते अप्पाणु ण होहिं**) वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते व उन रूप आत्मा नहीं हो सकता अर्थात् आत्मा के नहीं हो सकते (**इउजाणेविणु**) ऐसा समझकर (**जीव**) हे

जीव! **(तुहुँ अप्पा अप्प मुणेहिं)** तू अपने को आत्मा पहचान, यथार्थ आत्मा का बोध कर।

☆ ★ ☆

ग्यारहवीं (गाथा)। **ज्ञानी को पर को आत्मा नहीं मानना चाहिए।** धर्मी सत्... सत्, सत्स्वरूप का स्वीकार, उसे असत् में अपनापन नहीं मानना चाहिए। असत् अर्थात् जो स्वरूप में नहीं – ऐसी जो परवस्तु आदि है, उसे अपनी नहीं मानना चाहिए। वह बहिरात्मा था, यह सुलटा लेते हैं।

देहादिउ जे पर कहिय, ते अप्पाणु ण होहि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, अप्पा अप्प मुणेहि॥११॥

अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अकेला माल भरा है। **शरीर आदि अपनी आत्मा से भिन्न कहे गये हैं....** ये सब बात की वह.... शुभ-अशुभभाव, आचरण, क्रिया, देह, वाणी, मन, कर्म, लक्ष्मी सब.... यह **भिन्न कहे गये हैं, वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते...** क्या कहते हैं कि **ते अप्पाणु ण होहिं।** भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु, उस विभाव, शरीर और विकल्परूप कहीं हो नहीं जाता। उनरूप नहीं हो जाता, वस्तु कहीं विकृत पर्याय से वस्तु उसरूप बन नहीं जाती। क्या कहा?

भगवान आत्मा चिदानन्द की मूर्ति अरूपी अखण्ड आनन्दकन्द चिदानन्द अनादि-अनन्त स्वयं वस्तु है, पदार्थ है। ये शरीरादि जो आत्मा से पृथक् कहे, विकल्पादि, रागादि, पुण्यादि, **वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते। ते अप्पाणु ण होहिं। वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते।** क्या कहते हैं? यह पुण्य-पाप का भाव, शरीर, वाणी, कर्म-यह आत्मारूप नहीं हो सकते। वे अनात्मारूप बाहर रहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! आत्मा को जो स्वभावस्वरूप उसमें है, उसमें वे आ नहीं जाते - ऐसा कहते हैं। **वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते।** क्या कहा? समझ में आया?

शुद्ध ज्ञान की मूर्ति चैतन्यसूर्य प्रभु, उसरूप ये पुण्य-पाप के भाव, शरीरादि उसरूप नहीं होते। चैतन्यसूर्य वस्तु वह, इन देहादि बाह्य क्रिया (रूप) आत्मा नहीं होती। आत्मा नहीं होती, माने वह मान्यता बहिरात्मा की है। वे नहीं होते। समझ में आया? एक राग का

कण और रजकण.... राग का, सूक्ष्म शुभराग का कण और रजकण.... राग कण और रजकण, वे आत्मा नहीं होते। क्या कहते हैं ? देखो !

वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते। भगवान ज्ञान ज्योति चैतन्य प्रभु, वह राग का विकल्प – दया, दान का हो या परमाणु का रजकण हो, वे परपदार्थ कहीं आत्मा हो सकते हैं ? राग विभाव, वह स्वभाव हो सकता है ? रजकण, वह जीव हो सकता है ? समझ में आया ? कहो, प्रवीणभाई ! यह तो समझ में आवे ऐसा है या नहीं ? देखना पड़े लो, इसे भी वह.... परन्तु भगवान चैतन्यसूर्य है न अन्दर ? कहो !

स्फटिकरत्न है, स्फटिकरत्न। अब उसमें साथ में काला फूल, लाल फूल हो, वह काला-लाल फूल स्फटिकरूप हो जाता है ? और उसमें काला-लाल की थोड़ी झांई पड़ी हुई दिखती है, वह भी काली-लाल झांई स्फटिकरूप हो जाती है ? समझ में आया ? 'ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की, त्यों ही जीव स्वभाव रे.... श्री जिनवीर धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय अभाव रे.... ज्यों निर्मलता रे स्फटिक की।' जैसे, स्फटिक निर्मल पिण्ड है, वैसे ही भगवान आत्मा निर्मल आनन्द और ज्ञान का कन्द आत्मा है। समझ में आया ? उसमें साथ में लाल-काला फूल हो तो वह लाल-काला फूल कहीं स्फटिकरूप हो जाता होगा ? और उसमें जरा काली-लाल झांईं पड़ी, वह स्फटिकरूप होती है ? वह स्फटिकरूप धारण करती है ? काला-लाल वह कोई स्फटिकरूप धारण करता है ?

इसी प्रकार भगवान आत्मा से बाह्य पदार्थ, वे आत्मा नहीं हो सकते। वे पुण्य-पाप के विकल्प और शरीरादि.... स्फटिक जैसा भगवान आत्मा, उसरूप नहीं हो सकते। कौन ? वे विभाव, शरीर और वाणी... आहा...हा... ! **उनरूप आत्मा नहीं हो सकता।** उनरूप आत्मा नहीं हो सकता। असर-परस डाला है। क्या कहा ? वे **अप्पाणु ण होंहि** डाला है न ? अर्थात् वे पदार्थ आत्मा नहीं हो सकते और उनरूप आत्मा नहीं हो सकता... अरस-परस। आहा...हा... ! क्या कहा ? भाई ! यह तो अकेली भेदज्ञान की बात है। समझ में आया ? यह तो मक्खन निकालकर यह अकेला रखा है।

भगवान आत्मा.... ! यह देहादि रजकण तो मिट्टी है, वाणी मिट्टी है, अन्दर शुभ -अशुभराग (होता है), वह शुभ-अशुभराग, आत्मा हो सकता है ? और आत्मा उसरूप

हो सकता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! परभाव में मोहित रे आत्मा... भूला रे भगवान को अन्दर में.... स्वयं भगवान को भूला है। सच्चिदानन्द चिदानन्द ज्ञाता -दृष्टा आनन्द का कन्द प्रभु, कहते हैं कि वह आत्मा क्या विभावरूप होता है ? वह आत्मा क्या शरीररूप होता है ? वह आत्मा वाणी में आये या (वाणीरूप) होता है ? आवे तो होवे न ! और विभाव के विकल्प में आत्मा आवे कि आत्मा विभावरूप हो ? आता है उसमें ? शुभभाव – दया, दान के विकल्प में वह आत्मा आता है ? आत्मा आवे तो आत्मा उसरूप हो जाये। आत्मा उसमें आता ही नहीं, वे तो बाह्य चीज हैं। विभाव, वह स्वभाव नहीं होता; स्वभाव, वह विभाव नहीं होता। यहाँ तो दोनों ऐसी अरस-परस बात ली है न, समझ में आया ?

ते अप्पाणु ण होहि जो शरीरादि कहे, उदयभाव कहा वह.... यह पंचाचार – ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, तपाचार.... ऐसे जो आठ के विकल्प, आठ (गुणे) पाँच, चालीस... जिसे यह आठ होवें वह, समकित के आठ आचार आते हैं न ? निःशंक और निःकांक्षित और व्यवहार के, हाँ ! और ज्ञानाचार के (विकल्प) – काल में पढ़ना और विनय से पढ़ना और.... आहा...हा... ! दूसरे तो कहते हैं कि शास्त्र की स्वाध्याय, करे तो (निर्जरा होती है) - ऐसा कल आया था। अरे... ! सुन न, भगवान ! तुझे पता नहीं है... बापू ! बापू !! यह तो विकल्प उत्पन्न होता है, भाई ! तब उसका पर के प्रति लक्ष्य है। उस विकल्परूप प्रभु होता है ? और विकल्प इसरूप होता है ? यह विकल्प का रूप, स्वरूप धारण करता है ? और यह स्वरूप, विकल्परूप आ जाता है ? आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आया या नहीं ? ए... मलूकचन्दभाई ! क्या करना परन्तु अब इसमें ? होश उड़ जाएगा। मन्दिर बनाना है और उत्साह उड़ जाएगा।

हम कर सकते हैं – ऐसा माने तो उत्साह रहे ! कहो, वासुदेवभाई ! क्या करना अब इसमें ? आहा...हा... ! अरे प्रभु ! तू कहाँ है ? देख तो सही। तू जहाँ है, वहाँ विकार नहीं और विकार जहाँ है, वहाँ तू नहीं। भाई ! न्याय से तो समझना पड़ेगा।

विकार, जो पुण्य-पाप के विकल्पों का विकार, विभाव दशा (होती है), वहाँ भगवान चिदानन्द का स्वभाव उसमें नहीं है और वह विभाव, स्वभावरूप तीन काल में

नहीं होता। आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं ? ए... जीतू ! क्या कहा ? कहाँ गया तेरा.... बोलो !

मुमुक्षु – विभाव, स्वभावरूप नहीं होता।

उत्तर – अर्थात् ? स्वभाव अर्थात् क्या ? विभाव अर्थात् क्या ? तेरे से वह दे ? देखो ! उसे जहाँ-तहाँ बड़ा ठहराते हैं। फिर क्या कहा ?

भगवान स्फटिकरत्न जैसा चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु, वह पुण्य-पाप के मलिनभाव और शरीरादि अजीवभाव; पुण्य-पाप के आस्रवभाव – कर्म, शरीर, अजीवभाव – वह अजीवभाव, आस्रवभाव, वह स्वभावभाव – आत्मारूप नहीं होते और भगवान आत्मा चैतन्य गोला ध्रुव अनादि अनन्त सत्व आनन्दकन्द, वह स्वयं विभावरूप अर्थात् आस्रवरूप या अजीवरूप नहीं होता। आहा...हा... ! समझ में आया ?

तीनों तत्त्व निराले हैं या नहीं ? अजीव, आस्रव और आत्मा। चलो ! ए... धीरुभाई ! अजीव – कर्म, शरीर, वाणी सब धूल अजीव और अन्दर शुभ-अशुभभाव उठें, वह आस्रव.... आस्रव अर्थात् नये आवरण का कारण... मलिनभाव। आ-स्रवना, उसमें आत्मा नहीं आता। वह तो कृत्रिम मलिनभाव है। अत: कहते हैं कि उस आस्रवभाव - दया, दान, व्रत के परिणामों में आत्मा नहीं आता और वह आस्रवभाव आत्मारूप नहीं होता। आत्मारूप हुए बिना वह लाभ कैसे कर सकता है ? कहो, इसमें कुछ समझ में आया ?

देहादिउ जे पर कहिया शब्द तो वह का वही है, उसमें (दशवीं गाथा में) था वह, वह का वही है **ते अप्पाणु ण होहिं** उसमें **ते अप्पाणु मुणेइ** था। यह **अप्पाणु ण होहिं** (है)। बस ! इतना (अन्तर है)। **इउ जाणेविणु जीव तुहुं अप्पा अप्प मुणेहिं ॥** ऐसा जानकर, **ऐसा समझकर....** ऐसा समझकर.... ऐसा ही जहाँ स्वरूप है, ज्ञानसूर्य प्रभु कभी विकल्प के विभावरूप हुआ नहीं, कभी अजीवरूप होता नहीं; वे विकार के भाव और अजीव के भाव, स्वभावरूप – चैतन्यरूप नहीं होते – ऐसा जानकर... कहो, समझ में आया ?

इउ जाणेविणु, ऐसा समझकर.... क्या समझकर ? देखो ! भिन्न कर दिया। भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, उस विकल्प के विभाव में नहीं आता और वह विभाव,

स्वभावरूप कभी परिणमता और होता नहीं है। जड़, रजकण, कर्म-शरीर वे कहीं आत्मा में (नहीं) आते, आत्मारूप नहीं होते। भगवान आत्मा का रूप, रजकण – कर्मरूप या शरीररूप नहीं होता। ऐसा समझकर.... ऐसा सत्य है, वैसा समझकर, ऐसा। इस प्रकार ही वस्तु है, ऐसा समझकर... यह समझकर (कहा) वह नयी समझ की पर्याय हुई। पर्याय अर्थात् अवस्था, नयी अवस्था हुई। यह भगवान, उस विकाररूप नहीं होता। विकार, वह स्वभावरूप नहीं होता, दोनों के बीच का भेदज्ञान होकर, समझकर, **हे जीव! तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि। तू अपने को आत्मा जान**.... देखो! यह फिर ऐसे अन्दर में लाये।

भगवान चैतन्य सूर्य प्रभु, जो विभावरूप नहीं होता, विभाव, स्वभावरूप नहीं होता – ऐसा जानकर तू आत्मा की तरफ देख। **तू अपने को आत्मा जान, यथार्थ आत्मा का बोध कर....** स्वरूप, शुद्ध स्वरूप भगवान की ओर का झुकाव करके देख कि यह आत्मा, यह आत्मा अकेला ज्ञान का सागर आनन्द की मूर्ति वह आत्मा है। इस प्रकार दो के बीच की समझ करके आत्मा को जान – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? इस प्रकार दो बात की। फिर ऐसे झुक (ऐसा कहा है)।

हे जीव! 'तुहुं अप्पा अप्प मुणेहि' तू अपने को आत्मा जान.... ज्ञानानन्द को ज्ञानानन्द जान। शुद्ध भगवान आत्मा को तू आत्मा जान। वह तो ऐसे (अन्दर) झुक गया। राग को पररूप जाना, स्वभाव स्वभाव है – ऐसा जाना। यह जानकर ज्ञान, स्वभाव में झुका। यह आत्मा है, वह मैं, ऐसा जान! उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, स्वरूपाचरण दशा कहते हैं। लो, फिर तीनों आ गये। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, स्वरूपाचरण। अद्भुत सूक्ष्म बातें... आहा...हा...! अन्यत्र जाये तो सब बात समझ में आये – ऐसी लगती है और यह (सुने तो ऐसा लगता है कि यह) क्या कहते हैं? यही सत्य है, अन्य तो उल्टा घोटाला है। पर की दया पालो – ऐसा कहनेवाले, अपने अतिरिक्त पर के काम कर सकता हूँ, उसका अर्थ कि मुझसे वह जीव पृथक् नहीं है, अर्थात् वह और मैं दोनों एक हैं; इसलिए मैं वहाँ काम कर सकता हूँ, इसलिए उसे और आत्मा को दोनों को एक माना है। समझ में आया? वह पृथक् और मैं पृथक्.... उसकी दया कौन पाले? उसकी अवस्था को कौन करे? जो

पृथक् दशा है, जो पृथक् पदार्थ है, उस पृथक् का पृथक् काम करे; पृथक् का आत्मा कैसे उसका काम करे? समझ में आया?

इस शरीर का, कर्म का, देश का, परिवार का..... यह परवस्तु है या तू है? तो पर है तो पर का काम तू कर सकता है? पर का काम करे तो इसका अर्थ यह कि तू वहाँ एकमेक हो गया। करनेवाला कार्य में मिल गया, करनेवाला कार्य में मिल गया, अपने सत्व का नाश करके पररूप हो गया – ऐसा तूने माना है। ए.... धीरुभाई! हैं? यह संचा –वंचा बड़े कौन करता होगा वहाँ? वह छोटेभाई कहते हैं, यह इन्हें पूछो, इसका कैसे करना है? ऐसा। बुद्धिवाले को पूछते हैं या नहीं? ए... चिमनभाई! अद्भुत बात, भाई! दूसरे कहें, तब पूछना किसलिए? एई...!

मुमुक्षु – दो भाईयों के बीच विवाद होवे तो बड़ा भाई ऐसा ही कहता है कि मैंने किया है? तू कहाँ था?

उत्तर – तू कहाँ था अभी का? रखना है न! बड़ा हिस्सा लेना है न उसमें से। यहाँ बहुत ऐसे आये हैं, हाँ! हमारे पास। परन्तु कुछ किया नहीं, तू व्यर्थ का किसलिए लगा है? कहा। बड़ा कमाता हो, पचास-पचपन हो गये हों, अब कहे कि छोटे भाई हों, समान भाग करो... परन्तु भाईसाहब! इन तीस वर्षों से मैं पिल रहा हूँ उसमें दो-चार लाख इकट्ठे हुए.... तू कहता है कि बराबर तीन भाग करो, परन्तु तीन करो तो अब मुझे क्या करना? वे कहे कि कहाँ हम अभी तक अलग हुए हैं? तीनों साथ हैं, समान भाग करो... परन्तु भाई साहब! तुम तो अब कमाने को तैयार हुए हो और मेरी कमर झुक गयी है... तीन भाग दो, उसमें दूसरा कुछ चले ऐसा नहीं अब। ए.... सेठ! ऐसा होता है। ए... धीरुभाई! हमारे पास तो बहुत दृष्टान्त सहित है, हाँ! आहा...हा...! अरे...! कुछ किया नहीं – ऐसा यहाँ कहते हैं। ए... मोहनभाई! तुम्हारे अकेला लड़का है। इसलिए क्या (होगा)?

यहाँ तो कहते हैं कि तू तीनों काल अकेला ही है – ऐसा कहते हैं। '**अप्पाणु मुणेइ**', '**अप्पाणु मुणेइ**' आत्मा, वह क्या करे? आत्मा **मुणेइ** आत्मा क्या करे? राग को करे? पर को करे? पर इससे पृथक् है, वह पृथक्, पृथक् का करे तो दो एक हो जाते हैं।

समझ में आया ? आहा...हा... ! कैसे होगा, चिमनभाई ! हैं ? तुम तो बाहर में बहुत होशियार कहलाते हो। कहो, समझ में आया ?

ऐसा समझकर हे जीव तू अपने को आत्मा जान.... बहुत संक्षिप्त में स्वयं कहा है न ? जीव को सम्बोधन के लिये कहता हूँ अथवा स्वयं को सम्बोधन (के लिए कहता हूँ), अन्त में ऐसा कहेंगे। मैंने भी मेरे आत्मा के लिये, यह उसके घोलन के लिये यह शास्त्र बना है, मैं तो मेरा घोलन करता हूँ – ऐसा कहते हैं। अन्तिम गाथा में आता है न ? **यथार्थ आत्मा का ज्ञान कर**। लो ! ग्यारह (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिव्वाणु लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ, तो संसारु भमेहि॥१२॥

निज को निज का रूप जो, जाने सो शिव होय।
माने पर रूप आत्म का, तो भव भ्रमण न खोय॥

अन्वयार्थ – **(जइ)** यदि **(अप्पा अप्पउ मुणहि)** आत्मा को आत्मा समझेगा। **(तो णिव्वाण लहेहि)** तो निर्वाण को पावेगा **(जउ)** यदि **(पर अप्पा मुणहि)** परपदार्थों को आत्मा मानेगा **(तो तुहुँ संसार भमेहि)** तो तू संसार में भ्रमण करेगा।

☆ ★ ☆

१२, **आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है**। बारहवीं (गाथा) आत्मा के भानवाले को मुक्ति होती है। आत्मा के भान बिना संसार में भटकना होता है, इसमें दोनों बातें हैं।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि, तो णिव्वाणु लहेहि।
पर अप्पा जइ मुणहि तुहुँ, तो संसारु भमेहि॥१२॥

यदि आत्मा, आत्मा को समझेगा.... अर्थात् भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द का पिण्ड प्रभु ज्ञातादृष्टा, वही मेरा स्वरूप और वह मैं आत्मा – ऐसे आत्मा को अपने शुद्ध

स्वभाववाला समझेगा.... भगवान आत्मा वह स्वयं शुद्ध ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि शुद्ध स्वभाववाला शुद्धस्वरूप आत्मा है – ऐसा जो समझेगा **तो निर्वाण प्राप्त करेगा।** तो उसमें एकाकार होकर, जिसने आत्मा जाना, उसमें दृष्टि लगाकर एकाकार होकर पूर्णानन्दरूपी निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करेगा। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि 'जइ मुणहि' ऐसा है न? **जो आत्मा, आत्मा को समझेगा....** यदि तू भगवान आत्मा को आत्मारूप से ज्ञानानन्द चैतन्यसूर्यरूप से अन्दर भगवान को देख, यदि तू जाने, समझे तो उस पृथक् तत्त्व को पृथक् जानने से अल्प काल में अत्यन्त मुक्त निर्वाण पद को प्राप्त करेगा। समझ में आया? उसी-उसी में घोलन करते हुए निर्वाण को प्राप्त करेगा – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कि भाई! आत्मा तो जाना, लो! तो निर्वाण पायेगा। बीच में फिर क्या करने का है? कि यह आत्मा चैतन्य ज्योत ज्ञायकमूर्ति है – ऐसा जाना, यह उसी-उसी में जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... रह गया। वह स्थिर होने पर वीतरागता को पायेगा। उसमें बीच में व्यवहार आयेगा, उसकी बात ही नहीं की, भाई! आहा...हा...! अस्ति से ही बात ली है न!

भगवान आत्मा, विकल्प – पुण्य-पाप के विभावरहित चीज है – ऐसी चीज को **अप्पउ** आत्मा ने आत्मा को जाना। आहा...हा...! बस! उसमें यह जाना, यह मैं... यह मैं... यह मैं... ऐसी जो दृष्टि और स्थिरता (हुई), वह निर्वाण को पायेगा। इस आत्मा का साधन होकर, आत्मा का साधन आत्मा ही करके, आत्मा का साधन आत्मा द्वारा करके आत्मा निर्वाण अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करेगा। कहो, समझ में आया? कुछ सूक्ष्म पड़े तो थोड़ा विचार करना, थोड़ा तो धीरे-धीरे कहते हैं, कहीं एकदम नहीं कहते। तुम प्रोफेसर तो सब एकदम (बोलते हो)। ए.... रतिभाई! धीरे-धीरे तो कहते हैं, उसमें थोड़ा विचार करने का अवकाश (रहता है)। आहा...हा...!

ऐसा चैतन्य प्रभु, चैतन्य प्रकाश की मूर्ति... इस प्रकाश का प्रकाशक, राग का प्रकाशक, जड़ का प्रकाशक.... राग का आत्मा नहीं, जड़ का आत्मा नहीं, जड़ और राग का प्रकाशक और अपने स्वरूप का भी प्रकाशक। समझ में आया? ऐसा प्रकाशकस्वरूप

भगवान आत्मा को ऐसा जाना कि यह तो प्रकाश का पुंज ही प्रभु स्व-पर को प्रकाशित करे, वह चीज है। पर को अपना माने, वह चीज इसमें है ही नहीं। समझ में आया? और वह पर को प्रकाशित करता है, वह पर है, इसलिए प्रकाशित करता है – ऐसा भी नहीं है। वह स्वयं का प्रकाशक स्वभाव स्व और पर को प्रकाश की सत्ता की अस्ति से स्व और पर को प्रकाशित करता है। पर की अस्ति के कारण पर को प्रकाशित करता है – ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें? ऐ... ई.... आहा...हा...!

कहते हैं कि धैर्यवान तो हो, भाई! बापू! तेरा घर तूने कभी देखा नहीं, परघर में भटका, जहाँ-तहाँ। पर घर में भटका। यह किया और वह किया, शुभ-अशुभविकल्प उठे, विकार किया वह सब पर घर है, स्वघर को देखा नहीं, कहीं आया अवश्य था। अभी भजन आया था, उसमें आया था – वीरवाणी... वीरवाणी... वीरवाणी... में आया था न? उसमें मुखपृष्ठ पर एक वाक्य था – पर घर का, हाँ! ऐसा था। कहा, अब सब बोलने लगे हैं। स्वघर.... लोग भी कहते हैं, हाँ! समझ में आया? अब हमारे घर बनाना है, अब कब तक (ऐसा रहना)? घर बनाना हो तो ऐसे का ऐसे नहीं चलेगा। समझ में आया? ऐसा यहाँ कहते हैं, बापू! तेरा घर तुझे बनाना है या नहीं? यह राग और विकल्परहित प्रभु में तू दृष्टि दे तो यह तेरा घर बना – एकाग्र हुआ और उसमें से क्रम-क्रम से ज्ञान पक्का घर हो जायेगा मोक्ष.... मोक्ष... मोक्ष...।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि। अब गुलांट खाता है। **पर अप्पा जउ मुणिहि** अब ऐसा कहते हैं। परन्तु **पर पदार्थ को आत्मा मानेगा....** परन्तु आत्मा के अतिरिक्त विभाव, विकल्प और शरीर, कर्म, उदयभाव और उदय-विकार आदि अशुद्ध मलिनभाव जो जिसकी चीज में नहीं है, क्षणिक विकारीभाव नित्य-चीज नहीं है – ऐसे **परपदार्थ को आत्मा मानेगा....** उसे जो आत्मा मानेगा कि यह भी मैं इस अस्तित्व में भी मैं, इस राग और विकल्प के अस्तित्व में मैं, उससे छूटेगा नहीं अर्थात् वह संसार में भटकेगा। अद्भुत संक्षिप्त, भाई! बहुत माल निकाला है न, प्रभु!

पर अप्पा जउ मुणिहि देखो न, उसमें भी। **जइ मुणिहि** ऐसा यदि आत्मा को आत्मा जाने तब तो मुक्ति (पायेगा)। आत्मा को पर जाने, आत्मा आत्मारूप से अस्तिपने

ज्ञानानन्द शुद्ध अस्तिपने जाना तो अस्तिपने अकेला निर्मलानन्द मुक्ति में रह गया। आत्मा परपने जाने **पर अप्पा जउ मुणिहि** (पर) पदार्थ को आत्मा मानेगा। **तहु तहुं संसार भमेहि**। तो तू जिसे निज मानता है, वह चीज संसार है। विकार, पर वह संसार है, उसे अपना मानकर उसी-उसी में रहेगा और संसार में रहेगा। समझ में आया? आरे....! ऐसी बात कठिन पड़ती है। ऐसी (बात) पहले सुनी थी? अब इन ने रस लिया, यहाँ उसमें लड़के बैठे.... कहा ठीक किया यह। समझ में आया? ए... वासुदेवभाई! देखो, यह बात करते हैं। देखो, यह।

पर अप्पा जउ मुणिहि तहु तहुं। तो तू। **संसार भमेहि** यदि विकार को, शरीर को कर्म को – जो स्वरूप में नहीं है उन्हें, उनके अस्तित्व में तेरा अस्तित्व माना, बस! वह छूटेगा नहीं अर्थात् उसमें भटकेगा। इसका नाम संसार, इसका नाम संसार समझ में आया? मुक्ति और संसार दोनों की बात एक गाथा में समाहित कर दी है।

(श्रोता – प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मुनिराज को शरीर मुरदे के समान

अहो! यह तो परम उदासीन दशा की बात है। जैसे कछुआ भयभीत होने पर अपने पैरों और मुख को पेट में सिकोड़ लेता है, वैसे ही मुनिदशा इन्द्रियों से सङ्कुचित होकर स्वभाव में ढल जाती है। मुनिराज अपने स्वभाव में गुप्त हो जाते हैं। उनके शरीर के रजकण मुरदे जैसा काम करते हैं, क्योंकि उनके प्रति मुनिराज का स्वामित्व उड़ गया है। ऐसे सन्तों को शरीर की रक्षा करने का या उसे ढाँकने का भाव नहीं रहता। अहो! जब आत्मा की ऐसी दशा प्रगट हो, वह धन्य पल है! धन्य काल है!! धन्य भाव है!!!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

इच्छारहित तप ही निर्वाण का कारण है

इच्छा-रहियउ तव करहि, अप्पा अप्पु मुणेहि।
तो लहु पावहि परम-गई, फुडु संसारु ण एहि॥१३॥

बिन इच्छा शुचि तप करे, जाने निज रूप आप।
सत्वर पावे परम पद, लहे न पुनि भवताप॥

अन्वयार्थ – (**अप्पा**) हे आत्मा! (**इच्छा रहियउ तव करहि**) यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे (**अप्पु मुणेहि**) व आत्मा का अनुभव करे (**तउ लहु परमगइ पावइ**) तो तू शीघ्र ही परम गति को पावे (**पुण संसार ण एहि**) फिर निश्चय से कभी संसार में नहीं आवे।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ८, शनिवार, दिनाङ्क ११-०६-१९६६
गाथा १३ से १५ प्रवचन नं. ५

यह योगसार शास्त्र है। योगीन्द्रदेव एक मुनि हुए हैं, दिगम्बर सन्त! उन्होंने आत्मा के अन्तर-योग अर्थात् व्यापार, उसका सार वर्णन किया है। जिससे आत्मव्यापार से कल्याण और मुक्ति होती है। बारह गाथा हो गयी है, तेरहवी – **इच्छारहित तप ही निर्वाण का कारण है**। तेरहवीं गाथा।

इच्छा-रहियउ तव करहि, अप्पा अप्पु मुणेहि।
तो लहु पावहि परम-गई, फुडु संसारु ण एहि॥१३॥

अप्पा अर्थात् आत्मा.... इच्छारहित तप करके... कर्ता स्वयं आत्मा, आत्मा को जाने। क्या कहते हैं? आत्मा अपने शुद्ध आनन्द पवित्रस्वरूप को जानकर और शुभ व

अशुभ इच्छा जो राग, उसे रोककर और अपने शुद्धस्वरूप में तप अर्थात् लीनता करे, अपने शुद्ध पवित्रस्वरूप में तपना अर्थात् लीन होना, उसे यहाँ तप कहा जाता है। समझ में आया?

इच्छारहित.... इच्छा अर्थात् शुभाशुभरागरहित अर्थात् आत्मा शुद्ध पवित्रस्वरूप है। पुण्य-पाप के रागरहित ऐसे स्वभाव का ज्ञान करके और उस स्वभाव में पुण्य-पाप की इच्छा को रोककर स्वरूप में लीन हो, उसे यहाँ तप कहा जाता है। इस तप से आत्मा की मुक्ति होती है।

मुमुक्षु – खूब करते हैं।

उत्तर – कौन करते हैं?

मुमुक्षु – अपने पर्यूषण आवे तब करते हैं।

उत्तर – वह सब लंघन करते हैं। लंघन करते हैं लंघन। सेठ! इस पर्यूषण में सब क्या करते हैं?

इच्छा रहियउ तव करहि यह शब्द क्या है? आत्मा वस्तुस्वरूप से इच्छारहित है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप अनन्त आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसमें इच्छा ही नहीं; अत: उसमें इच्छा नहीं तो इच्छा जो है, उसकी ओर का आश्रय-लक्ष्य-रुचि छोड़कर और जिसमें इच्छा नहीं है, ऐसा आत्मा, अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द (स्वरूप है), उसकी श्रद्धा ज्ञान और लीनता.... उसमें लीनता शुद्धस्वरूप में शुद्धोपयोगरूपी लीनता, शुद्धस्वभाव में शुद्ध आचरणरूपी तपना, उसे संवर और निर्जरा होते हैं। कहो, समझ में आया? अशुभभाव होवे तो पाप होता है; शुभभाव – दया, दान होवे तो पुण्य होता है, वह धर्म नहीं है। समझ में आया? **इच्छा रहियउ तव करहि** तप अर्थात् आत्मा की लीनता। दूसरी भाषा में कहें तो वीतरागता में लीनता और राग का अभाव। समझ में आया? इच्छारहित अर्थात् सरागता का अभाव और तप अर्थात् शुद्धता में लीनता; शुद्धता में लीनता और शुभाशुभ परिणाम का अभाव, उसे यहाँ मुक्ति का कारण तप कहा जाता है। अद्भुत व्याख्या, भाई! कहो समझ में आया?

आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आनन्दमूर्ति के भान बिना अकेले उपवासादि करे,

वह तो राग की मन्दता हो तो उसमें मिथ्यात्वसहित पुण्य बाँधता है। जन्म-मरण का अन्त और धर्म का स्वरूप उसे नहीं कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

इच्छा रहियउ तव नास्ति से बात की, फिर तप से, अस्ति से कही। भगवान आत्मा – ऐसा कहा न? **अप्पा अप्प मुणेहि** अपना शुद्ध वीतरागी वास्तविक स्वरूप निर्दोष अकषाय उसका स्वभाव, उसे जाने अर्थात् जानकर उसमें लीन होवे, उसका नाम इच्छारहित तप कहा जाता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – आत्मा के जाने बिना तप होता ही नहीं।

उत्तर – परन्तु आत्मा अर्थात् क्या? आत्मा अर्थात् रागरहित आत्मा। रागरहित आत्मा, उसके स्वभाव के ज्ञान बिना, उसमें स्थिरता कैसे होगी?

मुमुक्षु – धर्म तो है न?

उत्तर – धर्म किसे कहते हैं? धर्म कहना किसे? आत्मा परमानन्द आनन्द का भान हो, उस आनन्द में स्थिर हो, उसका नाम धर्म है। आत्मा में आनन्द है। अतीन्द्रिय आनन्द, मैं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप हूँ – ऐसा जिसे ज्ञान नहीं, वह उसमें स्थिर कैसे होगा? आकर्षित कैसे होगा? अतीन्द्रिय आनन्द अपने में न भासित हो, वह उसमें आकर्षित और स्थिर कैसे होगा? जिसे पुण्य-पाप के परिणाम में ठीक लगता हो, वह वहाँ से हटेगा कैसे? समझ में आया? कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं? रतिभाई!

अस्ति-नास्ति की है, देखो! **इच्छा रहियउ** और **तव करहि** – ऐसा कहा है न। **तव करहि** अस्ति है और **इच्छा रहियउ** नास्ति है। अर्थात् क्या कहा? कि भगवान अस्ति स्वरूप से पहले कहा है, कि हे आत्मा! **अप्प मुणेहि** आत्मा ज्ञान, चैतन्य, दर्शन, आनन्द, निर्दोष पूर्ण अनन्त स्वभाव पिण्ड ऐसा भगवान, उसे जान। क्यों? कि वह इच्छारहित चीज है और इच्छारहित चीज है, उसमें इच्छा को टालकर, स्वरूप ऐसा शक्ति से वीतराग है, उसमें स्थिर हो, उसे अस्तिरूप तप कहा जाता है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात पड़ती है, भाई! उपवास करना हो, अन्य करना हो तो एकदम पकड़ में भी आवे... लो!

मुमुक्षु – क्या पकड़ में आवे।

उत्तर – यह कुछ करते हैं – ऐसा इसे लगता है।

यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा, जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल का ज्ञान था। वे परमेश्वर वीतराग तीर्थंकर ऐसा फरमाते हैं, भाई! यह आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप पवित्र आनन्दस्वरूप है। उसमें स्थिर हो, लीन हो, उसे तप कहा जाता है। उसमें लीन हुआ तो इच्छा रुक गयी। इच्छा रुक गयी, स्वरूप में लीन हुआ, यह इसे मुक्ति का मार्ग कहा जाता है। कहो, समझ में आया? कहो, रतिभाई! क्या करना यह?

इच्छा रहियउ तव करहि 'करहि'। यह भगवान आत्मा.... ! बहुत संक्षिप्त शब्दों में अकेला सार ही भरा है। योगसार है न? योग अर्थात् स्वरूप में जुड़ान करके स्थिर होना। यह भगवान आत्मा पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की सत्ता के स्वभाव से भरपूर प्रभु, इसकी लालच में दृष्टि गयी, इच्छाओं की – शुभाशुभ की वृत्तियों को रोककर.... रोककर कहना, यह भी एक नास्ति से बात है। परन्तु स्वरूप में 'इच्छारहित' शब्द कहा है न? स्वरूप शुद्ध चैतन्य ज्ञायक की सत्ता का भान, उसमें दृष्टि और स्थिरता करने से इच्छा रुक जाती है और स्वरूप में लीनता होती है, उसे यहाँ तप और धर्म कहा जाता है। समझ में आया? तप अर्थात् आहार नहीं खाना और अमुक दूध खाया और दही नहीं खाया, इसलिए तप हो गया – ऐसा नहीं है। यह सब लंघन है लंघन। यहाँ तो चारित्र की रमणता, वह तप है। समझ में आया?

अनादि से ऐसे राग में रमता है। पुण्य-पाप के राग के विकल्प में रमता है, वह संसार है। समझ में आया? उस पुण्य-पाप के राग से हटकर, जिसमें पुण्य-पाप नहीं है – ऐसा भगवान आत्मा का स्वभाव, उसमें स्थिरता को वास्तव में मुक्ति का उपाय और तप कहते हैं।

मुमुक्षु – आत्मा को जानने के बाद स्थिरता की बात है।

उत्तर – जाने बिना स्थिरता कैसे करेगा?

मुमुक्षु – जानने के लिये तप करना न।

उत्तर – तप क्या करे? धूल... जानने के लिये तप करते होंगे? कहो, तुम्हारा नाम जानना हो तो कितने उपवास करने से नाम जानने में आयेगा? साथ में मनुष्य खड़ा हो, मुझे पूछना नहीं, जानना नहीं, कहो कितने तप से ज्ञात होगा?

मुमुक्षु – दूसरे को विचार होता है कि यह कुछ माँगता है।

उत्तर – पूछना पड़े न इसे? पूछना पड़े न, तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है? हैं? धूप में खड़े रहो तो?

मुमुक्षु – परन्तु लौकिक तप और यह लोकोत्तर अलग बात है न?

उत्तर – लौकिक में दूसरा हो और लोकोत्तर में दूसरा हो – ऐसा होगा? यह तो दृष्टान्त है। किसी भी व्यक्ति का नाम जानना हो, उसकी पहचान करना हो तो इस जेब में से पाँच लाख रुपये दे देवे तो नाम ज्ञात हो जायेगा? कहो, रतनलालजी! जेब में से दूसरे को दे दे तो? इस दान से नहीं होता। दो-चार दिन मौन रह जाये, नाम ज्ञात हो जायेगा? दो-चार दिन खाये नहीं, उसमें नाम ज्ञात हो जायेगा? समझ में आया? नाम जानने का तो जो अज्ञान है, उसे ज्ञान द्वारा ही अज्ञान नष्ट होता है। तुम्हारा नाम क्या है? अभी पूछे न, आपका शुभ नाम क्या है? ऐसा क्या कुछ कहते हैं न? हैं? आपका शुभ नाम। ऐसी सब भाषा है न? क्या कहते हैं? ऐसा कुछ कहते हैं न? आपका शुभ नाम क्या है? ऐसा पूछते हैं। तब कहता है, हमारा नाम अमुक है।

यहाँ कहते हैं, हे आत्मा! तू कौन है? ऐसा यहाँ कहते हैं। तेरा नाम अर्थात् तू किसमें रहता है? तू किसमें रहा हुआ है? तुझे किस प्रकार पहचानना? **अप्पा अप्प मुणेहि** ऐसा शब्द है। आत्मा अपने आत्मा का ज्ञान करे कि यह आत्मा.... यह आत्मा.... जाननेवाला -देखनेवाला आनन्द शुद्धता वीतरागता – ऐसा जो आत्मा का स्वरूप, वह आत्मा। ऐसे ज्ञान और श्रद्धा – विश्वास करके, राग से हटकर स्वरूप में स्थिर हो, उसे यहाँ तप और धर्म कहा जाता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – कोई उपवास नहीं करे....

उत्तर – कौन उपवास करता था? अपवास करता है, अपवास – माठोवास।

उपवास कहाँ है ? उप अर्थात् आत्मा में समीप में जाकर स्थिर होना, उसका नाम वास्तव में उपवास है। समझ में आया ?

तउ लहु पावइ परम गई भाषा ऐसी है, क्योंकि जिसमें मोक्षस्वरूप भगवान आत्मा है, उसमें लीन होने से, **लहु** अर्थात् शीघ्र-अल्प काल में **पावइ परम गई** वह परम गति को पाता है। परम गति अर्थात् पूर्णानन्द मोक्षदशा को पाता है। उसे फिर चार गतियाँ नहीं होती और परम गति पाने के बाद उसे फिर से अवतरित नहीं होना पड़ता। कहो, समझ में आया ? '**तउ लहु पावइ परम गई पुण संसार ण एहि**' दो, अस्ति-नास्ति की है। जिसने भगवान आत्मा ने शुद्धता के स्वभाव का विश्वास करके और विश्वास से उसमें रमकर और उसके द्वारा परमगति को प्राप्त किया, वह फिर से संसार प्राप्त नहीं करता। **पुण संसार ण एहि, फिर निश्चय से कभी संसार में नहीं आयेगा.....** ऐसा कहकर, जिसे परमगति प्राप्त हुई है, उसे फिर अवतार नहीं हो सकता। दुनिया के (लोग) कहते हैं न, भाई! भक्तों की पीड़ा मिटाने को अवतार धारण करना पड़ता है, क्या कहलाता है ? राक्षसों को मारने के लिये (अवतार ले) – ऐसा स्वरूप नहीं है, वह वस्तु को नहीं समझता है।

यहाँ अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिरता करने से वापस नहीं फिरता और स्थिरता से पूर्ण मुक्ति होने पर वह वापस हटकर अवतरित हो, यह तीन काल में नहीं होता। कहो, समझ में आया ? अतीन्द्रिय आनन्द की पूर्णता में लीन हुआ, वह अतीन्द्रिय आनन्द में से वापस हटेगा ? हैं ? मक्खी जैसा (प्राणी) शक्कर की मिठास देखकर चिपटता है तो हटता नहीं। भले ही उसकी पंख चिपक जाये, शरीर में थोड़ा मर्दन (होये), शक्कर लेने से ऐसे हाथ में आ जावे परन्तु मिठास के कारण उसे छोड़ता नहीं है, वहाँ से उड़ता नहीं है; इसी प्रकार आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप का जिसे पहले विश्वास आया है, विश्वास क्यों (आया है) ? ज्ञेय अर्थात् उसका ज्ञान करके कि यह आत्मा आनन्द और शुद्ध है – ऐसा ज्ञान करके जिसे विश्वास आया और विश्वास आकर उसमें से आनन्द प्रगट होगा, उसमें स्थिर होता है, लीन होता है, तपता है, लीनता करता है, उसे अल्प काल में मोक्ष स्वभाव ऐसा अपना उस पर्याय में पूर्णदशा को, मुक्ति को प्राप्त करता है। **संसार ण एहि** संसार नहीं

पाता। अस्ति-नास्ति की है। पूर्णानन्द की दशा को प्राप्त करता है, वह संसार को प्राप्त नहीं करता। कहो, समझ में आया?

शीतलप्रसाद ने बीच में जरा ऐसा अर्थ किया है, हाँ! देखो, **अपने ही शुद्ध आत्मा के श्रद्धान और ज्ञान में तपना, लीन होना, वह निश्चय तप है**। ऐसा जरा किया है। थोड़ा सा ठीक करते हैं, यह फिर किया है, यह पता है, यह पता है। **निमित्त का संयोग मिलाने से उपादान की प्रगटता होती है**। यह सब ऐसा ही चलता है। अपने तो यह सुलटा-सुलटा ले लेना। समझ में आया? इन्हें निमित्त का मूल था सही न! **निमित्त का संयोग मिलाने से....** मिलाता होगा? यह तो ऐसा कहना है कि वह बारह प्रकार के तप का विकल्प आता है न? ऐसा आता है, इतना... समझ में आया? फिर तो उसकी व्याख्या लम्बी की है, उसका कुछ नहीं। कहो, यह १३ गाथा हुई। तेरहवीं हुई न।

☆ ★ ☆

परिणामों से ही बन्ध व मोक्ष होता है

परिणामे बंधु जि कहिउ, मोक्ख वि तह जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, तहभाव हु परियाणि॥१४॥

'बन्ध-मोक्ष' परिणाम से, कर जिन वचन प्रमाण।
अटल नियम यह जानके, सत्य भाव पहचान॥

अन्वयार्थ – **(परिणामे बंधुजि कहिउ)** परिणामों से ही कर्म का बन्ध कहा गया है **(तह जि मोक्ख वि वियाणि)** वैसे ही परिणामों से ही मोक्ष को जान **(जीव)** हे आत्मन्! **(इउ जाणेविणु)** ऐसा समझकर **(तुहुँ तह भावहु परियाणि)** तू उन भावों को पहचान कर।

☆ ★ ☆

परिणामों से ही बन्ध व मोक्ष होता है। देखो यह गाथा समझने जैसी है। अभी बड़ी गड़बड़ चलती है न?

परिणामे बंधु जि कहिउ, मोक्ख वि तह जि वियाणि।
इउ जाणेविणु जीव तुहुँ, तहभाव हु परियाणि॥१४॥

कहिउ भगवान ने कहा – फिर ऐसा सिद्ध करते हैं। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने **परिणामों से ही कर्म का बंध कहा गया है**। क्या कहते हैं? तेरे परिणाम जो हैं, उन परिणामों से ही बन्धन होता है। कहो, समझ में आया? कोई जीव की हिंसा या दया (करे), उससे बन्धन नहीं होता – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – दूसरे शास्त्र में ऐसा लिखा है।

उत्तर – दूसरे शास्त्र में तो निमित्त की बात की होती है। क्या करे?

मुमुक्षु – दोनों कथन मानना पड़े न?

उत्तर – एक ही कथन यथार्थ है, उसे दूसरा कथन उपचार, वह जानने योग्य है। यह क्या कहा? परिणाम से बंध भगवान ने कहा है।

मुमुक्षु – एकान्त हो जाता है?

उत्तर – एकान्त परिणाम से बंध (होता है), यह सम्यक् एकान्त ही है। कहो, यह तो आया है न? इसमें लिया है, उसमें अपने नहीं.... ? उसमें भी कहीं डाला है। समयसार में आता है न? **अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ। एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स॥ २६२॥** भगवान स्वयं समयसार में ऐसा कहते हैं कि किसी वस्तु के आश्रय से बन्ध नहीं होता। पर जीव मरे, उस वस्तु का आश्रय वह। जीव मरे, बचे, लक्ष्मी उसके आश्रय बंध नहीं होता। शरीर की क्रिया, शरीर की क्रिया, जीव का बाहर का मारना या जीना या लक्ष्मी का आना या लक्ष्मी का जाना, उस किसी परवस्तु के आश्रित बंध नहीं होता। समझ में आया?

मुमुक्षु – पर के कारण बंध नहीं होता।

उत्तर – बंध होता ही नहीं।

मुमुक्षु – एकान्त हो जाता है।

उत्तर – एकान्त ही है। परिणामे बंधो – यह क्या कहते हैं? जैसे तेरे परिणाम –

शुभ और अशुभ, 'परिणाम' शब्द से यहाँ (ऐसा अर्थ है कि) मिथ्यात्वभाव और शुभ -अशुभ परिणाम इन तेरे परिणामों से बंध है। कर्म के उदय से बंध है – ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु – गोम्मटसार का क्या करेंगे ?

उत्तर – गोम्मटसार का यह करना। कहो, समझ में आया ? तेरा भाव.... इस स्वरूप की सन्मुखता को छोड़कर, शुद्धस्वभाव की सन्मुखता को छोड़कर, परसन्मुखता के परिणाम वे तेरे परिणाम बंध का कारण एक ही है। क्या कहा इसमें, समझ में आया ?

दो बात – (१) आत्मा शुद्धस्वरूप है, उसकी सन्मुखता के परिणाम, वह मोक्ष का कारण..... उसकी सन्मुखता से तेरे विमुख परिणाम, कर्म के कारण वह जीव मरे (ऐसा नहीं) यहाँ तो परिणाम से बंध कहा उसमें कहाँ आया ? **वत्थुं पडुच्च** इनकार किया है। वस्तु से नहीं। वस्तु अर्थात् क्या ? मरना-जीना तो नहीं, ऐसा उसमें आया या नहीं ? भाई ! सामने जीव मरे, पैसा हो फिर भी, इस शरीर का निमित्त होकर कोई छह काय जीव मरे, उसके साथ बंध का कारण है ही नहीं। समझ में आया ? भले उस परिणाम में वह चीज निमित्त हो परन्तु वह बंध का कारण नहीं है। बन्धन का कारण तो तेरे स्व स्वभाव से विमुखपने में और परसन्मुखता से सन्मुखपने के परिणाम, पुण्य-पाप के, मिथ्यात्व के – वह एक ही परिणाम बंध का है। आहा...हा... ! कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु – दूसरी जगह दूसरा लिखा है।

उत्तर – दूसरा लिखा ही नहीं। अन्यत्र ऐसा कहें ? एक जगह – ऐसा कहे और एक जगह ऐसा कहे, मूर्ख है ? मूर्ख हो, वह ऐसा उल्टा अर्थ करता है। समझ में आया ?

परिणामें बंधुजि कहिउ 'कहिउ' (कहा है)। देखो ! परिणाम से कर्म का बंध है, भाई ! प्रभु आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द से विमुख परसन्मुखता के परिणाम, वह एक ही परिणाम बंध का कारण है। समझ में आया ? **तह जि मोक्ख वि वियाणि उसी प्रकार परिणामों से ही मोक्ष जान।** ऐसा, देखो ! है न ? उसके साथ सम्बन्ध है न ? तथा मोक्ष **वि वियाणि** अर्थात् ? जैसे अपने अशुद्ध परिणाम... अशुद्ध मिथ्यात्व के पुण्य, शुभाशुभभाव के, अव्रत के, प्रमाद के, कषाय के ऐसे जो तेरे परिणाम परसन्मुख के भाव हैं, वही परसन्मुख को उत्पन्न करानेवाले बंध को उत्पन्न करानेवाले वे भाव हैं। समझ में आया ?

वीतराग कहते हैं – ऐसा तो आचार्य स्वयं पुकारते हैं। **तह जि** तथा हे आत्मा! तेरे परिणाम से मोक्ष ऐसा **वियाणि** ऐसा कहते हैं। तेरे परिणाम से तुझे मोक्ष है। परिणाम अर्थात्? मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का नाश और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के परिणाम – इन परिणामों से तेरा मोक्ष है। ओ...हो...हो...! बहुत लिखा है इसमें तो! समझ में आया? तेरे जैसे भगवान प्रभु (की) स्वसन्मुखता को छोड़कर परसन्मुखता और अपनी विमुखता – ऐसे जो मिथ्यात्व अव्रत, कषाय आदि के शुभाशुभ परिणाम वे ही बंध का (कारण हैं)। परिणाम बंध का कारण हैं – ऐसा। भगवान तीर्थंकरों ने सौ इन्द्रों की उपस्थिति, गणधरों की हाजिरी में भगवान ऐसा कहते थे। कहो, समझ में आया?

उसी प्रकार परिणामों से ही मोक्ष जान। भाषा देखो! **तह जि मोक्ख वि वियाणि** यह तो उसमें आ जाता है। समझ में आया? **उसी प्रकार....** 'ही' है न? 'जि' **उसी प्रकार परिणामों से ही मोक्ष जान**। अद्भुत भाषा, भगवान आत्मा... यहाँ तो भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वभाव की सन्मुखता के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसे निश्चय रत्नत्रय के परिणाम, वही मोक्ष का कारण है – ऐसा तू जान, ऐसा भगवान कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? ऐ...ई...! आहा...हा...!

सन्मुख, सन्मुख और विमुख... एक बात है। एक बात है। भगवान आत्मा अपनी शुद्ध सम्पत्ति को छोड़कर, उसके माहात्म्य को छोड़कर और परवस्तु की अपने से अधिकपने कीमत करने जाता है, यह ठीक है और यह ठीक नहीं – ऐसे मिथ्यात्व के परिणाम और उसके साथ यह अनुकूल और प्रतिकूल – ऐसे जो इष्ट-अनिष्ट परिणाम, शुभाशुभ, बस! वह एक ही बन्ध का कारण है। बन्धन अर्थात् चार गति में भटकने का यह एक परिणाम कारण है। नये कर्म बँधते हैं, वह तेरे परिणाम से बँधते हैं; उस क्रिया से नहीं। परजीव मरे या परजीव बचे अथवा लक्ष्मी अधिक रहे या लक्ष्मी थोड़ी रहे या लक्ष्मी दान में देने की क्रिया हो या लक्ष्मी रखने की कंजूसी की क्रिया हो तो वह लक्ष्मी और जीना मरना, वह बंध का कारण नहीं है। मोहनभाई! तेरे उसकी ओर की रुचिपूर्वक के आसक्ति के परिणाम होते हैं, वह एक ही बंध का कारण है। यह एक कारण सिद्ध करना है,

फिर दूसरा कारण नहीं। स्वयं परिणाम बंध का कारण और कर्म भी बंध का कारण (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु – कारण-कार्य मीमांसा में कहा है, वह निर्णित होना चाहिए न?

उत्तर – सब आ गया। यह कारण है, वहाँ दूसरा भले निमित्त कहने में आवे, यह तो फूलचन्दजी ने बहुत कहा है। पीछे से कहा। फिर काया को निमित्त कहने में आता है – ऐसा थोड़ा कहा। क्या करे परन्तु? कहीं बचाव करके फिर दूसरी ओर आ जाए उन्होंने यह डाला है। काया से धर्म नहीं होता और काया से बंध नहीं होता। उसमें डाला है। निमित्त कहलाता है, ऐसा कहा है न? परन्तु उसका अर्थ क्या? कहो, रतिभाई! यह सब विवाद चारों ओर है। हैं? आहा...हा...!

श्रोता – चारों ओर झगड़ा वर्तमान में वर्तता है।

कहते हैं, भगवान आत्मा अपने शुद्ध आनन्द स्वभाव को भूलकर कहीं भी पुण्य -पाप के भाव में और पर में सुख है – ऐसी मान्यता के परिणाम, उसे संसार के बंध का कारण है और उसी परिणाम से गुलाँट खाने से भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप प्रभु है, उसकी सन्मुखता के श्रद्धा-ज्ञान और विश्वास के परिणाम और स्थिरता के परिणाम, बस! वह परिणाम ही मोक्ष का कारण है। कहो, देह की क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं। वे कहते हैं, देह की क्रिया मोक्ष का (कारण है)।

मुमुक्षु – सिद्ध किया है कि देह से मोक्ष होता है।

उत्तर – धूल में भी नहीं होता... व्यर्थ का... ऐसा का ऐसा.... व्यवहार का कथन किया, वहाँ चिपट पड़ा। आहा...हा...! गले पड़ा गले।

मुमुक्षु – शरीर से मोक्ष होता है।

उत्तर – शरीर से मोक्ष होता है और शरीर से बंध होता है... भगवान को देखो, उदय भाव है, वह क्षायिक का कारण होता है। अरे...! सुन न... यह तो कहते हैं कि निर्जरा हो गयी, इस अपेक्षा से उसे क्षायिक कहा है।

यहाँ तो कहते हैं कि मोक्ष भी आत्मा के शुद्धपरिणाम से होता है; देह की क्रिया के

निमित्त से नहीं। देह की क्रिया के निमित्त से मोक्ष नहीं होता। आहा...हा...! स्वभाव की महिमा के, विश्वास के, स्वभाव की महिमा का ज्ञान, स्वभाव की महिमा का विश्वास और स्वभाव की महिमा में ही लीन... हैं? वह स्व अभिमुख के परिणाम-भगवान की सन्मुखता के परिणाम, वह भगवान आत्मा तो मुक्ति का कारण है। कहो, समझ में आया? अब, यह पैसा-वैसा कोई पाँच-पचास लाख मिले और उसमें से दो-पाँच लाख खर्च करे तो उसमें से कोई मुक्ति होती है या नहीं? है? यहाँ तो कहते हैं कि यह देता हूँ – ऐसा राग का मन्द विकल्प है न, वह बंध का कारण है क्योंकि पर सन्मुखता का परिणाम है। हैं? कहो, हरिभाई!

मुमुक्षु – .... भाव होता है.......

उत्तर – भाव, परन्तु उसे माने क्या? कि यह बंध भाव है। बंध भाव है – ऐसा जाना तो हो गया। यह बंध भाव है। मेरी मुक्ति के होने में यह परिणाम नहीं। मोक्ष होने के, छूटने के यह परिणाम नहीं। यह बँधने के परिणाम हैं। अबन्धस्वरूपी भगवान को बँधने के परिणाम हैं। अबंधस्वरूपी भगवान आत्मा की स्वसन्मुखता के अबंध परिणाम ही मुक्ति का कारण हैं। आहा...हा...! अरे...! यह तो बहुत संक्षिप्त में योगसार है न? ऐसा स्वरूप की सन्मुखता का व्यापार, वह परिणाम मुक्ति का कारण और स्वरूप से विमुख पर की दया, दान, व्रतादि के समस्त परिणाम, वह सब बंध का कारण है। समझ में आया? फिर सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि हो; सबको जो परिणाम बंध के हुए, अशुद्ध, वे बंध का ही कारण है।

श्रोता – परसन्मुख होवे उसे।

उत्तर – सम्यग्दृष्टि को भी जितने व्रतादि के परिणाम आते हैं, वे सब परसन्मुखता के परिणाम हैं, इतना उसे बंध का कारण है। जितने स्वसन्मुख के शुद्ध परिणाम – श्रद्धा, ज्ञान और विश्वास, स्थिरता, बस! यही परिणाम पूर्ण निर्मल, परिणामरूपी मुक्ति, पूर्ण निर्मल परिणामरूपी मुक्ति.... मुक्ति अर्थात् परिणाम शुद्ध है, पूर्ण परिणाम। समझ में आया? वे शुद्ध परिणाम उस शुद्ध मुक्ति के परिणाम का कारण है। अशुद्ध परिणाम, नवीन कर्म बन्धन में निमित्त है, परिभ्रमण का कारण है। सम्यक्त्वी को भी जितने अशुद्ध परिणाम हैं, वह संसार का कारण है।

मुमुक्षु – समकिती को तो परपदार्थ से लाभ है।

उत्तर – धूल में भी लाभ नहीं होता। लाभ किसे होता है?

मुमुक्षु – चारित्र अपेक्षा से, श्रद्धा अपेक्षा से तो लाभ हुआ।

उत्तर – चारित्र, चारित्र स्वरूप में रमणता, वह चारित्र है। पर से लाभ होता है? समझ में आया?

इउ जाणेविणु जीव देखो! **वियाणि** कहा न? **मोक्ख वि तह जि** जान। भगवान आत्मा के पूर्णानन्द के शुद्ध मुक्ति के परिणाम, वह शुद्ध है। उस परिणाम से ही मुक्ति है – ऐसा तू जान। किसी निमित्त से और क्रियाकाण्ड से मुक्ति नहीं है। व्रतादि के परिणाम बंध का कारण है; मुक्ति का कारण नहीं – ऐसा जान। जान ऐसा नहीं परन्तु वि-जान। समझ में आया?

इउ जाणेविणु जीव उसे जानकर **हे आत्मन्! ऐसा समझकर तू उन भावों को पहचान....** दोनों भाव की, हाँ! दोनों भाव की (पहचान कर)। परसन्मुखता के परिणाम का ज्ञान कर और स्वसन्मुख के परिणाम का ज्ञान कर।

मुमुक्षु – वे परिणाम पहचाने जाते होंगे।

उत्तर – यह क्या कहते हैं? जानने का यह क्या कहा?

मुमुक्षु – इस काल में ज्ञात नहीं होते।

उत्तर – ले, इस काल में ज्ञात नहीं होते तो यह बात किससे करते हैं? आत्मा भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके सन्मुख के परिणाम को जान और उससे विमुख जितने परिणाम होते हैं, उन्हें जान – ऐसा सम्यग्दृष्टि को कहते हैं। समझ में आया?

ज्ञान तो दोनों का करना है कि यह जितने परिणाम शुद्धस्वभाव की सन्मुख के, इच्छारहित के, शुद्धोपयोग के, शुद्ध सम्यग्दर्शन के, ज्ञान के, शान्ति के, वे ही परिणाम अकेले मुक्ति का अथवा संवर, निर्जरारूप है और मुक्ति का कारण है। संवर, निर्जरा, वह परिणाम है। जितने परसन्मुख के परिणाम (होते हैं), वह आस्रव और बंधरूप है, वह आत्मा को हितकर नहीं है – ऐसा विजाण... ऐसा ज्ञान कर। समझ में आया?

कितनी गाथा चलती है यह ? चौदहवीं, आहा...हा... ! चौदहवाँ, चौदहवाँ... चौदहवीं गाथा चलती है, हाँ !

तुहुं तह तू – उन भावहु परियाणि उस भाव की तू पहचान कर कहते हैं। समझ में आया ? देखो ! पहचान कर – ऐसा कहते हैं। जिस परिणाम से आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति (होती है), उसे जान और जो परसन्मुख के परिणाम होते हैं, उसे जान। दोनों को जानने का कहा है। जान सकता होगा, तब कहा है या जाने बिना ? समझ में आया ? सम्यक्त्वी को भी जितने परिणाम हिंसा के, विषय के, काम-क्रोध के परिणाम आते हैं, अरे... ! दया, दान, भक्ति भी आती है, उसे तू बंध का कारण जान – ऐसा कहते हैं। उसे तू बंध का कारण जान – ऐसा जान।

मुमुक्षु – आज्ञा करते हैं।

उत्तर – हाँ, विजाण। पहचान कर, पहचान। **तह भावहु परियाणि परियाणि** शब्द है फिर, देखो ! आहा...हा... ! समझ में आया ? अरे... ! ज्ञान क्या नहीं जाने ? चैतन्य ज्योत तीन काल-तीन लोक को जानने की ताकतवाला तत्त्व, वह साधक स्वभाव और बाधक के परिणाम को क्यों नहीं जानेगा ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा के ज्ञान की एक समय की दशा, जिसे तीन काल तीन-लोक एक समय की पर्याय में समा गये हैं, उसे जानने से तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो जाते हैं। ऐसी ज्ञान की दशा, उस साधकपने में स्वसन्मुख के परिणाम और परसन्मुख के परिणाम, उन्हें भलीभाँति जान सकती है। कहो, इसमें समझ में आया ? फिर समकिती हो या मिथ्यात्वी हो। शुभपरिणाम से समकिती को भी बंध है और आत्मा के शुद्धस्वभावसन्मुख के शुद्धभाव से समकिती को संवर और निर्जरा है। इस प्रकार तू जान। दूसरा है नहीं।

यह तो भाई ! जिसे जन्म-मरण से.... हैं ! जन्म-मरण से रहित होना हो, (उसके लिये बात है)। यह चार गति में धक्का खाना हो तो.... यह तो अनन्त काल से खाता है। मर गया, उसमें क्या है धूल में ? समझ में आया ? एक भव में से दूसरे भव में, दूसरे भव में से, तीसरे भव में.... देखो, भटका भटक करता है या नहीं ? हैं ! आत्मा तो अनादि का है। यह शरीर इस आत्मा के साथ कहीं अनादि का है ? यह शरीर दूसरा था, इसके पहले

दूसरा था, उसके पहले तीसरा था, उसके पहले चौथा.... ऐसे अनन्त काल के अनन्त शरीर आये और गये, आये और गये... धूल... हैरान-हैरान हो गया। ऐ...ई... आशीष! यदि दो घण्टे ऐसे मौन रह गया और कुछ बोले नहीं और यदि पड़खा नहीं फिरे तो हाय.... हाय! (करने लगता है)। समझ में आया? अरे...रे...! कोई पड़खा फिरता नहीं अरे! मुझे कहीं हर्ष (सुख) नहीं, हाँ! अकुलाहट... अकुलाहट.... (होती है)। अरे...! परन्तु किसकी अकुलाहट तुझे? अकुलाहट तो तेरे राग की अकुलाहट है, पड़खा नहीं फिरने की नहीं, ऐ... मोहनभाई! क्या होगा? पड़खा फिरता नहीं, (दर्द का) वेग आता है, ऐसा करें तो ऐसा है। क्या है परन्तु वह तो जड़ है। जड़ को कुछ व्यवस्थित कर दे न? बड़ा बड़कमदार (होशियार) है न?

मुमुक्षु – बड़कमदार अर्थात?

उत्तर – होशियार। ऐसा कहे हम किसी का कर देते हैं। कर न, तेरी कमर का। ऐ... यहाँ से ऐसा हुआ, क्या हुआ? क्या होता है? – पता नहीं पड़ता – ऐसा कहता है। ऐसा करने जायें तो ऐसा हो तो ऐसा करने जायें तो ऐसा हो... करे कौन? उस जड़ की अवस्था के सन्मुख के अभिमान के परिणाम, वह बंध का कारण है। आहा...हा...! समझ में आया? तुझे पता नहीं है।

भगवान आत्मा चिदानन्द की मूर्ति प्रभु है। उसके सन्मुख के परिणाम ही तुझे एक हितकर और कल्याण का कारण है। उसके अतिरिक्त कोई हितकर, कल्याण का कारण नहीं है। फिर हमारे धन्धा कब करना यह? कब कर सकता है? हैं? चिमनभाई! यह क्या कहा? यह सब क्या कहा? होशियार मनुष्य हो तो पाँच हजार-दस हजार (कमा) ले, लो! है? हमारे छोटाभाई है न? कहाँ गये? भावनगर गये? वे छोटाभाई कहते थे। अपने को कहाँ पता, अपने को कुछ पता नहीं पड़ता, छोटाभाई कहते हैं ये दोनों लोग पाँच हजार, आठ हजार निभाये, लो दूसरे को बीस हजार होता है और इन्हें बारह हजार, दोनों फिर होशियार बहुत! ऐसा हुआ होगा या नहीं? धूल में भी नहीं हुआ.... वह तो होना था, वह हुआ। चिमनभाई! क्या कहते हैं? लो! तुम्हारा यह मकान अभी बीस हजार की कीमत का गिना जाता है। पूछा तब शान्तिभाई कहते हैं, बारह हजार। लो! शान्तिभाई कहते हैं, बारह

हजार। मालिक कहता है, बारह हजार और अन्य कहते हैं बीस हजार! यह तो बाहर के धूल के ठाठ हैं। इसे जरा लगे, दिमाग हो, खड़े हों ऐसे ध्यान रखे। मुँह-बुँह उस समय चिमनभाई को काला हो जाता था। आहा...हा...! यहाँ दोपहर में व्याख्यान में आते। अभी मुँह है, ऐसा मुँह तब नहीं था। मुँह जरा ऐसा हो जाता, काला और लाल, चढ़ता खून और खड़ा रहना, वहाँ कहाँ छतरी रखकर खड़ा रहे? परन्तु वह कश का परिणाम हुआ, इसलिए यह काम हुआ ऐसा नहीं है। हाय...! हाँ! कठिन बात, भाई! समझ में आया? आहा...हा...! अद्‌भुत श्लोक है, बहुत संक्षिप्त... संक्षिप्त... संक्षिप्त... है। समझ में आया?

कहते हैं... बीच में तो इन्होंने बहुत डाला है, हाँ! यह मुनिव्रत, श्रावक के व्रत का राग, यह तप का राग, भक्ति का राग, पठन-पाठन का राग और मन्त्रों के जप का राग यह सब राग बंध का कारण है। इस ओर है, सत्तर पृष्ठ पर। समझ में आया? ऐसा यह थोड़ा ठीक लिखते हैं। यह.... अभी से नहीं करते? सब कह दिया।

मोक्ष के कारणरूप भाव एक वीतरागभाव है, शुद्धोपयोग है। निश्चयरत्नत्रय एक ही मोक्ष का कारण है। भगवान आत्मा अन्तर के शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, निर्विकल्पता, वीतरागता, शुद्धता के परिणाम अपने शुद्धस्वरूप को अवलम्बन कर हुए, वह एक ही संवर और निर्जरारूप है, और वह स्वयं एक ही मुक्ति का उपाय है। समझ में आया? फिर अन्त में (लिया है) यह रत्नत्रयधर्म एकदेश हो तो भी बंध का कारण नहीं है। वह कहता है न? रत्नत्रय से बंध भी होता है और मुक्ति भी होती है, उसे अनेकान्त करना है। ऐसे का ऐसा, कौन जाने जगे हैं? है?

वह विद्रोही था न? 'जोगाखुमाण' क्या कहलाता है वह? 'जोगीदास खुमाण' दरबार का विद्रोही था न? भावनगर का... फिर भावनगर में कोई मर गया। तख्तसिंहजी (की) उपस्थिति थी। वह स्वयं मातम में शोक मनाने आया, हाँ! राजा का पक्का विद्रोही, ऐसे सिर पर थोड़ा कपड़ा रखे न?.... तो आना चाहिए न? वह तो राजा है, राजा ऐसे बैठे थे, वे बोले, ऐ... यह जोगीदास... दूसरे कहें पकड़ो। तख्तसिंह कहे अरे! अपना मेहमान है। अभी दूसरा होगा? अभी तो अपना मेहमान है, विद्रोही, हाँ! राजा का पक्का विद्रोही परन्तु यहाँ अभी क्यों आया है? आया है ऐसा नहीं बोले, हाँ! दरबार स्वयं, अभी क्यों आये

हैं जोगी खुमाण! आप हमारे तो मेहमान हैं। कोई भी व्यक्ति पुलिस को साथ लेकर (नहीं जाये) यहाँ से वह बाहर तक कुछ न करे उसके साथ रहो – ऐसा कि कोई विरोध न करे। उसे जिमाया, मेहमानगिरी करे, कोई बीच में विरोध न करे। समझ में आया? विद्रोही (सही).... परन्तु किस काम से आये हैं? हैं? मातम में आये हैं, उन्हें नहीं होता, इतना विवेक उसे है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के स्वभाव का भान और जितना विरोधभाव उत्पन्न होता है, उसे स्वयं भलीभाँति जाने। बंध का कारण तू है, आदर नहीं दे। समझ में आया?

मुमुक्षु – शुभभाव विद्रोही है?

उत्तर – विद्रोही है। ऐसा ही योग है न यह तो? योग आया न? योगा खुमाण, अभी नहीं आये थे? तुम्हारे इसमें कोई आये थे, इस गाँव के, हाँ! आये थे न वे कहते थे। मेहमान आये थे। इसी प्रकार इस आत्मा के पुण्य-पाप के भाव विद्रोही हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु – लोग पुण्य करते हैं, पाप छोड़कर।

उत्तर – कौन करता और कौन छोड़ता है? व्यर्थ का मूढ़ है। यह शरीर छूटेगा तो फू..... होकर चला जायेगा। कोई तेरा शरणभूत नहीं है। जायेगा ऐसा का ऐसा। ये सब रजकण ऐ...ऐ... वह (जायेंगे)। समझ में आया?

कहते हैं, एकदेश भी आत्मा की शुद्धता के रत्नत्रय का अंश प्रगटे, निर्मल आत्मा के आश्रय से.... वह बंध नहीं है। वह बंध का कारण है ही नहीं। बहुत लिया है, नीचे भी बहुत अच्छा लिया है। जब साधु ध्यानस्थ हों, तब निवृत्ति मार्ग में चढ़ जाते हैं। ठेठ... ठेठ... सब लिया है, बहुत लिया है। अपने ऊपर से बात आ गयी। कहो, यह चौदह हुई। (अब) १५ (गाथा)

☆ ★ ☆

पुण्यकर्म मोक्षसुख नहीं दे सकता

अह पुणु अप्पा णवि मुणहि, पुण्णु जि करहि असेस।
तो वि ण पावहि सिद्ध-सुहु, पुणु संसारु भमेस॥१५॥

निज रूप के जो अज्ञ जन, करे पुण्य बस पुण्य।
तदपि भ्रमत संसार में, शिव सुख से हो शून्य॥

अन्वयार्थ – (**अह पुणु अप्पा णवि मुणहि**) यदि तू आत्मा को नहीं जानेगा (**असेसु पुण्णु वि करइ**) सर्व पुण्य कर्म को ही करता रहेगा (**तउ वि सिद्धसुहु ण पावहि**) तो भी तू सिद्ध के सुख को नहीं पावेगा (**पुणु संसारु भमेस**) पुनः पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा।

☆ ★ ☆

पुण्यकर्म मोक्षसुख नहीं दे सकता।

अह पुणु अप्पा णवि मुणहि, पुण्णु जि करहि असेस।
तो वि ण पावहि सिद्ध-सुहु, पुणु संसारु भमेस॥१५॥

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि जो कोई आत्मा अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप का ज्ञान और विश्वास नहीं करता और इसके अतिरिक्त **सर्व पुण्य....** भाषा देखो। **असेसु पुण्णु** अशेष पुण्य अर्थात् कि समस्त प्रकार के तेरे दया के, दान के, भक्ति के, व्रत के, साधु के आचरण के और पंच महाव्रत के, बारह व्रत के जितने आचरण तू कहता है, वे सब। **असेसु पुण्णु वि करइ** जितने शुभभाव के आचरण उत्कृष्ट में उत्कृष्ट कहलाते हैं ऐसे सब दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, श्रावक, साधु के आचरण... समझ में आया? परन्तु वे साधक-फादक है नहीं। हैं?

मुमुक्षु – बाहर में दिखता है न?

उत्तर – बाहर में क्या दिखता है? लोग तो मूर्ख हों तो कहते हैं। कहो, समझ में आया? देखो न! क्या शब्द है? देखो!

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि पुण्णु वि करइ असेसु। देखो!! **असेसु** है न? अर्थात्? **असेसु** अर्थात् क्या कहते हैं? पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम, आजीवन ब्रह्मचर्य, शरीर से ब्रह्मचर्य रखने के परिणाम, आजीवन एक लंगोटी भी नहीं रखने के परिणाम ऐसे यहाँ **असेसु** है न? बाह्य चीज का इतना अधिक त्याग कि

अन्तिम में अन्तिम नौंवे ग्रैवेयक गया। तेसे **असेसु** शुभ परिणाम जिसे हुए परन्तु वे सब बंध के कारण हैं। इस आत्मा के भान बिना वह अकेला पुण्य मुक्ति का कारण नहीं है। आत्मा के भानरहित होवे तो उसे वह निमित्त कहा जाता है। निमित्त कहा जाता है अर्थात् वह कारण है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

आत्मा अपने निज स्वरूप को.... अहो! शुद्ध स्वरूप का भण्डार भगवान... अरे...! उसका इसे पता नहीं होता। अन्तर्मुख में, अन्तर्मुख में गहरा भगवान पूर्णानन्द लेकर पड़ा है, उसका जिसे विश्वास, उसका ज्ञान, उसे ज्ञेय बनाया नहीं, वह जीव अशेष कर्म – चाहे जिस प्रकार के पंच महाव्रत के, अट्ठाईस मूलगुण के, बारह-बारह महीने के अपवास (करे), छह-छह महीने के अपवास (करे) और भिक्षा के लिये जाये तो एक मुरमुरा और पानी.... ममरा कहते हैं? क्या कहते हैं? मुरमुरा। हाँ, वह धानी, चावल की धानी, हमारे यहाँ उसे ममरा कहते हैं और धानी कहते हैं। ज्वार को। ज्वार की बनाते हैं न? ज्वार, हाँ वह चावल की धानी... वह मुरमुरा और पानी ले... भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा एक राग की क्रिया का कर्ता नहीं – ऐसा जिसे चैतन्य का अन्तरज्ञान, विश्वास, स्थिरता नहीं है, वह ऐसे अशेष पुण्यकर्म करे **तउ वि णु पावइ सिद्धसुहु** तो भी वह मुक्ति के सुख को प्राप्त नहीं करता। अर्थात् उसे संवर निर्जरा नहीं होती – ऐसा कहते हैं।

वह संवर निर्जरा कब है? वह तो निमित्त है। निमित्त कब कहलाता है? शुद्ध उपादान अपनी शुद्ध स्वभाव की पूर्णानन्द की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता के स्वभाव शुद्ध उपादान से प्रगट किया तो इन व्रतादि के परिणाम बन्ध का कारण है, उसे निमित्तरूप कहा जाता है। है बंध का कारण। समझ में आया? निमित्त देखकर बात की है, उसे लगा है मूर्ख। आहा...हा...!

अह पुण अप्पा ण वि मुणहि जिसने भगवान आत्मा चैतन्यरत्न कन्द प्रभु की जिसने कीमत नहीं की... अरे! जिसने आत्मा के स्वभाव की वर्तमान कीमत नहीं की, वे जीव पुण्य के परिणाम की कीमत करके दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप के भाव करके, उनकी कीमत करके उनसे हमारा कल्याण होगा... कहते हैं कि **पुणु पुणु भमेइ, पुणु संसार भमेसु** चार गति में भटकेगा और जन्म-मरण के अन्त का कोई भी लाभ नहीं होगा,

कहो, समझ में आया इसमें ? कहो, मनसुखभाई ! क्या तुम्हारे वहाँ चले, है या नहीं हिन्दुस्तान के साथ ? हिन्दुस्तानी वे कुछ कहें, यह फिर कुछ कहे, दोनों अन्दर में चलते हैं। एक मन्दिर में दो। समझ में आया ? क्या (कहा) ? है या नहीं इसमें ?

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप राग से, देह से भिन्न है; जिसका माहात्म्य ज्ञान में पूर्ण नहीं हो सकता – ऐसा जो परमात्मा का निज स्वभाव, उसे जो नहीं जानता, वह **पुण्णु वि करई असेसु**। भले वह शुभभाव असेस – समस्त प्रकार के, हाँ ! बारह-बारह महीने के उपवास करे, घी न खाये, दूध न पीये, परस्त्री का त्याग, स्वस्त्री का त्याग, रात्रि भोजन त्याग, ब्रह्मचर्य पालन करे, आजीवन रात्रि भोजन का त्याग, चौ विहार अर्थात् ? चार प्रकार के आहार का त्याग। समझ में आया ? रात्रि में नहीं खाये, ये सब क्रियाएँ असेस पुण्यरूप है; इनसे जरा भी धर्म नहीं है। आहा...हा... ! कहो, समझ में आया इसमें ? लोगों को कठिन पड़ता है, हाँ ! अरे... बापू ! अनन्त काल से जन्म -मरण के धक्के खाये हैं, भाई !

कहते हैं ऐसा **तो भी....** ऐसा। इतना करने पर भी – ऐसा है न ? **तो भी तू.....** ऐसा.... **सिद्ध का सुख प्राप्त नहीं कर सकेगा**। भगवान आत्मा में आनन्द है, अतीन्द्रिय आनन्द का विश्वास तुझे नहीं और ऐसा पुण्य करके उसका विश्वास करता है कि इसमें से मुक्ति होगी तो **भमेइ** चार गति में परिभ्रमण करेगा परन्तु सुख नहीं मिलेगा अर्थात् आत्मा के आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी। **तउ वि सिद्धि सुहु ण पावइ, तो भी सिद्ध का सुख प्राप्त नहीं कर सकेगा।**

पुणु संसार भमेसु, पुनः-पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा.... लो ! समझ में आया ? आहा...हा... ! यह साधक और साध्य, पंचास्तिकाय में आता है न ? व्यवहार साधक... परन्तु कहा है न ? कहा, किस नय से ? नय का यहाँ क्या काम है ? नय का क्या काम है ? अरे... भगवान ! बापू ! भाई ! ऐसा कि इस व्यवहार को साधक कहा है न ? निश्चय साध्य और व्यवहार साधक। भले तुम उसे व्यवहार कहो, चलो... परन्तु व्यवहार को साधक कहा है न ? किस नय से ? नय का क्या काम ? कहा है या नहीं ? ऐ...ई... ! उन्होंने सब उल्टा किया है लिखकर। टीका प्रमाण कथन व्यवस्थित किया, फिर नीचे

बचाव किया – ऐसा कहते हैं। तुम्हारे विवाद के लिये उसका स्पष्टीकरण किया, हैं। आहा...हा... ! भगवान का वचन, शास्त्र का वचन है या नहीं ? परन्तु वचन है, बापू ! वह किस नय से कहा है ?

यहाँ क्या कहते हैं ? देखो न ! कि आत्मा के शुद्धस्वरूप के सम्यग्दर्शन-ज्ञान -चारित्र के प्रगटपने के बिना जो कुछ तेरे दान, दया, व्रत, भक्ति, पूजा लाख हो.... अन्त में अन्त जो क्रिया कहलाती है – ऐसा असेस कहा है न ? अन्त में अन्त तेरे परिणाम – शुभ उपयोग जो हो, वह करे तो भी वह आत्मा को संवर-निर्जरा का कारण नहीं है; वह बंध का ही कारण है। पंचम काल में भी यह और चौथे काल में भी यह। यह सब काल भेद से अन्तर है, ऐसा भी नहीं है। वह भाव तो बंध का ही कारण है।

तब भी तू सिद्ध का सुख प्राप्त नहीं कर सकेगा। पुणु संसार भमेसु, पुनः -पुनः..... पुणु का अर्थ किया बारम्बार। **पुनः संसार में ही भ्रमण करेगा....** लो, समझ में आया ? देखो ! नीचे लिखा है। नीचे, (दूसरे पैराग्राफ की) तीसरी लाईन में। लाईन है – **वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह द्रव्यलिंगी साधु का चारित्र पालता है, शास्त्रोक्त व्रत समिति गुप्ति पालता है, तप करता है, आत्मज्ञानरहित तप से वह महान पुण्य बाँध कर नौवें ग्रैवेयक में जाकर अहमिन्द्र हो जाता है। आत्मज्ञान बिना वहाँ से चयकर संसार-भ्रमण में ही रुलता है।**

आत्मा शुद्ध चिदानन्द का अन्तर आनन्द का विश्वास आये बिना इस विश्वास में चढ़ गया, पुण्य के विश्वास में (चढ़ गया कि) इसके कारण (मुक्ति होगी)। तेरा विश्वास वहाँ गया। वह तो मिथ्या विश्वास है। समझ में आया ? मिथ्या विश्वास में चढ़ गया, मिथ्या मार्ग में चढ़ गया। आहा...हा... !

शुद्धोपयोग ही वास्तव में मोक्ष का कारण है। इन्होंने तो जरा कठोर किया है, हाँ ! **इसके अतिरिक्त मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को अपना धर्म न समझकर बंध का करनेवाला अधर्म समझना है।** ७५ पृष्ठ पर है। अधर्म (पढ़ कर) अन्य शोर मचाते हैं। **व्यवहार में शुभ क्रिया को धर्म कहते हैं परन्तु निश्चय से जो बंध करता है वह धर्म नहीं हो सकता।** आहा...हा... ! वस्तुतः तो इन्होंने वहाँ तक लिया है, जरा यह तो

उनके शब्द हैं, हाँ! कि सम्यग्दृष्टि का लाभ होता है, जब आत्मा को आत्मा का भान और सम्यग्दर्शन होता है, **वह सर्व शुभ प्रवृत्तियों से अशुभ प्रवृत्तियों की तरह ही उदास होता है, वह न मुनि के व्रत पालना चाहता है न श्रावक के।** वह विकल्प है न? पालना चाहता है वह।

परन्तु आत्मबल की कमी से जब उपयोग अपने आत्मा में अधिक काल स्थिर नहीं रहता तब अशुभ से बचने के लिये वह शुभ कार्य करता है.... आता है; करता है – ऐसा कहा जाता है। देखो, पहले इन्होंने इनकार किया, हाँ! **वह न मुनि के व्रत पालना चाहता है न श्रावक के।** (वह विकल्प) तो राग है। ऐसा कितना ही ठीक लिखा है, फिर वापस निमित्त आवे तब जरा गुलांट खा जाते हैं। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, असेस पुण्य के जितने भाव हों, उतने किये जायें, तथापि उससे भिन्न आत्मा भगवान का भान न करे तो उसका परिभ्रमण नहीं मिटता। चार गति में भटकना होता है परन्तु उसका अवतार कभी नहीं घटता। लो! पूरा हो गया।

(श्रोता – प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीतरागता के बिना मात्र बाह्य नग्नता ही मुनिपना नहीं

आत्मा की दशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रगट हुए बिना, मात्र बाह्य निर्ग्रन्थता या पञ्च महाव्रत में मुनिदशा नहीं है। उसी प्रकार अन्तर में भाव निर्ग्रन्थता अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागभाव प्रकटे और बाह्य में वस्त्रादिरहित निर्ग्रन्थता न हो – ऐसा कभी नहीं हो सकता। जैसे बादाम का ऊपर का छिलका निकल जाए और अन्दर का छिलका न निकला हो – ऐसा तो हो सकता है, परन्तु का अन्दर का छिलका निकल जाए और ऊपर का छिलका न निकले – ऐसा कभी नहीं हो सकता। बाह्य वस्त्रादि परिग्रह ऊपर के छिलके के समान हैं और राग-द्वेष अन्दर के छिलके के समान हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है

अप्पा-दंसणु एक्कु परु, अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खहँ कारण जोइया, णिच्छइँ एहउ जाणि॥१६॥

निज दर्शन ही श्रेष्ठ है, अन्य न किञ्चित् मान।
हे योगी! शिव हेतु अब, निश्चय तू यह जान॥

अन्वयार्थ – **(जोईया)** हे योगी! **(एक्कु अप्पादंसण मोक्खह कारण)** एक आत्मा का दर्शन ही मोक्ष का मार्ग है **(अण्णु परु ण किं पि वियाणि)** अन्य कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा जान **(णिच्छह एहउ जाणि)** निश्चयनय से तू ऐसा ही समझ।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ९, रविवार, दिनाङ्क १२-०६-१९६६
गाथा १६ से १७ प्रवचन नं. ६

'योगीन्द्रदेव' कृत 'योगसार' है। 'योगसार' का वास्तविक अर्थ तो यह है – योग अर्थात् व्यापार; आत्मस्वभाव का व्यापार, उसका सार। वास्तविक मोक्ष का मार्ग। योग अर्थात् जुड़ान। चैतन्यस्वरूप एक समय में पूर्ण शुद्ध द्रव्यस्वभाव, उसके साथ जुड़ान करना, उसमें एकाग्र होना, उसे यहाँ योग कहते हैं। उसमें भी यह 'सार' अर्थात् परमार्थ मोक्ष के मार्ग की व्याख्या है। उसमें भी इस सोलहवीं गाथा में तो बहुत उत्कृष्ट बात है, अर्थात् ऐसी सच्ची बात है। सोलहवीं गाथा है न यह?

आत्मदर्शन ही मोक्ष का कारण है। पुस्तक मिली सबको? इस श्लोक, शब्द का क्या अर्थ होता है – इतना ख्याल में रखना। इसमें तो अकेले शब्द हैं।

अप्पा-दंसणु एक्कु परु, अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खहँ कारण जोइया, णिच्छइँ एहउ जाणि ॥१६॥

हे धर्मात्मा! ऐसा शब्द कहा। 'योगी' कहा न? योगी अर्थात् हे धर्मी! **अप्पा दंसण इक्क** – यह आत्मा का दर्शन, वह एक ही दर्शन, वह मोक्ष का मार्ग है। कुछ समझ में आया? आत्मा एक समय में अनन्त शुद्ध गुण सम्पन्न प्रभु, ऐसा आत्मा, उसका दर्शन। **अप्पा दंसण इक्क** – यह आत्मा... शास्त्र पद्धति से पहले आत्मा को जानकर, शास्त्र की रीति से सर्वज्ञ के कथन द्वारा वह 'आत्मा कैसा है' – ऐसा जानकर, फिर करना क्या? कि भगवान आत्मा **अप्पा दंसण** इस शुद्ध अभेद चैतन्य प्रभु में एकाकार (होना)। मन -वचन और काया की क्रिया से भिन्न, पुण्य-पाप के विकल्प के राग से पृथक् तथा गुणी और गुण के भेद भी वहाँ काम नहीं करते।

जहाँ आत्मा का दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन है। वहाँ मन की पहुँच नहीं, वाणी की गति नहीं, वहाँ काया की चेष्टा काम नहीं करती। समझ में आया? मन की जहाँ गति नहीं, वाणी का वहाँ प्रयोग नहीं, काया की वहाँ चेष्टा नहीं, विकल्प का वहाँ अवकाश नहीं और गुणी आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, सर्वज्ञ ने देखा, हुआ कहा हुआ; उसके गुणी और गुण के भेद (का) भी जहाँ स्थान नहीं – अवलम्बन नहीं, आधार नहीं – ऐसा आत्मा, अभेद अखण्डस्वरूप का अन्तर दर्शन करना, प्रतीति करना – इसका नाम एक ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। इसका नाम एक ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। समझ में आया? कहो, रतिभाई!

अप्पा दंसण इक्क – है न? एक आत्मा का दर्शन, मोक्ष का मार्ग। फिर सम्यग्दर्शन एक ही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा। ज्ञान और चारित्र, यह अनुभव में आ गये। आत्मा दर्शन, अनुभव। एक समय में पूर्ण शुद्ध, उसे अनुसर कर अभेद का अनुभव करना – ऐसा जो आत्मदर्शन, वह एक; वह एक ही। दूसरा सम्यग्दर्शन, दूसरा प्रकार है – ऐसा नहीं, यह कहते हैं। समझ में आया? **अप्पा दंसण इक्क** – अभी इतना शब्द पड़ा है। भगवान आत्मा, जिसे **अप्पा** कहते हैं, एकस्वरूप अभेद चैतन्य, उसे आत्मा कहते हैं। उसका दर्शन, उसकी अन्तर में अनुभव करके प्रतीति करना, वह एक ही **अप्पा दंसण**

– एक ही सम्यग्दर्शन है। दो सम्यग्दर्शन नहीं है, दो मार्ग नहीं है; इसके अतिरिक्त दूसरा सब मिथ्यादर्शन है। समझ में आया ?

अप्पा दंसण इक्क – बहुत संक्षिप्त में कहा है। जिसे आत्मा कहते हैं; आत्मा कहें, तब दूसरी चीजें हैं। अजीव है; मन-वचन-काय की चेष्टाएँ अजीव की पर्याय है; अन्दर पुण्य-पाप का विकल्प और राग, (जिसका) आत्मा में अभाव है, ऐसी चीज है। मन-वचन और काया, जिसके विकल्प के विचार के समय मन भी है, वाणी से कहते हैं, वह सुनने का (होता है), वह भी है, परन्तु वे सब आत्मदर्शन में काम नहीं करते। समझ में आया ?

अप्पा – यह आत्मा अर्थात् परमात्मा पूर्ण स्वरूप। उसका दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन; एक ही सम्यग्दर्शन है। देखो! कोई कहते हैं न कि सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है, ज्ञान दो प्रकार का है, चारित्र दो प्रकार का है। (तो कहते हैं कि) नहीं; दो प्रकार के हैं ही नहीं। सम्यग्दर्शन का कथन भले ही व्यवहार और निश्चय से (–ऐसे) दो प्रकार से आवे (परन्तु) वस्तु एक ही निश्चय, वह सम्यग्दर्शन है; दूसरा सम्यग्दर्शन नहीं। समझ में आया ? भाषा समझ में आती है न ? भैया! मिश्रीलालजी! थोड़ी-थोड़ी समझ लेना। इन्दौरवालों को तो थोड़ा गुजराती का अभ्यास है... थोड़ा-थोड़ा। आहा...हा... !

यह शब्द तो पड़ा है न ? **अप्पा दंसण इक्क**। योगीन्द्रदेव सन्त मुनि-दिगम्बर मुनि महा धर्मात्मा छठवीं-सातवीं भूमिका-गुणस्थान में झूलनेवाले! अनादि सनातन वीतराग मार्ग में अन्तर शान्ति की जिन्हें उत्पत्ति हुई है (अर्थात्) चारित्र; ऐसे सन्त ऐसा कहते हैं – आत्मा का दर्शन, वह एक ही सम्यग्दर्शन है। नव तत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं; भेदवाली श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं; देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं; छह द्रव्य की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं। रतिभाई! है ? किसी दिन भी निवृत्त हो तब न! सुनने के लिए निवृत्त नहीं, समझने को निवृत्त नहीं। यह शान्तिभाई रात्रि को पुकार तो करते थे, कहाँ गये शान्तिभाई ? हैं ? गये ? ठीक! कहो, समझ में आया ? निवृत्त होवे, निवृत्त – ऐसा शाम को कहते थे परन्तु निवृत्त कहाँ ? यह सुनने को अभी निवृत्ति नहीं मिलती। फुरसत... फुरसत... !

अप्पा दंसण इक्क शब्द पड़ा है, देखो! तीन शब्द हैं। एक आत्मा अर्थात् कि एक समय में पूर्ण चिदानन्द अभेद वस्तु को आत्मा कहते हैं। उसका दर्शन। **अप्पा** – यह द्रव्य है; दर्शन – यह पर्याय है। समझ में आया कुछ? भगवान अभेद चैतन्यवस्तु आत्मा को आत्मद्रव्य कहते हैं। अभेद एकाकार, वह द्रव्य। **दंसण** उसकी श्रद्धा, अनुभव में प्रतीति, उसे पर्याय कहते हैं। वह **अप्पा दंसण इक्क** – यह सम्यग्दर्शन एक है। ऐसे तीन शब्द हुए। समझ में आया? जयन्तीभाई नहीं आये? कहो, समझ में आया इसमें? आहा...हा...!

अप्पा दंसण इक्क और इस आत्मदर्शन के बिना जितने क्रियाकाण्ड में धर्म मनाये, वह मिथ्यादर्शन की पर्याय है। हैं? भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण अभेद अनन्त गुण का एकरूप, उसकी अन्तर में स्वसन्मुख की प्रतीति के भाव को दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन के प्रकाश के अभाव में जितने पुण्यादि-दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम हैं, वे धर्म हैं – ऐसा माननेवाले को मिथ्यादर्शन है।

मुमुक्षु – सम्यग्दर्शन होने के बाद माने?

उत्तर – सम्यग्दर्शन होने के बाद तो माने ही नहीं वह। माने वह तो व्यवहार बीच में आता है। मन-वचन की चेष्टा की क्रियाएँ बीच में आती है, व्यवहार; परन्तु वह व्यवहार बन्ध का कारण है और अनुकूलता कहें तो उस अन्तर अनुभव की दृष्टि में उसे निमित्त कहा जाता है। अनुकूलता से कहें तो निमित्त, प्रतिकूलता से कहें तो बन्ध का कारण। चन्दुभाई! क्या कहा यह? कि भगवान आत्मा एक समय में जिसे आत्मा कहते हैं; यहाँ पहले शब्द का अर्थ है। एक रूप प्रभु अभेद चैतन्य ज्योत का दर्शन, उसकी प्रतीति, उसके अन्तर अनुभव में 'यह आत्मा' – ऐसी श्रद्धा; उस श्रद्धा के अतिरिक्त कोई भी विकल्पादि उत्पन्न हो और हों, उसे धर्म मानना या दूसरी बात को सम्यग्दर्शन मानना – इसका नाम मिथ्यादर्शन का प्रकाश है – मिथ्यादर्शन पसरा (व्याप्त) है। समझ में आया?

परु अण्णु ण किं पि वियाणि भगवान आत्मा, उसका सम्यग्दर्शन, उसका अनुभव एक ही दर्शन (है); दूसरा कोई दर्शन है ही नहीं। दूसरा कोई मार्ग नहीं है, दूसरा कोई दर्शन नहीं है, दूसरी कोई मोक्ष के मार्ग की अनुकूलता की रीति नहीं है। समझ में आया? ऐसे दर्शन के अतिरिक्त **परु... परु** है न? आत्मा के दर्शन के अतिरिक्त **परु**

अर्थात् पर... पर... पर.... चाहे तो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग (हो), नव तत्त्व की श्रद्धा के भेद का राग (हो), षट् द्रव्य की श्रद्धा का राग (हो), वह सब **परु अण्णु**। पर.... आत्मा के स्वभाव से अन्य – ऐसी दो बातें कही। समझ में आया कुछ ? अन्य, पर – ऐसा।

आत्मा के अभेदस्वभाव की दृष्टि से अन्य जितना पर है, वह **ण किं पि वियाणि** – मोक्षमार्ग नहीं जानना। उसे जरा भी मोक्षमार्ग नहीं मानना। आहा...हा... ! समझ में आया इसमें ? एक, इससे अन्य को जरा भी सम्यग्दर्शन नहीं मानना। शुभराग में, देह की क्रिया में या किसी भी नवतत्त्व की श्रद्धा के राग में सम्यग्दर्शन अथवा मोक्ष का मार्ग जरा भी – थोड़ा भी दूसरे में इसके अतिरिक्त है नहीं। **अण्णु ण किं पि वियाणि** जरा भी, आत्मा के दर्शन के सिवाय, दूसरा मार्ग, उसमें दर्शन और मोक्ष का मार्ग जरा भी नहीं है। मनसुखभाई ! आहा...हा... ! ऐ...ई... ! हिम्मतभाई ! समझ में आता है या नहीं ? देखो ! यह सब धीरे-धीरे यह सुनने आनेवाले हो गये हैं। आहा...हा... ! अरे... ! भाई ! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव के मुख में से निकली हुई दिव्यध्वनि... परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की वाणी में आया, ऐसा सन्तों ने चारित्रसहित अनुभव किया। यहाँ योगीन्द्रदेव मुनि हैं न ? उन्होंने जगत के समक्ष यह रखा कि वस्तु का स्वरूप यह है। समझ में आया ?

अप्पा दंसण इक्क, दो नहीं; और दूसरा अन्य जो कुछ है, वह कोई भी मोक्षमार्ग में गिनने में नहीं आता अथवा दूसरी मिथ्या बात को, ऐसी श्रद्धा के अतिरिक्त किसी दूसरी बात से श्रद्धा माने, उसे मिथ्यादर्शन होता है। समझ में आया ? यह तो अभी पहली-ईकाई की बात है। जैन सम्प्रदाय में जन्में परन्तु जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी क्या कहते हैं ? – उसका पता नहीं पड़ता; पता नहीं पड़ता और जिन्दगी गँवाये और हो गया हम कुछ धर्म करते हैं। रतिभाई ! हैं ? ऐसा ही है। लो ! दो-दो घण्टे वहाँ पढ़े परन्तु समझे नहीं, फिर चलो थोड़ा वहाँ जाएँ। उसमें कोई बात ठीक से पकड़ में नहीं आती। चलो, अब पूरा हो जाएगा। आहा...हा... !

परु अण्णु ण किं पि वियाणि – जरा भी, आत्मा के अनुभव की दृष्टि के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन दूसरी किसी चीज में नहीं हो सकता; किसी चीज द्वारा नहीं हो

सकता, किसी चीज में नहीं हो सकता। आहा...हा...! गुणी भगवान और गुण के भेद द्वारा भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। समझ में आया? तो फिर राग और दया, दान के विकल्पों से – पहले यह पालन करो – फिर सम्यग्दर्शन होगा – धूल में भी नहीं। सुन न! मर जाएगा हैरान होकर, अनन्त काल से। कहो, समझ में आया?

अण्णु ण किं पि वियाणि गाथा भी बहुत सरस आयी, सोलहवीं है, देखो! ऐ... मनुसखभाई! **मोक्खह कारण जोईया** योगी अर्थात् हे धर्मी! सम्यग्दृष्टि को धर्मी ही कहा है, योगी कहा है। सम्यग्दर्शन – आत्मा की अन्दर की रुचि के, अनुभव का योग जोड़ा है – ऐसे चौथे गुणस्थान में भले भरत चक्रवर्ती जैसा चक्रवर्ती हो, छह खण्ड का राज्य और छियानवें हजार पद्मनी जैसी रानियाँ हों, परन्तु उसने आत्मा के साथ योग जोड़ा है। जो अभेद चिदानन्दस्वरूप की दृष्टि हुई है (इसलिए) सम्पूर्ण संसार से वैराग्य और उदासीनता अन्दर वर्तती है। जिसे भोग की रुचि नहीं है, भोग में सुखबुद्धि नहीं है, क्योंकि भगवान आत्मा का दर्शन हुआ, उसमें आनन्द है – ऐसा रुचि में आया है। आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है – (जिसे) ऐसा आत्मदर्शन हुआ, उसे छियानवें हजार नहीं, परन्तु इन्द्राणी के सुख में भी उसे सुख का लालच और सुखबुद्धि नहीं होती। समझ में आया?

मोक्खह कारण यहाँ तो भई! दर्शन को मोक्ष का कारण कहा। यहाँ तो उन तीन की बात भी नहीं। जोर देना है न! अनुभव का जोर देना है। आत्मा का अनुभव... उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र के तीनों अंश आ जाते हैं। ऐसा कहना है। आहा...हा...! भगवान आत्मा शान्त... शान्त... धीरजवान होकर अन्तर के स्वभाव की एकता को अवलम्बन करे, एकता के स्वभाव को अवलम्बन करे – ऐसा जो सम्यग्दर्शन, उसमें सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरण का भाव – चारित्र का अंश भी साथ ही साथ उत्पन्न होता है। इसलिए यहाँ एक सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष का कारण कहा है। एक ओर **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** (कहते हैं)। एक ओर सम्यग्दर्शन, मोक्ष का कारण (कहते हैं)। समझ में आया?

यह भगवान आत्मा, अपना सहजानन्दस्वभाव, उस आनन्द के सम्मुख होकर जहाँ दृष्टि हुई और रुचि का परिणमन हुआ, उसमें श्रद्धा – स्वरूप की श्रद्धा, स्वरूप का ज्ञान, और स्वरूप में आंशिक आचरणरूप रमणता (हुई)। उस सम्यग्दर्शन में अथवा अनुभव

में तीनों आ जाते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? अभी यह सब विवाद निकालते हैं न? चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण नहीं होता... विद्वानों में बड़ी चर्चा चलती है। एक व्यक्ति कहे होता है, दूसरा कहे नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा अभी पता नहीं पड़ता। अभी सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरण नहीं होता – ऐसी बातें करते हैं। आहा...हा...!

भगवान आत्मा अपने अन्तर्मुख के स्वभाव की ओर ढला और प्रतीति व ज्ञान हुआ उतना ही उसमें अनन्तानुबन्धी का भी अभाव होकर, स्वरूप की रमणता का इतना आचरण प्रगट हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। समझ में आया? क्योंकि उसे अन्तरात्मा कहा है। बहिरात्मा जो था, वह पुण्य-पाप, विकल्प और निमित्त में अपनेपन का अस्तित्व स्वीकार करता था, उसे अखण्डानन्द प्रभु अनन्त गुण का पिण्ड उसके अस्तित्व का स्वीकार (न किया), उस स्वीकार में अन्तर रमणता आये बिना स्वीकार नहीं हो सकता।

अन्तर आत्मा.... अन्तर आत्मा अर्थात् क्या? अन्तर आत्मा... परमात्मस्वरूप त्रिकाली द्रव्यस्वरूप अपना, उसका अनुभव होना, दृष्टि होना, उसका नाम अन्तरात्मा है तो कुछ आत्मा में अन्तर में परमात्मस्वरूप अपना है, उसमें कुछ स्थिर हुआ तब उसे अन्तर आत्मा कहने में आया है। पूर्ण स्थिर हो तो परमात्मा हो जाये। अकेला राग में स्थिर – एकाकार (होवे तो) वह बहिरात्मा है। समझ में आया? अद्भुत सूक्ष्म बात! इसमें कहीं, क्या कहना है? और क्या करना है? सुना न हो तो पकड़ना कठिन पड़ता है। यह कहीं वीतराग का मार्ग ऐसा होगा? ऐसा मार्ग लोगों ने दबोच दिया है न! समझ में आया?

परमेश्वर तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान आदि तीर्थंकर जो कहे हैं, वे भगवान विराजते हैं। सभी एक ही यह बात अनादि तीर्थंकर कहते हैं, अभी कहते हैं, भविष्य में अनन्त काल में अनन्त तीर्थंकर यह कहेंगे। समझ में आया? आहा...हा...!

मोक्खह कारण जोईया इस मोक्ष का कारण तो एक ही है। आहा...हा...! एकान्त नहीं हो जाता? सम्यग्दर्शन को मोक्ष का कारण कहने से एकान्त नहीं हो जाता? भाई! इसमें अनेकान्त रहता है। स्वरूप की दृष्टि, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूपाचरण तीनों इकट्ठे हैं और उसमें विकल्पादि के भाव का नास्तिभाव है। समझ में आया? जिसे व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं, या व्यवहार समकित कहते हैं, वह तो राग है। उसका इस निश्चय

सम्यग्दर्शन में अभाव है। ऐसे सम्यग्दर्शन बिना दूसरे को सम्यग्दर्शन माने, उसे मिथ्यादर्शन की पर्याय होती है। समझमें आया?

णिच्छह एहउ जाणि 'योगीन्द्रदेव', योगीन्द्रदेव आदेश करते हैं। हे आत्मा! निश्चय से, यथार्थ से, सत्य स्वरूप से.... निश्चय अर्थात् सत्य स्वरूप से इस प्रकार है – ऐसा तू जान, ऐसा तू जान। बाकी सब विकल्पादि हों, उन्हें व्यवहार और निमित्तरूप जान। समझ में आया? अद्भुत मार्ग, भाई! लोगों को अभी तो ऐसा हो गया है, इस सम्यग्दर्शन के बिना त्याग और व्रत वे सब अंक बिना की शून्य है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिसे अभी सम्यग्दर्शन कैसे हो, इसका भी पता नहीं होता... सम्यग्दर्शन की भूमिका कैसी होती है? उसका भी पता नहीं होता और व्रत, तप, और चारित्र और व्रत ले लिये। एक बिना के.... रण में चिल्लाने जैसा है, वह सब। समझ में आया?

अन्य कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है.... देखो! इनने अर्थ भी किया है न? **कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है....** दूसरा मोक्षमार्ग जरा भी नहीं है। आहा...हा...! रागादि का व्यवहार का भाव, व्यवहार श्रद्धा का या शास्त्र के ज्ञान का या कोई कषाय की मन्दता का व्रतादि का, वह भाव किंचित् छूटकारे का मार्ग नहीं है; वह तो बन्धन का मार्ग है। समझ में आया? **ऐसा जान। निश्चय से तू ऐसा ही जान....** ऐसा। निश्चय अर्थात् सत्य स्वभाव की स्थिति से ऐसा तू जान। सत्य स्वरूप के स्वभाव से ऐसा तू जान। व्यवहार का स्वरूप दूसरा भेद आदि है, वह जाननेयोग्य है परन्तु आदरणीय नहीं। कहो, समझ में आया? देखो, अन्दर इन्होंने थोड़ा-थोड़ा अर्थ किया है।

व्यवहार धर्म का सर्व आचरण मन, वचन, काया के आधीन है। इसलिए पराश्रय है.... इसमें आपत्ति नहीं। समझ में आया? और जो कुछ स्व आश्रय से – आत्मा के आश्रय से है (उसके) आधीन, वही उपादान है। बाकी सब निमित्त कहा जाता है परन्तु उस निमित्त में लोग भूलते हैं परन्तु वह निमित्त अर्थात् जहाँ उपादान का अन्तर दर्शन हुआ तब वहाँ रागादिक का संयोग जो व्यवहार है, उसे निमित्तरूप से कहा जाता है। विरुद्धरूप से बंध कहा जाता है, अनुकूलरूप से निमित्त कहा जाता है – ऐसा है। आहा...हा...! कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु – निमित्त के बिना कुछ कभी होता है।

उत्तर – परन्तु हुआ है, तब उसे निमित्त कहते हैं। फिर होता है क्या? अन्तर स्वभाव के दर्शन को दर्शन हुआ, तब तो रागादि के व्यवहार समकित को अर्थात् राग को निमित्त कहा गया। नैमित्तिक के बिना निमित्त किसका? समझ में आया? बहुत उल्टा रास्ता है भाई! तुझे पूर्ण आनन्द की महिमा नहीं आती और उस महिमा के बिना जितनी कुछ भेद और राग में महिमा जाये, वह सब मिथ्यादर्शन शल्य है। आहा...हा...! समझ में आया?

वीतराग परमेश्वर का मार्ग जगत् को सुनने नहीं मिला, इसलिए उल्टा रास्ता मान बैठा कि हम भगवान को मानते हैं। भगवान तो ऐसा कहते हैं। ऐसा नहीं मानता और तू भगवान को मानता है – ऐसा कौन कहता है? समझ में आया? देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा कहो कैसे रहे? कैसे रहे शुद्ध श्रद्धा न आवे? शुद्ध श्रद्धा के बिना सर्व क्रिया करे वह राख पर लीपना है... इतनी राख बिछा रखी हो... राख तो समझ में आता है न? राख... राख... उसमें ऊपर मिट्टी करते हैं.... गार को (तुम्हारे यहाँ) क्या कहते हैं? लीपाई करते हैं न? लीपना? वह लीपना कहाँ चले? राख के ऊपर लीपाई चलती होगी? इसी प्रकार आत्मा की भूमिका के दर्शन बिना, शुद्ध श्रद्धा बिना देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं है। क्योंकि देव-गुरु-शास्त्र तो यह कहते हैं। देव -गुरु और शास्त्र आत्मा के दर्शन को दर्शन कहते हैं। अब उस दर्शन को दर्शन मानना नहीं और देव-गुरु-शास्त्र को मानते हैं (ऐसा कहता है तो) उसकी वह मान्यता ही मिथ्या है। समझ में आया?

ऐसे आत्मदर्शन के बिना, आत्मा (की) शुद्ध श्रद्धा के बिना, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा भी सच्ची नहीं रहती और उसके बिना जितना क्रियाकाण्ड किया जाये, व्रत-नियम अपवास... वह सब राख के ऊपर मिट्टी लेपना है, मिट्टी (लेपने के समान है)। गार समझ में आता है न? लीपना। पूरी पपड़ी उखड़ती है। राख के ऊपर ऐसे-ऐसे करें, वहाँ उसमें जरा भी लीपाई नहीं होती। समझ में आया? लो! एक गाथा हुई। दूसरी गाथा।

मुमुक्षु – आदेश देते होंगे कि निमित्त से जान।

उत्तर – निश्चय से जानना यह क्या कहा ? दरबार में क्या कहते हैं ? आदेश देते हैं। ऐसे निमित्त से तो ऐसा कि बराबर होता है, ऐसा वह कहता है। समझे न ? है न ?

मुमुक्षु – दो नय हैं न ?

उत्तर – नहीं, नहीं, ऐसा कहते हैं न ? ऐसा कहे तो अन्तर पड़े। तुझे कर का अर्थ तुझे करना है या इसे करना है। ऐसा कहते हैं। यह तो ऐसा कहते हैं कि मेरे सामने देखना छोड़ दे। मैं कहता हूँ उस ओर का सुनने का विकल्प छोड़ दे। यह मैं क्या कहता हूँ, उसका मनन भी मेरे सन्मुख रहकर कर, वह भी छोड़ दे। आहा...हा... ! समझ में आया ? भगवान ऐसा कहते हैं, गुरु ऐसा कहते हैं। ऐसा जो मनन, वह परसन्मुख का मनन है, छोड़ उसे, वह साधन नहीं है। ले, ऐसा कहते हैं। उसे जान, कहते हैं। इस प्रकार जान, समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव प्रभु ऐसा स्वयं फरमाते हैं। भाई ! हमारी श्रद्धा तेरी हुई, उसे सम्यग्दर्शन हम नहीं कहते। आहा...हा... ! हमारे द्वारा कथित वाणी के शास्त्रों की तू श्रद्धा करे, उसे हम सम्यग्दर्शन नहीं कहते – ऐसा सर्वज्ञ की वाणी में यह आता है। तब दर्शन किसे कहना ? **अप्पा दंसण इक्क** भगवान तेरा आत्मा, उसके सन्मुख का अनुभव करके प्रतीति का होना, वह एक ही सम्यग्दर्शन है; दूसरा सम्यग्दर्शन दूसरे प्रकार का हमने नहीं कहा, हम कहते नहीं और ऐसा है नहीं। हैं ?

पूछते हो इसलिए अधिक स्पष्ट आता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! भगवान तुझमें तू पूरा प्रभु पड़ा है। तुझे किसी की आवश्यकता नहीं है। इस परसन्मुख के ज्ञान की भी तुझे आवश्यकता नहीं है – ऐसा कहते हैं। परसन्मुख के पदार्थ की तो आवश्यकता नहीं.... आहा...हा... ! परसन्मुख की श्रद्धा की तो आवश्यकता नहीं; परसन्मुख का आश्रय होने पर राग की मन्दता दया, दान, भाव की भी तुझे जरूरत नहीं। उनकी तो जरूरत (नहीं) परन्तु भगवान यह और गुण यह – ऐसे मन के संग से उत्पन्न होनेवाला विकल्प, उसकी भी तुझे जरूरत नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह सूक्ष्म है, मनहरभाई ! यह ऐसा का ऐसा नहीं। स्टोर में से ऐसा का ऐसा पकड़ में आवे ऐसा नहीं है। थोड़ा-थोड़ा समय निकाले, तब पकड़ में आवे ऐसा है। किसी दिन जा आयें, उसमें कुछ समझ में भी

नहीं आता। कल दोपहर में बहुत बात होती थी। कहा, यह कुछ समझते नहीं। पूरी बात ही अन्तर है। लोगों ने बात ही नहीं सुनी। समझ में आया ? आहा...हा... !

☆ ★ ☆

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं हैं

मग्गण-गुणठाणइ कहिय, विवहारेण वि दिट्ठि।
णिच्छय-णइँ अप्पा मुणहि, जिम पावहु परमेट्ठि॥१७॥

गुणस्थान अरु मार्गणा, कहें दृष्टि व्यवहार।
निश्चय आतमज्ञान जो, परमेष्टी पदकार॥

अन्वयार्थ – **(विवहारेण वि दिट्ठि)** केवल व्यवहारनय की दृष्टि से ही **(मग्गणगुणठाणइ कहिया)** जीव को मार्गणा व गुणस्थान कहा है **(णिच्छइणइ)** निश्चयनय से **(मुणहु)** अपने आत्मा को आत्मारूप ही समझ **(जिय परमेट्ठि पावहु)** जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी के पद को पा सके।

☆ ★ ☆

१७ वीं गाथा में कहते हैं – **मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं हैं**। देखो ! आहा...हा... !

मग्गण-गुणठाणइ कहिय, विवहारेण वि दिट्ठि।
णिच्छय-णइँ अप्पा मुणहि, जिम पावहु परमेट्ठि॥१७॥

भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा दिव्यध्वनि द्वारा फरमाते हैं। उसी प्रकार सन्त स्वयं विकल्प द्वारा यह लक्ष्य में आयी है, वह बात वाणी द्वारा आ जाती है, आ जाती है। कहते हैं – **ववहारेण वि दिट्ठी। केवल व्यवहारनय की दृष्टि से ही....** यह जीव किस गति में है और किस लेश्या में है और भव्य-अभव्य है, ज्ञान हुआ, ज्ञान की पर्याय है – ऐसे सब भेदों को जानना, वह व्यवहारनय का विषय जानने योग्य है। समझ में आया ? आदरणीय नहीं। आहा...हा... !

यहाँ तो फिर जिनेश्वर द्वारा कथित.... अन्यमती कथित वस्तु होती ही नहीं। जिनेश्वर ने मार्गणा और गुणस्थान कहे हैं। समझ में आया? चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणा। मार्गणा अर्थात् खोजना। मार्गणा अर्थात् शोधना कि यह जीव किस गति में था? उसे कौन सा भाव था? कौन सी कषाय थी? कौन सी दृष्टि थी? भव्य है या अभव्य है? समझ में आया? सम्यग्दृष्टि है (या) मिथ्यादृष्टि है? यह ज्ञान है – उसमें मति-श्रुत है या केवल है या अवधि है? इस प्रकार उसे – जीव को किसी भी चार गति में से ऐसे चौदह बोल से खोजकर निर्णय करना कि यह जीव ऐसा है। यह सब चौदह बोल – गति, जाति, काया, इन्द्रिय, लेश्या.... समझ में आया? योग, उपयोग, यह सब जानने की पर्याय तो जानने जैसी है, जानने योग्य है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया? ए... रतिभाई! आहा...हा...!

केवल व्यवहारनय की.... ववहारेण वि दिट्ठि – ऐसा है सही न? **केवल व्यवहारनय की दृष्टि से ही जीव को मार्गणा और गुणस्थान....** गुणस्थान (अर्थात्) यह पहले गुणस्थान में है, यह दूसरे में है, यह तीसरे में है, यह चौथे में है, यह पाँचवें-छठवें में और यह केवली है, लो! यह तेरहवें में केवली है। तेरहवें गुणस्थान में केवली है, चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वी है, छठवें गुणस्थान में मुनि है – यह पर्याय के भेदवाली समस्त बात जाननेयोग्य भले हो, आदरणीय नहीं है। उसके ज्ञान द्वारा सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जिसकी चौदह (मार्गणा) – गति, काय, इन्द्रिय, लेश्या आदि में जिसकी पर्याय में जिसकी भूल है, उसकी तो यहाँ बात नहीं करते अथवा जिसे मुनिपने की पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय, सम्यग्दर्शन की पर्याय, मिथ्यादर्शन की पर्याय कैसी होती है? – ऐसी पर्याय का जिसको ख्याल नहीं है, उसकी यहाँ बात नहीं करते। मुनिपने की दशा ऐसी होती है, केवलज्ञानी की ऐसी होती है, चौथे की – सम्यक्त्व की ऐसी होती है, मिथ्यात्व की ऐसी होती है। ऐसे जीवों को चार गति में खोजने से कुछ निश्चित करे कि यह जीव उसमें है। यह सब ज्ञान भले हो, जानने के लिये है। इतना भेद है, वह जानने के लिये है, आश्रय करने और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है – ऐसे गुणस्थान और मार्गणास्थान

के भेद में ताकत नहीं है। समझ में आया? मार्गणा किसे कहना और गुणस्थान किसे कहना? यह कभी सुना नहीं होगा। मार्गणा क्या होगी?

मार्गणा अर्थात् इन चौरासी लाख में किसी भी जीव को खोजना हो – शोधना हो कि भई! यह किस गुणस्थान में है? भव्य है या अभव्य है; केवली है या छठवें गुणस्थान में है; यह नारकी है या देव है; यह कृष्णलेश्यावाला है या ज्ञान उपयोगवाला है या दर्शन उपयोगवाला है – ऐसी वर्तमान पर्याय का अस्तित्व है। इसलिए उसे मार्गणा अर्थात् शोधने द्वारा निर्णय करे, परन्तु यह तो व्यवहार.... केवल व्यवहारदृष्टि से कथन है। आहा...हा...! परन्तु यह है या नहीं? है या नहीं? है तो निश्चय से है – ऐसा नहीं। है परन्तु वह व्यवहार है। भेदरूप से अवस्था में ज्ञान में है, वस्तु है, व्यवहारनय का विषय है। समझ में आया? उसे त्रिकाल अभेददृष्टि की अपेक्षा से इन समस्त भेदों को अभूतार्थ कहा जाता है, असत्यार्थ कहा जाता है, झूठा है – ऐसा कहा जाता है। वे 'है' इस अपेक्षा से सत्यार्थ हैं, परन्तु त्रिकाल की अपेक्षा से उन्हें असत्यार्थ कहा गया है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – दो प्रकार से लागू पड़े।

उत्तर – दोनों लागू पड़े।

मुमुक्षु – उसे अनेकान्त कहते हैं।

उत्तर – दूसरा अनेकान्त किसे होगा? फूदड़ीवाद को होगा? आहा...हा...!

भगवान आत्मा किस पर्याय में है? किस गति में है? भव्य हूँ – ऐसा जो ख्याल आना, वह सब व्यवहार ज्ञान का विषय है। आहा...हा...! पर्याय है न! समझ में आया? यह ज्ञान उपयोग है, वह मति का है और श्रुत का है और अवधि का है और केवल का है, यह क्षायिक समकित कहलाता है और यह क्षयोपशम समकित कहलाता है और यह उपशम समकित कहलाता है – यह सब पर्याय के भेद हैं। यह पाँच इन्द्रियवाला है और यह एक इन्द्रियवाला है यह दो इन्द्रियवाला है – यह सब इस अवस्था दृष्टि से है अवश्य, हाँ! 'है' अपेक्षा से है परन्तु त्रिकाल स्वभाव के अभेद अवलम्बन का आश्रय करने की अपेक्षा से वह सब नहीं है। मुझे लाभदायक नहीं, वह नहीं; मुझे लाभदायक नहीं, वह

नहीं। मुझे लाभदायक अभेद है, इसलिए वह है। समझ में आया? इसमें समझ में आता है या नहीं? धीरे-धीरे (अर्थ) होता है, भाई!

ववहारेण वि दिट्ठी – है न परन्तु.... यह शब्द पड़े हैं या नहीं, उस पुस्तक में? पुस्तक बड़ी नहीं परन्तु अर्थ कैसा! केवल व्यवहारनय। **ववहारेण** ऐसा शब्द है। उसका अर्थ किया, व्यवहारनय.... व्यवहार कहो या व्यवहारनय कहो। उसकी दृष्टि से ही **जीव को मार्गणा और गुणस्थानरूप कहा गया है।** मार्गणा अर्थात् यह जीव यहाँ है, यह जीव यहाँ है, पर्याय में यह है – ऐसा कहा (जाता है) और इस गुणस्थान में जीव है, इस गुणस्थान में जीव है – ऐसा कहा गया है।

निश्चयनय से.... अभेदस्वभाव की दृष्टि से कहा जाये तो **अप्पा मुणहु... अपने आत्मा को आत्मारूप ही समझ....** भेद-बेद नहीं। यह समकित पर्याय है और यह ज्ञान उपयोग है और यह भव्य है, यह नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? यह राग अभी एक -दो भव करेगा – यह ज्ञान जानने योग्य है, आदरणेय योग्य नहीं। समझ में आया? यह तो मार्गणा की दृष्टि से व्यवहार आया कि राग है। समझ में आया? 'असेस कर्म का भोग है' श्रीमद् कहते हैं न? 'भोगनां अवशेष रे.... इससे देह एक धारकर जाऊँगा, स्वरूप स्वदेश रे....' हमें अभी हमें थोड़ा राग वर्तता है, इसलिए ऐसा ज्ञात होता है कि थोड़े काल अभी राग का वेदन रहेगा, उससे ऐसा ज्ञात होता है कि एक-दो भव करने पड़ेगे। श्रीमद् राजचन्द्र। समझ में आया? 'असेस कर्म का भोग है' अनुभवपूर्ण उग्रता का है नहीं और उग्रता अल्प काल में होवे – ऐसा अभी भासित नहीं होता। आहा...हा...! 'असेस कर्म का भोग...' कर्म अर्थात् राग। अभी अल्प राग की वेदन दशा मानो लम्बाती है – ऐसा लगता है। यह व्यवहारनय का विषय है।

मोक्ष भी है न! जाये कहाँ? भगवान आत्मा मोक्षस्वरूप है। चैतन्य महासत्ता आनन्द का कन्द, वह मुक्तस्वरूप ही है। जाये कहाँ और आये कहाँ? आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं, ऐसा जो ज्ञान.... एक देह धारना है, अभी एकाध देह मनुष्य की होगी, यह सब पर्याय का – व्यवहार का ज्ञान हो, आदरणीय नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

निश्चयनय से अपने आत्मा को आत्मारूप ही समझ। पर्याय का ज्ञान कराया... समझ में आया? **कहिया.... कहिया** है न? **कहिया** है अर्थात् जान। है, मार्गणा है, गुणस्थान है, भगवान की वाणी में जो व्यवहार आया, वह सब है। है वह भेदरूप है, अंशरूप की दशावाला भाव है, वह जाननेयोग्य है; आश्रय करने योग्य नहीं। समझ में आया? पुन: अन्यमती से पृथक् पर्यायनय से किया है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त जितने अज्ञानियों ने व्यवहार का विषय कहा है, वह सब मिथ्या है। परमेश्वर जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी ने जो देखा, उसका जो गति, मार्गणा आदि के पर्याय के भेद उन्होंने कहे, वैसे हैं — ऐसा तू जान तो यह अभी तो व्यवहार है। आहा...हा...! समझ में आया? इससे यह मार्गणा (भेद) लिये कि गुणस्थान और मार्गणा और इस जगह गुणस्थान पहला, तीसरा, चौथा जो हो वह। यह जीव इस गति में है और इस कषाय में है, इस लेश्या में है। समय-समय की पर्याय में कौन-कौन सी पर्याय है, वह जानने (योग्य है)। जैसा भगवान ने कहा, वैसा व्यवहारनय के विषय में है। अन्यमत में तो यह (है ही नहीं) वीतराग के अतिरिक्त-परमात्मा के अतिरिक्त कहीं नहीं है। उसे कहते हैं कि व्यवहारनय से **दिट्ठी मग्गण** गुणस्थान कहे हैं। व्यवहार से भगवान के ज्ञान में यह कहा है। निश्चय से अपने आत्मा को समझ — **अप्पा मुणहु** — भगवान को जान। ओ...हो...! जिसमें केवलज्ञान का कन्द पड़ा है, जिसमें अनन्त गुण की राशि है। एक-एक गुण में अनन्त सामर्थ्य पड़ा है — ऐसा प्रभु! **अप्पा** ऐसा कहा है न? गुण की कहाँ बात की है? आत्मा... आत्मा एकरूप त्रिकाल अभेद महासत्ता — ऐसा भी जिसमें भेद नहीं है... समझ में आया? ऐसे आत्मा को **मुणहु। आत्मा को आत्मारूप ही समझ....** ऐसे आत्मा को आत्मारूप जान।

'जिय परमेट्ठि पावहु' जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी अथवा अरहन्त परमेष्ठी का पद पा सके। आहा...हा...! देखो! यहाँ कहा अब, उसका फल कहा। पहले में (सोलहवीं गाथा में) **अप्पा दंसण मुणहु** कहा था न? समझ में आया? उसमें कहा था न? **अण्णु ण किं पि वियाणि। मोक्खह कारण जोईया णिच्छह एहउ जाणि॥ १६॥** वहाँ कहा। यहाँ फल बताते हैं। जो कोई भगवान आत्मा, अन्तर-अभेदस्वभाव चिदानन्द

का ज्ञान करेगा, उसका आश्रय करके ज्ञान करेगा, वह निश्चय से अरहन्त और सिद्धपद को प्राप्त करेगा। वह मार्गणा और गुणस्थान का जो निषेध किया, उसमें यह मोक्षपद की पर्याय सिद्धपद की पर्याय-केवलज्ञान की पर्याय को प्राप्त करेगा। समझ में आया?

जिय परमेट्ठि पावहु जिसके द्वारा, ऐसा। **जिय** अर्थात् **जिससे तू सिद्ध परमेष्ठी....** अपने आत्मा को जानने से ही सिद्ध होगा... व्यवहार को जानने से सिद्ध नहीं होगा। समझ में आया? (यह कहते हैं) – जिस भाव से तीर्थंकरकर्म बाँधे, वह भाव आया तो उसकी मुक्ति होगी... तीर्थंकर प्रकृति बँधी न? प्रकृति बँधी तो मुक्ति होगी – झूठ बात है। यह तेरा ज्ञान ही मिथ्या है। समझ में आया? यह **अप्पा मुणहु** में स्थिर होगा तब केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। राग आया, और बंध हुआ, इसलिए केवलज्ञान को प्राप्त करेगा ऐसा है नहीं। क्या कहा? इसमें समझ में आया?

सम्यग्दृष्टि को आत्मा में विकल्प आया कि तीर्थंकर गोत्र बँध गया। यह विकल्प आया और उसका ज्ञान भी आत्मा को आश्रय करने योग्य नहीं; विकल्प और प्रकृति का बँध, वह जानने योग्य है। उससे मुक्ति होगी – ऐसा नहीं और उसका ज्ञान करने योग्य है, इसलिए उसके ज्ञान से मुक्ति होगी – ऐसा नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु – उसमें तो ऐसा आता है।

उत्तर – यह सब तो व्यवहार के कथन, निमित्त के कथन हैं। एक ही बात – भगवान! **अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि** यह विकल्प उत्पन्न हुआ, पता पड़ा। भगवान ने श्रेणिक राजा से कहा, भगवान ने श्रेणिक राजा से कहा कि हे श्रेणिक! तू भविष्य में तीर्थंकर होगा। समझ में आया? समवसरण में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुए, वह सब स्वभाव के अवलम्बन से क्षायिक को प्राप्त हुए और क्षायिक का ज्ञान तथा तीर्थंकर होगा इसका ज्ञान, वह ज्ञान उसे केवलज्ञान का कारण नहीं है। आहा...हा...! रतनलालजी! अद्भुत बात भाई! बेचारे लोगों को डर लगता है। ए... सोनगढ़ का एकान्त है। अब, यह सोनगढ़ का नहीं, यह भगवान का है। सुन न! तुझे भगवान के मार्ग का पता नहीं। समझ में आया? ए... हिम्मतभाई! ये भड़कते हैं, भड़कें.... ए... वहाँ तो ऐसा हो जाता है।

अकेली निश्चय की बातें, व्यवहार की तो उड़ा दी। सुन न अब! तुझे व्यवहार का पता नहीं है, निश्चय का पता नहीं है, तू किसकी बातें करने लगा?

यहाँ कहते हैं भगवान आत्मा में जिसे आत्मदर्शन हुआ, सम्यक्त्व हुआ, उसे यह तीर्थंकरपने के बंध का विकल्प आया, प्रकृति बँधी, भगवान ने कहा तू तीर्थंकर होगा... आहा...हा...! यह तीर्थंकर होऊँगा, इस सम्बन्धी का ज्ञान, केवलज्ञान को प्राप्त करायेगा – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार दृष्टि से वह जाननेयोग्य है। समझ में आया? आहा...हा...!

मुमुक्षु – उस ज्ञान की महिमा नहीं।

उत्तर – उसकी महिमा नहीं।

अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ऐसा है न? भगवान, उसके धारावाही ज्ञान से केवलज्ञान, सिद्धपद को पायेगा। प्रकृति से नहीं, विकल्प से नहीं, उसके ज्ञान से नहीं; उसके ज्ञान में निश्चित आ गया है कि भगवान ने कहा है, इसलिए मैं तीर्थंकर होनेवाला हूँ – ऐसा ज्ञान में आ गया होने पर भी वह ज्ञान आश्रय करने योग्य नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? अद्भुत, भाई! योगीन्द्रदेव... योग जोड़ वहाँ। यहाँ योग कहाँ (जोड़ता है)? आहा...हा...! समझ में आया या नहीं? ए...ई... रतिभाई!

णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि लो! वे **कहिया ववहारेण वि दिट्ठि** यह तो मात्र **कहिया** इतने में ले लिया, बस! **कहिया** का अर्थ यह जान, इतना। वचन कहा, परन्तु वह जान, इतना। **णिच्छइणइ अप्पा मुणहु** भगवान आत्मा एक समय में एकाकार प्रभु को जानने से तू निश्चित केवलज्ञान को पायेगा, तू निश्चित सिद्धपद को पायेगा। तीन काल में यह बात बदले – ऐसी नहीं है। आहा...हा...! हैं?

मुमुक्षु – बिना टीका के भी स्पष्टता बहुत आती है।

उत्तर – टीका है न इसमें शब्दार्थ है। शब्दार्थ थोड़ा है परन्तु वह अन्दर है न? पाठ बोलता है या नहीं?

मुमुक्षु – ज्ञान बोलता है या नहीं, यह निश्चित करो न, पाठ में चाहे जो हो।

उत्तर – यह ऐसा कहते हैं।

व्यवहार पराश्रित है। **दूसरे द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को कुछ का कुछ कहता है**। ऐसा इन्होंने थोड़ा लिखा है। **निश्चयनय स्वाश्रित है, आत्मा को यथार्थ जैसा का तैसा कहता है। निश्चयनय से आत्मा स्वयं अरहन्त अथवा सिद्ध परमात्मा है**। स्वयं अरहन्त और परमात्मा वस्तु वर्तमान... वर्तमान... वर्तमान...। मैं सिद्ध परमात्मा, मैं सदा सिद्ध परमात्मा, वस्तु से हूँ – ऐसी अन्तर की दृष्टि, उसका ज्ञान, वह पर्याय में सिद्ध पद को पाने का कारण है; दूसरा कोई ज्ञान, दूसरी कोई श्रद्धा, दूसरे कोई आचरण आत्मा को मुक्ति प्राप्त करने का कारण नहीं है। कहो, समझ में आया?

जिय पावहु परमेट्ठि देखो! वह परमेष्ठी होता है। जो परमेष्ठी का पद व्यवहारनय से पहले जाननेयोग्य कहा था, उसके आश्रय से परमेष्ठी नहीं हुआ जाता। एक भगवान आत्मा एक समय में परिपूर्ण प्रभु, अभेद चीज की दृष्टि होने पर, उसका ज्ञान होने पर वह ज्ञान और दृष्टि स्वभाव के साथ अभेद हुई, वह अभेदपना सिद्धपद की प्राप्ति में कारण है; दूसरा कोई कारण नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय आदि मुक्ति का कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं। यह व्यवहार का ज्ञान भी मुक्ति का कारण नहीं है – ऐसा कहते हैं। मार्गणा और गुणस्थान का ज्ञान भी मुक्ति का कारण नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

सुद्धं तु वियाणंतो फिर यह सब बात ली है। गति और इन्द्रियाँ और है न? मार्गणा, काय, योग, वेद... किस वेद में जीव है, किस कषाय में है, किस योग में है, मन-वचन-काया.... किस ज्ञान में, संयम में कौन सा संयम वर्तता है, क्या दर्शन? कौन सी लेश्या? समकित, संज्ञी ये सब भले जानने योग्य है। वीतरागमार्ग में यह व्यवहार है, वह जानने योग्य है और गुणस्थान के चौदह भेद लिये उन चौदह की प्रत्येक की व्याख्या की। यह सत्रह (गाथा की) व्याख्या हुई।

अब कोई ऐसा कि गृहस्थ में ऐसा मार्ग होता है या नहीं? कोई कहे, परन्तु यह मार्ग तो कोई महात्यागी मुनि, जंगल में जाये उनके लिये होता है। तो स्पष्टीकरण करते

हैं। इतनी बात ऐसी की है न? गुणस्थान, मार्गणास्थान का ज्ञान भी मोक्ष का कारण नहीं है। अब ऐसा मार्ग वह कहीं गृहस्थाश्रम में हो सकता है या नहीं या मुनि को अकेले को होता है?

१८। **गृहस्थ भी निर्वाणमार्ग पर चल सकता है।** लो, इस गृहस्थाश्रम में भी यह मार्ग हो सकता है। समझ में आया? गृहस्थाश्रम में राजपाट में दिखे, इन्द्र के इन्द्रासन में जीव दिखाई दे, वह गृहस्थी भी निर्वाण मार्ग पर चल सकता है। आत्मा है न उसके पास, कहते हैं। भगवान आत्मा है न? भगवान आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप से वस्तु तो अखण्ड पड़ी है। अखण्ड का आश्रय करनेवाला गृहस्थाश्रम में भी निर्वाण को प्राप्त करने योग्य हो जाता है। इतने-इतने व्यापार-धन्धे होते हैं न? वे उनके घर रहे... वे तो जानने योग्य है। समझ में आया? अन्तर भगवान आत्मा का आश्रय करके गृहस्थाश्रम के व्यापार-धन्धे में हेयाहेय का ज्ञान वर्ते तो वह भी निर्वाण को प्राप्त करने योग्य है। यह कहेंगे।

(श्रोता – प्रमाण वचन गुरुदेव!)

मुनिदशा को रोकनेवाला वस्त्र-ग्रहण का भाव

मुनिदशा होने पर सहज ही निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनिदशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष या सम्प्रदाय नहीं है, परन्तु अनादि की सत्य वस्तुस्थिति है।

शङ्का - वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को बाधक है? अत: वस्त्र होने में क्या आपत्ति है?

समाधान - यह बात सत्य है कि वस्त्र परवस्तु है; अत: वह आत्मा को बाधक नहीं है, परन्तु वस्त्र ग्रहण करने का भाव ही मुनिदशा को रोकनेवाला है। अन्तर में लीनता बढ़ जाने से मुनियों को ऐसी उदासीनता सहज हो जाती है कि उन्हें वस्त्र ग्रहण करने का विकल्प ही नहीं होता।

— *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गृहस्थ भी निर्वाण मार्ग पर चल सकता है

गिहि-वावार-परिट्ठिया, हेयाहेउ मुणंति।
अणुदिणु झायहिं देउ जिणु, लहु णिव्वाणु लहंति॥१८॥

गृहकार्य करते हुए, हेयाहेय का ज्ञान।
ध्यावे सदा जिनेश पद, शीघ्र लहे निर्वाण॥

अन्वयार्थ – **(गिहिवावार परट्ठिया)** जो गृहस्थ के व्यापार में लगे हुए हैं **(हेयाहेउ मुणंति)** तथा हेय उपादेय को (त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य) को जानते हैं **(अणुदिणु जिणु देउ झायहिं)** तथा रात-दिन जिनेन्द्रदेव का ध्यान करते हैं **(लहु णिव्वाणु लहंति)** वे भी शीघ्र निर्वाण को पाते हैं।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण १०, सोमवार, दिनाङ्क १३-०६-१९६६
गाथा १८ से १९ प्रवचन नं. ७

---

१८ वीं गाथा। देखो! इस गाथा (में ऐसा कहते हैं) – गृहस्थाश्रम में भी अनुभव हो सकता है। समझ में आया? उसकी यह गाथा है। देखो! **गृहस्थ भी निर्वाण मार्ग पर चल सकता है।** गृहस्थ में रहनेवाला जीव, मोक्ष के मार्ग पर चल सकता है। ऐसा नहीं है कि साधु ही मोक्षमार्ग में चल सकता है, यह बात यहाँ पर मुख्य स्थापित करने को यह बात करते हैं। देखो!

गिहि-वावार-परिट्ठिया, हेयाहेउ मुणंति।
अणुदिणु झायहिं देउ जिणु, लहु णिव्वाणु लहंति॥१८॥

क्या कहते हैं? गृहस्थ में – व्यापार-धन्धे में लगा होने पर भी, संसार में

-गृहस्थाश्रम का व्यापार-धन्धा होने पर भी, **हेयाहेउ मुणंति** – छोड़ने योग्य क्या है और आदर योग्य क्या है ? – इसका उसे ज्ञान होता है। क्या कहा समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, उसके ज्ञान में गृहस्थाश्रमी को धर्म होता है, किस प्रकार ? कि हेय अर्थात् पुण्य-पाप का राग उत्पन्न होता है, व्यापार-धन्धे का या पूजा, भक्तिभाव का परन्तु वह हेय है – ऐसा ज्ञान उसे वर्तना चाहिए। समझ में आया ? है ?

मुमुक्षु – किसे वर्तना चाहिए ?

उत्तर – गृहस्थ को।

मुमुक्षु – सम्यग्दृष्टि को या मिथ्यादृष्टि को ?

उत्तर – मिथ्यादृष्टि की यहाँ कहाँ बात है ? हेयाहेय का ज्ञान सम्यग्दृष्टि को (वर्तता है)। यहाँ तो गृहस्थाश्रम में धर्म हो सकता है और मोक्ष के मार्ग में चल सकता है – यह बात यहाँ सिद्ध करनी है। ऐसा नहीं है कि गृहस्थाश्रम में अपने से कुछ नहीं किया जा सकता, हम कुछ नहीं कर सकते; यह तो मुनि हो – त्यागी हो, उसे होता है – ऐसा नहीं है।

मुनि, उग्ररूप से अन्तर के आनन्द के पुरुषार्थ से बारम्बार अतीन्द्रिय का आनन्द लेते और शीघ्ररूप से मोक्ष का उत्कृष्ट साधन करते हैं। उत्कृष्ट साधन करते हैं। गृहस्थाश्रम में उसके योग्य आत्मा का उपादेयपना... आया न ? हेय-उपादेय। गृहस्थाश्रम में हो, धन्धे में हो, फिर भी उसे प्रत्येक क्षण रागादि, पुण्यादि, पापादि भाव, वे हेय हैं; परवस्तु – शरीरादि की क्रिया होती है, उनका मैं कर्ता नहीं हूँ – ऐसा उसे-सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्षण ज्ञान वर्तता है। पाप के, पुण्य के भाव भी आयें, देह की क्रिया हो (परन्तु) उन सबको हेयरूप जानता है। समझ में आया ? और उपादेयरूप से त्याग।

हेय और उपादेय को – त्यागने योग्य और ग्रहण करनेयोग्य को जानता है। यह आत्मा शुद्ध चैतन्य परमानन्द की मूर्तिस्वरूप है; वही मुझे आदरणीय और ध्यान करने योग्य है – इस प्रकार गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि इस तरह वर्तन कर सकता है। कहो, समझ में आया इसमें ? कितने ही कहते हैं – गृहस्थाश्रम में यह अनुभव और आत्ममार्ग नहीं होता। यहाँ तो गृहस्थाश्रम में निर्वाणमार्ग होता है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – वह आठवें में होता है।

उत्तर – यहाँ श्रावक को आठवाँ कहाँ था?

मुमुक्षु – मुनि को सातवें में होता है।

उत्तर – मुनि का इसे कहाँ कोई भान है?

यहाँ तो निर्वाण अर्थात् आत्मा ही निर्वाणस्वरूप है। क्या कहा? भगवान आत्मा ही मोक्षस्वरूप है। वह तो स्वयं है। अब उसे मोक्षस्वरूप का साधन स्वयं में है, वह कैसे नहीं कर सकता? समझ में आया? आत्मा का स्वभाव त्रिकाल है। एक समय का विकार, वह छोड़कर – वह हेय है, वह हेय है और पूरा स्वरूप अखण्डानन्द पूर्ण प्रभु अनन्त गुण का पिण्ड, वह उपादेय है – ऐसा स्वरूप तो स्वयं का है। स्वयं का ऐसा स्वरूप है और स्वयं का काम वह गृहस्थदशा में न कर सके – ऐसा कैसे हो सकता है? समझ में आया? शशीभाई! समझे? उपादेय; आत्मा स्वयं चीज है, अनन्त आनन्दगुण का पिण्ड है। अब वह स्वयं है, वह उपादेय है – ऐसा कैसे नहीं कर सकता? रतिभाई! यह सूक्ष्म बात है। नजदीक की बात (है) – ऐसा कहते हैं।

गृहस्थाश्रमी आत्मा है या नहीं? इस गृहस्थाश्रमी को भी आत्मा है या नहीं? तो आत्मा है, वह अपना स्वभाव शुद्ध रखकर पड़ा है। वीतरागस्वरूप और आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है – ऐसा अपना स्वरूप है। उसका उपादेयपना ग्रहण करके और उसका साधन भी उसमें है; उसका साधन कोई बाह्य क्रिया में या राग में नहीं है। समझ में आया? वस्तु स्वयं अनन्त आनन्दादि शुद्ध है। उसे उपादेयरूप से ग्रहण करके साधन भी (उसमें है)। राग को दूर से (छोड़कर).... रागादि विकल्प और परवस्तु दूर (है)। वह दूर जो चीज है, वह साधन नहीं है। इसमें है, वह साधन है। आहा...हा...! समझ में आया? मनसुखभाई! यह दुकान-बुकान, धन्धा उसके घर रहे – ऐसा कहते हैं। यह रागादि हो परन्तु उसके घर.... रागादि हेयरूप वर्तते हैं। इसके अन्तर में शुद्ध परमात्मा... मैं शुद्ध आनन्द हूँ – ऐसी वस्तु जो है, उसे उपादेय (करके) 'यही मैं हूँ' – ऐसा मानना, उसका नाम उपादेय (है)। समझ में आया? अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त बल – ऐसा मेरा आत्मा का स्वरूप है। वीतराग के स्वरूप और मेरे स्वरूप में

परमार्थ से कोई अन्तर नहीं है। उनकी पर्याय में निर्मलता है परन्तु उनकी निर्मलता जो पूर्ण है – ऐसा पूर्ण मेरा वस्तु का स्वभाव है। ऐसी अन्तर में रुचि करके, दृष्टि करके उपादेयरूप से आत्मा का स्वीकार करना। इस गृहस्थाश्रम में कहाँ आत्मा चला गया है कि स्वीकार न किया जा सके? – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

गृहस्थाश्रम में भी आत्मा तो आत्मा है। वहाँ दूर दृष्टि थी, पर के ऊपर राग और पर (के ऊपर थी), उसे समीप में कर (कि) यह आत्मा। समझ में आया? और उसका मार्ग भी शुद्ध है। वस्तु शुद्ध है तो उसकी अन्तर में श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसका आचरण – यह स्वभाव का साधन भी शुद्ध है। यह भी अपने समीप में से ही आता है; यह कहीं दूर (पदार्थ में से) राग में से नहीं आता। तब गृहस्थाश्रम में आत्मा को मोक्ष का मार्ग क्यों नहीं हो सकता? – ऐसा कहते हैं, अर्थात् हो सकता है।

वस्तु स्वयं है, उसका ज्ञान करे और यह कीमती चीज है, दूसरी कोई चीज मेरी दृष्टि में कीमती नहीं है। राग नहीं, अल्पज्ञता नहीं, पर नहीं; यह महान पदार्थ (आत्मा) कीमती है – ऐसा जहाँ दृष्टि में उपादेयरूप से वस्तु है, उसे ग्रहण करने की, आदर करने की, उसमें स्थिरता करने जैसी यह चीज है – ऐसा जहाँ दृष्टि में उपादेय आया तो वह क्यों गृहस्थाश्रम में नहीं हो सकता? समझ में आया? और उसका साधन भी अन्दर स्वभाव है।

ज्ञानानन्द चैतन्यस्वभाव.... उस अन्तर में अपने शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता का साधन भी उसके समीप में, नजदीक में उसमें है। बजुभाई! आहा...हा...! समझ में आया? वस्तु स्वयं है। वह कहते हैं – **गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति** – क्योंकि उपादेय चीज स्वयं है, उसे क्यों साधनरूप नहीं कर सकता? इसमें समझ में आया? भगवान आत्मा परमानन्द का रत्न है, वह परमानन्द का रत्नस्वरूप स्वयं है – ऐसा उसकी दृष्टि में जहाँ आदर आया, अर्थात् स्वभाव के साधनरूप आत्मा स्वयं है और उसके अन्तर में एकाग्र होने पर साधन की पर्याय प्रगट होवे, वह भी स्वयं के समीप में से होती है; वही कहीं राग में से, निमित्त में से नहीं होती। हैं?

मुमुक्षु – धंधार्थी को कुछ बाधा नहीं है।

उत्तर – हाँ! धंधार्थी का भाव वह नहीं। यह तो कहा – धंधार्थी का भाव हेय है परन्तु उस काल में भी धंधार्थी के जीव की शक्ति का सत्व है या नहीं? – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। **गिहिवावार** इतना शब्द है न? गृहस्थाश्रम का धन्धा और व्यापार होने पर भी, एक बात। वह **परट्ठिया** उसमें रहा, फिर भी हेय – ऐसे गृहस्थ के व्यापार को, रागादिभाव को, अशुभभाव को, धन्धे के भाव को, इस पुण्यभाव को, इस शरीरादि की क्रिया को हेय जाने। यह नहीं, यह नहीं और आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, वह मैं। कहो, समझ में आया? कहो, रतिभाई! तू है और तेरा नहीं कर सके – इसका अर्थ क्या है? है!

हेय-उपादेय को, त्यागनेयोग्य और ग्रहण करनेयोग्य जानता है, जाने। ज्ञान में उसका विवेक वर्ते, विवेक वर्ते कि यह परमानन्दस्वरूप आत्मा (वह मैं हूँ) परन्तु उसका ख्याल पहले शास्त्र से, गुरुगम से, तीव्र जिज्ञासा.... उसका फिर उपादान (लिया)। जैसा उसका स्वरूप है, उसे पहले जानना चाहिए। जाने तब उसकी महिमा में उसकी दृष्टि जाये। ओ...हो...! यह आत्मा, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण लबालब भरा है, जिसमें ज्ञान और वीर्य आत्मा में पूर्णानन्द पड़ा है, पूर्ण पड़ा है। ऐसा अनन्त गुणस्वरूप भगवान आत्मा तू स्वयं है, तो गृहस्थाश्रम के व्यापार के काल के समय यह आत्मा चला गया है? इस आत्मा को उपादेयरूप से श्रद्धा, ज्ञान में ग्रहण करे और रागादि को हेय जाने, गृहस्थाश्रम में यह आत्मा का धर्म हो सकता है। कहो, समझ में आया?

बरकत कब आती थी? उसमें बरकत कब आती थी? धूल में... यह जानता है कि जितना पुण्य होगा तद्नुसार वह आता है और यह मुझे कमाने का भाव होता है, वह पाप है, हेय है, दुःखदायक है – ऐसा जानता है। समझ में आया?

हेय जाने उसमें बरकत का लाभ अधिक कहाँ से होगा – ऐसा (कहते हैं)। लाभदायक माने तो लाभ होगा। ऐसा लाभदायक माने तो लाभ होगा... लाभदायक न माने तो लाभ किस प्रकार होगा? ऐसा होगा? मनसुखभाई! इन्हें पूछो इन्हें, यह दो बैठे हैं, देखो! काका-भतीजा, दो बैठे हैं यह। दोनों बड़ा धन्धा करते हैं वहाँ। समझ में आया?

यहाँ तो इतनी बात है कि जो शरीर, वाणी, मन की क्रियाएँ होने के काल में होती हैं, वे तो चैतन्यतत्त्व में नहीं है और चैतन्य उन्हें कर्ता नहीं है; इसलिए गृहस्थाश्रम में उसका

ज्ञान हो सकता है कि यह छोड़ने योग्य अथवा लक्ष्य करने योग्य नहीं है। अब गृहस्थाश्रम में जो रागादि के, धन्धे के परिणाम होते हैं, उनसे अधिकपने चैतन्य अन्दर अनन्त गुण का धाम विराजमान है, उसे उपादेयरूप से स्वीकार करके राग को हेयरूप से स्वीकार किया जा सकता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उसे राग में रस नहीं रहता, व्यापार में रस नहीं रहता – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – धन्धे में रस न ले तो रुपये किस प्रकार कमाये ?

उत्तर – धूल में भी पैसा कमाता नहीं, कौन कमाता है ? यह कमाता है ? यह तो पुण्य के कारण आते हैं, आना हो तो आते हैं, न आना हो तो नहीं आते हैं। कैसे होगा इसमें ? बहुत ध्यान रखे तो आते होंगे न भण्डार में ? नहीं ?

मुमुक्षु – उसमें तो ढेर मजा आता है।

उत्तर – धूल में क्या आवे ? कहो, समझ में आया इसमें ?

यहाँ तो कहते हैं, दो बात – एक तो तू और एक तुझसे विरुद्ध विकार और दूसरी जाति जड़। अब, गृहस्थाश्रम में यह दो चीजें और तीन है या नहीं ? धन्धा व्यापार होने पर भी आत्मा अन्दर से चला गया है ? यह धन्धा के परिणाम दुःखरूप हैं, हेयरूप हैं, आदरणीय नहीं हैं – ऐसा उनका ज्ञान इसे करना चाहिए ? और इससे रहित त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति चिदानन्द शुद्ध हूँ। उसका अन्तर्मुख होकर आदर करना चाहिए। ऐसा गृहस्थाश्रम में क्यों नहीं होगा ? गृहस्थाश्रम में धन्धे के काल में भी आत्मा भिन्न पड़ा है – ऐसा कहते हैं। ए... हरिभाई ! धन्धे के काल के परिणाम में और क्रिया के धन्धे के काल में, धन्धे की क्रिया जड़ की, जड़ की होगी या क्या होगी ? रतिभाई ! यह सब तो जड़ की क्रिया है। यह कहाँ तुम करते हो ? ऐसा हिलना-चलना (होता है), वह सब जड़ की क्रिया है, आत्मा उसे नहीं करता है।

वह तो मूढ़ है, यह तो कहता है गृहस्थाश्रम में तू रहा है, फिर तू न माने और नहीं कर सकता, उसे माने.... तुझसे दूर जा तो वह तेरी भूल के कारण है। समझ में आया ? हम यह खतौनी लिखते हैं, हम दुकान की व्यवस्था करते हैं, दुकान चले, उसमें ध्यान रखते हैं तो दुकान व्यवस्थित चलती है।

मुमुक्षु – ऐसा ध्यान न रखे तो तैयार किस प्रकार होंगे?

उत्तर – धूल में भी तैयार नहीं होता, उसके काल में होना हो वह होता है।

यह तो बात ही क्या कही? समीप नहीं... यहाँ तो धन्धे के परिणाम के काल में और धन्धे की क्रिया के काल में, यहाँ आत्मा है या नहीं? ऐसा यहाँ तो कहते हैं; या अकेला है वहाँ? यहाँ धन्धे के राग के अशुभ परिणाम भले (हों) – हिंसा, झूठ, विषय आदि... और यह बाहर देह की क्रिया लिखना यह सब अजीव का कार्य वह अजीवतत्त्व की अवस्था की सत्ता है या नहीं? यहाँ रागादि धन्धे की सत्ता का भाव विकारी है या नहीं? उसके सामने पूरी त्रिकाली ज्ञायक सत्ता है या नहीं? समझ में आया? कहो, प्रवीणभाई! आहा...हा...!

महान प्रभु चैतन्य, ज्ञान से भरपूर समुद्र प्रभु, आनन्द का महासागर – ऐसा आत्मद्रव्य तू स्वयं ही है। अब जहाँ तू है, वहाँ धन्धे के परिणाम के काल में तू कहाँ चला गया है? परन्तु तेरी नजर राग और पुण्य पर है; इसलिए तू उन्हें आदरणीय और करने योग्य मानता है परन्तु तेरी नजर राग और पुण्य पर है, इसलिए उन्हें तू आदरणीय और करने योग्य मानता है। यह भगवान ज्ञायकमूर्ति आत्मा पूर्णानन्द का नाथ वह मैं हूँ। रागादि होते हैं, देहादि की क्रिया तो जड़ की (क्रिया), जड़ का अस्तित्व है, परसत्ता है, परपदार्थ है; तो उसकी अवस्था तो होती ही है न? वह अवस्था कहीं मुझसे नहीं होती। समझ में आया?

मुमुक्षु – आज तो बहुत सूक्ष्म आया?

उत्तर – सूक्ष्म कहाँ है? जहाँ गृहस्थाश्रम में भी कोई कहे कि छूटने का मार्ग नहीं हो सकता – उसके लिये यह स्पष्टीकरण है। छूटने का मार्ग.... छूटा हुआ तत्त्व, ज्ञायकमूर्ति तू है और उसके स्वभाव के साधन द्वारा छूटने का उपाय हो सकता है, इसलिए धन्धे के परिणाम और बाह्य क्रिया द्वारा यह नहीं हो सकता – ऐसा नहीं है। शशीभाई! आहा...हा...! परन्तु मूल तो प्रभाहीन होकर उसे गिना ही नहीं। आभाहीन... आभाहीन। वे सोटी से मारे न? आभा बिना का। यह देखता (नहीं) और इसे महिमा नहीं आती, परन्तु वह स्वयं ही है।

जिनेश्वर कहो या आत्मा.... यहाँ आगे कहेंगे, जिन का ध्यान, जिन का ध्यान

अर्थात् तेरा। समझ में आया? तू वस्तुपने जिनस्वरूप ही है। आहा...हा...! समझ में आया? अब उसे, है उसे दृष्टि में न ले और जो इसमें नहीं है, ऐसे रागादि की और क्रिया को दृष्टि में ले, यह तो इसकी स्वयं की वस्तु है फिर भी भूल कर भाव करता है, यह तो इसके ज्ञान में स्वतन्त्र है। अब वस्तु जो है, एक समय में भगवान ज्ञानानन्दमूर्ति, उसका अन्तर में स्वीकार होना कि यह आत्मा वह मैं। इसका स्वीकार होने पर उसमें रागादि विकल्प उत्पन्न हों, वह उसके स्वरूप में नहीं है; इसलिए उन्हें हेयबुद्धि में रखकर, उपादेयबुद्धि में चैतन्य को रखकर दोनों के बीच का हेयाहेय का ज्ञान, विवेक कर सकता है। आहा...हा...! हैं? आहा...हा...! समझ में आया या नहीं? लक्ष्मीचन्दजी! समझ में आता है या नहीं? क्या नहीं कर सकता? – ऐसा कहते हैं।

क्या तेरा आत्मा चला गया है? सिद्ध समान सदा पद मेरो। सिद्ध समान आत्मतत्त्व है, तुझे पता नहीं। तुझे (तेरी) महिमा नहीं है, तेरे ज्ञान में उसकी महिमा नहीं आवे और फिर कहे मुझे धर्म करना है... कहाँ से धर्म करेगा? धर्म करनेवाला धर्मी महान पदार्थ है ऐसी बुद्धि गृहस्थाश्रम में भी उपादेयरूप से हो सकती है। आहा...हा...! इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान आत्मा गृहस्थाश्रम के धन्धे की पर्याय में हो या बाह्य क्रिया में निमित्तरूप से उपस्थित दिखता हो, तथापि उसे हेय जानकर अपने शुद्ध आनन्दस्वरूप को उपादेय जानकर, उस अन्तर के आनन्द में वर्त सकता है। अन्तर के आनन्द में वर्त सकता है – ऐसा यहाँ कहते हैं, भाई! अन्तर के आनन्द में स्वीकार कर सकता है, राग को हेय कर सकता है और किसी काल में उस आनन्द के अनुभव में वर्त सकता है। आहा...हा...! शशीभाई! आहा...हा...! उपयोगरूप की बात की है।

मुमुक्षु – प्रत्येक समय भोगता है।

उत्तर – वह तो है ही। यह तो आनन्द के वर्तन में उपयोगरूप भी आनन्द का अकेला वर्तन हो जाये – ऐसा कहते हैं। गृहस्थाश्रम में भी निर्वाण – छूटने के मार्ग में पड़ सकता है। गृहस्थाश्रम में बँधने का मार्ग एक ही है – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया इसमें? बात यह है कि यह प्रभु आत्मा कितना है – यह बात उसके ख्याल में आनी चाहिए। उलझा हुआ ही पड़ा है, अनादि से मूढ़। यह दया, दान, व्रत के परिणाम,

धन्धे के परिणाम बस, हमने किये। यह पूजा-भक्ति की, परन्तु वह तो राग है। समझ में आया ? और यह पर का (कार्य) होता है, उसमें खड़ा हो वहाँ (ऐसा) लगता है कि देखो ! यह मैंने ध्यान रखा, इसलिए यह हुआ। ये लोग ध्यान नहीं रखते तो नहीं होता। लो ! ऐसा भी कितने ही कहते है न ? हैं ? यह कोई कहता था, कोई कहता था। यह तो उस समय कौन खड़ा था, उसका ज्ञान कराने के लिये कहा है। वरना कौन रजकण को बदल सकता है ? समझ में आया ? वे गये, कल रात्रि में गये.... आहा...हा... !

इस गाथा में क्या कहते हैं ? ऐसी गाथा एक ६५वीं आयेगी। समझ में आया ? कि गृहस्थाश्रम में भी... गृहस्थाश्रम अर्थात् क्या ? गृहस्थ, गृह-स्थ अर्थात् घर में रहना अर्थात् यह धन्धे के परिणाम, हिंसा के, झूठ के पाप उसमें वह पर्याय में रहा है परन्तु कोई द्रव्य है या नहीं पूरा वहाँ ? समझ में आया ? पूरा तत्त्व / द्रव्य पड़ा है या नहीं ? पूर्णानन्द का नाथ जिसमें अनन्त सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं – ऐसे आत्मा को दृष्टि में उपादेय करके, यही आदरणीय है; रागादि चाहे तो पुण्य, दया, दान, व्रत के, पूजा, भक्ति के परिणाम हों या चाहे तो धन्धे के, हिंसा-झूठ, भोग के हों परन्तु वे दोनों परिणाम हेय हैं, छोड़ने योग्य हैं। इसलिए दृष्टि में सब राग का त्याग (होता है)। इसके आदर में राग का त्याग हो जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

दृष्टि में भगवान पूर्णानन्द का स्वीकार होने पर पूर्ण परमेश्वर का आदर आया। दृष्टि में पूर्ण आत्मा के स्वीकार से पूर्ण परमेश्वर को स्वीकार किया। आत्मा का सत्कार अर्थात् परमेश्वर का सत्कार किया और हेय रागादि के परिणाम होने पर भी, दृष्टि में उनका त्याग हो गया है। यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं। इसलिए गृहस्थाश्रम में भी राग के त्यागरूप, स्वभाव के आदररूप धर्म हो सकता है। आहा...हा... ! कहो चिमनभाई ! इसमें सत्य है या नहीं ? आहा...हा... !

देखो ! यहाँ तो इन्होंने जरा लिखा है। **उसका साधन भी एकमात्र अपने शुद्ध आत्मिक स्वभाव का दर्शन अथवा मनन है।** लो, आत्मा का स्वभाव.... भगवान जैसा है – ऐसा अन्तर में बैठना, स्वीकार होना चाहिए न ? एक ओर रागादि को लाभ माने, पैसे का लाभ माने, तो इस स्वभाव का लाभ किस प्रकार मान सकेगा ?

बाहर में धूल भी लाभ नहीं है। कहाँ लाभ था? समझ में आया? पाँच-पचास लाख हुए, दो करोड़-पाँच करोड़ हुए – उसमें आत्मा को क्या? वह तो जड़ है, वे कहाँ इसकी आत्मा में आ गये हैं? मुझे मिले हैं – ऐसी ममता का भाव, वह ममता का भाव इसके पास है और होने पर भी समता का पिण्ड चैतन्य एक ओर है। अकेला वीतरागी भाव... समता-वीतरागी अकषायस्वभावस्वरूप आत्मा है। कहते हैं कि ऐसी ममता के काल में भी समता का पिण्ड चला गया है? बस! तेरा स्वीकार यहाँ चाहिए और उसका अस्वीकार चाहिए। समझ में आया?

अणुदिणु जिणु देउ ज्ञायहि देखो! **और रात-दिन जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है।** जिनेन्द्र का अर्थ वीतराग। उस वीतरागभाव का ध्यान (करता है)। अन्दर उसकी लगन लगी है। गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र अर्थात् वीतराग आत्मा... वीतराग भगवान और आत्मा में कुछ फर्क वस्तु में नहीं है – ऐसा सम्यक्त्वी गृहस्थाश्रम में, धन्धे में, हजारों रानियों के वृन्द में पड़ा हो... समझ में आया? तथापि **'अणुदिणु' और रात-दिन जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है।** वीतराग... वीतराग... उसके आदर करने में स्वभाव में शुद्धता... शुद्धता... शुद्धता... आदरणीय है; अशुद्धता आदरणीय नहीं है। ऐसा न होवे तो सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान भी नहीं होता। सम्यग्दर्शन, ज्ञान में ऐसा होवे तो धर्म हो सकता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

साधन भी अपना अपने में है। ढूंढ़ने जाना पड़े ऐसा है? कि अब इसका – मोक्ष का उपाय क्या है? उपाय कौन? तू तेरे सन्मुख देख और उसमें स्थिर हो, वह उपाय है। समझ में आया? परन्तु बात यह है कि इसे महिमा नहीं आती है। इसे कुछ बाहर का यह करूँ और वह करूँ और यह करूँ, यह हो और यह हो और यह हो.... जो इसमें नहीं है, वह होवे तो धर्मलाभ होता है। यह देखो न! हैं? आहा...हा...! पैसा-लक्ष्मी खर्च करें, मृत्यु-भोज करें, मन्दिर बनायें, रथयात्रा निकालें, पाँच-दस लाख प्रभावना करें तो अन्दर धर्म हो... परन्तु यह चीज तो पर है, उसमें कदाचित् तेरा शुभराग हुआ तो वह शुभ (भी) पर है, वह आत्मा में नहीं है। इसलिए पर को पररूप से – हेयरूप से जाने बिना उपादेयरूप से चिदानन्द का ज्ञान इसे यथार्थ नहीं हो सकता और उपादेयरूप से इसे

आदरणीय जाना, रागादि हेयरूप से वर्ते, फिर उसमें लाभ का कारण कहे तो वह तो नुकसान का कारण है। शुभ-अशुभभाव होता है वह नुकसान का कारण है। समझ में आया? इसमें समझ में आया?

यह रोटी अकेली हो, तब तो फिर खा जायेंगे, तो कल कहाँ से लाना? परन्तु यह खजाना कम हो – ऐसा नहीं है; ऐसा खजाना तेरे पास है, यह कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

गृहस्थाश्रम में एकदेश, एक भागरूप तो साधन हो सकता है न? बड़ा भाग – साधन मुनि करते हैं। बड़े भाग का साधन मुनि करते हैं। मुनि अर्थात् यह बाहर के त्यागी वे मुनि नहीं हैं, कहते हैं। अन्तर के स्वरूप में शुद्ध चिदानन्द का भान होकर, विशेष स्थिर हो अन्दर, उग्र आनन्द को वेदन करे, बड़ा भाग - साधन वह करे। यह बाह्य क्रियाकाण्डी है, वह तो साधु है ही नहीं। समझ में आया? अन्तर में आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द का – पूर्णानन्द का आदर करके उसमें विशेष लीनता करे और बिल्कुल राग का अत्यन्त अभाव (हुआ हो) – ऐसी स्वभाव की दशा को उच्च मोक्ष के मार्ग का भाग कही जाती है। आहा...हा...! बड़ा भाग वह लेती है परन्तु छोटा भाग इसे मिलता है – ऐसा है या नहीं? शशीभाई! परन्तु यह भी अभी पता नहीं है... बाहर से फुरसत में बैठे हों, निवृत्त हो तो आहा...हा...! देखो न! बेचारे कैसे (त्यागी हैं)? परन्तु वे सब भटकनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं, तुझे पता नहीं है। यह देह की क्रिया मैं करता हूँ, यह रागादि – दया, भाव, पुण्य के, भक्ति के भाव आते हैं और मुझे धर्म है – ऐसा माननेवाला अनन्त वीतरागी परमेश्वर आत्मा का अनादर करता है। उसे त्याग एक अंश का भी नहीं है। समझ में आया? रतनलालजी! आहा...हा...!

जहाँ दृष्टि में अकेला चैतन्य प्रभु पूर्णानन्द का नाथ जहाँ आदरणीय में पड़ा है, उसे पूरा संसार-उदयभाव दृष्टि में त्यागरूप वर्तता है। वह बड़ा त्यागी हुआ... मिथ्यादर्शन का त्याग होने पर, आत्मा का आदर होने पर उसे सबका त्याग हो गया। ऐसे त्याग के बिना बाह्य की क्रिया, त्याग-छोड़कर – अन्दर में राग का भाव, दया व्रत का आवे, उससे मेरा कल्याण होगा, उस मूढ़ ने पूरा त्याग किया है – आत्मा का; राग का नहीं, पाप का नहीं;

उसने आत्मा का त्याग किया है। मोहनभाई! यह त्याग किया है, उसने भगवान आत्मा का और ज्ञानी ने त्याग किया है सम्पूर्ण रागादि विकल्पों का। जिस भाव से तीर्थंकर कर्म बँधता है, उस भाव का भी दृष्टि में त्याग है – ऐसी त्याग और ग्रहण की दृष्टि (का पता नहीं चलता)। यहाँ त्याग-ग्रहण कहा न? हेय-उपादेय कहा था न? हेय-उपादेय शब्द में अन्तर में इतना पड़ा है, हाँ! समझ में आया?

अन्तर में... प्रभु अन्तर में विराजता है और उसका साधन राग से दूर (ऐसा) अन्दर साधन समीप है। अन्तर में एकाग्र होना, वह उसका साधन है। अब ऐसे साधन को और ऐसे साधन के ध्येय को न जाने, उसे यह हेय या उपादेय तो ज्ञान में वर्तता नहीं, इसलिए उसे आत्मा का त्याग वर्तता है परन्तु राग का त्याग दृष्टि में नहीं है। धर्मी जीव गृहस्थाश्रम में पड़ा है। छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में (होवे)... समझ में आया? छियानवें हजार स्त्रियों के भोग में पड़ा हो, समकिती छियानवें हजार पद्मिनी जैसी स्त्रियों के भोग में (होवे), उस भाग के काल में भी अन्दर दृष्टि में (उसका) त्याग वर्तता है। मेरा आनन्द प्रभु मेरे पास है। अरे...रे...! यह समाधान नहीं होता, इसलिए राग आता है। उस अस्थिरता को हेयरूप जानता है और पूरा भगवान आनन्दमूर्ति को उपादेयरूप से जानता है और दूसरे ही क्षण ध्यान में आ जावे तो अतीन्द्रिय आनन्द का ध्यान भी कर लेता है। आहा...हा...! समझ में आया?

एक ओर ऐसे भोग की वासना की विकल्प में फँस गया था, तथापि अन्दर दृष्टि तो पड़ी है। अन्दर दृष्टि पड़ी है आत्मा पर... यह भगवान आत्मा मेरा सच्चिदानन्द प्रभु ही मुझे आदरणीय है। समझ में आया? ऐसे स्वरूप में गृहस्थाश्रम में भी स्व-स्वरूप पूरा है, उसे कोई क्यों आदरणीय नहीं कर सकता? ऐसा कहते हैं। वह तो अपने स्वरूप का माहात्म्य नहीं है; इसलिए विकार और पर के माहात्म्य में इसकी नजरें गयी हैं। इस कारण मिथ्यात्व में पड़ा हुआ अनादि से पर का माहात्म्य करता है परन्तु जहाँ स्व का माहात्म्य गृहस्थाश्रम में रहने पर भी आया, यह भगवान एक ही मेरा अखण्डानन्द प्रभु, यह मुझे स्थिरता का स्थान, विश्राम का धाम, यह लीनता का स्थान, विश्राम का स्थान होवे तो आत्मा है। ऐसी जिसने अन्तर्दृष्टि और ज्ञान में निर्णय किया हो, उसे पूरा रागादि (भाव),

जिस भाव से पूजा-भक्ति होती है, उस भाव को भी त्यागबुद्धि से देखता है। आदरबुद्धि नहीं देखता। समझ में आया? आहा...हा...! लो, भाई! बहुत समय हो गया, हाँ! इतने में चालीस मिनट हुए।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! तू है या नहीं? है तो कितना? अनन्त गुण का समुद्र है, ज्ञानस्वरूप से भरपूर है, तू आनन्द का कन्द है, तू वीर्य का पिण्ड है, तू शान्ति का सागर है, अनन्त पुरुषार्थ के वीर्य से भरपूर पदार्थ है, स्वच्छता का धाम है, प्रभुत्व के परमेश्वर का अनेक ऐसे अनन्त गुण में – एक-एक गुण में प्रभुता से भरा हुआ वह प्रभु तू है। समझ में आया? ऐसे प्रभुत्व से भरपूर भगवान को जिसने गृहस्थाश्रम में रहने पर भी, श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार किया, वह अनन्त काल से जिसका त्याग वर्तता था, उसे ग्रहण किया और अनन्त काल से रागादि, पुण्यादि परिणाम को ग्रहण करने योग्य मानता था, उसके त्याग में प्रवर्ता। आहा...हा...! समझ में आया?

अणुदिणु झायहि फिर **झायहि** शब्द है न? जिनेन्द्रदेव का ध्यान करता है अर्थात्? शुद्धात्मा की श्रद्धा, ज्ञान तो निरन्तर है परन्तु किसी समय ध्यान में भी अन्दर स्थिर हो जाता है। देखो, यह गृहस्थी को ध्यान कहा। **अणुदिणु झायहि** दूसरे कहते हैं, गृहस्थ को (ध्यान) नहीं होता। यहाँ देखो (क्या कहते हैं)? **गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति। अणुदिणु झायहि** रात-दिन उसकी परिणति शुद्ध वर्तती होती है। शुद्ध आत्मा, पूर्णानन्द का आत्मा वह भगवानस्वरूप प्रभु, उसकी श्रद्धा, ज्ञान की शुद्धपरिणति अर्थात् अवस्था कायम वर्तती है और किसी समय ध्यान भी निर्विकल्प हो जाता है, गृहस्थाश्रम में रहने पर भी.... आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान आत्मा गृहस्थाश्रम में भी कहाँ आत्मा मिटकर गृहस्थाश्रम में विकार में हो गया है? गृहस्थाश्रम में रहनेवाला आत्मा कहाँ जड़ और शरीररूप हो गया है? तो जिस रूप हुआ नहीं, उसका त्याग क्या करना? अब जरा रागरूप पर्याय में विकाररूप हुआ है, उस विकार से (भिन्न) त्रिकालस्वभाव की दृष्टि होने पर (वह) विकार भी मैं नहीं हूँ – ऐसे दृष्टि होने पर उसमें विकार का दृष्टि में त्याग वर्तता है। समझ में आया? और उसे ध्यान वर्तता है। गृहस्थाश्रम में भी ध्यान (वर्तता है)। जिसे लक्ष्य में लिया है, जिसका

आदर किया है, उसमें बारम्बार स्थिरता की निर्विकल्पता, ध्यान भी उसे आता है क्योंकि वह प्रयोग है। सामायिक में.... यह सामायिक लोगों की नहीं, हाँ! स्वरूप शुद्ध है – ऐसा अनुभव होकर दृष्टि-ज्ञान हुआ तो सामायिक में प्रयोग करता है कि मैं परमात्मा हूँ तो पर्याय में उपयोग में रह सकता हूँ या नहीं? उसकी अजमाईश और प्रयोग का नाम सामायिक है और वह प्रतिदिन की; और पन्द्रह दिन में महीने में प्रौषध एकदम चौबीस घण्टे में प्रयोग करे कि आत्मा वहाँ रह सकता है या नहीं? अन्दर स्वरूप में कितना (रह सकता है)? इसकी अजमाईश के प्रयोग को प्रौषध कहते हैं। ए... भगवानभाई! हैं? यह बात है। सामायिक, प्रौषध और अन्त में संल्लेखना। यह बाद में देह के त्याग के काल में निर्विकल्प में – आनन्द में मैं कहाँ रह सकता हूँ? कितना भव के अभाव के काल में भव के अभाव की चीज में स्थिरता कितनी रहती है? इतना प्रयोग करने को समाधिमरण कहते हैं। समझ में आया? आज तो सब गृहस्थाश्रम का आया, हाँ! आहा...हा...! ए... बजुभाई! वे लोग चिल्लाहट मचाते हैं इसलिए।

गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति प्रभु! तू कहाँ खो गया है कि जिससे तुझे हाथ न आवे? आहा...हा..! भगवान पूरा आत्मा, चैतन्य के तेज के पूर के नूर से भरपूर – ऐसा चैतन्य तत्त्व वह कहाँ गया है, प्रभु! कि तेरी नजर वहाँ नहीं पड़ती? नजर वहाँ पड़ने पर उस चैतन्य के पूर का आदर होने पर उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होता है, उस काल में गृहस्थाश्रम में यह दया, दान, व्रतादि के परिणाम उत्पन्न हों, उसका उस दृष्टि में त्याग वर्तता है। समझ में आया?

धर्मी जीव ने आत्मा के शुद्ध परमानन्द के आदर में, राग होता होने पर भी स्वभाव में अविद्यमान कहा है। अज्ञानी ने राग और पुण्य के आदर में भगवान विद्यमान त्रिकालनाथ विराजमान है, उसे अविद्यमान किया है। आहा...हा...! कहो, मनसुखभाई! कहो, अब गृहस्थाश्रम में धर्म हो सकता है या नहीं? या त्यागी होवे, बाबा होवे तब होता है? अरे...! तुझे पता नहीं है, आत्मा बाबा ही है। उसके स्वरूप में एक भी रजकण कहाँ प्रविष्ट हो गया है? एक भी रजकण.... फिर यह तो राग की पर्याय है, परन्तु एक रजकण शरीर, वाणी, मन का कोई रजकण आत्मा में है? रजकण आत्मारूप हुआ है? और आत्मा चाहे जितना

प्रयत्न करे तो रजकण को आत्मारूप कर सकता है ? कहो, और रजकण चाहे जितने अन्दर पलटें तो आत्मारूप हो सकते हैं ? अब रहा राग, अब रहा अन्दर पुण्य-पाप का राग – वह तो कृत्रिम मैल, क्षणिक मैल है। इस पूर्णानन्द में वह मैल प्रविष्ट हो जाता है और निर्मलानन्द भगवान उस मैलरूप हो जाता है ? समझ में आया ? शुभ-अशुभ राग जो है, वे दोनों मैल हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव शुभराग, वह मैल है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वह अशुभरागरूपी मैल है। यह भगवान, उस मैल के पीछे निर्मलानन्द प्रभु विराजता है। वह निर्मलानन्द का नाथ इस मैलरूप होता है ? और मैल का कण उस निर्मलानन्द, पूर्णानन्द में प्रविष्ट हो जाता है ? आहा...हा... ! ए... रतिभाई ! ऐसे के ऐसे गाड़ी हाँक रखी है, अंधेरे... अंधेरे... क्या आत्मा ? क्या मार्ग ? क्या करना ? क्या छोड़ना ? कुछ विवेक नहीं और कहता है (कि) हम कुछ धर्म करते हैं, धूल में भी धर्म नहीं है।

अब क्या कहते हैं ? **लहु णिव्वाणु लहंति** यहाँ तो अभी गृहस्थाश्रम का वजन देते हैं। यहाँ गृहस्थाश्रम की बात चलती है न ? **गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति। अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति॥** अल्प काल में इस गृहस्थाश्रम में रहनेवाला आत्मज्ञानी-धर्मी आत्मा के उपादेय को जाननेवाला, रागादि की हेयता को जाननेवाला अल्पकाल में केवलज्ञानरूपी निर्वाण को प्राप्त करेगा। गृहस्थाश्रम में रहनेवाला करेगा – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! हैं ? कहो, समझ में आया ? यह १८ वीं (गाथा पूर्ण) हुई।

एक 'तप' का शब्द लेना है। वे छह बोल हैं न ? छह हैं न ? श्रावक के कर्तव्य – देव पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, संयम, और तप। इसमें स्वाध्याय में **तत्त्वज्ञान पूर्ण आध्यात्मिक शास्त्र पढ़ना....** यह लिखा है और तप में **प्रातः काल और सन्ध्या काल थोड़े समय तक आत्मध्यान का अभ्यास करना....** उसे तप कहा जाता है। गृहस्थाश्रम में तप का कर्तव्य.... गृहस्थाश्रम में तप का कर्तव्य अर्थात् क्या ? समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में श्रावक के लिये सम्यक्त्वी जीव को षट्कर्म के शुभराग भाव हमेशा आते हैं – ऐसा वहाँ शास्त्र में वर्णन है। देव पूजा, गुरु सेवा... समझ में आया ? स्वाध्याय, संयम,

तप और दान.... तो कहते हैं कि तप करे अर्थात् क्या ? कि हमेशा जरा ध्यान का प्रयोग करे। विकल्प से पहले विचार करे – यह व्यवहार षट्कर्म हुआ और अन्दर में एकाग्र होवे। अन्दर ध्यान का प्रयोग करे, गृहस्थाश्रम में रहनेवाला समकिती अन्तर आनन्द के ध्यान का प्रयोग करके और अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करे, वह निश्चय आवश्यक कर्म हुआ और मैं ध्यान करता हूँ – ऐसा विकल्प उत्पन्न हुआ, वह तो व्यवहार षट्कर्म में गया। समझ में आया ? आहा...हा... ! लो, यह बात हुई। फिर तो बहुत लम्बा किया है, हाँ ! अब १९ गाथा।

☆ ★ ☆

जिनेन्द्र का स्मरण परम पद का कारण है

जिणु सुमिरहु जिणु चिंतवहु, जिणु झायहु सुमणेण।
सो झायंतहँ परम-पउ, लब्भइ एक्क-खणेण॥१९॥

जिन सुमरो निज चिन्तवो, जिन ध्यावो मन शुद्ध।
जो ध्यावत क्षण एक में, लहत परम पद शुद्ध॥

अन्वयार्थ – (**सुमणेण**) शुद्धभाव से (**जिणु सुमिरहु**) जिनेन्द्र का स्मरण करो (**जिण चिंतवहु**) जिनेन्द्र का चिन्तवन करो (**जिण झायहु**) जिनेन्द्र का ध्यान करो। (**सो झाहंतह**) ऐसा ध्यान करने से (**एक्कखणेण**) एक क्षण में (**परमपउ लब्भइ**) परमपद प्राप्त हो जाता है।

☆ ★ ☆

जिनेन्द्र का स्मरण परम पद का कारण है। १९, १९।

जिणु सुमिरहु जिणु चिंतवहु, जिणु झायहु सुमणेण।
सो झायंतहँ परम-पउ, लब्भइ एक्क-खणेण॥१९॥

हे आत्मा ! वीतराग परमेश्वर और तेरा आत्मा, दोनों के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। पर्याय – अवस्था में, हालत में, दशा में (अन्तर है)। भगवान की दशा पूर्ण निर्मल हो

गयी, तेरी दशा में राग का मैल है परन्तु वस्तु के स्वभाव में और भगवान के स्वभाव में कुछ अन्तर नहीं है। आहा...हा...! तो कहते हैं। **शुद्धभाव से....** देखो! **सुमणेण** का अर्थ किया। **शुद्धभाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो....** भगवान आत्मा... जैसे सगे-सम्बन्धियों को याद करते हैं न? पाप किया हो तो याद करते हैं या नहीं? पुण्य किया हो तो याद करते हैं या नहीं? किसी के साथ बहुत स्नेह हुआ हो तो याद करते हैं या नहीं? इसी प्रकार भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति परमेश्वर केवलज्ञानी ने आत्मा देखा है, वैसा जिसे श्रद्धा-ज्ञान में जमा, ऐसे धर्मी जीव उसका बारम्बार स्मरण करते हैं। राग का नहीं, निमित्त का नहीं, संयोग का नहीं। समझ में आया?

शुद्धभाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो.... जिनेन्द्र अर्थात् आत्मा, हाँ! आहा...हा...! यह गाथा में आता है। यह तो कहना यह चाहते हैं, वहाँ कहाँ पर की बात है? जिनेन्द्र भगवान आत्मा, उसका स्वभाव वीतराग का इन्द्र / ईश्वर है। वीतरागी ईश्वर आत्मा.... कैसे जँचे? रंक होकर बैठा, एक बीड़ी बिना चले नहीं, उड़द की दाल अच्छी सींजी न हो तो चले नहीं, हाँ! एक प्रतिष्ठा में जरा थोड़ी कमी आवे तो हैं... ऊं... ऊं... ऊं.... हो जाये। रतिभाई! हैं। ऐसा हो जाये, निराश हो जाये। अरे... धक्का लग गया, इज्जत में धक्का (लग गया)। परन्तु अनादि से बड़ी इज्जत में धक्का लगा है।

भगवान सच्चिदानन्द प्रभु जिनवर समान आत्मा, यह उसे रागवाला मानना, महाकलंक लगा है तुझे। आहा...हा...! समझ में आया? देखो! इन्होंने लिखा है, हाँ! **जिनेन्द्र के स्वभाव में और अपनी आत्मा के मूल स्वभाव में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। जिन चिन्तवो....** चिन्तवन करो। भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु आत्मा अन्दर है, उसका चिन्तवन कर न! यह राग और दया-दान, व्रतादि के विकल्प हैं, वे तो छोड़ने योग्य हैं। उन्हें बारम्बार याद किसलिए करता है? आवे तो भी याद किसलिए करता है? – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

जिनेन्द्र प्रभु आत्मा... क्योंकि प्रत्येक गुण वीतरागस्वभाव के ईश्वरवाला गुण है। ऐसा जिनेन्द्र प्रभु आत्मा, साक्षात् वस्तुरूप है। उसकी दशा में प्रगटता करने के लिये ऐसे जिनेन्द्र भगवान का एकाग्र होकर ध्यान करना, वह प्रगट जिनेन्द्र होने का उपाय है। समझ

में आया? दूसरा जिनेन्द्र भगवान दे नहीं देते, हाँ! कोई कर्ता नहीं (कि) वे दे दे। आहा...हा...! उस पर ईश्वर के पास तेरा ईश्वरपना नहीं पड़ा है; तेरा ईश्वरपना तुझमें पड़ा है। अन्दर ज्ञान ईश्वर, दर्शन ईश्वर, आनन्द ईश्वर, स्वच्छता ईश्वर, प्रभुता ईश्वर, अस्तित्व ईश्वर, वस्तुत्व ईश्वर – ऐसे अनन्त ईश्वरता का स्वामी आत्मा है। इसे किस प्रकार (जँचे)? कभी आत्मा क्या है? – उसका पता नहीं होता और यह करो, यह करो, यह करो, यह करो, पूजा करो, भक्ति करो, दया करो, दान करो, हो जायेगा धर्म.... धूल में भी धर्म नहीं है। अब सुन न! यह तो राग की मन्दता होवे तो कुछ पुण्य बाँधे और चार गति में चौरासी के धक्के खायेगा। शान्तिभाई! आहा...हा...!

परमेश्वर घर में विराजे और उसका आदर न करे और एक नीच जाति की स्त्री ऐसे सड़े हुए रोगवाली हो, उसका आदर करे, आओ... आओ... भगवान विराजे, ऐसे दो चीज सामने है – एक परमात्मा विराजते हैं आहा...हा...! ऋषभदेव लो न, छह महीने और बारह महीने आहार लेने आये न? श्रेयांसकुमार के घर आहा...हा...! प्रभु! पधारो... पधारो... पधारो... हमारा आँगन उज्ज्वल है। उस समय कोई नीच कुलीन स्त्री निकले, क्षय रोगवाली और सोलह रोगवाली बाई आयी हो, उसका आदर करे... इसी प्रकार भगवान तीन लोक का नाथ परमात्मा स्वयं समीप में स्वयं विराजमान है, उसका आदर न करके पुण्य और पाप, भिखारी जैसे मैल विकार और धूल इस शरीरादिक का सत्कार करे तो वह कहीं विवेकी नहीं कहा जाता है। समझ में आया?

जिनसमरो.... स्मरण करो अर्थात् उसे बारम्बार याद करो। आहा...हा...! यह तो पहले देखा है न? देखे बिना क्या (याद करे)? भगवान शुद्ध चैतन्य है, पुण्य-पाप का राग, वह मैल है, शरीरादि क्रियाएँ इस जड़ की मिट्टी, धूल की हैं – ऐसा जिसे पहले सम्यग्ज्ञान में विवेक प्रगट हुआ है, दर्शन किया है, धारणा हुई है, उसमें से स्मरण करता है, उसमें से याद करता है। इसमें क्या समझे? यह स्मरण अर्थात् क्या? यह जातिस्मरण, इसका अर्थ क्या है? इससे पूर्व धारा था, उसमें से याद आना, इसी प्रकार इस आत्मा को पहले धारा था कि यह पवित्र और शुद्ध है, विकार रहित है – ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में धारा था। उसे बारम्बार याद करना, उसे आत्मा का स्मरण कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

बीस वर्ष का लड़का ऐसे दो वर्ष के विवाह उपरान्त मर गया हो तो फिर उसकी माँ ऐसी रोती है.... ए.... पुत्र! तू कहाँ गया? एक माँ तो उसकी पीछे मर गयी। छह महीने के विवाह उपरान्त लड़का मर गया। गृहस्थ मनुष्य दस लाख रुपये के आसामी, उसकी माँ छह महीने के (विवाह के बाद) वह मर गया तो रो-रो कर मर गयी। पूरे दिन याद करे, उसका पति कहे परन्तु किसलिए (रोती हो)? अब गया, पैसा है, खाने का साधन है और अपने दूसरा लड़का है परन्तु वह दरवाजा बन्द करके अन्दर पलंग पर रोती ही रहे। जो कोई देखने जाये तो फफक-फफक कर रोती रहे, उसे याद करे, ऐसा मेरा कहना है। उसे याद करे उसका नाम स्मरण। उसकी होली लगाई।

यह भगवान चिदानन्द प्रभु समीप में विराजमान हैं और आनन्द का कन्द प्रभु, उसका स्मरण कर न बारम्बार! वह पुत्र का स्मरण करने से आवे ऐसा है? इसका स्मरण करने से प्रगट हो – ऐसा है? प्रवीणभाई! हैं? यह तो सब भाव भाई अन्दर बहुत भरे होते हैं। थोड़े-थोड़ आते हैं। यह तो आचार्यों के शब्द हैं न? एकदम मार्मिक हैं न?

वीतरागभाव को याद कर – ऐसा कहते हैं। लो! दूसरी लाईन। यह अन्दर राग और पुण्यभावना आवे, उसे याद मत कर, लक्ष्य में से छोड़ दे; वे याद करने योग्य नहीं हैं। जहर को याद करने जैसा नहीं है। पुण्य-पाप के भाव याद करने योग्य नहीं हैं। आहा...हा...! भगवान आत्मा पवित्र का धाम प्रभु याद करने योग्य है, स्मरण करने योग्य है। उसका स्मरण तुझे हित का कारण है। समझ में आया? **चिन्तवन करो....** दूसरा शब्द है, वह आयेगा।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण ११,	मंगलवार, दिनाङ्क १४-०६-१९६६
गाथा १९ से २०	प्रवचन नं. ८

योगसार शास्त्र है। योगसार अर्थात् क्या? योगसार है न? आत्मा का हित जिसमें से प्रगट हो – ऐसा आत्मा, उसके अन्दर की एकाग्रता का भाव, उसे यहाँ योगसार कहते हैं। समझ में आया? आत्मा वस्तु है, उसकी एकाग्रता, वस्तु के स्वभाव में एकाग्रता, उसे यहाँ योग कहते हैं। योग का यह सार है कि वीतरागता प्रगट करना और वीतरागता प्रगट करके पूर्ण आनन्द मुक्तिरूपी दशा प्राप्त हो – ऐसे भाव को योगसार कहते हैं। समझ में आया?

जिणु सुमिरहु जिणु चिंतवहु, जिणु झायहु सुमणेण।
सो झायंतहँ परम-पउ, लब्भइ एक्क-खणेण॥१९॥

शुद्धभाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो.... अर्थात् क्या? जिनेन्द्र अर्थात् वीतराग परमात्मा, जो पूर्ण सिद्धभगवान हो गये – ऐसा ही यह आत्मा, जिनेन्द्रस्वरूप है। जिनेन्द्र का स्मरण करना अर्थात्? उस वीतरागस्वरूप पूर्णपद की प्राप्ति में पहुँच गये – ऐसा ही मेरा जिनेन्द्र का अन्तरस्वरूप है। यदि ऐसा स्वरूप न होवे तो पर्याय में जिनेन्द्रता, वीतरागता, पूर्ण निर्दोषता (जो) परमात्मा ने प्राप्त की, वह कहाँ से आयी?

मुमुक्षु – ऐसा विचार करना है?

उत्तर – भटकना न होवे तो विचार करना। हैं? आहा...हा...!

कहते हैं, **शुद्धभाव से....** अर्थात् मैं एक आत्मा, वीतरागी-रागरहित की दशा द्वारा भगवान आत्मा का स्मरण करता हूँ – इसका नाम जिनेन्द्र का स्मरण है। समझ में आया? निमित्त का संग्रह या राग का आश्रय, वह जिनेन्द्र का स्मरण नहीं; वह विकार का स्मरण

है। समझ में आया? संयोगों का संग्रह करूँ या मैं राग को रखूँ – यह सब विकारीभाव, यह विकार का स्मरण है।

मुमुक्षु – निमित्त को ढूँढना यह (विकार का स्मरण)?

उत्तर – संग्रह करना, उन्हें एकत्रित करूँ, मुझे कुछ लाभ मिले – यह तो विकार का स्मरण है। इसमें कहाँ निमित्त था? समझ में आया? और पुण्य-पाप का राग आवे, उसके स्मरण का अर्थ कि सदोषता का स्मरण करना। इसमें तो जिनेन्द्र से विरुद्ध विकारभाव का स्मरण किया है। यह तो संसार अनादि का है, वही है।

मुमुक्षु – उसके शुभभाव से तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

उत्तर – धूल में भी नहीं होता, अब उसे बेचारे को क्या कहना? उसकी लाईन अभी ऐसी हो गयी है। ओ...हो...! बड़ी जवाबदारी होती है। जीव कितनी जवाबदारी ओढ़ता है, देखो न! ओ...हो...हो...! देखो न, कल आया था न? मैं तीर्थंकर हूँ, तीर्थंकर.... धर्म का... है?

मुमुक्षु – बागी....

उत्तर – बागी क्या किन्तु पूरा विरोधी। ओ...हो...हो...! बोलता था – मुझे नया धर्म (चलाना है)। पूरी दुनिया में तो धर्म है, उससे कुछ नया निकालूँ। इतना दशा गुलाँट मार डालती है जीव को। मैंने कहा – यह थोड़ा पुण्य है, वह जल जाएगा, हाँ! आहा...हा...! परन्तु कैसे सूझे? भाई! शरीर कुछ ठीक हो, वाणी का थोड़ा जोर हो, उघाड़ में कुछ वीर्य और ज्ञान का क्षयोपशम दिखता हो तो कहे, मैं ही परमेश्वर हूँ, परमेश्वर दूसरा कौन? ऐसा। दूसरे सर्वज्ञ परमेश्वर और जिनेन्द्र हैं, उनका स्वीकार करे कहाँ से? पूर्ण सर्वज्ञ परमेश्वर जगत में हैं, वीतरागपर्याय को प्राप्त परमात्मा हैं, उनका – उस सत्ता का स्वीकार किस प्रकार करना? हमारे तो यह राग और यह क्रिया, बस! दूसरे को जिमाना, यह करना, वह करना.... यह सब हमारा धर्म, जाओ! आहा....हा...!

यहाँ कहते हैं, भाई! जिस किसी जीव को सुख होना हो, अर्थात् स्वतन्त्र होना हो तो उसे तो जिनेन्द्र का स्मरण करना, अर्थात् जिनेन्द्र-समान मेरा स्वभाव है – उसका स्मरण करना। वह स्मरण कब कर सकता है? पहले निर्णय और धारणा की होवे तो। क्या

कहा ? जिनेन्द्र का स्मरण कौन कर सकता है ? मैं स्वयं भगवान परिपूर्ण परमात्मा मैं स्वयं हूँ; मेरे स्वभाव में पूर्णानन्द और पूर्ण निर्दोषता पड़ी है – ऐसा जिसे श्रद्धा में, धारणा में पहले आया हो, वह स्मरण कर सकता है। क्या कहा ?

जिसे जिसका प्रेम हो, वह उसका स्मरण करता है, है ? विवाह के समय में भी (ऐसा बोलते हैं) – यह एक बहिन नहीं आयी, बड़ी बहिन नहीं पहुँची... ऐसा विवाह का प्रसंग, वे नहीं पहुँचे, भानेज नहीं पहुँचे – ऐसे उसकी महिलाएँ करें। हैं ? ऐसा जिसका प्रेम है, उसे याद करते हैं; तो पहले आत्मा शुद्ध परिपूर्ण अखण्ड परमात्मा का स्वरूप, वही मेरा स्वरूप है – ऐसा जिसे निर्णय में प्रेम जगा हो, वह उसे बारम्बार स्मरण करता है। समझ में आया ? बात जरा ऐसी है, भाई !

इसका अर्थ यह कि आत्मा जिनेन्द्रस्वरूप है। जिनेन्द्र की पर्याय होती है न ? जिनेन्द्र, वे पर्यायरूप से – अवस्थारूप से पूर्ण हुए हैं। वह सिद्ध कहो या अरहन्त कहो। अब, वह दशा पूर्ण निर्दोष हुई, वह परमात्मा, आत्मा की दशा है; तो वह आत्मा की पूर्ण अनन्त गुण की निर्मलदशा आयी कहाँ से ? वह आत्मा में से आयी। किसी राग की क्रिया से, संयोग के साधन से नहीं आयी – ऐसा जिसने निर्णय किया कि ऐसे परमात्मा होते हैं, उसे निर्णय ऐसा आता है कि मैं स्वयं वस्तुपने परमात्मा हूँ। समझ में आया ?

मेरा स्वरूप ही वीतरागबिम्ब है। वस्तु में सदोषता का अंश नहीं, अपूर्णता नहीं – ऐसी मेरी चीज है, चीज है, वस्तु है। जिसने ऐसा निर्णय करके ज्ञान में धारणा, ज्ञान में धारणा (की), यह अनुभव करके यह चीज ऐसी है – ऐसा जिसका ज्ञान करके धारणा की हो, उसे बारम्बार स्मरण में आता है। समझ में आया ?

देखो न ! यह संसार का उछाला आता है या नहीं ? कमाने का, भोग का, प्रतिष्ठा का, क्योंकि अज्ञान में – मूढ़ता में उसका प्रेम है। बारम्बार (याद करता है)

अब उसमें दु:ख का.... चार गति में भटकना।

मुमुक्षु – अभी तो मजा है न ?

उत्तर – धूल में भी मजा नहीं, अभी दु:खी है। कषाय के, राग के और कषाय के

फल में दु:खी है। घेरे में चढ़ा है। उत्साह कितना, प्रेम है तो ? ऐसे कमाना, ऐसे कमाना, ऐसे स्त्री-पुत्र, ऐसे विवाह करना, इस लड़के का विवाह कराना... आहा...हा... ! अकेली होली है। अकेले दु:ख की घानी में पिलता है। सत्य होगा ? रतिभाई !

यहाँ तो दूसरा कहना है, जिसका जिसे प्रेम (होवे), उसे वह बारम्बार स्मरण करता है, क्योंकि उसका उसे उल्लसित वीर्य काम करता है, वीर्य पर में कुछ काम नहीं करता, परन्तु उल्लसित वीर्य (होवे), ऐसे वीर्य उल्लास में (होवे)... आ...हा... ! मैंने ऐसा किया, मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा करूँ..... समझ में आया ? मैंने ऐसा कमा दिया, पचास लाख एकत्रित किये, एक महीने में पचास लाख आमदनी की। ऐ...ई.... ! इसे – पारेख से कहते हैं। इसके भाई को याद किया। एक महीने में पचास लाख। हरिभाई के भाई हैं केशूभाई ! एक महीने में पचास लाख। फट जाए न प्याला ! दशाश्रीमाली बनिया है। है न ? इनके छोटे भाई हैं। समझ में आया ? उसमें कितना उत्साह आता है ? एकदम ऐसा डाला, दो लाख कमाये। अभी भाव बढ़ गया है। दो लाख के तीन लाख हुए हैं। इन तीन लाख का यह लो... ऐसा डाला वहाँ, उसका भाव दूसरे अमुक देश में बढ़ गया है। उस देश में बिक्री करें तो तीन के पाँच लाख होंगे। शीघ्रता करे, ऐसे वीर्य काम कितना करे, लो ! मूढ़ है। वह तो राग का वीर्य है। वहाँ कहाँ आत्मा का वीर्य पूर्ण है ?

मुमुक्षु – ऐसा राग नहीं करे तो रुपये नहीं आते।

उत्तर – धूल में, पैसा तो आनेवाला हो वह आता ही है। राग के कारण पैसा आता है ? परन्तु जिसका जिसे प्रेम, (वहाँ वीर्य काम करता है।) 'रुचि अनुयायी वीर्य' जिसकी जिसे रुचि, उसका वीर्य वहाँ काम किये बिना नहीं रहता। उसका ज्ञान, उसकी श्रद्धा, उसका वीर्य, उसका आचरण उसमें काम किया करता है। दु:ख में.... दु:ख में... दु:ख में।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि 'जिन सुमरो' – तुझे जिसकी आवश्यकता ज्ञात हो कि यह आत्मा स्वयं सुखी कैसे हो ? जिसे आत्मा की दया आवे... समझ में आया ? आत्मा की दया आवे। अरे... ! यह आत्मा... ! यह अनन्त काल से चौरासी के अवतार में कहीं कोई शरण नहीं। कहीं कोई आधार नहीं; अकेला दु:खी होकर तड़फड़ाता है, तड़फड़ाता है। चौरासी के अवतार में तड़फड़ाता है, हाँ ! ये सब सेठिया-बेठिया इस विकार के दु:ख

में तड़फड़ाते हैं। आहा...हा...! कैसे होगा? मनसुखभाई! आहा...हा...! ऐसी इसे दया आनी चाहिए। अरे! आत्मा! अब तुझे किंचित सुख हो – ऐसा रास्ता ले, भाई! ये सब दुःख के रास्ते हैं। इस सुखी होने के रास्ते में जिनेन्द्रस्वरूप मेरा है – ऐसा निर्णय करना, यह सुख का साधन वहाँ से प्रगट हो – ऐसा है। समझ में आया? यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

'योगसार' जोड़ना है न वहाँ? कौन है? कि मैं जिनेन्द्रस्वरूप हूँ। मैं जिनेन्द्रस्वरूप न होऊँ तो जिनेन्द्रदशा आयेगी कहाँ से? समझ में आया? प्राप्त की प्राप्ति है। मेरी चीज में ही समस्त पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान जो प्रगट होना है, वह सब मेरे पास है। मैं स्वयं पूर्णरूप पड़ा हूँ – ऐसा जिसे श्रद्धा में, ज्ञान में, धारणा में न ले तो उसे स्मरण में कहाँ से आयेगा? श्रद्धा, ज्ञान में पहले लिया है। समझ में आया? इससे **शुद्धभाव से जिनेन्द्र का स्मरण करो, जिनेन्द्र का चिन्तवन करो....** स्मरण करके बारम्बार उसकी एकाग्रता करो – ऐसा कहते हैं। स्मरण करके उसका घोलन करो।

भगवान आत्मा सार में सार पदार्थ (है।) बारह अंग में कथित तत्त्व, बारह अंग में भगवान द्वारा कहा गया पदार्थ, वह यह जिनेन्द्र प्रभु आत्मा – यह सार में सार है। समझ में आया? उसका चिन्तवन करो। स्मृति करके, फिर बारम्बार उसमें एकाग्र होओ। भाई! इस वस्तुस्वरूप परमानन्द की मूर्ति में चिन्तवन करने से सुख की, शान्ति की, मोक्ष के मार्ग की प्राप्ति होती है। चिन्तवन करो, यह योगसार है।

जिण झायहु विशेष **ध्यान करो**। फिर लीन होओ, लीन होओ। वीतराग परमात्मा मैं स्वयं हूँ। उसका स्मरण, चिन्तवन और ध्यान। उसकी लीनता कि जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत का स्वाद आता है। समझ में आया? जो यह दुःख का स्वाद (आता है), चौरासी के अवतार में एकेन्द्रिय से लेकर, आहा...हा...! त्रस की स्थिति, त्रस में रहा है, यह दो हजार सागरोपम कठिनता से रहे। त्रस में स्थिति रहे तो दो हजार सागरोपम रहे। स्थिति पूरी हो तो लम्बी स्थिति में एकेन्द्रिय में जाता है। समझ में आया? इस जिनेन्द्र आत्मा में स्मरण और ध्यान बिना। इस विकार के स्मरण और ध्यान द्वारा त्रस हुआ, त्रस की स्थिति पूरी होगी (तो) एकेन्द्रिय में निगोद... निगोद, जिसमें अनन्त काल मनुष्य का अवतार नहीं (होगा) – ऐसे स्थान में जाएगा। अन्तर्मुहूर्त में कितने भव करता है यह?

समझ में आता है ? एक श्वासोच्छ्वास में अठारह भव। आहा...हा... ! समझ में आया ? एक श्वासोच्छ्वास में। आहा...हा... !

कहते हैं, जिसे राग और विकार का प्रेम है, उसका स्मरण है, उसका चिन्तवन है, उसका जिसे ध्यान है, वह तो क्रम-क्रम से कदाचित् त्रस में आया हो, परन्तु जहाँ विशेष एकाग्रता की चीज है, वहाँ वह निगोद में जाएगा। समझ में आया ? यह जिनेन्द्र के स्मरणवाला, भगवान आत्मा अमृत अतीन्द्रियस्वरूप, मेरा स्वरूप ही त्रिकाल वीतराग है – उसके स्मरणवाला, चिन्तवनवाला, ध्यानवाला (परम पद पायेगा)। ध्यान रखना।

उसका स्मरण करने से एक क्षण में परमपद प्राप्त हो जाता है। अज्ञानी को राग के ध्यान में त्रस की स्थिति पूरी हो जाएगी और एकेन्द्रिय में जाएगा, वहाँ अनन्त काल पड़ा रहेगा। इस बन्धन के फल की उत्कृष्टदशा, निगोददशा है। रतिभाई ! समझ में आया ? बड़ी जेल ! आत्मा गुलाँट खाता है। अरे... ! आत्मा ! तू परमानन्द (स्वरूप) है न, और इस परिभ्रमण के पन्थ में कहाँ गया ? तुझमें परिभ्रमण के पन्थ का अभाव करने की ताकत है – ऐसा तू आत्मा है। परमात्मा ने उसका (परिभ्रमण का) अभाव किया है। परमात्मा ने – अरहन्त ने भव का अभाव किया है। इस आत्मा के भव का अभाव करने की ताकतवाला, वह ही मैं आत्मा हूँ। समझ में आया ? बात भी ऐसी क्या (है) !

उसे **एक क्षण में परमपद प्राप्त....** (हो जाता है)। देखो ! आहा...हा... ! पहले तो ध्यान करते जो अल्प काल रहे श्रावकदशा में; मुनिदशा में रहे तो अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होवे। थोड़े अतीन्द्रिय आनन्द की (प्राप्ति होवे)। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन में भी अन्तर के ध्यान में क्षणभर भी रहे तो भी उसे जिनेन्द्र वीतराग परमेश्वर स्वयं, उसमें से उसे आनन्द की धारा बहे। आगे बढ़ते हुए स्थिर होवे तो विशेष आनन्द श्रावक की दशा में हो। आगे होवे तो मुनिदशा में विशेष आनन्द हो और पूर्ण लीन हो जाए (तो) पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द की परमात्मदशा प्राप्त होती है। समझ में आया ? आहा...हा... ! एक क्षण में पाँच करोड़ रुपये मिले हों.... एक करोड़ का बँगला एक क्षण में बनाना हो तो बना सकते हैं ? हैं ? यह एक क्षण में केवलज्ञान का बँगला प्रगट करे – ऐसा आत्मा तैयार है। समझ में आया ? हैं ?

यहाँ 'योगसार' हैं। भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति प्रभु, अकेली ज्ञान की कतली-ज्ञान की मूर्ति ज्ञानसूर्य, यह वीतरागस्वरूप ही आत्मा है। उसका ध्यान करने से, उसे ध्येय बनाकर लीन होने से क्षण में, क्षण में, क्षण में केवलज्ञान पाता है। जो सादि -अनन्त काल रहे, वैसी दशा क्षण में प्राप्त करता है – ऐसा साधन आत्मा में है। समझ में आया? आहा...हा...! आत्मा कितना और कैसा है – यह बात इसे जमती नहीं, जमती नहीं। हैं?

किया नहीं, सन्मुख देखा नहीं। ऐसे के ऐसे अवतार सब इसने व्यतीत किये। शान्तिभाई! आहा...हा...! धूल की और यह किया। अधिक तो फुरसत होवे तो थोड़ा सा लाओ पूजा करें, एक-दो घड़ी सामायिक करेंगे.... परन्तु सामायिक किसकी? अभी वस्तु कौन है? कहाँ है? किसमें लीनता करनी है? – यह तो पता ही नहीं होता! तू सामायिक कहाँ से लाया? सामायिक अर्थात् समता.... तो समता का पिण्ड परमात्मा स्वयं वीतरागी मूर्ति (है) – ऐसी दृष्टि हुए बिना, उसमें स्थिरता की क्रिया किस प्रकार होगी? समझ में आया? अनादि से राग, पुण्य और विकल्प को देखा है, देखा है, जाना है और यह बाहर की क्रिया होती है, वह देखा है। वहाँ स्थिर होगा, वह तो राग में स्थिर हुआ। वहाँ कहाँ सामायिक थी? समझ में आया? भगवान की पूजा की, परन्तु कौन सा भगवान? उन भगवान की पूजा की, वह तो शुभभाव, राग है। यह भगवान वीतराग है और वे भी वीतराग परमात्मा हैं, तो वीतरागता की पूजा वीतरागभाव से हो सकती है। समझ में आया? उनके जाति के भात से उनकी पूजा होती है।

भगवान आत्मा.... तीन शब्द में आचार्य ने समाहित कर दिया है, लो! **सो झाहंतह** ऐसा जो ध्यान करे। भगवान आत्मा को रुचि में लेकर, ज्ञान में उसे ज्ञेय बनाकर; दूसरे सब ज्ञान में ज्ञेय बनाता है, उन्हें छोड़ दे। दूसरे का, राग का निमित्त का विश्वास छोड़ दे। भगवान आत्मा वीतराग हूँ – ऐसा विश्वास (लावे) और उसे ज्ञेय बनाकर ज्ञान (करे) – यह उसका स्मरण और चिन्तवन (करके) उसमें स्थिर हो तो क्षण में केवल (ज्ञान) प्राप्त करे। आहा...हा...! समझ में आया? तो फिर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अंश में भी स्वरूप में स्थिर हो, उतना उसे अमृत का आनन्द आता है। वह आनन्द उसे पूरे जगत का

प्रेम बताता है, ओ...हो...! सभी परमात्मा है न! यह परमात्मा हैं, सब प्रभु हैं! उनकी भूल है, वह एक समय में है। परमात्मा है, इसलिए किसी आत्मा के प्रति उसे विषमभाव नहीं होता। समझ में आया? यह सब परमात्मा के पेट हैं। सभी आत्माएँ परमात्मस्वरूप परमात्मा हैं। उनकी एक समय की दशा में विकृतता है परन्तु जिसने विकृतदशा का स्वभाव के आश्रय से नाश किया और स्वभाव चैतन्य जिनेन्द्र-समान जाना, माना – ऐसा ही स्वभाव सभी भगवान आत्माओं का है; इसलिए किसे कहना छोटा और किसे कहना बड़ा? यह श्लोक इसमें आयेगा? समझ में आया? बीस में आता है। किसमें आता है? बीस में। **सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि।** समझ में आया?

गाथाएँ तो सार-सार रखी हैं। योगसार है न! कहते हैं, जिसकी नजर में वीतरागता की कीमत हुई; जिसके ज्ञान में, जिसकी श्रद्धा में वीतरागस्वभाव – ऐसे भगवान आत्मा की कीमत हुई, वहाँ उसे बारम्बार चिन्तवन कर, याद करके, चिन्तवन करके स्थिर होता है। अल्प काल स्थिर हो तो इतना थोड़ा आनन्द आता है, विशेष काल स्थिर हो जाये तो उसे क्षण में केवलज्ञान हो जाता है। है न? **सो झाहंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण।** परमपद, परमात्मा एक क्षण में हो जाता है। समझ में आया?

आनन्दघनजी में दृष्टान्त आता है, इसमें भी कहीं आता होगा। 'भृंगी इलिकाने चटकावे ते भृंगी जग जोवे रे....' इल्ली होती है न, इल्ली, वह होती है न? क्या कहलाती है वह? भंवरी.... भंवरी...। वह भंवरी इल्ली ले आती है? फिर डाले उसमें, दरार करते हैं? उसमें डाले। उसे अन्दर ऐसे डंक मारे। ....इल्ली को भंवरी डंक मारे, डंक मारे – ऐसी उसे धुन चढ़ती है। धुन चढ़कर कहते हैं.... यह तो एक दृष्टान्त है, हाँ! यह इल्ली मिटकर भंवरी होती है, नहीं आते सफेद वे? दरार... दरार... भंवरी का दरार (घर) नहीं (होता)? ऐसे धूल के.... उसमें इल्ली बहुत आती है। वह फिर पंख हो जाता है, इसलिए भंवरी होकर उड़ जाती है।

इसी प्रकार भगवान आत्मा वीतरागता के स्वभाव से भरा हुआ ऐसा दृष्टि और ज्ञान का डंक लगा, वह स्थिर होने पर एकदम उड़ जाता है, केवलज्ञान होकर परमात्मा हो जाता

है। नर का नारायण हो जाता है, आत्मा का परमात्मा हो जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु – डंक मारता है।

उत्तर – डंक झेलने जैसा है। पत्थर में कोई डंक लागे? ऐसे अन्दर से धुन चढ़ती है। एकदम इल्ली का भव समाप्त, भँवरी का भव हो जाता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा वस्तुपने, वस्तुरूप से वीतरागस्वरूप अकेला परिपूर्ण एक आत्मा भगवान परिपूर्ण है। यह फिर कोई बात है विश्वास की! यह विश्वास कौन करे? समझ में आया?

मेरा परमपद निजानन्द परिपूर्ण भगवानस्वरूप विराजमान त्रिकाल मेरा स्वरूप है। ऐसी जिसे अन्तररुचि में, अन्तर ज्ञान होकर विश्वास आया, कहते हैं – उसकी जहाँ लगन लगी, जाओ! परमात्मा मुक्तदशा सादि अनन्त सिद्ध (हो गया)। अन्दर भँवरी का चटका लगा। मैं परमात्मा समान हूँ, परमात्मा समान हूँ, परमात्मा मैं हूँ; समान भी नहीं – ऐसा ध्यान करते... करते... करते स्वयं परमात्मा हो जाता है। मैं रागी हूँ और राग का कर्ता हूँ और देह की क्रिया का कर्ता हूँ, वह मूढ़ है। समझ में आया?

मुमुक्षु – वह तो व्यवहार से कर्ता है।

उत्तर – धूल भी कर्ता नहीं। कर्ता किस दिन था? कर्ता होवे तो तन्मय हो जाये; राग का कर्ता और पर का कर्ता होवे तो तन्मय अर्थात् तद्रूप आत्मा हो जाये (परन्तु) उसरूप हुआ नहीं। समझ में आया? इसलिए तो यहाँ कहते हैं – जिनेन्द्र का स्मरण परमपद का कारण है। भगवान आत्मा वीतरागस्वभाव, वह परमपद का कारण है। लो, एक गाथा यह हुई। फिर तो इन्होंने इसमें लम्बा बहुत लिखा है। अब बीस –

☆ ★ ☆

अपनी आत्मा में व जिनेन्द्र में भेद नहीं

सुद्धप्पा अरु जिणवरहँ, भेउ म किं पि वियाणि।
मोक्खहँ कारण जोइया, णिच्छइँ एउ वियाणी॥२०॥

जिनवर अरु शुद्धातम में, भेद न किञ्चित् जान।
मोक्षार्थ हे योगिजन! निश्चय से तू यह मान॥

अन्वयार्थ – (**जोईया**) हे योगी! (**सुद्धप्पा अरु जिणवरहं किमपि भेउ म वियाणी**) अपने शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कोई भी भेद मत समझो। (**मोक्खह कारण णिच्छइ एउ वियाणी**) मोक्ष का साधन निश्चयनय से यही मानो।

☆ ★ ☆

अपनी आत्मा में व जिनेन्द्र में भेद नहीं। देखो! लो! यह सब सार-सार श्लोक रखे हैं न। अपने आत्मा में (अर्थात्) वस्तु आत्मा, हाँ! एक समय की दशा में विकार और अल्पज्ञता है, वह कहीं आत्मा का पूर्णरूप नहीं, असली आत्मा वह नहीं। समझ में आया? एक समय की अल्पज्ञदशा, वर्तमान पर्याय और राग, वह कोई आत्मा का असली स्वरूप नहीं है; वह तो विकृत और अपूर्णरूप है। विकृत – पुण्य-पाप का विकार, वह विकृत है और अल्पज्ञ आदि, वह उसका अपूर्णरूप है। क्या कहा?

भगवान आत्मा के एक समय में तीन प्रकार हैं। बाहर की बात एक ओर रहो... शरीर और कर्म उसमें है नहीं, वह तो एक अलग बात रह गयी। उसमें पुण्य और पाप का विकार है या भ्रान्ति है, या यह मुझे ठीक है, वह तो विपरीतभाव है, विपरीतभाव है; वह कहीं आत्मा का रूप नहीं है और उसे जाननेवाली वर्तमान प्रगट अल्पज्ञता, अल्पदर्शिता, वीर्यता – जो प्रगट क्षयोपशमरूप वीर्य है, वह तो अल्पता है, अल्प है, अंश है; वह कहीं परिपूर्णरूप नहीं है; इसलिए वह अंश और उसका यह विकृतरूप और अल्पज्ञता को पूरा आत्मा मानने से, उसे ही आत्मा का पूरा (स्वरूप) मानकर उसमें भटक रहा है। समझ में आया? इसलिए उसका अल्पज्ञता का रूप और विकृति का रूप – दोनों की रुचि छोड़कर इसका सर्वज्ञ का रूप और निर्दोष वीतरागी स्वरूप उसका है। समझ में आया?

जब एक समय की पर्याय में अल्पज्ञता है, तब स्वयं सर्वज्ञ है; पर्याय में जब रागादि भाव है तो स्वयं वीतराग का बिम्ब है। समझ में आया?

यह कहते हैं कि **अपने आत्मा में...** ऐसा आत्मा **और जिनेन्द्र में भेद नहीं है...**

जिनेन्द्र भगवान का द्रव्य और गुण पूर्ण शुद्ध है, ऐसा ही मेरा शुद्ध है। उनकी पर्याय शुद्ध हो गयी – अपूर्ण की पूर्ण हो गयी; विकारी की अविकारी वीतराग हो गयी। समझ में आया? कर्म के साथ में सम्बन्ध नहीं। परवस्तु के साथ वहाँ कोई काम नहीं। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें अल्पज्ञता थी, उन्हें सर्वज्ञता हुई, वह त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से, अन्दर परमात्मस्वरूप है, उसके अवलम्बन से। राग के अभाव में वीतरागता हुई। ऐसी ही सर्वज्ञता और वीतरागता, वह मेरे स्वरूप में – मुझ में पड़ी है। समझ में आया? अकेली सर्वज्ञता और अकेली वीतरागता.... ऐसी आत्मा में, ऐसी जिनेन्द्र में। रतिभाई! इसमें कुछ समझ में आता है?

मुमुक्षु – दीपक जैसी बात है।

उत्तर – दीपक जैसी बात है?

सुद्धप्पा अरु जिणवरहँ, भेउ म किं पि वियाणि।
मोक्खहँ कारण जोइया, णिच्छइँ एउ वियाणी॥२०॥

आहा...हा...हा...! अकेला मक्खन डाला है! समझे न? घेवर जैसा, वह क्या कहलाता है मीठा तरल परोसा है। दाँत की जरूर नहीं पड़े, लो, बिना दाँत के लड़के भी खायें, दाँतवाले खायें, युवा खायें और वृद्ध भी खायें। ऐसा यह आत्मा है, कहते हैं। समझ में आया? हैं? चोकठा-बोखटा वहाँ था कब?

सुद्धप्पा अरु जिणवरहँ, भेउ म किं पि वियाणि।
मोक्खहँ कारण जोइया, णिच्छइँ एउ वियाणी॥२०॥

हे योगी! योगी अर्थात् ध्यानी, ज्ञानी। अरे...! तेरे स्वरूप की तुझे कीमत हुई है, उसकी यहाँ बात करते हैं! इस तेरे स्वरूप की तुझे कीमत हुई है, तेरे स्वरूप की कीमत वह अल्पज्ञता में जो ले ली गयी थी, राग में जो ले ली गयी थी, तूने तेरे स्वरूप की कीमत की; इसलिए तू योगी और ध्यानी कहा गया है। आहा...हा...! जिसमें जिसकी कीमत लगी, उसमें उसकी लगन लगी। हैं? एक गहना पाँच लाख का, पचास हजार का आवे तो कैसा सम्हाले? ऐसा सम्हाले.... यहाँ रखना, अमुक जगह रखना, अमुक रखना।

अस्सी हजार का तो हीरा हो इतना रत्ती भर और एक रत्ती का दस हजार रुपया.... आता है न इतना हीरा अस्सी हजार का? लाख-लाख, दो-दो लाख, पाँच-पाँच लाख का हीरा उसे सम्हाले, उसे डिब्बी में ऐसा रखूँगा, उसका ऐसा करना, उसका ऐसा करना, आहा...हा...! उसकी उसे कीमत हुई है, इसलिए उसे सम्हालने में बारम्बार झुकाव (होता है)। भगवान आत्मा शुद्धात्मा, हे योगी! '**किमपि भेउ म वियाणि**' **अपने शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कुछ भी भेद मत समझो**। आहा...हा...! अन्तर झुकाव में जहाँ वीतरागी चैतन्य की कीमत हुई है, उस राग के भाव से वीतरागस्वरूप भगवान आत्मा को जहाँ भिन्न जाना है, कहते हैं कि ऐसे आत्मा को और परमात्मा में जरा भी भेद मत मान, हाँ! आहा...हा...! सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग देव अपने ज्ञान से सब जानते हैं। सब भिन्न है – ऐसा जानते हैं। मैं यह और यह, ऐसा भिन्न है, वैसा जानते हैं। उनमें और तुझमें कुछ अन्तर नहीं है। तू भी एक जाननहार ज्ञानस्वरूप से अल्पज्ञ और सर्वज्ञ को लक्ष्य में लेकर – अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञ पद को लक्ष्य में लेकर यह सर्वज्ञ से अधिक जानते हैं तू अल्पज्ञ पर्याय (द्वारा) सर्वज्ञ अपनी पर्याय के लक्ष्य में लेकर यह जानने का काम करे, उसमें सर्वज्ञ और परमात्मा में कुछ भेद नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु – महापुरुष की दृष्टि तो बहुत विशाल और उदार होती है।

उत्तर – उदार होती नहीं, वस्तु का स्वरूप ऐसा होता है। वस्तुस्वभाव ऐसा है। यहाँ यह कहना है। देखो! यहाँ तो ऐसा कहा है। **सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि**। भेद मत जान। यह अलग मत जान और अलग मत कर। आहा...हा...! सम्यग्ज्ञानदीपिका में कहते हैं, एक क्षण भी शुद्ध परमात्मा से अलग माने, वह मिथ्यादृष्टि संसारी है। किस अपेक्षा से? एक क्षण भी सिद्ध भगवान परमात्मा से मैं अलग हूँ – ऐसा जाननेवाला, उसमें राग और विकल्प की एकता मानी है, राग का कर्ता होकर, पर का कर्ता होकर रुका है, वह सर्वज्ञ के पद से यहाँ अलग पड़ा है। समझ में आया?

परमात्मा का वीतराग पद, उसमें से क्षणभर भी अलग रहा (तो) मूढ़ मिथ्यादृष्टि संसारी निगोदवासी है। क्यों? कि, वह सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेन्द्र भी जानते... जानते... जानते... हैं। भले पूर्ण पर्याय द्वारा जानते हैं और तू अल्पज्ञ भी सर्वज्ञ पूर्ण... पूर्ण स्वभाव

के आश्रय होकर जानता है। समझ में आया? रागादिक भाव आवें उनका यह कर्ता नहीं। जिनेन्द्र कहाँ राग के कर्ता हैं? उन्हें है नहीं और कर्ता नहीं तथा यहाँ है परन्तु वह इसके स्वरूप में नहीं। कोई कहता है कि वीतराग को तो राग नहीं है, इसलिए कर्ता नहीं है परन्तु यहाँ भी तू वीतरागस्वरूप है, वह राग का कर्ता है ही नहीं। समझ में आया? अद्‌भुत बात भाई! गड़बड़ होती है, चारों ओर बेचारे जाने कहाँ धर्म और कहाँ मोक्ष मिलेगा? धर्म और मोक्ष की खान तो तू आत्मा है। कहीं से लटके ऐसा नहीं, ऊपर से पटके – ऐसा नहीं ऐसे जिनेन्द्र भगवानस्वरूप आत्मा है।

शुद्धात्मा में और जिनेन्द्र में कुछ भी भेद मत समझो.... भिन्न मत कर, भिन्न मत हो; ये जुदा हुए, वे एक नहीं होते। आहा...हा...! कोई कहे न, अलग पड़े उनके मन अलग, 'अन्न अलग उनके मन अलग' लोग यह कुछ कहते हैं न? सगे पिता और पुत्र अलग पड़े तो अन्न अलग, मन अलग हो गया। भाई! हमने रोटियों के लिए तेरी बहू को और तेरी माँ को बनता नहीं, इसलिए अलग होते हैं, लो! परन्तु पड़े पीछे अन्दर कुछ फेरफार हुए बिना नहीं रहता। रतिभाई! होता है या नहीं ऐसा? वह बहू आयी हो बेचारी कुछ छूट से खर्च करने के लिए, भाई! अपने पास दो-पाँच लाख है तो दो-पाँच-छह हजार खर्च कर सकते हैं। वह (सास) होवे कंजूस, वह खर्च नहीं करे। अपने ऐसा नहीं होता, खर्च नहीं करते। ऐ...ई...! तब हम अलग हो जाते हैं। इससे पहले मन में जरा ठीक हो वे अलग पड़ने के बाद मन में मिलाप नहीं रहता, हैं? इसी प्रकार सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा की दशा, उससे यहाँ अलग पड़े, राग का कर्ता हो तो अलग हो तो आत्मा नहीं रहे वह। समझ में आता है न? जिसके अन्न अलग, उसका मन अलग हो गया। परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वरस्वरूप मैं आत्मा हूँ, उसकी जिसे अन्तर में प्रतीति (हुई), उसने रागवाला और निमित्तवाला आत्मा नहीं जाना, नहीं माना। ऐसा मानने से उससे अलग नहीं पड़ा, परमात्मा से अलग नहीं पड़ा और (अलग) पड़ा तो राग मेरा, निमित्त मेरा यह परमात्मा से अलग पड़ा, वह अलग में जाएगा, भटकेगा। समझ में आया? आहा...हा...!

मुमुक्षु – पूरा बाहर में ही मशगुल हो गया है।

उत्तर – हैं ? पूरा कहाँ है और कहाँ मशगुल हुआ ? – इसकी इसे खबर नहीं है। आहा...हा... !

मोक्खह कारण णिच्छइ एऊ देखो ! क्या कहते हैं ? **मोक्ष का साधन निश्चयनय से....** यही मानो। दूसरा मोक्ष का साधन कोई नहीं है। यह वीतरागस्वभाव वीतरागता, परमात्मा का, सिद्ध भगवान का, अरहन्त का है – ऐसा ही मेरा स्वभाव है। ऐसा अन्तर में ध्यान करके, उसमें एकाकार होना ही मोक्ष का साधन है; दूसरा कोई मोक्ष का साधन नहीं है। कहो, मोक्षस्वरूप भी स्वयं और उसके साधन के स्वभावरूप होना, वह भी स्वयं। आहा...हा... !

यहाँ तो **मोक्खह कारण णिच्छइ एऊ** देखो ! कारण यह एक ही दिया। दूसरा व्यवहाररत्नत्रय मोक्ष का कारण है, निमित्त मोक्ष का कारण है और गुरु मोक्ष के कारण में है – यह सब यहाँ तो झकझोर कर निकाल दिया है, हैं ?

मुमुक्षु – होवे वह निकाले न ? है अवश्य न ?

उत्तर – था न, दूसरा नहीं ? उसके घर रहा, यहाँ कहाँ है ?

यहाँ तो परमात्मा और आत्मा को अलग नहीं जानना अर्थात् सर्वज्ञ वीतरागी पर्यायवाली पूर्ण परमात्मा है, मैं भी सर्वज्ञ पर्याय भले प्रगट नहीं परन्तु सर्वज्ञ पर्याय प्रगट हो – ऐसी मेरी ताकत है, ऐसा मैं वीतरागस्वरूप हूँ। उसके आश्रय से प्रगट हुई जो दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता, वह स्वरूप का साधन है, मोक्ष का साधन है; बीच में राग-वाग आवे वह साधन-फाधन नहीं है। आहा...हा... ! वीतरागभाव से आत्मा को देखना, जानना, ज्ञाता-दृष्टारूप जानना और देखना, यही मोक्ष का साधन है। रागवाला और राग का कर्ता और मैंने व्यवहार किया, व्यवहार से साधन हुआ – वह मोक्ष का साधन नहीं है।

मुमुक्षु – बड़ा वर्णन करके बड़ा बना दिया।

उत्तर – वर्णन करके नहीं, है ऐसा वर्णन किया। ऐसा बड़ा है, उसे वाणी में वर्णन किया। उस वाणी में पूरा कहाँ आता था ? आहा...हा... ! उसकी महिमा तो वह जाने, तब जाने। जाने, वह माने और माने वह उसमें से वापस हटे नहीं। समझ में आया ? कहो, समझ में आया या नहीं ? मनहरभाई ! वहाँ सूरत-वूरत में कुछ समझ में आये वैसा नहीं है। वहाँ

धूल में कहीं नहीं है। इस भंगार के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। ए...ई... ! मनसुखभाई ! वह फिर निवृत्त हो तो किसी दिन थोड़ा पढ़ता हो परन्तु उसमें इस रीति की समझ, समझ में नहीं आती। यह तो उसकी योग्यता ऐसी हो, तब ही समझ में आती है।

यहाँ तो **मोक्खह कारण** – ऐसा कहा, भाई! आहा...हा... ! इन वीतराग परमात्मा और तेरे भाव में, दोनों में अन्तर मत डाल, यही मोक्ष का कारण है। (अन्तर मत डाल) तो मोक्ष का कारण है। अन्तर डाले कि मैं राग का कर्ता और मैं कर्मवाला और रागवाला और यह वाला.... अन्तर पड़ा यह मोक्ष का कारण, साधन नहीं है। यह बन्धन का साधन है। आहा...हा... ! निश्चय से – निश्चय से अर्थात् सत्य से ऐसा जान। वास्तव में सत्य ऐसा ही है। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। जैसे विकल्प का कर्ता वीतराग नहीं, वैसे यह भी कर्ता नहीं। वे सिद्धभगवान निमित्त को मिलाते नहीं, छोड़ते नहीं; जानते हैं। ऐसे मैं भी निमित्त को मिलाऊँ या छोड़ूँ, यह मुझमें नहीं है। मैं तो जानने देखनेवाला हूँ। ऐसे जानने -देखनेवाले को सर्वज्ञ परमात्मा जैसा जानने से वही मोक्ष का कारण होता है। आहा...हा... !

अब ऐसी बात स्पष्ट की है परन्तु.... आहा...हा... ! अरे... ! अनन्त काल से भूला, भाई ! आहा...हा... ! और भूल को मिटाने का अवसर आया, वहाँ ऊँ...ऊँ... करके बैठा कि यह नहीं, ऐसा नहीं। अरे... ! ठीक बापू ! भाई ! (तेरी भूल) तुझे रोकती है, भाई ! समझ में आया ? ऐसे अवसर में यह अवसर जाता है, हाँ ! यह अवसर जाने के बाद अनाज जम जायेगा, और फिर तुझे नहीं भायेगा। आहा...हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा और परमात्मा में कुछ अन्तर नहीं है। उनकी नात और जात का मैं हूँ। समझ में आया ? आनन्दघनजी ने कहा है न धर्म में ? 'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगसूं, भंगमां पड़सू रे, प्रीत जिनेश्वर.... बीजो मनमन्दिर आणूं नहीं, ऐ एम कुलवट रीत जिनेश्वर... धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंगसूं.... धर्म जिनेश्वर शरण गया पछी, कोई न बाँधे कर्म जिनेश्वर, धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सूं...' आनन्दघनजी हो गये हैं, शान्तिभाई ! सुना है कहीं ? व्यापार के कारण कुछ भी फुरसत कहाँ है ?

भगवान आत्मा.... ! ऐसा कहते हैं, नाथ ! धर्म जिनेश्वर गाऊँ.... धर्म जिनेश्वर मैं

हूँ। मेरे गीत, जिनेश्वर के गीत मैं मेरे गाता हूँ। 'भंग मा पडसू रे प्रीत प्रभुजी'.... प्रभु मेरे एकता में भंग मत पड़ना... मेरे स्वरूप में वीतरागपना है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान में भंग मत पड़ो। 'भंग मा पडसू रे प्रीत जिनेश्वर, बीजो मनमन्दिर आणू नहीं'.... राग विकार और संयोग को मेरे स्वभाव में मैं एकत्वरूप से नहीं लाऊँगा। 'ए अम कुलवट रीत जिनेश्वर...' हे तीर्थंकर! तेरे कुल के वट की रीति में यह आता है, कहते हैं। आपने राग और संयोग को स्वभाव में नहीं मिलाया, नहीं मिलाया, ऐसे परमात्मा हम आपके भगत हैं। आहा...हा...! हम भी राग के विकल्प दया, दान, व्रत के विकल्प और संयोग को आत्मा में नहीं आने देंगे, एकपने नहीं होने देंगे। हम आपके जैसे, एकरूप कैसे होने देंगे? आहा...हा...! रतिभाई! आहा...हा...! परन्तु किसी दिन बात क्या है? उसकी मर्यादा चैतन्य की क्या है? वीतरागता की क्या है? पर्याय की अल्पज्ञता की मर्यादा की हद क्या है? विकार के स्वरूप की स्थिति क्या है? उसका मूल पता लिये बिना यह पता कहाँ से आयेगा? आहा...हा...!

मुमुक्षु – रुक गया बाहर में।

उत्तर – रतनलालजी! दूसरे चिल्लाते हैं, अरे... सोनगढ़वाले... अरे! भगवान! सुन रे सुन, प्रभु!

भाई! इस तेरे स्वरूप की पूर्णता में अपूर्णता कैसे कहना? तेरे स्वरूप को विकारवाला कैसे कहना? तेरे स्वरूप को संयोग में रहा – ऐसा कैसे कहना, सम्बन्धवाला? समझ में आया? वह सम्बन्धरहित, विकाररहित अल्पज्ञतारहित – ऐसा आत्मा, परमात्मा का स्वभाव वैसा मेरा स्वभाव, निश्चयनय से तू सत्यार्थरूप से ऐसा ही जान। ऐसा जानने से तुझे वीतरागता प्रगट होगी; वीतरागता से तुझे अल्प काल में केवलज्ञान होगा, उसमें अन्तर नहीं है। कहो, समझ में आया?

णिच्छइ एऊ वियाणि अन्दर थोड़े छह कारक डाले हैं। सिंह का दृष्टान्त दिया है। **जैसे कोई सिंह का बालक सिंह होने पर भी दीन पशु बनकर रहे....** लो! यह सिंह का बच्चा बकरों में पहले से पला, सिंह का बच्चा बकरों के साथ रहा तो (ऐसा मानने लगा) हम सब एक जाति के हैं। जहाँ एक सिंह आया, दहाड़ मारी, इस दहाड़ से

वह भागा नहीं, दूसरे भागे – बकरे भागे – ऐसी जहाँ दहाड़ आयी, वहाँ भागे, यह क्यों खड़ा रहा? तू तो इसके साथ में है न। तुम्हारी दहाड़ से मुझे कुछ त्रास नहीं लगा। मैं तेरी जाति का हूँ, हाँ! तेरा मुख देखना हो तो, बकरे के मुँह जैसा है या नहीं। पानी में देख! देख तेरा मुँह मेरे जैसा है या बकरे जैसा है? समझ में आया? अरे! तू बकरे के टोले में नहीं रह! आ जा सिंह के टोले में, भाई! इसी प्रकार राग-द्वेष और अज्ञान में पड़ा हुआ, हम रागी, द्वेषी, अज्ञानी, एक इन्द्रिय की जाति के और संसार की जाति के हैं। बकरों में एकमेक हो गया, मूर्ख! दहाड़ पड़ी परमात्मा की, तू परमात्मा मेरी जाति का (मेरी) जाति का, हाँ! मैं नहीं ऐसा नहीं। समझ में आया? देख तो सही अपनी चीज को, मुझ में पूर्णता प्रगटी वैसी पूर्णता प्रगट होने की तुझमें ताकत है या नहीं? सन्मुख तो देख अन्दर। आहा...हा...!

श्रीमद् थे न? श्रीमद्। वे एक बार जंगल जा रहे थे। जंगल... दिशा, उसमें एक ग्वाला खड़ा था, ऐसे देखते-देखते ग्वाला देखा ही करे। कहाँ जाते हैं? ऐसे शान्त, स्थिर, दूसरे व्यापारी की रीति से इनकी रीति अलग, चलने की लाइन अलग, विचार से, मन्थन से चलते हों.... यह कहाँ जाते हैं? ऐसे का ऐसा देखा करें, फिर उसे लगा कि निश्चित अनुसरण करने की इस ग्वाले की टेव है। (इसलिए कहा) भाईयों! मैं कहूँ वैसा करो। मैं एक परमेश्वर हूँ – ऐसा आँख बन्द करके ध्यान करो। ये बनिया, बनिया साधारण हो (वे ऐसा कहें), भाई साहब! अरे...रे...! परमेश्वर कहते हैं। अभी परमेश्वर होंगे?

श्रीमद् ने कहा कि अरे...! भाईयों! परमेश्वर होओ, भाई! तेरा स्वरूप (परमेश्वरस्वरूप है) मैं परमेश्वर हूँ – ऐसा आँख बन्द करके विचार करो, बस! फिर अनुकरण करने की बुद्धि थी, इसलिए यह परमेश्वर नहीं – ऐसा कैसे हो? इस भेद का कोई विचार ही नहीं। ऐसे तीन लोक के नाथ की आवाज आयी थी तू मेरे जैसा मेरी जाति का है। कर विचार अन्दर, उसने भी... भाईसाहब! इतने-इतने कर्म लगे हैं, इतना-इतना हमने राग किया है। ए... निकाचित् कर्म बाँधे हैं, यहाँ चिल्लाते-चिल्लाते (कहते हैं) निकाचित् कर्म पड़े हैं। कहा, परन्तु किसे, तुझे निकाचित्? देख तो सही तू! कर्म जड़ में रहे, राग-राग में रहा; अल्पज्ञता पर्याय में रही; पूर्ण स्वरूप में अल्पज्ञान विकार और कर्म-फर्म नहीं आते।

आहा...हा... ! आदत पड़ गयी है न, आदत। देख तो सहीं, बकरे के झुण्ड में है। तेरी आँखें चमड़ी है, ऐसा देखा है कभी ? ऐसे-ऐसे देखा किया है। यह बकरा है ऐसा मैं हूँ बकरे के झुण्ड में पला हूँ, दहाड़ आयी तो त्रास नहीं हुआ। सुन तो सही ! मेरी जाति का है। दहाड़ आयी और त्रास नहीं हुआ और इन बकरों को त्रास हुआ। जाति में अन्तर है या नहीं ? इतना पता नहीं पड़ता ? तब कहता है पूरा शरीर फर्क है या नहीं ? तो ऐसा किस प्रकार देखे ? पानी में देख, हाँ.... ! मेरा मुँह इनके जैसा लगता है।

इसी प्रकार भगवान के चैतन्य के पानी का तेज अन्दर भरा है, उसे तू एक बार विश्वास द्वारा 'परमात्मा और मुझ में कुछ अन्तर नहीं है' – (ऐसा देख)। आहा...हा... ! समझ में आया ? इस मेरे परमात्मा की दशा का कर्ता में, साधन में, कार्य मेरा, मैं ही परमात्मा होकर मेरी दशा को मैं देता हूँ, मेरे द्वारा देता हूँ और मेरे आधार से करनेवाला मैं परमात्मा हूँ। राग और निमित्त और किसी के आधार से मेरा कार्य हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु – एक कार्य में दो कारण नहीं आते ?

उत्तर – कारण आये अब, पूरा आत्मा आया। भगवान जिसके पास खड़ा, उसे दूसरे की आवश्यकता क्या है... ? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। भेद न जान ! हैं ?

मुमुक्षु – बकरा मैं... मैं... करने .....

उत्तर – वह तो बकरा मैं... मैं... किया ही करेगा। सिंह अन्दर आया हो, वह उसमें नहीं रह सकेगा। समझ में आया ? आहा...हा... ! ऊँचा किया है न ! ऊँचा ! उसके रोम, ऊँचे कर डाले सुन तो सही, मूर्ख ! कौन है तू ? किसकी जाति का है ? दशाश्रीमाली बनिया हो, पाँच करोड़ या दस करोड़ का व्यक्ति हो, लड़के का विवाह होता हो (और दूसरा) बनिये का – दशाश्रीमाली का भले गरीब व्यक्ति हो, पाँच-पचास का वेतन लाता हो तो भी उसके मण्डप में आ जायेगा। मण्डप में आ पड़ेगा। मेरी जाति का प्रीतिभोज है, हम एक जाति के हैं, हैं... भाई ! नीचकुल का लड़का हो, घर में बंगला हो (परन्तु) अन्दर नहीं जायेगा। छुआरे का मन हो गया, लाओ न छुआरा ले आओ न ? दरवाजे पर खड़ा रहेगा, दरवाजे के समीप खड़ा रहेगा। छुआरा लेकर चला जाएगा, दूसरा अन्दर चला जायेगा।

इसी प्रकार सिद्ध भगवान के मण्डप में प्रविष्ट होनेवाले हम आत्मा हैं, कहते हैं। हम दूर रहें, आगे रहें, दरवाजे पर रहें, ऐसे हम नहीं हैं। एक बार तो निर्णय कर आहा...हा...! हम राग करें, दया पालें, कुछ भक्ति करें, कुछ व्रत पालें तो भगवान आत्मा हाथ में आवे। मर गया... मूर्ख! अब सुन न! राग में आत्मा हाथ में आता होगा? तू राग है? तू राग है? तू पर है? तू विकार है कि उससे अपने को लाभ हो? समझ में आया? ए... प्रवीणभाई! राम... राम... राम... राम... (करे)।

यहाँ तो बहुत लम्बी बात ली है। थोड़ा तप लिया है, हाँ! इस ओर, देखो पृष्ठ ११२ है न! **सिद्ध भगवान स्वयं के द्वारा ही अपनी स्वानुभूति की तपश्चर्या निरन्तर तपते हुए परम तप के धारक हैं**। वे दश धर्म लिये हैं न? वे। भगवान! यह तपधर्म, सिद्ध में भी तपधर्म हैं और मुझ में भी है। कौन सा तप? **सिद्धभगवान स्वयं के द्वारा ही अपनी स्वानुभूति....** अपने आनन्द का अनुभव सिद्धभगवान स्वयं करते हैं। ऐसी तपस्या आनन्द से निरन्तर तप रहे हैं, वे परम तप के धारक हैं। मैं भी ऐसा हूँ। **मैं भी स्वात्माभिमुख होकर अपनी ही स्वात्मरमणता की अग्नि में निरन्तर अपने को तपाता हुआ परम इच्छानिरोध तप गुण का स्वामी हूँ**। सिद्ध के साथ मिलाया है। सिद्ध के साथ.... वे है न... उनके जैसा तू। समझ में आया? भगवान आत्मा में और सिद्ध आत्मा में कोई अन्तर नहीं है; इस प्रकार उनमें अन्तर निकाल दे तो सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। यही तेरे मोक्ष का साधन है। दूसरा कोई साधन नहीं है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आत्मा ही जिन है, सही सिद्धान्त का सार है

जो जिणु सो अप्पा मुणहु, इहु सिद्धंतहँ सारु।
इउ जाणेविणु जोइयहो, छंडहु मायाचारु ॥२१॥

जिनवर सो आतम लखो, यह सैद्धान्तिक सार।
जानि इह विधि योगिजन, तज दो मायाचार॥

अन्वयार्थ – **(जो जिणु सो अप्पा मुणहु)** जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो **(इह सिद्धंतहु सारू)** यह सिद्धान्त का सार है। **(इउ जाणेविणु)** ऐसा जानकर **(जोइयहो)** हे योगीजनों! **(मायाचारु छंडहु)** मायाचार छोड़ो।

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण १२, बुधवार, दिनाङ्क १५-०६-१९६६
गाथा २१ से २३ प्रवचन नं. ९

२१... **आत्मा ही जिन है, सही सिद्धान्त का सार है**। देखो, इस गाथा में, चारों ही अनुयोगों का सार क्या है? वह यह बतलाते हैं। सर्व सिद्धान्त का सार... सर्वज्ञ के मुख में से जो दिव्यध्वनि (निकली); सर्वज्ञ वीतराग होने के बाद दिव्यध्वनि निकली, उस दिव्यध्वनि का सार क्या है? वह इसमें कहा जाता है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु, इहु सिद्धंतहँ सारु।
इउ जाणेविणु जोइयहो, अण्णु म करहु वियप्पु॥२१॥

जो जिनेन्द्र है, वही यह आत्मा है – ऐसा मनन करो। भगवान की वाणी में ऐसा आया, चारों अनुयोगों में – प्रथमानुयोग में भी यह आया। भले ही कथानुयोग में इस आत्मा को शुद्ध आत्मा का साधन करते हुए, उसे रागादि कितने रहे और कहाँ स्वर्ग में

गया ? – उसकी बातें वहाँ हैं। प्रथमानुयोग में भी आत्मा के शुद्धस्वरूप को (बताते हैं) क्योंकि जिनेन्द्रदेव ने ध्वनि द्वारा कहा, वह तो वीतरागपना करने का उन्होंने कहा। स्वयं सर्वज्ञ और वीतराग होकर वाणी आयी तो उस वाणी में – हम जो हैं, इतना तू है, वह हम हैं, स्वरूप से, हाँ! परमेश्वर के स्वरूप में और आत्मा के स्वरूप में कहीं अन्तर नहीं है। वस्तु भले भिन्न है परन्तु भाव में कोई अन्तर नहीं है।

मुमुक्षु – पुराण में भी ऐसा लिखा है।

उत्तर – पुराण में यह लिखा है। पुराण में लिखने का सिद्धान्त का सार यहाँ क्या कहा ? **इह सिद्धंतहु सारु** पुराण में कहा हो तो भी जो आत्माएँ अपने स्वरूप को वीतराग ज्ञाता-दृष्टास्वरूप जानकर, भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद चैतन्य का साधन किया, उनकी कथाओं के वर्णन को पुराण कहते हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेवों का उसमें वर्णन है परन्तु उस पुरुष ने वर्णन में किया क्या ? कहा क्या ? और किसलिए कहा ? इन सब वर्णन में यह आत्माएँ – शलाका पुरुष, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव इत्यादि – इन्होंने मूल आत्मा के अन्तरस्वरूप का (साधन किया) वीतराग जैसा ही मैं आत्मा हूँ.... समझ में आया ? उन्हें मोक्ष प्रगट हो गया; मुझे मोक्ष, स्वभाव में विद्यमान है – ऐसे आत्मतत्त्व को वीतराग परमात्मा जैसा अपने को जानना ही अनुयोग में – प्रथमानुयोग में कहने का सार है। कहो, समझ में आया ?

दूसरा करणानुयोग। करणानुयोग में भी यह सार है कि देखो भई! कर्म निमित्त है, उनके निमित्त से विकार होता है, उसकी अवस्थाएँ अनेक प्रकार की होती है परन्तु यह कर्म और यह कहते हैं, उसका सार यह है कि इससे रहित आत्मा है। समझ में आया ? करणानुयोग में कहने का आशय तो यह है कि कर्म एक चीज है, उसके लक्ष्य से जीव की अवस्थाएँ अनेक होती हैं और उसके परिणाम कैसे होते हैं, उन्हें बतलाते हैं परन्तु वे सब विकारी परिणाम और कर्म, यह व्यवहार वस्तु है। यह बतलाने का आशय तो तू उनसे रहित है ऐसा बतलाना है।

मुमुक्षु – कर्म से दुःखी हुआ – ऐसा नहीं बतलाना ?

उत्तर – ऐसा नहीं बतलाना है। उनसे सहित है – ऐसा नहीं बतलाना है। रहित

है तो रहित हो, इसलिए बतलाना है। समझ में आया? कर्म का विकार का सहितपना बतलाने का हेतु यह है कि वस्तु को वर्तमान पर्याय से सम्बन्ध है, वस्तु के स्वभाव में उसका सम्बन्ध नहीं है, यह बतलाने के लिये यह बात की है। समझ में आया? करणानुयोग में भी सार तो यह है कि ऐसे परिणाम ऐसे हों, शुभ-अशुभ, अशुद्ध... समझ में आया? उसमें निमित्त कौन होता है? एक में – शुद्ध में निमित्त का अभाव होता है, यह बतलाकर बताना है तो आत्मा वीतराग परमात्मा के समान है। परमात्मा द्वारा कथित तत्त्व परमात्मा होने के लिये ही कथन होता है। सर्वज्ञ और वीतराग होकर फिर कथन आया, उसका अर्थ क्या हुआ? कि तू सर्वज्ञ और वीतराग हो, इसके लिए कथन आया है। आहा...हा...! अत: चारों अनुयोगों में यह कथन उसके सार में आता है। कहो!

भगवान आत्मा परमात्मा के समान है, भाई! हमने सहित कहा है, वह रहित बताने के लिये (कहा है)। उसका सहितपना वस्तु में नहीं है, यह बतलाने के लिये सहितपना बतलाया है। समझ में आया? तात्पर्य तो वीतरागता है या नहीं? तो वीतरागता कब आती है? ज्ञानावरणीय ने ज्ञान को रोका – ऐसा बतलाया, अर्थात्? कि भाई! तू जब ज्ञान की अवस्था हीन करता है, तब ज्ञानावरणीय निमित्त है। यह बतलाने का हेतु – उस हीनता की दशा और निमित्तपने का आश्रय छोड़। रखने के लिये कहा है? वीतरागता बतलाने के लिये कहा है या परमात्मा होने के लिये कहा है? या वहाँ रुकने के लिये कहा है? पूजा करने के लिये कहा है?

मुमुक्षु – अन्तराय कर्म की पूजा, ज्ञानावरणीय कर्म की पूजा.....

उत्तर – अनतराय की पूजा भी क्या? अल्पज्ञ परिणमन के आदर के लिये नहीं कहा। अल्पज्ञ दशा तेरी तुझसे होती है, अल्प दर्शन होता है, अल्प वीर्य होता है, यह बताकर पूर्णानन्द अखण्ड परमात्मा के समान आत्मा है, और मैं परमात्मा हुआ तो तू हो सके ऐसा है। यह बतलाने के लिये करणानुयोग में कथन है। क्या कहते हैं? देखो न!

जो जिणु सो अप्पा मुणहु जो मोक्षतत्त्व प्राप्त भगवान हैं – ऐसा आत्मा को जान। लो! कोई कहे, हमें मोक्ष का क्या काम है? समझ में आया? सर्वज्ञ भगवान सर्वज्ञ की जाने, हमें क्या काम है? आहा...हा...! इसका अर्थ क्या है? सर्वज्ञ परमात्मा एक समय

में त्रिकाल ज्ञान – ऐसा बतलानेवाले भगवान भी कहते हैं कि तू त्रिकाली ज्ञान ही है। तीन काल तीन लोक को जाननेवाला ही तू वर्तमान है। राग का कर्ता या सम्बन्ध में लक्ष्य जाये, वह कहीं वास्तविक स्वरूप नहीं है – यह बतलाने को सर्वज्ञपद, जिनपद और मोक्षपद बतलाया है। समझ में आया? पहले विवाद पूरा... सर्वज्ञ है या नहीं? सर्वज्ञ का सर्वज्ञ जाने। अरे... भगवान!

यहाँ तो कहते हैं, 'जिन सो हि है आत्मा' – इन सर्वज्ञ ने जो बतलाया – ऐसा ही यह आत्मा है। स्वयं को जानना ही नहीं चाहता, उसकी दरकार ही नहीं है। इस बात में ऐसे शल्य होते हैं, सूक्ष्म शल्य ऐसे रहे होते हैं। यह तो बहुत स्थूल है परन्तु अनन्त काल में नौवें ग्रैवेयक गया, ऐसा सूक्ष्म शल्य अन्दर मिठास का रह गया है कि उसका पता इसके हाथ में नहीं आया। समझ में आया? कहीं-कहीं अधिकपने राग को, विकल्प को, पुण्य को, निमित्त को, स्वभाव में से अनादर करके कहीं-कहीं अधिकपना माना-मनवाया – ऐसी दृष्टि में रुका परन्तु जिन, वह आत्मा – ऐसा इसने नहीं जाना है। समझ में आया? देखो न! सार-सार बात भरी है।

जो जिनेन्द्र है, वही यह आत्मा है.... वही यह आत्मा है.... ऐसा, ऐसा। **ऐसा मनन करो**। ऐसा मनन करो। करणानुयोग में भी यही कहा है और चरणानुयोग में भी यह कहा है कि श्रावक के, मुनि के व्रत कैसे होते हैं? कहाँ? कि जहाँ शुद्धात्मा जिन-समान है – ऐसा जाना है, उसकी शुद्धता प्रगट हो गयी है, उस भूमिका के प्रमाण में राग के आचरण का भाव कैसा होता है? यह वहाँ बतलाया है। अकेले राग के आचरण के लिये राग बतलाया है? समझ में आया?

वीतराग परमानन्द प्रभु, राग और अल्पज्ञता का आदर छोड़कर – निमित्त, राग और अल्पज्ञता का आदर छोड़कर सर्वज्ञ परमात्मा, सर्वज्ञ हुए। इसी प्रकार (तुझे) सर्वज्ञ होना होवे तो हमारे जैसा तू कर, हमारे जैसा तू है – ऐसा पहले स्थापित कर। मैं वस्तु से पूर्ण परमात्मा वीतराग हूँ। अल्पज्ञता है, राग है, वह आदरणीय नहीं है। इस प्रकार चरणानुयोग में भी यह कहा है – ऐसा वर्तन श्रावक का, मुनि का व्यवहार से होता है। वह व्यवहार होता कहाँ है? कि निश्चय ऐसी शुद्धता हो वहाँ। कैसी शुद्धता? मैं वीतराग समान

परमात्मा हूँ, अकेला ज्ञाता-दृष्टा आत्मा परिपूर्ण हूँ – ऐसे भान की भूमिका में बाकी रहे हुए आचरण का राग कैसा होता है ? वह चरणानुयोग में बतलाया गया है। इसलिए उसमें सार तो आत्मा ही है। सार, यह राग की क्रिया सार नहीं है। भेद से बताया है तो अभेद; भेद सार नहीं है। व्यवहार से बतलाया है निश्चय; व्यवहार सार नहीं है। समझ में आया ? इस व्यवहार के आचरण से बतलाया कि वहाँ निश्चय कैसा होता है ? यह बतलाया है।

यहाँ तो स्पष्ट बात करते हैं, देखो ! **जो जिणु सो अप्पा** यहाँ तो वीतराग, वह आत्मा – ऐसा। किसी को ऐसा हो जाता है – हम दो आत्मा एक होंगे ? उसका अर्थ कि सर्वज्ञ परमात्मा कन्द शुद्ध चिदानन्द स्थित हैं। ऐसा ही तू कन्द शुद्ध ज्ञातादृष्टा का कन्द उसे आत्मा कहते हैं। **जो जिणु सो अप्पा** आत्मा अत्यन्त वीतरागता का पिण्ड ही है। परमात्मा पर्याय में वीतराग पिण्ड हो गये हैं, यह वस्तु से वीतराग पिण्ड ही है। इस जानने-देखने की क्रिया के अतिरिक्त इसकी कोई क्रिया है ही नहीं। ऐसा तू आत्मा को जिन-समान जान। द्रव्यानुयोग में तो यही चलता है। यह तो द्रव्यानुयोग की व्याख्या है। समझ में आया ?

तीन अनुयोग की बात हुई। द्रव्यानुयोग में तो आत्मा को शुद्ध बतलाना है, अभेद बतलाना है। भेद से बतलावे तो भी भेद बतलाना है ? व्यवहार से व्यवहार बताया है ? बताया है अभेद। यह वस्तु परमात्मा पूर्ण है। इसे विश्वास कहाँ है ? महा सत्स्वरूप भगवान चिदानन्द परमात्मा, अनन्त परमात्मा जिसके गर्भ में स्थित है, उसका प्रसव करने की ताकत इस आत्मा में है। राग को प्रगट करे, वह आत्मा नहीं, वह आत्मा में नहीं; अल्पज्ञता रहे वह आत्मा में नहीं है। ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! कहो, प्रवीणभाई ! ऐसी बातें सुनी नहीं।

मुमुक्षु – आपकी बात लक्ष्य में लेने के लिए कितनी योग्यता चाहिए ?

उत्तर – कितनी योग्यता (चाहिए), ठीक न ? ए...य... आहा...हा... ! क्या कहते हैं ? परन्तु सामने शब्द पड़ा है या नहीं ? सबके हाथ में पुस्तक है या नहीं ? नामा मिलाते हैं या नहीं ? बनिये मिलाते हैं न ? यह दीपावली आवे तब नहीं मिलाते ? यह दीपावली का

अवसर आया न, केवलज्ञान प्राप्त करने का अवसर है। आहा...हा...! समझ में आया? संसार का संक्षिप्त, संसार का संक्षिप्त, मोक्ष का विस्तार। आहा...हा...!

सिद्धान्त सार यह है। देखो न पाठ में तो कैसा शब्द रखा है! चार अनुयोग के सिद्धान्त का सार इस संसार का अभाव और मोक्ष की उत्पत्ति है। ऐसा आत्मा परमात्मा समान हूँ, यह जाने बिना इसे स्वभाव का आश्रय नहीं होता और अल्पज्ञता तथा राग का आश्रय नहीं मिटता तो सर्वज्ञ और वीतराग नहीं होता। आहा...हा...! यह (मात्र) बात नहीं, यह वस्तु है। समझ में आया? भगवान आत्मा एक समय में जैसे परमेश्वर जिनेन्द्र तीन लोक के नाथ अनन्त गुण की समृद्धि से व्यक्तपने प्रगट है – ऐसे जो परमात्मा के झुण्ड सिद्धनगरी में विराजमान हैं... समझ में आया? सिद्धनगर में अनन्त सिद्ध विराजमान हैं – ऐसा ही भगवान आत्मा.... समझ में आया? इसके बाद कहेंगे या नहीं वह? असंख्य प्रदेश.... कहाँ रहते हैं? वह क्षेत्र लेंगे, फिर २३ में लेंगे। २३ में है, २४ में एक है, वह फिर क्षेत्र बतलाना है, इन्होंने। सब गुण कहाँ रहे हैं और इतना तू है यह बताना है। आहा...हा...!

भाई! तू नजर को जरा बाहर से समेट। सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्होंने बाहर से संकोच किया और अन्दर का विस्तार किया था। समझ में आया? इतनी अनुभव की दृष्टि हुई कि मैं तो पूर्ण अभेद परमात्मा ही हूँ, मुझमें और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार अन्तर नहीं है – ऐसा करनेवाले को अन्तर मिट जायेगा। समझ में आया? आहा...हा...! यह तो योगसार है। सन्त, दिगम्बर सन्तों का कोई भी शास्त्र लो, छोटी गाथा लो, बड़ी गाथा लो, कुछ (भी लो) परन्तु सन्तों की कथन शैली अलौकिक है। सनातन वीतराग परमेश्वर तीन लोक के नाथ ने जो धर्म कहा, उसे दिगम्बर सन्तों ने धारण करके ढिंढ़ोरा पीटा। धर्म धुरन्धर धर्मात्मा.... देखो। योगीन्द्रदेव पुकार.... पुकार... (करते हैं)। अरे! आत्मा! परमात्मा जैसा... जिन और तुझमें अन्तर डालता है? भेद करता है? भेद करेगा तो भेद कब छूटेगा? समझ में आया?

जो जिनेन्द्र है, वही यह आत्मा है - ऐसा मनन करो। मैं रागवाला, निमित्तवाला अल्पज्ञवाला – ऐसा मनन नहीं करो। आहा...हा...! अरे... मैं अल्पज्ञ, अरे... ऐसी

ताकत.... वह मुझमें होगी? यह रहने दे। समझ में आया? मैं तो पूर्ण परमात्मा होने योग्य नहीं परन्तु मैं अभी परमात्मा हूँ। आहा...हा...! मैं स्वयं द्रव्यस्वभाव से परमात्मा हूँ। यह वीतराग और (मैं) दोनों में मुझे अन्तर नहीं है – ऐसा मनन कर। **यही सिद्धान्त का सार है**। देखो चारों अनुयोग और लाखों कथनों का यह सार है। आहा...हा...! समझ में आया?

इह सिद्धंतहु सारु ओ...हो...हो...! अच्छे शब्दों के शास्त्र, वीतरागी समस्त वाणी के शास्त्र या दिव्यध्वनि, इन सबका सार तो यह है। परमात्मा समान जानना – इसका अर्थ कि निमित्त, राग और अल्पज्ञ तरफ की रुचि छोड़ दे और सर्वज्ञ – वीतरागस्वरूप मैं आत्मा-परमात्मा हूँ – ऐसी अन्तरदृष्टि कर। तू पर्याय में परमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा। फिर तू नहीं रह सकेगा। यह है या नहीं? ए...इ...!

विद्यमान को अविद्यमानता फिर नहीं रुचती अधिक पैसेवाले होते हैं न? उस पुत्र का विवाह होता हो वहाँ चूं... चें... करता होगा? और इकलौता लड़का हो, तथा पचास लाख की पूँजी हो तो (ऐसा बोलता है) ए... खर्च करो अभी पाँच लाख और लड़का कमाऊ हो, पैसे आते हैं, कन्या करोड़ रुपये लाती हो, कन्या लानेवाली हो... दस हजार नहीं। सुमनभाई तो दस हजार लाते हैं। वह कन्या तो करोड़ रुपये लेकर आती हो, पाँच करोड़ तो यहाँ हो और लड़का लाखों करोड़ों कमाता हो। लाओ, पानी... ओ...हो...! और बीस वर्ष का युवा पुत्र हो... कहो? इसमें वह कमी रखता होगा? विद्यमान को अविद्यमान शोभता होगा? इसी प्रकार भगवान पूर्ण परमात्मा जैसा विद्यमान है, उसे अल्पज्ञ और राग शोभता होगा? समझ में आया? क्या कहते हैं यह? आहा...हा...!

जो जिणु सो अप्पा मुणहु मार धड़ाक पहले से, पामर है या तू प्रभु है? तुझे क्या स्वीकार करना है? पामरपना स्वीकार करने से पामरपना कभी नहीं जायेगा, प्रभुपना स्वीकार करने से पामरपना खड़ा नहीं रहेगा। समझ में आया? आहा...हा...! भगवान आत्मा... मैं स्वयं द्रव्य से परमेश्वरस्वरूप ही हूँ – ऐसा जहाँ परमेश्वरस्वरूप का विश्वास आया तो वीतराग जैसा हुए बिना नहीं रहेगा। दृष्टि में वीतराग हुआ, वह स्थिरता से होकर अल्प काल में केवलज्ञान लेगा – ऐसी यहाँ बात करते हैं। समझ में आया? अरे...! हम

कब होयेंगे ? अरे ! क्या होगा ? अब छोड़ न परन्तु लप.... कब क्या होगा क्या ? है। है, पूरा भगवान परमात्मा पूर्णानन्द जिनेश्वर जैसा आत्मा है, ऐसे सब भगवान हैं, हाँ ! सब भगवान हैं, उसे देख न ! राग और अल्पज्ञता वह कहीं आत्मा है ? अल्पज्ञता है, वह तो व्यवहार आत्मा हुआ.... रागादि तो परतत्त्व हुआ... कर्म आदि तो अजीवतत्त्व हुआ। जो आत्मा है, उसे तू देख न ! तो आत्मा है, वह तो अल्पज्ञ, राग और निमित्तरहित है। समझ में आया ? इन जिन (जिनेन्द्र) को जैसे अल्पज्ञता राग और निमित्त नहीं है, वैसे ही मुझे भी अल्पज्ञता, राग और निमित्त नहीं है। मैं सर्वज्ञ समान हूँ। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इउ जाणेविण जोयइहु – ऐसा जानकर, हे धर्मी जीव ! **मायाचारु छंडहु**। क्या कहते हैं ? यह अल्प राग और यह राग करते हैं और अमुक करते हैं और अमुक करेंगे – ऐसा करते-करते होता है – ऐसी माया छोड़ दे। भगवान पूरा सीधा-सरल पड़ा है। समझ में आया ? राग करोगे तो ऐसा होगा, ऐसी पुण्य की क्रिया लोगों को बताई... आहा...हा... ! कठिन क्रिया ! क्या करना है तुझे ? राग करके बताना है कि मैं साधु हूँ ? यह करके बताना है तुझे या यह करके बताना है ? – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? साधु की क्रिया और राग की क्रिया... देखो ! इसमें एकदम ऐसी निर्दोष की है, ऐसी की है, ऐसी की है। क्या है तुझे ? आहा...हा... ! मायाचार शब्द से.... चारित्रवन्त है न ? उन्हें तीन शल्य नहीं होते – माया, निदान, और मिथ्यात्व – तीन शल्य ही नहीं होते। भगवान को शल्य हो तो तुझे शल्य हो। सिद्ध भगवान को है ? तो जिन सो ही है आत्मा.... श्रीमद् ने नहीं कहा कुछ ? जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म। यह तो बनारसीदास ने लिखा है। इसी वचन से समझ ले जिन वचन का मर्म। जिन सो ही है आत्मा और अन्य सो ही है कर्म, इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म। लो ! फिर यह आ गया। देखो, इसके साथ मेल, हैं ? यह बनारसीदास में है। देखो, यहाँ यह कहा।

जिन सो हि है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म;
इसी वचन से समझ ले जिन प्रवचन का मर्म॥

आहा...हा... ! भगवान भी उसे बड़ा करने जाये तो कहे, नहीं... नहीं... नहीं... नहीं... भाईसाहब ! ऐसा नहीं, हाँ ! इतना बड़ा मैं नहीं, इतना बड़ा मैं नहीं। खर्च देना पड़े

इसलिए ? बहुत पैसावाला बताओ तो तुम पैसा लूटने के लिये बड़ा... बड़ा... बड़ा... कहते हो ? ऐसा कहते हैं। तुम तो बहुत पैसेवाले हो, तुम तो ऐसे हो – ऐसा कहकर हमारे पास से कुछ लेना है ? बड़ा बतलाकर हमारे क्या करना है ? यह बड़ा बतलाकर छोटापना लूटना है, सुन न! पैसा नहीं लूटना वहाँ तेरे पास से।

मुमुक्षु – वाचालपना यहाँ काम आवे ऐसा नहीं है।

उत्तर – वाचाल-फाचाल यहाँ है ही नहीं। बनिया वाचाल जैसा, यहाँ वाचाल कहाँ आत्मा में था ? ए... छगनभाई! 'रण चढ़ा रजपूत छूपे नहीं, चन्द्र छुपे नहीं बादल छाया, चंचल नारी को नैन छुपे नहीं, भाग्य छुपे नहीं भभूत लगाया।' राजा साधु हो तो उसका ललाट छुपा रहता होगा ? यह तो बड़ा पुण्यवन्त प्राणी लगता है, वैभव छोड़कर (आया है)। वैभवशाली मनुष्य लगता है। समझ में आया ? वैसे ही आत्मा भगवान अपने रणक्षेत्र में चढ़ा, आहा...हा...! मैं तो परमात्मा और मुझमें कोई अन्तर नहीं। आहा...हा...! इस प्रकार अपनी दृष्टि में भगवान आत्मा को समभावी वीतरागरूप पूर्णानन्दरूप देखता हुआ, वीतराग में और आत्मा में कहीं अन्तर नहीं देखता। सिद्धान्त के सार को मायाचाररहित होकर प्राप्त कर जाता है। समझ में आया ? यह अन्तरस्वरूप भगवान जैसा है, वहाँ जाकर स्थिर हो न! बाहर के आचरण से मैं कुछ बड़ा हूँ – ऐसा बतलाना चाहता है ? समझ में आया ? नग्नपना हुआ तो बड़ा हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालने से बड़ा हुआ – इनसे बड़ा है ? माया है भाई! समझ में आया ? जिससे अन्दर भगवान बड़ा होता है, उसकी महिमा से तुझे तू देख न! उसकी शोभा से तू शोभित हो न! पर की शोभा से शोभकर दूसरे को दिखाना है ? तुझे क्या करना है ? समझ में आया ? आहा...हा...!

धर्मधोरी धुरन्धरा महाविदेहक्षेत्र में विचरे.... क्या कहा पहले ? धर्म काल अहो वर्ते, धर्मक्षेत्र विदेह में.... देखो! पहले काल लिया, क्षेत्र लिया, धर्मधुरन्धर (यह) द्रव्य लिया, धुरन्धर क्या कहा ? बीस-बीस जहाँ गरजे धोरी धर्मधुरंधरा.... आहा...हा...! यह वस्तु ली। काल, उसका क्षेत्र, उसका द्रव्य, उसका भाव तो उसके पास, अन्दर है। ऐसे भगवान.... धोरी धर्म धुरन्धरा.... धोधमार! उन्होंने कहा है, हाँ! देखो **तीर्थंकरों द्वारा जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है, वही सिद्धान्त का मूल स्रोत है**। सिद्धान्त का मूल स्रोत वहाँ

से आया है। पहली लाइन है, भाई! **उस जिनवाणी को गणधर आदि मुनि धारणा में लेकर बारह अंग की रचना करते हैं....** और बारह अंग का सार इसमें बताया है। दिव्यध्वनि में ही कहा है। आहा...हा...!

वीतराग हुए, सर्वज्ञ हुए, (वे) अल्पज्ञता में रखने के लिये बात करते होंगे? राग के कर्तृत्व में रखने के लिये बात करते होंगे? निमित्त का लक्ष्य रखना और मोक्ष लेना – इसके लिये भगवान की वाणी है? आहा...हा...! निमित्त का लक्ष्य रखना? निमित्त आवे तो काम होता है? यहाँ त्रिकाल पड़ा है, वहाँ एकाग्र हो तो काम होता है – ऐसे वहाँ जा! वीतराग की वाणी में यह आया है। कठिन परन्तु... पामरता को ऐसी तोड़ डाली है, पामरता को तोड़ डाला है। प्रभुता तो एक ओर पड़ी रही। फँस गया, फँसा यह कहीं।

कहते हैं आहा...हा...! **इउ जाणेविण जोयइहु छंडहु मायाचारु**। इस राग द्वारा, विकल्प द्वारा माहात्म्य मानना छोड़ दे। समझ में आया? इस वाणी के उपदेश द्वारा या बहुत वाणी मिली और समझाने का राग (आया), इसलिए उस वाणी द्वारा मेरी महिमा है (–यह बात) छोड़ दे। आहा...हा...! यह तो मायाचार है। एक ओर छोड़ न! महिमा तो यहाँ अन्दर प्रभुता विराजमान है, उसके शरण में जाने से तेरी शान्ति और वीतरागता प्रगट होगी। हमें बहुत आता है, हजारों लोग हमने ऐसे किये, हमने लाखों पुस्तकें बनायी – यह कोई तेरे आचरण हैं? यह तेरे आचरण हैं? तूने इससे शोभा, महिमा मनवाता है? क्या कहते हैं? मैंने बहुत शिष्य बनाये.... बनाये धूल में... कौन बनावे, कौन बनावे? और किसके बनाने से कौन बनता है? भगवान स्वयं परमात्मा समान है – ऐसा अन्तर जानकर स्थिर हो, (उसे) स्वयं को महिमा और लाभ मिलता है, बाकी धूल-धाणी है। समझ में आया?

छंडहु मायाचारु मुनि को मायाचार छोड़ने की जरूरत पड़ी? हाँ, इसका अर्थ यह। विकल्प के जाल द्वारा और शरीर की स्थिति द्वारा माहात्म्य मत मान, इससे महत्ता मत कर, यह मुझे बहुत कहना आता है, समझाना आता है, बड़ा आचार्य हुआ हूँ... समझ में आया? हमें पदवी मिली है। देखो! हमारे नीचे पाँच-पाँच सौ साधु बड़े करके बैठाये हैं, इनसे बड़प्पन मत मान, रहने दे। ए... हरिभाई! आहा...हा...! कठिन बात, भाई! कहो यह २१ गाथा (पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

मैं ही परमात्मा हूँ

जो परमप्पा सो जि हउँ, जो हउँ सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइया, अण्णु म करहु वियप्पु॥२२॥

जो परमात्मा सो हि मैं, जो मैं सो परमात्म।
ऐसा जानके योगीजन! तज विकल्प बहिरात्म॥

अन्वयार्थ – **(जोइया)** हे योगी! **(जे परमप्पा सो जि हउं)** जो परमात्मा है वही मैं हूँ **(जो हउं सो परमप्पु)** तथा जो मैं हूँ सो ही परमात्मा है **(इउ जाणेविणु)** ऐसा जानकर **(अण्णु वियप्प म करहु)** और कुछ भी विकल्प मत कर।

☆ ★ ☆

२२। अब स्वयं ही आया, उस (२१ गाथा में) जिन सो हि परमात्मा (कहकर) ऐसी जरा तुलना की थी। अब मैं ही परमात्मा हूँ, ऐसा अनुभव कर, मैं ही परमात्मा हूँ, वीतराग सर्वज्ञदेव की ध्वनि में, त्रिलोकनाथ परमात्मा सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में लाखों-करोड़ों देवों की हाजिरी में भगवान की वाणी में आया ऐसा फरमाते थे कि तू परमात्मा है ऐसा निर्णय कर! तू परमात्मा है ऐसा निर्णय कर, ओ...हो...हो...! भगवान! परन्तु आप परमात्मा हो, इतना तो निर्णय करने दो! – कि यह परमात्मा हम हैं – ऐसा निर्णय कब होगा? – कि तू परमात्मा है – ऐसा अनुभव होगा, तत्पश्चात् यह परमात्मा है, ऐसा व्यवहार तुझे निर्णित होगा। निश्चय का निर्णय हुए बिना व्यवहार का निर्णय नहीं होगा। आहा...हा...! देखो, बदली बात!

जो परमप्पा सो जि हउँ, जो हउँ सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइया, अण्णु म करहु वियप्पु॥२२॥

आहा...हा...! देखो, यह! कहते हैं कि भाई! हे धर्मी जीव! **जो परमात्मा है वही मैं हूँ....** परमात्मा को विकल्प नहीं, परमात्मा बोलते नहीं, परमात्मा बोलने में आते नहीं ऐसा ही मैं आत्मा परमात्मा हूँ – ऐसा अनुभव दृष्टि में ले। आहा...हा...! यहाँ तो विशेष

कहते हैं कि **अण्णु म करहु वियप्पु** दूसरे जितने विकल्प करें – दूसरे को समझाने के, यह शास्त्र रचने के – इनसे तू बड़प्पन मानेगा तो यह वस्तु में नहीं है। समझ में आया ? अब सब शास्त्र-वास्त्र चर्चा छोड़कर यह कर – ऐसा कहते हैं। कब तक तुझे शास्त्र की चर्चाएँ मथना है ? इस शास्त्र में ऐसा कहा है और उस शास्त्र में यह कहा है और इस शास्त्र में यह कहा है, यह तो सब विकल्प की जाल है। आहा...हा... !

जो परमप्पा सो जि हउं मैं हूँ ऐसा। **सो जि हउं** यह परमात्मा, वही मैं हूँ। फिर उस परमात्मा जैसा जान – ऐसा नहीं। यहाँ तो कहते हैं परमात्मा ही मैं हूँ। पहले उनके साथ मिलान किया था। यहाँ तो परमात्मा पूर्णानन्दस्वरूप एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, पिण्ड भगवान, वही मैं हूँ – ऐसा अन्तर में निश्चय में अनुभव में ला और उसका अनुभव करना, वह तेरे लाभ में जाता है। बाकी जितने विकल्प करना और वाणी-फाणी यह सब, शास्त्र की चर्चाएँ और वाद-विवाद व शास्त्र चर्चा करना, यह सब लाभ में नहीं है – यहाँ तो ऐसा कहते हैं। हैं ? समझ में आया ?

उन्होंने कहा है – **व्यवहार की कल्पनाएँ छोड़कर केवल एक शुद्ध निश्चयनय से अपने आत्मा को पहचान.... शास्त्रों का ज्ञान संकेतमात्र है। शास्त्र के ज्ञान में ही जो अटका करेगा, उसे अपनी आत्मा का दर्शन नहीं होगा।** आहा...हा... !

मुमुक्षु – कल्पनाएँ कीं सब व्यवहार की।

उत्तर – कल्पना ही है न परन्तु व्यवहार की (तो कहे), नहीं, कल्पना नहीं। अब सुन न!

मुमुक्षु – उससे तो संवर-निर्जरा होती है साहब।

उत्तर – धूल होती है। भगवान चिदानन्द विराजता है और तू व्यवहार रंक से (लाभ मानता है)। परमेश्वर हुआ रंक, भिखारी परमेश्वर हुआ.... ए... परमेश्वर होता है या भिखारी परमेश्वर होता होगा ? व्यवहार का राग भिखारी है, रंक है, नाश होने योग्य है, वह परमेश्वर पद को प्राप्त करावे ? समझ में आया ? शास्त्र की चर्चाएँ और कल्पनाएँ, यह कल्पना परमेश्वर पद को प्राप्त करावे ? तैंतीस-तैंतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव

शास्त्र की कल्पना (-चर्चा) करते हैं। छोड़, यह कल्पना छूटकर स्थिर होने से केवलज्ञान है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह तो वीरों का मार्ग है, भाई! आहा...हा...! .... यह आचार्य का टुकड़ा पहले खूब लेते, यह सब तुमने लिखा था (संवत्) १९८२ की साल में, पता है? बढ़वान... वीरवाणी... वीरवाणी... आती थी न? वीरवाणी? (संवत्) १९८२ के साल में चातुर्मास था। १९८२ में यह सब टुकड़े लिखते.... भगवान फरमाते हैं कि अरे... आत्मा! तेरा मार्ग तो अफरगामी का मार्ग, भाई! जिस रस्ते चढ़ा, वहाँ से नहीं फिरे – ऐसा तेरा मार्ग है। आचार्य का टुकड़ा है। ...... मैं.... परन्तु महापुरुषार्थ से आचरण में आवे ऐसा तेरा मार्ग है। यह कोई रेंगी-फेंगी नपुंसक, हिजड़ों का मार्ग नहीं है। जिस मार्ग में तू चढ़ा, वह अफरमार्ग है। निज अव्यक्तगामी-वापिस न फिरे ऐसा तेरा रास्ता है, केवलज्ञान लेकर ही रहेगा – ऐसा तेरा मार्ग है। एई... वीरवाणी में लिखते, फिर बाद में छपाते। (संवत्) १९८२-८३ में उस दिन ऐसा कहते, हाँ! उस दिन परन्तु... सभा हो, यह क्या कहते हैं परन्तु? आचारांग का टुकड़ा है। णमो लोए सव्वसाहूणं ऐसा टुकड़ा २५-५० ऐसे हैं। णमो लोए सव्वसाहूणं – भगवान कहते हैं, हे वीर! दुनिया के मार्ग के साथ मेरे वीतरागमार्ग को मत मिलाना, प्ररूपणा मत करना। दुनिया क्या मानती है? अमुक क्या मानते हैं? बड़े पण्डित क्या मानते हैं? अब छोड़ न, यह सब होली करते हैं। णमो लोए सव्वसाहूणं – हमारा वीतराग का मार्ग पूर्णानन्द के पन्थ में बहे हुए लोक के साथ इस मार्ग को नहीं मिलाते, लोक के साथ कहीं मेल खाये नहीं, बिल्कुल मेल नहीं खायेगा। लोग तो मूढ़ हैं। भाई! बहुत लोग हों तो क्या हो गया? समझ में आया?

भगवान आत्मा मैं पूर्णानन्द का नाथ शुद्ध चैतन्य महा परमात्मा के अन्तरस्वरूप से भरपूर, यह परमात्मा ही मैं हूँ। अरे! **जो हउं सो परमप्पु तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है....** लो! **जो परमात्मा है, वही मैं हूँ तथा जो मैं हूँ, वही परमात्मा है....** अरस-परस ले लिया। मैं, वह परमात्मा और परमात्मा, वह मैं। यह इस स्वीकार किस पुरुषार्थ से आता है? मोहनभाई! आहा...हा...! भाईसाहब! हमें बीड़ी बिना नहीं चलता, तम्बाकू बिना नहीं चलता, एक जरा इज्जत थोड़ी ठीक न पड़े तो झटका खा जाये, उसे तुम परमात्मा कहते

हो ? अरे ! छोड़ न, यह कब तेरे स्वरूप में था ? भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ परमेश्वर को पर्याय में विकल्प की आड़ में भगवान पड़ा है। पूरा परमेश्वर, तूने छुपा दिया है। विकल्प की आड़ में छुपा दिया है। निर्विकल्प नाथ भगवान, निर्विकल्प अभेद स्वरूप है, वह निर्विकल्प दशा से ही प्राप्त हो – ऐसा है। समझ में आया ? आहा...हा... !

जो परमात्मा है वही मैं हूँ **इउ जाणेविणु ऐसा जानकर.... अण्णु वियप्प म करहु** – ऐसा करके (कहते हैं), दूसरा व्यवहार, शास्त्र के पठन का विकल्प, पंच महाव्रत के विकल्प, नवतत्त्व के भेद के विकल्प, महाव्रत के विकल्प, नव तत्त्व के भेद के विकल्प ये सब अब मत कर, मत कर; करने योग्य तो यह है।

मुमुक्षु – स्वयं महाव्रत करते हैं और महाव्रत के विकल्प छोड़ – ऐसा कहते हैं।

उत्तर – छोड़... छोड़... छोड़.... ऐसा कहते हैं। देखो, यह स्वयं कहते हैं।

मुमुक्षु – स्वयं कहते हैं ?

उत्तर – यह क्या कहते हैं ? छोड़। छोड़ने योग्य है, उसे छोड़; आदर करने योग्य है, वहाँ स्थिर हो, आहा...हा... ! अपनी अन्दर वस्तु ऐसी अनन्त आनन्द और अनन्त गुण से भरपूर पूरा तत्त्व, अकेला स्वयं परमात्मा का पिण्ड है। परमस्वरूप का पिण्ड भगवान आत्मा है, उसका आश्रय ले। यही मैं। विकल्प छोड़ दे। शास्त्र के पठन के विकल्प छोड़ दे, दूसरे को समझाऊँ तो मुझे लाभ होगा, यह तो उसकी मान्यता में होता ही नहीं परन्तु दूसरे को समझने का विकल्प भी मुझे लाभदायक नहीं है। आहा...हा... ! ए... रतनलालजी ! यह वीतरागमार्ग ! आहा...हा... ! लाखों लोग समझ जायें... आहा...हा... ! परन्तु तुझे क्या है ? तू कहाँ वहाँ विकल्प और वाणी में है ? जहाँ तू है, वहाँ विकल्प और वाणी नहीं है। वे तो परमात्मस्वरूप चिदानन्द अखण्ड ज्ञातादृष्टा है। वहाँ वह विकल्प नहीं, वाणी नहीं। अब तुझे वहाँ से लाभ लेना है ? समझ में आया ? विकल्प और वाणी है, वहाँ अजीवतत्त्व और बन्धतत्त्व है। बन्धतत्त्व में अबन्ध भगवान विराजता है ?

अबन्धस्वरूपी प्रभु मोक्षस्वरूपी आत्मा... वस्तु अर्थात् अबन्धस्वरूप। वस्तु अर्थात् मोक्षस्वरूप। वस्तु अर्थात् पूर्ण आनन्द की प्रगट... प्रगट शक्तिरूप पूरा तत्त्व – ऐसे परमात्मा, वह मैं और मैं, वह परमात्मा – ऐसा जानकर, हे आत्मा ! दूसरे विकल्प छोड़,

भाई! छोड़। आहा...हा...! वह कहे, नहीं। अभी शुभ विकल्प करोगे तो क्षायिक समकित होगा। अरे... कुकर्म कर डाला तूने। तूने परमात्मा को लुटा डाला... समझ में आया? बापू! यह निगोद का फल तुझे कठोर पड़ेगा भाई! यह दुनिया तो बेचारी अभी पकड़ेगी कि हाँ! अपने को तो कितना (मिलता है)! कैसा मार्ग कहता है? आहा...हा...! शुभ में तो धर्म होता है। धूल में भी थोड़ा (नहीं होता)। शुभ में भगवान पड़ा है? आत्मा शुभ से पार है, ऐसे आत्मा का अन्दर श्रद्धा-ज्ञान किये बिना, इसके द्वारा मुझे मिलेगा, मूढ़ पामर हो जायेगा, निगोद में जायेगा, हीन होते... होते... होते... मैं आत्मा हूँ या नहीं? – यह श्रद्धा उड़ जायेगी। आत्मा हूँ – ऐसा व्यवहार, अन्दर अंश में श्रद्धा है, वह उड़ जायेगी। आहा...हा...!

आड़ न दे, आड़ न दे, भगवान आत्मा को आड़ न दे। आड़ दिया तो तेरे ऊपर आड़ चढ़ जायेगी। आहा...हा...! यह एक शब्द आता था, नहीं? जो दूसरे को आड़ देता है, वह स्वयं को आड़ देता है – ऐसा शब्द है। उस दिन व्याख्या करते यह सब कथन तुम्हारी वीरवाणी में आये हैं, भाई! साथ थे? ऐसा। वहाँ थे तो सही परन्तु उस लिखने में साथ थे? किसी समय।

जो कोई अपनी आत्मसत्ता – ऐसी परमात्म सत्ता को आड़ देता है कि मैं इतना नहीं, मैं रागवाला और अल्पज्ञ और नीचवाला... वे आड़ देनेवाले, आत्मा में मैं नहीं ऐसा उसे एक बार आड़ देगा.... जगत में मैं आत्मा ही नहीं... मैं नहीं, मैं नहीं... कहाँ हूँ? कहाँ हूँ? समझ में आया? अन्धा हो जायेगा, मैं आत्मा ही, परमात्मा ही हूँ, अल्पज्ञ और राग नहीं, मैं परमात्मा ही हूँ; इसके अतिरिक्त विकल्प को छोड़ दे। इन सब विकल्पों से कुछ लाभ होगा, किंचित् लाभ होगा (–यह छोड़ दे)। हैं? तीर्थंकर कर्म बाँधे और तीर्थंकर कर्म बाँधे उसे अल्प काल में मुक्ति होती है, लो! श्रीमद् कहते हैं, एक जीव को भी यदि ठीक से समझावे तो तीर्थंकर कर्म बाँधता है... परन्तु बाँधता है न? ऐसा कहते हैं। छूटा कहाँ इसमें? अन्य विकल्प मत कर! यहाँ तो तीर्थंकर कर्म बाँधने का विकल्प भी छोड़ दे। समझ में आया? भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप है न, प्रभु! अरे...! तेरे खजाने में कमी कहाँ है कि तुझे दूसरे की शरण लेना पड़े। आहा...हा...!

मुमुक्षु – पंचम काल में भी ऐसा है ?

उत्तर – पंचम काल में क्या.... काल में क्या आत्मा ही नहीं है, काल में आत्मा नहीं है, आत्मा में काल नहीं है। यह दो भाई 'वीरवाणी' लिखते थे। समझ में आया ? यह सिद्धान्त चलता है न एकदम! आहा...हा...!

अण्णु म करहु वियण्णु भगवान! आहा...हा...! कौन कहते हैं ? सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं। यहाँ मुनि कहते हैं। समझ में आया ? मुनिराज दिगम्बर सन्त योगीन्द्रदेव जंगलवासी, जिन्हें वस्त्र का एक धागा भी नहीं था.... जंगल में रहते थे। अकेले वस्त्र का धागा (नहीं था) – ऐसा नहीं। एक विकल्प की वृत्ति का तन्तु भी मुझमें नहीं – ऐसे वे थे। जिस भाव से महाव्रत का विकल्प उठे यह मेरे में नहीं – ऐसे ये थे। समझ में आया ? आहा...हा...! यह कहते हैं, **इउ जाणेविणु जोइआ** इस स्वरूप में एकाग्र करनेवाला जीव! इस एकाग्रता के अतिरिक्त विकल्प है, चाहे जैसा हो। पंच महाव्रत के हों, व्यवहार समिति, गुप्ति के हों, व्यवहार पर को समझाने के हों, शास्त्र पढ़ने के हों.... अब पढ़-पढ़कर तुझे कब तक पढ़ना है – ऐसा कहते हैं। ए... प्रवीणभाई! पढ़कर क्या पढ़ते रहना है ? कि वह (भगवान) पढ़ना है अन्दर ?

यहाँ तो कहते हैं कि वह पढ़े हुए ज्ञान से पकड़ में आवे ऐसा नहीं, ऐसा वह है। ए.... निहालभाई! अरे.... वह शास्त्र के जाने हुए ज्ञान से पकड़ में आवे ऐसा नहीं है। शास्त्र और शास्त्र की ओर का ज्ञान वह परावलम्बी ज्ञान है; छोड़ उसकी महिमा! उसके बिना आत्मा का पता नहीं लगता – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यहाँ तो विकल्प की बात की, परन्तु वह विकल्प है। भेद है, पर तरफ का ज्ञान वह आत्मा के स्वभाव का ज्ञान नहीं है। समझ में आया ? आहा...हा...! ऊँचे हो जाओ, नपुंसक हो तो नहीं होता, नपुंसक को उत्साह नहीं चढ़ता। समझ में आया ?

माता देवकी, श्रीकृष्ण वहाँ रहे थे न ? दूसरी जगह रहे थे ? ग्वाले के यहाँ। जहाँ माता को देखकर प्रेम आया और माता के स्तन में से दूध आया, सहज ही दूध आया, ऐसा जन्म दिया है न इन्होंने! यह क्या ? कहते हैं, ग्वाले के यहाँ जन्म दिया और यह मेरी माता लगती है, इसे यह दूध क्या आया ? यह मेरी माता लगती है। ग्वाले के वहाँ तो मुझे रखा

लगता है। वासुदेव थे न? महा विचक्षण बुद्धिवाले थे। देवकी को दूध क्यों आया? यह मेरी माता लगती है, मैं भी ऐसा देखूँ तो बल और शरीर की सब स्थिति ऐसी लगती है। जहाँ मैं ग्वालों में रहा था, उस जाति का मैं नहीं लगता, आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी नजर करे, वहाँ रानी को कहे, रानी की दिखावट भी अलग प्रकार की, पुण्यशाली है न! देवकी तो पुण्यशाली है! आहा...! शक्ल-सूरत के गर्भ का मैं लगता हूँ। वह नहीं, वह नहीं, इसलिए इनके स्तन में दूध आया है। समझ में आया? आहा...हा...! इसी प्रकार आत्मा इस विकल्प की जाति का नहीं है। निर्विकल्प चैतन्य भगवान आत्मा निर्विकल्प दृष्टि से पकड़ में आये ऐसा है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अण्णु म करहु वियप्पु पंच महाव्रत के विकल्प भी छोड़ दे। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि हमें सुनना छोड़ दे। यह प्रभु क्या कहते हैं परन्तु यह? ए...ई...! भगवान फरमाते हैं कि हमारे सन्मुख देखना छोड़ दे। हमारे सामने देखने से तेरा भगवान हाथ नहीं आयेगा। आहा...हा...! दिव्यध्वनि कहती है – भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी में ऐसा आया, त्रिलोकनाथ समवसरण में फरमाते थे, अरे... आत्मा! तू परमात्मा है, अन्तर की चीज में परमात्मा न हो तो पर्याय के काल में परमात्मा कहाँ से आयेगा? क्या बाहर से आवे ऐसा है? भगवान परमात्मा का स्वरूप ही तेरा है। गर्भ में रहा है बन्दर और जन्में बालक – ऐसा होता होगा? गर्भ में मनुष्य का बालक वह भी ऐसा हो, उसका इनलार्ज होकर बाहर आता है। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्ण परमात्मा का रूप ही आत्मा का है। आहा...हा...! यह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता, प्रभुता, वीतरागता, निर्ग्रन्थता – ऐसे समस्त गुणों से भरपूर भगवान परिपूर्ण प्रभु आत्मा तू है। तू तुझे देख और आत्मा जान व मान! भगवान कहते हैं कि मेरे सन्मुख देखना रहने दे... ताकना रहने दे कि मुझसे कुछ मिलेगा – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया यह? इस वीतराग की वाणी में यह होता है, पामर की वाणी में यह नहीं होता। भगवान कुछ लेना नहीं तुम्हारे? कुछ फल तो लो... यह उपदेश दे दिया, शास्त्र का फल न हो तो उसकी पर्याय में, मुझे क्या?

मैं तो केवलज्ञानी हूँ। मुझे कुछ लेना नहीं या अधूरा पूरा करना नहीं, उसके कारण... साधकजीव को अधूरा पूरा करना हो तो कुछ विकल्प और पर को समझाने से नहीं होता। अधूरा पूरा (करना हो तो) पूर्ण परमात्मा को देखने में एकाकार होवे तो अधूरा पूरा हो जायेगा। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं **शब्दों से समझ में नहीं आता**। ए...इ...! **मन और विचार में नहीं आता**। भगवान मन के विचारने में आता है वह? परमात्मा अखण्ड आनन्द का रसकन्द है। स्वयं अनाकुल शान्तरस का पिण्ड है, पिण्ड, पूरा पिण्ड पड़ा है, खोल दृष्टि में से, कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा भगवान मन में, विचार में नहीं आता। शब्द तो क्रम-क्रम से बतलाते हैं, उसमें आत्मा कहाँ आया? कहते हैं। समस्त शास्त्रों की चर्चाओं को छोड़। गुणस्थान, मार्गणास्थान के विचार को बन्द कर। लो! ऐसा इन्होंने बहुत अधिक लम्बा लिखा है। समझ में आया? फल का दृष्टान्त आया है। ठीक है, कहो! यह दो गाथा हुई।

☆ ★ ☆

आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है

सुद्ध-पएसहँ पूरियउ, लोयायास-पमाणु।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, पावहु लहु णिव्वाणु॥२३॥

शुद्ध प्रदेशी पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण।
सो आतम जानो सदा, लहो शीघ्र निर्वाण॥

अन्वयार्थ – **(लोयायासपमाणु सुद्धपएसह पूरियउ)** जो लोकाकाशप्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है **(सो अप्पा)** यही यह अपना आत्मा है **(अणुदिणु मुणहु)** रात-दिन ऐसा ही मनन करो **(णिव्वाणु लहु पावहु)** व निर्वाण शीघ्र ही प्राप्त करो।

☆ ★ ☆

अब आयी तीसरी। अब भगवान का स्थल बतलाते हैं। किस स्थल में भगवान विराजमान हैं? यह भगवान आत्मा किस स्थल में (रहता है)? उसका क्षेत्र कहाँ? उसका

घर कहाँ है ? इस भगवान का ? आहा...हा... ! **आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है।** भगवान आत्मा.... ! यह (शरीर) तो मिट्टी का-धूल का रजकण है। वह कहीं आत्मा नहीं है। अन्दर राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, वे कोई आत्मा नहीं है। कर्म के रजकण धूल-मिट्टी पड़ी है, वह कर्म जड़ है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा अन्दर असंख्य प्रदेशी है.... एक प्रदेश उसे कहते हैं कि जिसका एक परमाणु / पॉइन्ट गज समान का माप करने से जिसकी चौड़ाई दिखे, उसे प्रदेश कहते हैं। ऐसा भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी स्थल में पड़ा है। ऐसे असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण का धाम पड़ा है। क्षेत्र किसलिए बतलाते हैं ? कोई ऐसा कहता है कि आत्मा लोकव्यापक है (परन्तु) ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा.... ऐसा एकाग्र होना चाहता है, तब एकाग्र होता है या ऐसे एकाग्र होता है ? हैं ? बस ! उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेशी, इस देह प्रमाण, देह से भिन्न; देह प्रमाण, देह से भिन्न। देह प्रमाण भले हो, इससे कहीं देह का प्रमाण यहाँ आत्मा में आ गया ? वह तो असंख्य प्रदेशी भगवान लोक प्रमाण है। लोक के जितने प्रदेश हैं, उतनी संख्या से प्रदेश में आत्मा विराजमान है। राग में कहीं वह विराजता नहीं है।

सुद्ध-पएसहँ पूरियउ, लोयायास-पमाणु।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, पावहु लहु णिव्वाणु॥२३॥

लहु... लहु... लहु... बहुत बार आता है। मोक्ष कर, मोक्ष कर। मोक्ष तो तेरा घर है आहा...हा... ! संसार में कहाँ मर गया भटक-भटककर ? चौरासी के अवतार में कचूमर निकल गया तो भी छोड़ने का तुझे हर्ष नहीं आता ? आहा...हा... ! घर तो आ, घर तो आ। इस पर घर में भटककर मर गया, कहते हैं। कहाँ घर रहा तेरा ?

लोकाकाश प्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशी.... देखो ! अन्तर वस्तु असंख्य प्रदेश का दल है। प्रभु अरूपी भी दल है। रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्शरहित असंख्य प्रदेशी चौड़ाई दलवाली चीज है। दल – पुष्टवाली चीज है। इस असंख्य प्रदेश में असंख्य प्रदेश शुद्ध रत्न समान निर्मल है। असंख्य प्रदेश शुद्ध रत्न समान निर्मल है। इनमें अनन्त-अनन्त गुण निर्मलरूप से उस क्षेत्र में विराजमान है। आहा....हा.... ! समझ में आया ? क्या

कहलाये.... ? एक पर्दे में महिला होती है न ? भले ही ठिकाने बिना की (होवे परन्तु उसे) देखने का मन करता है। कहाँ रहती है ? ए... उसमें रहती है, उस बंगले में... जरा सा सिर से पर्दा हटकर बाहर निकले तो कहे देखो यह निकले ! हैं ? ऊपर.... पर्दा जरा हट गया तो यह रानी साहब निकले.... ए... रानी साहब निकले। क्या है ? हो तो भी सब समझने जैसा है। हैं ? रानी साहब निकले, रानी साहब निकले... भावनगर दरबार की रानी पहली बार निकली, तब लोगों को लगा क्या निकले ? पहली बार पर्दा छोड़ा है न ? जब प्रथम पर्दा छोड़ा तब मोटर में निकले थे, वह गाँव उछल गया था। रानी साहब ने आज पर्दा छोड़ा, रानी साहब ने पर्दा छोड़ा.... उनकी चमड़ी को देखने निकला.... भगवान को देखने तो निकल एक बार ! पर्दा छोड़ दे। राग की विकल्प की एकता का पर्दा छोड़ दे। भगवान पूर्णानन्द प्रभु अन्दर में विराजमान है। आहा...हा... ! अरे... परन्तु उसे बात सुनना... क्या यह होगा ? मैं ऐसा होऊँगा ? इसे अतिरेक जैसा लगता है, अतिरेक जैसा लगता है। जो वस्तु की स्थिति है.... उसे क्या अतिरेक कहलाता है ? अतिश्योक्ति (लगती है)। आहा...हा... !

कहते हैं यह तेरे असंख्य प्रदेश सत्ता प्रभु भगवान है। समझ में आया ? जो वस्तु होती है, उसे कोई भी आकार होता है। आत्मा वस्तु है या नहीं ? तो आकार होगा या नहीं ? वस्तु है या नहीं ? सत्ता है या नहीं ? सत्ता को आकार होता है या नहीं ? सत्ता को क्षेत्र होता है या नहीं ? ऐसा सिद्ध करते हैं। ए... प्रवीणभाई !

यह वस्तु है, देखो ! यह वस्तु है या नहीं ? तो इसकी सत्ता है या नहीं ? है न ? तो इसका क्षेत्र है न ? कितना ? कि इतना। जिसका अस्तित्व है, उसे क्षेत्र होता है या नहीं ? जिसका अस्तित्व है, उसे क्षेत्र होता है या नहीं ? वैसे ही आत्मा का अस्तित्व है तो उसका क्षेत्र है या नहीं ? असंख्य प्रदेश उसका स्थल-क्षेत्र है। एक-एक प्रदेश पूर्णानन्द, पूर्ण निर्मलानन्द से भरपूर है। जिसमें अनन्त आनन्द पके – ऐसा उसका असंख्य क्षेत्र है। इस असंख्य क्षेत्र का तेरा क्षेत्र ऐसा है कि इसमें अनन्त केवलज्ञान, अनन्त आनन्द पके वह क्षेत्र है। घास-फूंस पके ऐसा यह क्षेत्र नहीं है। आहा...हा... ! हल्का अनाज होता है, घास-फूंस सामान्य जमीन में होता है और ऊँचे चावल होते हैं न, ऊँची जमीन में होते हैं ! तो यह तो

आत्मा ऊँची चीज... सिद्ध की पर्याय पके ऐसा आत्मा है। समझ में आया? संसार पके वह आत्मा नहीं। आहा....हा...! राग-द्वेष पके वह आत्मक्षेत्र नहीं। आहा...हा...!

यह शब्द लिया है न? **सुद्ध** शुद्ध प्रदेश है भगवान आत्मा के असंख्य प्रदेश शुद्ध हैं। जिसमें अनन्त गुण विराजमान हैं। **लोयाया** लोक के – आकाश के प्रदेश प्रमाण उसका क्षेत्र है। **सो अप्पा अणुदिण मुणहु रात-दिन उसका ही मनन करो... अप्पा अणुदिणु** दिन-दिन, रात्रि। रात और दिन – ऐसा **मुणहु पावहु लहु** ऐसा असंख्य प्रदेशी भगवान अन्दर में विराजमान है, वहाँ नजर कर, वहाँ नजर कर, उस क्षेत्र में नजर कर! **अणुदिण** उसका ध्यान कर, तो अल्प काल में केवलज्ञानरूपी निर्वाण पद प्राप्त होगा। इसके बिना दूसरे किसी प्रकार हो ऐसा नहीं है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

अतीन्द्रिय दशा अर्थात् इन्द्रियों को ढाँकना नहीं

अहा! मुनि को देहमात्र परिग्रह होता है अर्थात् एक शरीर ही होता है; परन्तु उस पर वस्त्र का एक धागा भी नहीं होता। उनको वस्त्र का धागा भी नहीं होने का कारण यह है कि पाँच इन्द्रियों की चञ्चलतारूप अस्थिरता भी मिट गई है, इसलिए सम्पूर्ण आत्मा में अतीन्द्रियपना प्रगट हो गया है, उनका नाम मुनि है। जिसे आत्मा का भान न हो और अकेला नग्न होकर घूमता हो, वह मुनि नहीं है।

मुझे अन्दर से यह बात आई थी कि यह नग्नपना अर्थात् क्या? मुनि को वस्त्र का एक भी टुकड़ा क्यों नहीं? अहा! मुनि को अतीन्द्रियदशा हो गई है, इसलिए उनको किसी भी इन्द्रिय के किसी भी भाग को ढाँकना हो ही नहीं सकता। उनकी समस्त इन्द्रियाँ खुल्ली हो गई हैं और ऐसे जैन के साधु होते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण १३, गुरुवार, दिनाङ्क १६-०६-१९६६
गाथा २३ से २६ प्रवचन नं. १०

श्री योगसार शास्त्र है। योगीन्द्रदेव कृत २३ वीं गाथा जरा थोड़ी चली है, फिर से थोड़ी लेते हैं।

सुद्ध-पएसहँ पूरियउ, लोयायास-पमाणु।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, पावहु लहु णिव्वाणु॥२३॥

भगवान आत्मा, इस देह में असंख्य प्रदेश शुद्ध से परिपूर्ण पड़ा है। क्षेत्र लिया है न? अर्थात् उसका रूप यहाँ असंख्य प्रदेश में ही पूर्ण है – ऐसा कहते हैं। आत्मा असंख्य प्रदेशी है। एक परमाणु (आकाश की) जितनी जगह को रोके, उतने भाग को प्रदेश कहते हैं। ऐसे असंख्य प्रदेशी शुद्ध प्रदेश है और इससे वह परिपूर्ण है। इतने में आत्मा देह, वाणी, मन, क्षेत्र दूसरा कर्म का क्षेत्र दूसरा विकार का.... असंख्य प्रदेश का पुंज प्रभु परिपूर्ण क्षेत्र में यह परिपूर्ण आत्मा इतने में है। समझ में आया? उसे **वही अपना आत्मा है**। यह असंख्य प्रदेश में परिपूर्णता इतने ही क्षेत्र में और एक क्षेत्र में अनन्त शुद्ध गुणों के असंख्य प्रदेश–असंख्य अंश अनन्त गुणों से भरपूर परिपूर्ण है। ऐसे आत्मा को रात–दिन, दिन–रात उसका मनन करो। ओहो...हो...! कहो, समझ में आया? रात–दिवस ऐसा ही **मुणहु**। जानो मूल तो है, अनुभव करो।

असंख्य प्रदेश में – इतने में – परिपूर्ण क्षेत्र में इतने में ही पूरा आत्मा अनन्त गुणों का भरा पिण्ड इतने में ही है। कोई ऐसा कहे कि बाहर व्यापक है.... (तो) यह बात झूठ है – यह बात कहने के लिये यहाँ शुद्ध असंख्य प्रदेशी पूर्ण आत्मा है – (ऐसा कहा है)। समझ में आया? उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेश में ही पूरा पड़ता है, अधिक दूसरा लम्बा है

नहीं। समझ में आया? कोई जीव को लोकव्यापक कहते हैं, अनन्त में अनन्त मिल जाता है.... सब अनन्त आत्मायें, एक के सब अंशरूप है – ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा असंख्य अंशोरूप प्रदेशों से परिपूर्ण शुद्ध भरा है। उसका **अणुदिण मुणहु....** दिन-दिन, रात-दिन उसका अनुभव करो। देखो, यह मोक्षमार्ग!

आत्मा अखण्ड अनन्त गुण का पिण्ड, उसे अनुसरण कर अनुभव करो, आत्मा का वेदन करो, आत्मा की शान्ति का वेदन करो – इसका नाम धर्म और मुक्ति का मार्ग है। समझ में आया? यहाँ तो ताजा अच्छा माल वर्णन किया है। ऐसे पुण्य-पाप के विकल्प भले हो, उसके साथ यहाँ कोई काम नहीं है। भगवान आत्मा असंख्य प्रदेश के पूर से भरपूर पूरा है, उसका अनुभव करने से **णिव्वाणु लहु पावहु.... शीघ्र निर्वाण प्राप्त करो**। अपने स्वरूप की पूर्ण शुद्धतारूपी निर्वाण, अपने आत्मा की पूर्ण शुद्धतारूपी निर्वाण को प्राप्त करो। इस उपाय द्वारा; दूसरा कोई उपाय नहीं है। कहो, समझ में आया? इसमें मन-वचन और काया की क्रिया और सब बहुत कल आया था। आहा...हा...!

यहाँ बन्ध की बात ही नहीं। बन्ध, वह स्वयं अपने स्वरूप को भूले तो बन्ध होता है; अपने स्वरूप को सावधानी से संभाले तो मुक्ति होती है, बाकी दूसरी सब बातें हैं। अपना असंख्य प्रदेशी स्वभाव, अनन्त गुण से भरपूर, उसे भूले और राग-द्वेष तथा पुण्य-पाप और परक्षेत्र में मेरी सत्ता है – ऐसी मान्यता करे तो वह परिभ्रमण करता है। इसे कर्म के साथ क्या काम है? समझ में आया? यह उनसे गुलांट मारकर बात है। भगवान आत्मा... जैसे कोठी में माल पड़ा होता है न? माल पूरा। वैसे ही इन असंख्य प्रदेशों में आत्मा का सारा माल पड़ा है।

मुमुक्षु – कोठी छोटी और माल ज्यादा?

उत्तर – माल अनन्त! क्षेत्र अल्प हो, उसका यहाँ क्या काम है? भाव अनन्त है। यहाँ पता नहीं पड़ता? यहाँ ज्ञान की एक समय की पर्याय, एक समय की पर्याय अनन्त को ख्याल में लेती है। क्षेत्र तो इतना छोटा है, लो! आँख का क्षेत्र कितना? देखो! यह तो फिर देखने का इतना (बड़ा)। देखनेवाला तो आँख से देखता है। ऐसे पच्चीस-पचास

योजन तक पर्वत पर कितनी अधिक नजर जाती है ! उसे छोटे क्षेत्र में रहा हुआ छोटा ही जाने – ऐसा कुछ नहीं है। छोटे क्षेत्र में रहा हुआ अनन्त क्षेत्र को अपने अस्तित्व में रहकर जानता है – ऐसी उसकी अपनी स्वभाव की सामर्थ्यता है। ऐसे भगवान आत्मा को अन्तर में देख, कहते हैं। तेरा घर असंख्य प्रदेशी है – ऐसा कहते हैं। तेरा घर कर्म, शरीर, वाणी, मन-वचन है, वह तेरा घर नहीं है।

परमात्मा, भगवान होवे तो उनका घर तुझसे पृथक् है। उनसे तेरा घर तो यहाँ इतने में ही है। समझ में आया ? असंख्य प्रदेश का पिण्ड प्रभु, शुद्ध अनन्त गुणों से भरपूर – ऐसे आत्मा का ध्यान करो। आहा...हा... ! बहुत संक्षिप्त ! यह तो योगसार है न ! समझ में आया ? **शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करो**। लो, यह बात कल आ गयी थी। थोड़ी-सी ली। अब, २४ वीं गाथा।

☆ ★ ☆

व्यवहार से आत्मा शरीरप्रमाण है

णिच्छइँ लोय-पमाणु मुणि, ववहारेँ सुसरीरु।
एहउ अप्प-सहाउ मुणि, लहु पावहि भव-तीरु ॥२४॥

निश्चय लोक प्रमाण है, तनु प्रमाण व्यवहार।
ऐसा आतम अनुभवो, शीघ्र लहो भवपार॥

अन्वयार्थ – **(णिच्छइ लोयपमाण ववहारे सुसरीरू मुणि)** निश्चय से आत्मा को लोकप्रमाण व व्यवहारनय से अपने शरीर के प्रमाण जानो **(एहउ अप्पसहाउ मुनि)** ऐसे अपने आत्मा के स्वभाव को मनन करते हुए **(भवतीरू लहु पावहु)** यह जीव संसार के तट को शीघ्र ही पा लेता है अर्थात् शीघ्र ही संसार-सागर से पार हो जाता है।

☆ ★ ☆

व्यवहार से आत्मा शरीर प्रमाण है। निश्चय से लोकप्रमाण है। वे असंख्य प्रदेश कहे न ? उन प्रमाण।

णिच्छइँ लोय-पमाणु मुणि, ववहारेँ सुसरीरु।
एहउ अप्प-सहाउ मुणि, लहु पावहि भव-तीरु॥२४॥

लहु शब्द इसमें बहुत आता है। यहाँ तो भव का अभाव करने की बात है। भव मिले, वह कोई वस्तु नहीं है; वह तो अनादि संसारी (को है) – यह फिर कहेंगे – बाद के श्लोक में कहेंगे। समझ में आया? चौरासी लाख घूमा, बाद में कहेंगे। आत्मा अपने स्वभाव को प्राप्त करे और भव का अभाव करे – यह बात है। भव प्राप्त करे और उसमें भटके, यह तो अनादि का संसारभाव है, उसमें इसने नया क्या किया? इसलि कहते हैं – **णिच्छइ लोयपमाण ववहारसुसरीरु** - **मुणि** निश्चय से आत्मा लोक-प्रमाण है। लोकप्रमाण अर्थात्? लोक के जितने असंख्य प्रदेश हैं, उतना निश्चय से असंख्य प्रदेशी (आत्मा) यहाँ है – ऐसा कहते हैं। लोकप्रमाण चौड़ा – ऐसा नहीं। लोक के – आकाश के जितने असंख्य प्रदेश हैं, उतना असंख्य प्रदेशी यहाँ लोकप्रमाण निश्चय से भगवान अपने क्षेत्र में – असंख्य प्रदेश में विराजमान है। वह परमाणु में नहीं आता, कर्म में नहीं आता, राग में भी नहीं आता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

असंख्य प्रदेश में रहा हुआ तत्त्व, वह निश्चय से उसमें रहा है और व्यवहार से अपने शरीरप्रमाण (है)। इस निमित्तरूप से यहाँ गिनो तो शरीर के आकार प्रमाण वहाँ रहा है। यह तो परद्रव्य की – निमित्त की अपेक्षा से व्यवहार (से) इतने में (रहा है।) निश्चय (से) अपने असंख्य प्रदेशों में रहा है। निश्चय से अपने असंख्य प्रदेशों में, व्यवहार से इस शरीर के प्रमाण में निमित्तमात्र कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु – यह असंख्य प्रदेशी ही, इसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं?

उत्तर – यह असंख्य प्रदेश, यही इसका क्षेत्र, इतना चौड़ा क्षेत्र है। यह घर और मकान; स्त्री और पुत्र, मकान इसका नहीं है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – दो फीट, पाँच फीट, दश फीट – ऐसा नहीं।

उत्तर – यह नहीं; असंख्य प्रदेशी.... फिर हजार योजन में व्यापे या इतने साढ़े सात हाथ में मोक्ष जाए – उसकी बात लेनी है न यहाँ। असंख्य प्रदेश में रहा हुआ भगवान

आत्मा है। यह असंख्य प्रदेश उसका क्षेत्र है। फिर वह क्षेत्र कैसा होगा? समझ में आया? असंख्य प्रदेश आत्मा का क्षेत्र है। ऐसे असंख्य प्रदेश में पूरा शरीर प्रमाण पृथक्... पृथक्... पृथक... पृथक् (है)। जैसे पानी का कलश हो, (उसमें) उस कलश का आकार और अन्दर पानी का आकार और पानी का स्वरूप; उस पानी का क्षेत्र भी कलश के आकार होने पर भी, स्वयं के ही आकार से स्वयं में है। इसी प्रकार इस शरीर प्रमाण आत्मा अन्दर होने पर भी, स्वयं स्वयं के ही कारण से अपने असंख्य प्रदेशी आकार में रही हुई सत्ता है। सत्ता है, अस्तित्ववाला तत्त्व है तो उसका कोई आकार, अवगाहन, चौड़ाई होगा या नहीं? वह चौड़ाई कितनी? कि असंख्य प्रदेशी चौड़ाई है। इतना असंख्य प्रदेशी क्षेत्र, जिसमें अनन्त गुण भरे हैं, उनसे वहाँ पूरा क्षेत्र पड़ता है। उसका क्षेत्र कर्म का नहीं, राग का नहीं, शरीर का नहीं, यह स्त्री-पुत्र-परिवार – यह उसका क्षेत्र नहीं। वह क्षेत्र उनका है, वह इसका क्षेत्र नहीं। आहा...हा... ! कहो, इसमें समझ में आया? वे सब क्षेत्र आत्मा के नहीं। आत्मा का क्षेत्र असंख्य प्रदेश... उस बंगले में भगवान अनन्त गुण से विराजमान है; वहाँ पूरा-सम्पूर्ण पड़ा है। व्यवहार से शरीरप्रमाण है – ऐसा कहा जाता है; निमित्त है इसलिए।

एहउ अप्पसहाउमुणि ऐसे अपने आत्मा के स्वभाव को **मुणि** (अर्थात्) **जानो**। भगवान आत्मा अनन्त शान्तरस से भरपूर महा पूर्ण आनन्दसागर से भरपूर है, उसमें डुबकी मार! नहाने जाते हैं न? नहाने, क्या कहलाता है तुम्हारे? बाथरूम। ऐसा समुद्र भरा है पूरा। चैतन्यरत्न का असंख्य प्रदेशों में समुद्र भरा है। समझ में आया? कहते हैं, ऐसे स्वभाव को तू जान! उसे जान और **भव तीरु लहु पावहु** यहाँ तो **मुणि** – जानने से भवतीर को पाता है – एक ही बात ली है।

वस्तु की महिमा करके.... भगवान आत्मा ऐसा ज्ञानमूर्तिस्वरूप, आनन्दमूर्ति स्वरूप, शान्तस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ असंख्य प्रदेश में बिराजमान भगवान की नजर लगाकर, उसकी नजर लगाकर, उसका ध्यान करके.... **मुणि** का अर्थ ही इतना किया है। उसे जानना अर्थात् ऐसा जानना जो है, ऐसा जानना जो है राग का, निमित्त का (जानना) ऐसा (होता है), ऐसा जान अर्थात् ऐसे (अन्दर में) झुका। समझ में

आया ? आहा...हा... ! यह क्या करना धर्मी को ? – ऐसा कहते हैं। यह तो बहुत संक्षिप्त कर दिया है।

इसे करना यह। भगवान असंख्य प्रदेश में निश्चय से विराजता है, अनन्त गुण का रस लेकर, अनन्त गुण की शक्ति सामर्थ्य लेकर (विराजमान है)। ऐसे भगवान के सम्मुख देख, उसे जान! बस! उसे जानना – इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। एकाग्र हो, **लहु**।

मुमुक्षु – इसमें चारित्र नहीं आया ?

उत्तर – चारित्र नहीं आया ? क्या आया ? यह वस्तु... यह जान अर्थात् जाना, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता की। तीनों जानने में आ गये। यह वस्तु – ऐसा जाना, वह किस प्रकार जाना ? स्थिर हुए बिना जाना ? और श्रद्धा किये बिना जाना ? और जाने बिना श्रद्धा ? जाने बिना स्थिरता ? समझ में आया ?

यह चारित्र क्या है ? यहाँ तो इतना कहा। **एहउ अप्पसहाउ मुणि भव तीरु लहु पावहु**। देखो ! पाठ क्या है ? योगसार, योगीन्द्रदेव ऐसा कहते हैं कि ऐसा भगवान आत्मा असंख्य प्रदेशी निश्चय से है, उसे तू **अप्पसहाउ** आत्मा के स्वभाव को जान। जान यही **भव तीरु लहु पावहु**। इसमें तो एक ही शब्द है। समझ में आया ? यह जानने का अर्थ कि आत्मा पूर्णानन्द की ओर जहाँ जानने को गया, वहाँ स्थिरता भी हुई, श्रद्धा भी हुई। पूरा आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु जहाँ ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसे कौन सा गुण प्रगट हुए बिना बाकी रहेगा। समझ में आया ? पूरी वस्तु पूर्ण, उसके सन्मुख में झुकने पर, ढलने पर इस अनन्त गुण का अंश, पिण्ड असंख्य प्रदेश में, किस गुण के अंश का अंकुर फूटे बिना रहेगा ? समझ में आया ?

मुमुक्षु – कथन में तो वर्तमान सब बात की है, संक्षिप्त में सब समझ जाये।

उत्तर – वह समझ जायेगा – ऐसा ही (शिष्य) यहाँ लिया है। यह सुननेवाला, मोक्ष चाहता है, वह कैसा होगा ? समझ में आया ? जिसे आत्मा का हित करना है – ऐसा शिष्य यहाँ लिया है। वही समझने का आकाँक्षी है। दूसरे कब आकाँक्षी हैं ? समझ में आया ? सब तो बहुत थोड़े रखे हैं। आहा...हा... !

कहते हैं कि असंख्य प्रदेशी प्रभु, वह हजार योजन के मच्छ में रहे तो भी असंख्य प्रदेशी हैं। आत्मा स्वयंभूरमण समुद्र में जाये, एक हजार योजन का मच्छ है न ? है असंख्य प्रदेशी। अंगुल के असंख्य भाग में इतने में रहे तो भी असंख्य प्रदेशी है। असंख्य प्रदेश में कम-ज्यादा नहीं होते। यह तो उसका अपना क्षेत्र ऐसा चौड़ा हुआ, संख्या नहीं बढ़ी, संख्या नहीं घटी। समझ में आया ? ऐसे आत्मा का अन्तर में ध्यान कर, कहते हैं। कहो, समझ में आया ? (फिर) समुद्घात की बात की है। इष्टोपदेश का अन्तिम श्लोक अपने आ गया था, २१ वाँ.... इन्होंने दिया है। यह है न ?

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यंत सौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ २१॥

मुमुक्षु – **तनुमात्रो** है सही न ?

उत्तर – हाँ, उसके साथ मेल करने को (दिया है) **यह आत्मा लोकालोक को देखनेवाला....** अन्तिम लाईन है। **अत्यन्त सुखी....** समझ में आया ? भगवान आत्मा कैसा है ? कि लोकालोक को देखे – ऐसा उसका स्वरूप है। उसका स्वभाव ही लोकालोक को देखने का उसका स्वभाव है, उसे आत्मा कहते हैं। अत्यन्त सुखी है। सुखी अर्थात् भगवान अनन्त सौख्यस्वरूप है। अनन्त आनन्दस्वरूप आत्मा, उसे आत्मा कहते हैं। उसमें राग, द्वेष, और दुःख नहीं है। आहा...हा... ! अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का चक्का अन्दर पड़ा है, कहते हैं। भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द – ऐसा अन्तर में है, उस स्वरूप ही अनादि ऐसा ही है और वह नित्य है। वस्तु से नित्य है। स्वानुभव से उसका दर्शन होता है। देखो, इसके साथ मिलाया है। वह **मुणहु** है न ? **मुणहु**। यह आत्मा स्वानुभव अन्तर के अनुभव से ही उसके दर्शन होते हैं। आहा...हा... ! किसी मन, वचन की क्रिया या दया, दान, भक्ति के विकल्प द्वारा आत्मा का अनुभव होता ही नहीं। अरे... भगवान ! इसे ऐसा लगता है कि अर...र... ! अरे भाई ! परन्तु करने को यह है। बापू ! इसके बिना तेरे सब व्यर्थ हैं। समझ में आया ? अरे ! हमारा व्यवहार कहाँ जायेगा ? अभी इसे व्यवहार जाये, वह रुचता नहीं है परन्तु व्यवहार इसमें नहीं है। यह व्यवहार हो तो यह सब रहेगा, वाला रहेगा... (वरना) व्यवहार समाप्त हो

जायेगा। समाप्त होवे तो अच्छा, सुन न! (आत्मा में) उसमें समायेगा। आहा...हा...! अरे! मेरा शत्रु सामने न रहे तो मैं समाप्त हो जाऊँगा! कहो, समझ में आया इसमें? चैतन्यमूर्ति भगवान अनन्त आनन्द का पिण्ड प्रभु से विरुद्ध जितने विकल्प हैं, वे तो शत्रु हैं। वह शत्रु न रहे तो हमारा क्या होगा? शत्रु न रहे तो सम्प्रदाय का क्या होगा? क्या करना है तुझे प्रभु? आहा...हा...!

मुमुक्षु – क्या चाहिए है, वह भूल गया होगा?

उत्तर – पता ही नहीं क्या चाहिए? एक नाम धारा है, धर्म करना... धर्म करना... एक शब्द पकड़ा है। समझ में आया? दो वर्ष के लड़के से कहे न कि देख! अपने बड़े भाई शादी करते हैं, तुझे शादी करनी है? तब (वह) कहे हाँ! विवाह अर्थात् क्या? इसकी उसे कीमत नहीं होती। उसकी जबावदारी क्या है? इसका पता नहीं होता। देख, अपने भाई विवाह करते हैं, बड़े भाई, हाँ! बड़े भाई विवाह करते हैं, तुझे विवाह करना है? तो कहता है हाँ... किस दिन विवाह करना है? आज? तो कहता है, हाँ। कहो, उसे पता नहीं विवाह का, पता नहीं समय का... विवाह अर्थात् क्या? और उसमें क्या होता होगा? इसका कुछ पता नहीं होता। इसी प्रकार इसे कहते हैं कि तुझे धर्म करना है? तो कहता है – हाँ। कहाँ? वह लड़के के जैसा है, हाँ! आहा...हा...! भाई! धर्म कहाँ होता है? धर्म क्या होगा? धर्म का फल क्या है? वह धर्म कितने क्षेत्र में रहने से होता है? आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! यह तो सार, सारवस्तु है। भाई! तू अनन्त आनन्द का पिण्ड प्रभु है न! वह अनन्त आनन्द उसमें नित्य है। उसमें नजर करे तो तेरी मुक्ति हो। इस नजर में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों आ गये। **मुणहु** है न? आहा...हा...! और वह आत्मा **स्वानुभूत्या चकासते** वह अपने अनुभव की क्रिया से ही प्रगट होवे – ऐसा उसका स्वरूप है। यह व्यवहार के विकल्प – दया, दान, व्रत के विकल्प से आत्मा प्रसिद्ध हो – ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहा...हा...! अरे, इसे कहाँ डालना है? समझ में आया?

तीन लोक का नाथ बादशाह परमात्मा, उसे ऐसे विकल्प हों तो उसे कुछ लाभ हो – शुभ-अशुभ विकल्प हो तो कुछ अन्दर में प्रवेश होता है... अरे! यह तो जिसे छोड़ना है और जिसका आदर करना है, वह आदर करना, उसमें यह विकल्प है नहीं और जिसे

छोड़ना है, उसे लेकर अन्दर में प्रवेश हो सकेगा ? समझ में आया ? एक बात निमित्तरूप से है, परन्तु वह निमित्तरूप से कब कहलाये ? भगवान अनन्त आनन्द की मूर्ति है, असंख्य प्रदेशी परिपूर्ण प्रभु है। यह उसका अन्तर में **मुणहु** अर्थात् ध्यान करना। उसकी ओर का ध्येय करके, उसको ज्ञेय करके, उसमें स्थिरता करने का नाम आत्मा को जानना कहा जाता है।

अरे! इसे चार गति का दुःख नहीं लगा है। समझ में आया ? यह व्यवहार के विकल्प भी, भगवान (को) दुःखरूप है। प्रभु सुखरूप है। आत्मा तो आनन्दरूप है। वह आनन्दरूप उस दुःखरूप से प्राप्त होगा ? समझ में आया ? इस कारण यहाँ कहते हैं कि वह तो स्वानुभव से ही ज्ञात हो ऐसा है। वह राग से और विकल्प से ज्ञात हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! क्या हो ? इसने अनादि से लुटा दिया है। लुटा दिया है। लूट, लूट आत्मा को लूट, अज्ञानभाव से लूट गया। कुछ नहीं रहा, उसका क्या स्वरूप है ? वह कहीं लक्ष्य में नहीं रहा। भगवान आत्मा, कहते हैं, भाई ! एक स्वसंवेदन से ही ज्ञात हो – ऐसी उसकी शक्ति और उसका सत्व और उसका स्वरूप ही ऐसा है। उसका स्वरूप ऐसा है, उससे विरुद्ध तू करने जाये तो अन्दर की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? समझ में आया ?

अरे! तीन लोक के नाथ परमेश्वर केवलज्ञानी ऐसा फरमाते हैं – भाई ! तू तो अनन्त आनन्दस्वरूप है न! और वह भी तू तुझसे ही वेदन करके अनुभव कर सके – ऐसी तेरी चीज है। तुझे ऐसे पामर विकल्प की आवश्यकता नहीं है। इस भिखारी पामर राग की तुझे जरूरत नहीं है। भाई ! इसके सहारे की तुझे जरूरत नहीं है। आहा...हा... ! परन्तु मूढ़ कहता है नहीं... नहीं... नहीं... नहीं...।

मुमुक्षु – पहले ऐसा होता है न ?

उत्तर – परन्तु क्या पहले – पीछे था कब ? यहाँ यह तो बात करते हैं। आहा...हा... ! इसमें समझ में आया ?

वह इसमें आता है, श्वेताम्बर में एक कथा आती है न ? 'सुकुमारिका', हैं ? सुकुमारिका, द्रौपदी का जीव, पूर्व में उन मुनि को आहार दिया था न ? ऐसा आता है। ज़हर का आहार दिया था, कड़वी तुम्बी का (आहार दिया था)। घूमते-घूमते शरीर ऐसा मिला,

जहर जैसा मिला, शरीर। कोई उसका हाथ पकड़े तो अग्नि लगे। विषय-वासना से हाथ पकड़े तो अग्नि लगे, फिर उसके पिता ने कोई ऐसा साधारण भिखारी निकला होगा, युवा व्यक्ति होगा, मक्खियाँ भिनभिनाती हुईं और भिखारी.... उसे अन्दर में ऐसा (लगा कि) इससे विवाह करा दो। फिर बड़े-बड़े करोड़पति हैं परन्तु उन्हें किसलिए बुलाते हैं? आओ...आओ! सेठ बुलाते हैं... परन्तु किसलिए? घर में दामाद बनाने को बुलाते हैं। अन्दर आया, वहाँ वे गन्दे कपड़े थे न? लकड़ी, टोपी, डण्डा, कटोरा... सेठ ने हुक्म किया कि डाल दे.... डाल दे इन्हें.... उन्हें डालने लगे तो यह चिल्लाने लगा। इसे ऐसा लगा कि अर...र...! मेरा इतना भी जाता है। यह तो मिले तब सही.... परन्तु अपनी पुत्री का विवाह करते थे, विवाह किया परन्तु विवाह करके चला गया। क्योंकि अग्नि जैसा लगे तो भाग गया। तो फिर यह एक गरीब मनुष्य था। युवा व्यक्ति निकला (उसे) बुलाया। नौकर से कहा इसे ले जा, सेठ बैठे थे, वहाँ इस फूटे बर्तन और सकोरा डाल दो। हम अब तो यहाँ सोने के चाँदी के थाल में जीमानेवाले हैं। डालते (थे तब) चिल्लाने लगा। तो फिर सेठ ने ऐसा देखा क्यों चिल्लाता है? उसे विश्वास नहीं आता। इन्हें रखो कौने में, इन्हें इसके कौने में रखो। देखो, यह लक्षण पहले से.... इसलिए फिर जहाँ कन्या का विवाह किया, अच्छे कपड़े पहनाये, लाख-लाख रुपये के कपड़े... परन्तु ऐसा हाथ जहाँ पकड़ा, अग्नि... अग्नि... हाय... हाय...! अब? रात्रि में जब पलंग पर सोने गया, वहाँ करवट जहाँ ऐसा करे वहाँ अग्नि.... वह सो रही थी वहाँ भगा... कपड़े-वपड़े उतारकर हाँ, नहीं तो वापस पकड़ेंगे। सुना है? ज्ञातासूत्र में यह आता है। वह सब छोड़ दिया, वापस उस कौने में रखा था, उसे लेकर भाग गया।

इसी प्रकार यह अनादि का भिखारी, भगवान बुलाते हैं कि ले... तुझे अनुभव की परिणति से विवाह कराते हैं, चल... चल... परन्तु इसे (लगता है कि) मेरे विकल्प चले जायेंगे और मेरा व्यवहार चला जायेगा। अरे...! नहीं जायेगा, सुन न अब। मलूकचन्दभाई! भाईसाहब! मेरे व्यवहार के उस विकल्प का क्या करना? व्यवहार से प्राप्त होता है वह विकल्प? भगवान कहते हैं भाई! रख... रख... रख... परन्तु अब उसे रखकर उसकी दृष्टि छोड़कर यहाँ आ। आने की दरकार है नहीं, उस पर प्रेम है। वहाँ प्रेम को छोड़ा नहीं

इसलिए अन्दर में जा नहीं सकता, हो गया सफेद मूली जैसा, ऐसा का ऐसा। राग और व्यवहार लेकर चौरासी के अवतार में चला गया। ज्ञातासूत्र में यह आता है। यहाँ तो सब कथा व्याख्यान में पढ़ी है न। आहा...हा... !

मुमुक्षु – पढ़ी हुई और बढ़ा-चढ़ाकर कही हुई।

उत्तर – बढ़ा-चढ़ाकर कही हुई... यहाँ से वहाँ सब बढ़ा-चढ़ाकर कही हुई, हों ! इतना फूटा घड़ा उसे छोड़ना रुचता नहीं, उसे उसके पैसे कमाने हैं। अरे ! परन्तु इससे पहले ही तेरा पाप का उदय लगता है। इसी प्रकार इसे, व्यवहार नहीं होता, व्यवहार बिना प्राप्त होता है ? अरे...रे... ! तब कहे व्यवहार साधन है, साधन। (तब इसे ऐसा होता है) हास। परन्तु वह साधन नहीं, सुन न, साधन कहा है, वह तो उसे छोड़कर स्वभाव में एकाग्र होवे तो उसे व्यवहार साधन कहा जाता है। आहा...हा... ! बेचारे चिल्लाते हैं... पुकार... पुकार। सोनगढ़ के सामने पुकार, उसके सामने पुकार। भगवान ! यह बात नहीं बदलेगी, तुझे पता नहीं है। यह तो तीन काल तीन लोक में सिद्ध हुई सर्वज्ञ से आयी हुई बात है। यहाँ क्या पुकार करता है ? देखो न !

कहते हैं कि **आत्मा परमानन्द पद अपने शुद्ध आत्मदेव को शरीर प्रमाण आकारधारी माने और उसका ध्यान करे....** देखो ! समझ में आया ? अपने स्वरूप का ध्यान कर, भाई ! परन्तु सीधा ध्यान ? पाधरू अर्थात् समझे ? सीधा, कुछ करने का तो कहो, परन्तु करना यहाँ छोड़ने का है। आहा...हा... ! अब कहते हैं, देखो ! पच्चीसवीं (गाथा)

☆ ★ ☆

सम्यक्त्व बिना ८४ लाख योनि में भ्रमण

चउरासी लक्खहिँ फिरिउ, कालु अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्तु ण लद्धु जिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥२५॥

लक्ष चौरासी योनि में, भटका काल अनन्त।
पर सम्यक्त्व तू नहिं लहा, सो जानो निर्भान्त॥

अन्वयार्थ – **(अणाइ काल)** अनादि काल से **(चउरासी लक्खह फिरिउ)**

यह जीव ८४ लाख योनियों में फिरता आ रहा है। **(अणंतु)** व अनन्त काल तक भी सम्यक्त्व बिना फिर सकता है। **(पव सम्मत ण लद्धु)** परन्तु अब तक इसने सम्यग्दर्शन को नहीं पाया है **(जिउ)** हे जीव! **(णिभंतु एहउ जाणि)** नि:सन्देह इस बात को जान।

☆ ★ ☆

अरे.... **सम्यक्त्व बिना ८४ लाख योनि में भ्रमण।** यह ८४ लाख योनियाँ एक आत्मा की सीधी अनुभवदृष्टि लिये बिना, इससे होगा और इससे होगा और इससे होगा, होली की विकल्प से होता है और शुभभाव से धर्म होगा – ऐसा मानकर, आत्मा के स्वरूप का अनुभव-सम्यग्दर्शन नहीं किया। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया।

चउरासी लक्खहिँ फिरिउ, कालु अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्तु ण लद्धु जिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥२५॥

अनादि काल से यह जीव ८४ लाख योनियों में भटकता फिरता रहा है। स्वर्ग में अनन्त बार गया है। चौरासी में आया या नहीं? स्वर्ग में.... आहा...हा...! भाई! तुझे आत्मा का अन्तर ध्यान, सीधे राग को छोड़कर सम्यग्दर्शन, स्वरूप के अभेद की दृष्टि करना – ऐसा जो सम्यग्दर्शन, उसके बिना अनन्त काल में एक कोई योनि खाली नहीं रखी। नरक में दस हजार वर्ष की स्थिति में अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। दस हजार और एक समय की स्थिति में अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। समझ में आया? दस हजार.... कम से कम दस हजार (वर्ष) की स्थिति नरक में है। नारकी। नरक में है न? पहले नरक, दस हजार वर्ष (की स्थिति में) वहाँ अनन्त बार उत्पन्न हुआ। वह उष्ण वेदना, उसके एक समय अधिक के अनन्त भव, दो समय अधिक के, तीन समय.... (ऐसे) करते-करते अन्तर्मुहूर्त.... एक-एक समय के अनन्त अनन्त भव किये। ऐसा जाओ, एक सागरोपम, उसके जितने समय हैं, उन-उन समय के अनन्त भव किये। जाओ, तैंतीस सागरोपम, सातवाँ नरक। आहा...हा...! परन्तु अनन्त काल गया, बापू! तेरा अभेद चिदानन्दस्वरूप सम्यग्दर्शन, वह सम्यग्दर्शन अर्थात् मोक्ष का मार्ग हाथ आ गया। (तब कहते हैं) यह... नहीं, नहीं... इसके बिना नहीं, मुझे इसके बिना नहीं (चलता) मर गया परन्तु इसी-इसी में... अभेद चिदानन्द मूर्ति को सीधी पकड़।

ऐसे सम्यग्दर्शन के बिना नरक के भव अनन्त किये, स्वर्ग के (अनन्त किये)। स्वर्ग में भी दस हजार वर्ष के अनन्त भव किये। वहाँ भी कम से कम दस हजार वर्ष की आयु है, हाँ! भवनपति, व्यन्तर में.... एक समय अधिक, दो समय अधिक... ऐसे अनन्त भव। जाओ, वैमानिक स्वर्ग.... एक सागर, दो सागर – इनके बीच के जितने समय हैं, उतने अनन्त भव। नौवें ग्रैवेयक तक इकतीस सागरोपम में अनन्त भव किये। क्यों?

चउरासीलक्खह फिरिउ काल अणाइ अणंतु अनन्त अर्थात् उनका यह शब्द आया, देखो! यह अनन्त काल भटका। भूतकाल में भटका, उसकी बात कहनी है न? यहाँ कहीं भविष्य की बात कहाँ है? भले ही अर्थ इन्होंने किया है। समझ में आया? **सम्यक्त्व के बिना घूम सकता है**। ऐसा करके अनन्त का अर्थ किया है। यह तो अनादि काल में, अन्त नहीं – ऐसे काल में अनन्त भव तूने किये हैं – ऐसा यहाँ तो कहना है। आहा...हा...! अरे, चींटी के अनन्त भव, कौवे के अनन्त भव, कसाई के अनन्त भव, शत्रु के अनन्त भव.... आहा...हा...!

यह बिजली का अभी नहीं कहा? मुम्बई में। ऐसे त्रास लोगों को हो जाते हैं परन्तु ऐसे भव तो अनन्त किये हैं। तुझे ऐसा लगता है कि इसे ऐसा (हुआ)। तूने ऐसे अनन्त भव किये हैं। समझ में आया? अनन्त बार घानी में पिला, बिच्छू के कठोर डंक में अनन्त बार मर गया। हाय... हाय...! मर गया। ऐसे मनुष्य के.... ऐसे पशु के (अनन्त भव किये)। भाई तुझे पता नहीं है। चौरासी लाख के अवतार में कुछ बाकी नहीं है; एक सम्यग्दर्शन बिना (कुछ बाकी नहीं है), देखो! क्या कहा?

पर सम्मत्त ण लध्धु चौरासी के अवतार स्वर्ग के किये उसका क्या अर्थ हुआ? नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया तो कैसे पुण्य से जाता है? पाप से नौवें ग्रैवेयक जाता है? पाप करके नौवें ग्रैवेयक, इकतीस सागर जाता है? पंच महाव्रत ऐसे हों, शुक्ललेश्या ऐसी हो, ऐसी शुक्ललेश्या, पंच महाव्रत, ब्रह्मचारी.... ऐसे परिणाम द्वारा नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया (परन्तु) सम्यक्त्व नहीं पाया। ऐसे परिणाम से सम्यक्त्व नहीं पाया, वह दूसरे परिणामों से सम्यक्त्व पायेगा? ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा...हा...!

वह नहीं, यहाँ तो भटकता है, अनादि की बात है न? समझ में आया?

कहते हैं, एक सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना.... उसकी अंक की बात क्या करना? अनादि काल से अनन्त काल में, भूतकाल में, हाँ! **सम्मत्त ण लध्धु – अभी तक इसने सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया।** इसका क्या अर्थ किया? कि नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया, उसके परिणाम कितने थे? त्याग के, वैराग्य के, बाहर के साधन के, पंच महाव्रत के.... हजारों रानियाँ छोड़ीं, हजारों रानियाँ छोड़कर त्याग किया? अट्ठाईस मूलगुण अनन्त बार पालन किये – ऐसे अट्ठाईस मूलगुण पालन से सम्यक्त्व नहीं प्राप्त हुआ। अब तुझे साधारण शुभराग से सम्यक्त्व पायेगा ऐसा कहना है? समझ में आया? इस भगवान के अखण्डानन्द के आदर बिना सम्यक्त्व नहीं पाया। अमुक से नहीं पाया – ऐसा नहीं है, यह कहते हैं। क्या कहा? नौवें ग्रैवेयक आदि अनन्त भव किये, भगवान! भाई! तेरी नजर नहीं पहुँचती, क्या हो? इस तरह आदि नहीं होती, आदि नहीं होती, आदि नहीं होती। आहा...हा...! समझ में आया?

अभी कोई कहता था, नहीं वह? पन्द्रह दिन पहले यहाँ कोई नाटक होता था न? नहीं? दो लड़के जाते थे। एक दस वर्ष का लड़का 'जिथरी'.... उसको चाँदी के बटन थे, वे ले लिये और डाल दिया कुएँ में। वहाँ कुएँ में पानी नहीं, पत्थर थे और एक बड़ा फणधर सर्प बैठा था। कहो? दो चार घण्टे, डेढ़ बजे निकला.... चिल्लाये... चिल्लाये... हाय...! ऐसे नहीं निकला जाता। सर्प के सामने चार घण्टे-पाँच घण्टे शोर मचाये। प्रातः काल हुआ (तब) कोई निकला होगा (उसे लगा) इसमें लड़का लगता है। चाँदी के बटन होंगे और साथ में निकले होंगे। अब ऐसे छोटे कुएँ में चिल्लाये... यह चौरासी का बड़ा कुआ है। (इसका भय नहीं है।) आहा...हा...! तेरे मिथ्यात्व भाव ने अनन्त बार कुएँ में डाला। समझ में आया? काले नाग जैसा मिथ्यात्वभाव.... इस पुण्य से धर्म होगा और क्रिया से धर्म होगा और राग से लाभ होगा (– ऐसा माना)। भगवान के बिना सम्यक्त्व नहीं होता – ऐसा तूने माना नहीं। राग के बिना और अमुक के बिना नहीं होता – ऐसा मानकर तूने अनन्त भव किये हैं –ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

पर सम्मत्त ण लध्धु ऐसे भव किये और सम्यक्त्व नहीं पाया? इन भव के कारण का सेवन किया और सम्यक्त्व नहीं पाया। तब इसका कारण कि जिस भाव के कारण से

भव मिले, उस कारण से सम्यक्त्व नहीं मिलता। कहो, समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक गया, अट्ठाईस मूलगुण (ऐसे पालन किये कि) चमड़ी उतारकर नमक छिड़क दे तो क्रोध न करे – ऐसी तो जिसकी क्रिया हो, तब नौवें ग्रैवेयक तक जाये.... ऐसा करने पर भी सम्यक्त्व नहीं पाया तो इसका अर्थ वह दूसरी चीज है। इसके द्वारा, इस भाव और इससे वह प्राप्त हो – ऐसी चीज नहीं है, यह कहते हैं। योगसार का वर्णन है न! वह सार नहीं, योग नहीं, वहाँ जुड़ान किया, वह नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

बादशाही छोड़ी, जंगल में अनन्त बार रहा.... परन्तु क्या हुआ? अन्दर में चैतन्य बादशाह को पहचाना नहीं! ऐसी क्रिया करूँगा तो अपना कल्याण होगा? ऐसा त्याग किया और शरीर से ब्रह्मचर्य पालन किया (तो) कल्याण होगा (– ऐसा मानकर) मर गया, उसी-उसी में, कहते हैं। आहा...हा...! देखो, यह योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि, योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि जंगलवासी इस जगत के समक्ष यह बात रखते हैं। योगसार – आत्मा के स्वभाव का आश्रय करके जो सम्यक्त्व का निर्मल योग प्रगट होता है, वह तूने अनन्त काल में प्रगट नहीं किया। समझ में आया? धर्मध्यान के 'काउसग्ग' में पाठ आता है। उन लोगों में – स्थानकवासियों में नहीं आता? एक सम्यक्त्व के बिना ऐसा अनन्त बार कर चुका, अमुक किया.... आता है या नहीं? ए... भगवानभाई! इसे सम्यक्त्व कब था? भान नहीं है। अभी सम्प्रदाय की विधि का पता नहीं है, देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं? इसका पता नहीं है। किसकी दीक्षा और किसका साधु? समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक में इस प्रकार गया तो भी मिथ्यात्व का अभाव नहीं हुआ। क्योंकि वह परभाव है, यहाँ तो साधारण अभी कोई दया, दान के साधारण परिणाम करे तो इसे धर्म हो गया? आहा...हा...!

चउरासी लक्खहिँ फिरिउ, कालु अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्तु ण लद्धु जिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥२५॥

ऐसा निर्भ्रान्त जान। निर्णय कर कि अनन्त भव में अनन्त भाव किये परन्तु उस भाव द्वारा सम्यक्त्व नहीं पाया। सम्यक्त्व को अन्दर भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु का आश्रय करने से सम्यक्त्व होता है, दूसरे किसी का आश्रय करने से प्राप्त नहीं होता। समझ में आया? आहा...हा...! उसे भी कहते हैं कि इसे पर की महिमा लगी है और स्व की

महिमा नहीं आयी। स्वयं अनुभव होने योग्य स्वयं से है, पर के अवलम्बन से नहीं। राग और व्यवहार के अवलम्बन से अनुभव होने योग्य यह चीज – आत्मा नहीं है। ऐसी आत्मा की महिमा किये बिना, अनन्त बार भटककर मरा। अहिंसा पालन की और दया पालन की, व्रत पालन किये, भक्ति की, तपस्या (की), बारह-बारह महीने के अपवास, बारह-बारह महीने के अपवास.... भिक्षा के लिये जाये तो अकेले मुरमुरे (और) पानी – जल (मिले)। क्या हुआ?

भगवान आत्मा एक स्वरूप सीधा अनुभव होने योग्य है, उसकी इसने महिमा नहीं की। समझ में आया? कहो, हरिभाई! इस पैसे की महिमा और इस धूल की महिमा। आहा... हा...! देखो न! कैसा अलग प्रकार का आया है या नहीं? सीधा हाथ में रखे ऐसा है? यह नया आया है। नये प्रकार का आवे तो नये प्रकार का उसको पकड़ना है न? ऐसे जगत के मोह हैं। नयी फैशन हो, तब लोगों को महिमा लगती है, उसमें से समझे तब तो धर्मी के पास सुनने ही नहीं जाये, उससे यदि प्राप्त हो जाये तो। समझ में आया? आहा...हा...!

परन्तु सम्यक्त्व के बिना चौरासी में भटक सकता है। **परन्तु आज तक इसने सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया, हे जीव! निःसन्देहपने यह बात जान।** और भविष्य का लेना हो तो जहाँ तक आत्मा का – भगवान आत्मा का सीधा अनुभव होने योग्य **स्वानुभूत्या चकासते** – वीतरागी पर्याय से अनुभव हो सके – ऐसा आत्मा है, उसे प्राप्त किये बिना अनन्त काल भविष्य में भी भटकेगा। समझ में आया? यह जान **णिभंतु** देखो! स्वयं कहते हैं, हाँ! एक सम्यक्त्व नहीं पाया। चारित्र नहीं पाया – ऐसा कहा है? सम्यक्त्व हो, तब चारित्र होता है, उसके बिना चारित्र नहीं होता। यह सब क्रियाकाण्ड, यह चारित्र है? यह तो इसने अनन्त बार किया है।

मुमुक्षु – यह तो अचारित्र है।

उत्तर – अचारित्र तो अनन्त बार किया है। देखो, रत्नकरण्डश्रावकाचार में इस श्लोक की थोड़ी टीका की है। देखो!

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥ ३४॥

यह रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्राचार्यदेव ने बनाया है। उसका श्लोक दिया है। है न इस ओर? **तीन लोक में और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान जीव का कोई भी हितकारी नहीं है....** कोई भी हितकारी नहीं अर्थात् चारित्र भी हितकारी नहीं है – ऐसा नहीं कहना है, हाँ! यहाँ तो सम्यग्दर्शन के बिना दूसरे परिणाम कोई भी आत्मा को हितकारी नहीं हैं – ऐसा कहना है। फिर वापस उसे सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु – पंच महाव्रत के परिणाम तो होते हैं।

उत्तर – चारित्र तो महा हितकारी है। यहाँ तो दूसरे परिणाम अनन्त बार किये... दया, दान, व्रत, भक्ति, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, विकल्प, राग, पंच महाव्रत अनन्त बार कर चुका, उनकी कोई कीमत नहीं है। तीन लोक और तीन काल में (वे हितकारी नहीं हैं)। समन्तभद्राचार्य, रत्नकरण्डश्रावकाचार.... जो व्यवहार आचरण का ग्रन्थ है, उसके ग्रन्थ में पहली भूमिका यह बाँधते हैं कि इसके बिना तेरे व्रत-फ्रत फिर हम कहेंगे, वह होते नहीं।

मिथ्यादर्शन के समान जीव का कोई भी अहित करनेवाला नहीं है। लो! एक सामने बात रखी, देखो! (अहित करनेवाला) कहा। भगवान आत्मा परिपूर्ण शुद्ध स्वभाव का आश्रय करके जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, उस सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त जगत में कोई हित की चीज नहीं है। कहो, समझ में आया? और मिथ्यात्व के समान जीव का बुरा करनेवाला कोई नहीं है। शुभपरिणाम हो या अशुभपरिणाम हो, इतना बुरा नहीं करते; अशुभभाव – हिंसा, झूठ, चोरी, भोग, विषय-वासना के अशुभपरिणाम हैं, वे इतना बुरा नहीं करते परन्तु मिथ्याश्रद्धा उससे अनन्तगुना बुरा करनेवाली है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा (ने) अपने स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अनन्त काल में नहीं की। (जीव को) उसकी कोई कीमत ही नहीं, कहते हैं। तीन लोक -तीन काल में उसके (सम्यग्दर्शन) जैसी कोई चीज नहीं है। मिथ्यात्व (अर्थात्) भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उससे विरुद्ध एक शुभराग के कण से भी कल्याण होगा, यह देह की क्रिया मुझे सहायक होगी तो मेरा कल्याण होगा – ऐसी मिथ्यात्व की मान्यता जैसी जगत में कोई बुरी चीज नहीं है। कहो, रतनलालजी! आहा...हा...! पता नहीं परन्तु

अभी सम्यक्त्व किसे कहना ? किंचित् आधार, कोई आधार (लेना चाहते हैं) निरालम्बी निरपेक्ष चीज को सापेक्षता से होना मानना, यह बात मिथ्या है – ऐसा यहाँ कहते हैं। भले व्यवहार हो, होवे तो क्या है ?

भगवान आत्मा.... सीधा आत्मा हूँ, उस पर तो बात है। जाना नहीं, सीधा भगवान ज्ञायकस्वरूप परमात्मा, उसे किसी राग और निमित्त, गुरु और किसी शास्त्र, किसी क्षेत्र, किसी आधार की, किसी की आवश्यकता नहीं है – वह ऐसा निरालम्बी भगवान पड़ा है। उसकी अन्तर में श्रद्धा और ज्ञान बिना (सब व्यर्थ है)। उसकी श्रद्धा और ज्ञान की क्या कीमत ? तीन लोक-तीन काल में उसके जैसा कोई हितकर है ही नहीं। समझ में आया ? और राग के कण को भी लाभदायक मानना, पर के आश्रय से कुछ कल्याण होगा, धीरे-धीरे कुछ करेंगे, पर का कुछ करेंगे तो पायेंगे.... करेंगे, राग करेंगे तो पायेंगे – ऐसी जो मिथ्या श्रद्धा, राग करेंगे तो आत्मा पायेंगे, ऐसी मिथ्याश्रद्धा के अतिरिक्त जगत् में कोई बुरा करनेवाला नहीं है। आहा...हा... ! कहो, समझ में आया ? आहा...हा... !

देखो ! **सम्यग्दर्शन को शुद्ध पालन करनेवाला जीव, पाँच अहिंसा आदि व्रतों से रहित होने पर भी मरकर नारकी पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुल का, अंगरहित, अल्प आयुवाला या दरिद्री नहीं होता....** लो ! अकेले सम्यक्त्वसहित मरे... पंच महाव्रत बिना... तो भी वह इतने में – हल्के में नहीं जाता। हल्की गति में उत्पन्न नहीं होता – ऐसा कहते हैं। स्वरूप का भान हुआ, उसकी गति हल्की नहीं होती। आहा...हा... ! मोक्ष के पंथ में पड़ा, उसे बाहर में हल्की गति नहीं होती – ऐसा। समझ में आया ? **यदि सम्यक्त्व होने से पहले नरक, तिर्यंच या अल्प आयुष्य बाँधा हो तो पहले नरक में....** जाता है। यह तो ठीक। समझ में आया ? ऐसी उसकी व्याख्या की है। लो ! **चउरासी लक्खह फिरिउ पर सम्मत्त ण लध्धु।**

☆ ★ ☆

शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्षमार्ग है

सुद्ध सचेयणु बुद्धु जिणु, केवल-णाण-सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, जइ चाहहु सिव-लाहु ॥२६॥

शुद्ध सचेतन बुद्ध जिन, केवलज्ञान स्वभाव।
सो आतम जानों सदा, यदि चाहो शिवभाव॥

अन्वयार्थ – **(जइ सिवलाहु चाहउ)** यदि मोक्ष का लाभ चाहते हो तो **(अणुदिणु सो अप्पा मुणहु)** रात-दिन उस आत्मा का मनन करो जो **(सुद्धु)** शुद्ध वीतराग निरंजन कर्म रहित हैं **(सच्चेयणु)** चेतना गुणधारी है या ज्ञान चेतनामय है **(बुद्धु)** जो स्वयं बुद्ध है **(जिणु)** जो संसार विजयी जिनेन्द्र है **(केवलणाणसहाउ)** व जो केवलज्ञान या पूर्ण निरावरण ज्ञानस्वभाव का धारी है।

☆ ★ ☆

२६। **शुद्ध आत्मा का मनन ही मोक्षमार्ग है।** भगवान आत्मा को, पूर्णानन्द के नाथ को अन्दर निर्विकल्परूप से अनुभव करना, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? कहते हैं कि शुद्ध आत्मा.... समझ में आया? यह पवित्र आत्मा अन्दर है, यह शरीर, वाणी, मन को मिट्टी-जड़ है, यह तो धूल है। अन्दर आठ कर्म के रजकण हैं, वे मिट्टी-धूल है और आत्मा में पुण्य और पाप के दो भाव होते हैं, वह मलिन / विकार है। उनसे रहित भगवान अन्दर विराजमान आत्मा, वह तो सच्चिदानन्द आनन्दकन्द सिद्धसमान है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसे शुद्ध भगवान आत्मा की एकाग्रता-मनन, वही मोक्ष का मार्ग है; दूसरा कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? देखो!

सुद्ध सचेयणु बुद्धु जिणु, केवल-णाण-सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, जइ चाहहु सिव-लाहु॥२६॥

अरे! भगवान आत्मा! यदि मोक्ष का लाभ चाहता हो, यदि परमानन्दरूपी मोक्ष की दशा चाहते हो तो रात-दिन इस आत्मा का मनन करो... आहा...हा...! अरे! यह जबावदारी.... शर्त इतनी है कि यदि तुझे पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी मोक्ष की इच्छा हो तो.... शर्त इतनी, हैं? पुण्य चाहिए हो, पैसा चाहिए हो, स्वर्ग चाहिए हो तो उसके लिए यह बात नहीं है। वह तो भटकनेवाले अनन्त काल से भटकते हैं। आहा...हा...! कहते हैं.... गाथा बहुत उत्कृष्ट है, हाँ! जरा एक-एक शब्द अच्छा उत्कृष्ट है।

सिवलाहु चहद भगवान! शिव अर्थात् मोक्ष। परमानन्द की, आत्मा की दशा, आत्मा की पूर्ण शुद्ध आनन्ददशा का नाम मोक्ष है। ऐसी मोक्ष की दशा.... आत्मा में शुद्धता तो परिपूर्ण पड़ी है, उसकी वर्तमान दशा में परिपूर्ण शुद्ध और आनन्द की परिपूर्णता की प्राप्ति होना, उसका नाम मुक्ति है। यदि ऐसी मुक्ति का लाभ चाहता हो... यह शर्त। तो **अणुदिणु सो अप्पा मुणहु**। रात-दिन, भगवान शुद्ध परमात्मा निर्मलानन्द है, यह उसका ध्यान कर। आहा...हा...! हैं? कहो, निहालभाई! निहाल होना हो तो यह कर – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! अरे... भगवान! परन्तु तू बड़ा पड़ा है न प्रभु! महा शुद्धस्वरूप है न! २६ वीं गाथा है न? यह गाथा है, इसमें अर्थ नहीं, यह तो ऊपर से अर्थ (होता है)।

यह आत्मा अन्दर विराजमान है, वह तो महा शुद्ध पवित्र है। उसे आत्मा कहते हैं। शरीर, वाणी, मन तो मिट्टी-धूल, धूल है, वह तो राख है। अन्दर आठ कर्म जिन्हें कहते हैं, वह तो जड़ है और यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना के भाव होते हैं, वह तो पाप है और दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा के भाव होते हैं, वह पुण्य है। ये दोनों भाव मलिन विकार है। दोनों विकार के पीछे भगवान शुद्ध चिदानन्द मूर्ति आत्मा है। आहा...हा...! पता नहीं, कभी सुना नहीं, कितना हूँ, कैसा हूँ? यह सुना नहीं। समझ में आया?

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक ज्ञान में ज्ञात हुए, पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण प्रगट हुआ, उनकी वाणी में आया कि अरे... आत्मा! तू तो शुद्ध है न प्रभु! पहला 'शुद्ध' शब्द है। शुद्ध वीतराग निरंजन कर्मरहित है (– ऐसी) चीज है, उसका मनन कर। राग का मनन, पुण्य का, व्यवहार का मनन (छोड़)! समझ में आया? यदि तुझे मुक्ति-मोक्ष का लाभ चाहिए हो तो.... भटकने का लाभ अनन्त काल से करता है, उसमें कोई नयी बात नहीं है। चौरासी के चक्कर अनन्त काल से खाया ही करता है। तुझे आत्मा की शान्ति की पूर्णता की प्राप्ति – ऐसी जो मुक्ति, ऐसे शिव का-मोक्ष का लाभ यदि चाहिए हो तो इस शुद्ध का मनन कर।

परमानन्द की मूर्ति प्रभु, पुण्य-पाप से रहित है। कर्म, शरीर से रहित है; अपने अनन्त पवित्र गुणों से सहित है – ऐसे भगवान का तू मनन कर। भाई! इस राग और पुण्य

के मनन से प्रभु प्रगट हो – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तेरे दया, दान और व्रत के शुभपरिणाम से भगवान ज्ञात हो – ऐसा नहीं है, यह कहते हैं। समझ में आया ? निर्विकल्प नाथ, सत्‌चिदानन्द प्रभु, पूर्णानन्द का नाथ अन्दर पूर्ण अनन्तगुण से भरा हुआ तत्त्व है, उसकी तुझे प्राप्ति करना हो तो उसका मनन कर। शरीर, निमित्त आया तो ठीक; इससे मिलेगा – यह मनन करना रहने दे – ऐसा कहते हैं। ऐसे निमित्त होवे तो ठीक, ऐसा शुभराग होवे तो ठीक, ऐसी कषाय की मन्दता के परिणाम होवें तो ठीक – यह मनन तो तूने राग का किया। समझ में आया ? यह मनन तो तूने अनादि काल से किया है। इससे अनादि से संसार फलता है, अब तुझे मुक्ति करना है या नहीं ? या चक्कर खाना है चौरासी के ? कैसे होगा ? मलूकचन्दभाई ! पैसे-वैसे में सुख होगा या नहीं ? नहीं ? धूल में भी नहीं। वहाँ धूल में कहाँ सुख था ? यह तो मिट्टी के परमाणु धूल है, उन पर लक्ष्य करे, वह तो राग और ममता, पाप है। उसे घटाने के कदाचित् दान के परिणाम करे तो वह शुभराग है। उसका मनन है ? वह आत्मा का कल्याण है ?

यहाँ तो कहते हैं – अहिंसा का, सत्य का, अचौर्य का, दान का, शुभभाव का तुझे मनन करना है ? वह मनन करके तो अनन्त काल भटका है। आहा...हा... ! शुद्ध वीतराग निरंजन भगवान आत्मा, पूर्णानन्द का नाथ, शुद्ध निरंजन-कर्म का अंजन नहीं और वीतराग.... कर्मरहित है, प्रभु ! उस पर दृष्टि कर, यह सत्ता विराजमान प्रभु आत्मा है। अनन्त गुण का पिण्ड है – ऐसी महासत्ता प्रभु पर दृष्टि कर और उसका मनन कर ! यह एक ही उसका मनन और एकाग्रता ही मुक्ति का उपाय है। कहो, ठीक होगा ? दो मार्ग होंगे ? यह भी मार्ग होगा और कोई दया, दान, व्रत से भी मुक्ति होती होगी ? धूल में भी नहीं। समझ में आया ? वे तो पुण्यबन्ध के कारण हैं। भगवान आत्मा शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... उसका मनन कर, उसका ध्यान कर और उसकी एकाग्रता कर तो तुझे परम्परा कल्याण, केवलज्ञान होगा और मुक्ति का लाभ होगा। दूसरे बहुत बोल हैं।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीर संवत २४९२, ज्येष्ठ कृष्ण १४, शुक्रवार, दिनाङ्क १७-०६-१९६६
गाथा २६ से २८ प्रवचन नं. ११

यह योगसार चलता है। २६ वीं गाथा। योगसार अर्थात् इस आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्यमय अनन्त गुण का पिण्ड है, उसमें एकाग्र होकर उसका ध्यान करना – यह मोक्ष के मार्ग का सार है। योग अर्थात् आत्मा का स्वरूप जो शुद्ध चैतन्य है, उसमें सन्मुख होकर एकाग्रता से आत्मा का ध्यान अथवा आत्मा के स्वभावसन्मुख का व्यापार (होना), वही सार और मोक्ष का कारण है। कहो, समझ में आया कुछ? इससे कहते है –

सुद्ध सचेयणु बुद्धु जिणु, केवल-णाण-सहाउ।
सो अप्पा अणुदिणु मुणहु, जइ चाहहु सिव-लाहु॥२६॥

जो कोई आत्मा के पूर्णानन्द पूर्ण आनन्दरूपी अतीन्द्रिय आनन्द की दशा पूर्ण रूपी मुक्ति के लाभ को चाहता हो तो उसकी प्राप्ति – शिव लाभ, पूर्ण कल्याणमूर्ति आत्मा की निर्मल पर्याय – ऐसा मुक्तभाव (यदि) चाहता हो तो **जइ सिवलाहु चहद** तो शुद्ध **अप्पा अणुदिणु मुणहु**। सब विशेषण कहेंगे। यह आत्मा शुद्ध है, अत्यन्त वीतराग है, निर्दोष है, पूर्ण पवित्र परमात्मा है – ऐसा इसे आत्मा की ओर का प्रति दिन – हमेशा **मुणहु** आत्मा का अनुभव करना। कहो, इसमें समझ में आया? शुद्ध है – ऐसा अनुभव करना। इस मोक्ष के लाभ के इच्छुक को यह काम है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु – इसमें लाभ क्या होता है?

उत्तर – यह लाभ है न यह? लाभ सवाया कहा न? **सिवलाहु** – निरूपद्रव पूर्ण कल्याणमूर्ति आत्मा की पर्याय, आत्मा की शुद्ध परिपूर्ण प्रगट पर्याय का नाम मुक्ति (है)। ऐसे मुक्ति के लाभ को चाहता हो तो शुद्ध भगवान पूर्ण शुद्ध, पूर्ण शुद्ध वीतराग निर्दोश

स्वभाव है, उसका इसे अनुभव करना। इस शिवलाभ का यह हेतु है, दूसरा कोई हेतु नहीं। यह तो सार कहते हैं न? सार... समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, योगसार, गोम्मटसार – सब सार है। आहा...हा...!

यह तो परमार्थ से तत्त्व क्या करने योग्य है? मोक्षार्थी को क्या करने योग्य है? और किस कर्तव्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है? (– उसकी बात है)। इस शुद्ध भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्य का अन्तर ध्यान करना, अनुभव करना, उसका अनुसरण करके अन्दर स्थिर होना – यह एक ही मुक्ति का उपाय है। कहो, समझ में आया?

सच्चेयणु यह सचेतन ज्ञानमूर्ति है। यह आत्मा तो ज्ञानचेतनामय है। जिसमें पुण्य -पाप का करना – ऐसी कर्मचेतना और हर्ष-शोक का भोगना – ऐसी कर्मफलचेतना, वह वस्तु-स्वभाव में नहीं है; वस्तु तो चेतनमय है। यह चेतन, कही और ज्ञानचेतना को वेदे – ऐसा इसका स्वरूप है। समझ में आया? यह ज्ञान को वेदे, ज्ञान का अनुभव करे, ज्ञान के आनन्द के स्वाद को ले – ऐसा यह आत्मा है। यह पुण्य-पाप के स्वाद को ले या हर्ष-शोक के अनुभव को ले – ऐसा आत्मा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? अर्थात्? यह तो चेतनामय वस्तु है, पर का कुछ करे या पर से ले – ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। इसी तरह यह राग को करे या वेदे – ऐसा उसका स्वरूप नहीं है, आहा...हा...! समझ में आया? यह तो सचेतन जागृतस्वरूप, चेतनेवाला... चेतनेवाला... चेतनेवाला जागृत (स्वरूप है)। अग्नि को चेतते हैं न? चेताओ अग्नि – (ऐसा) नहीं कहते क्या? चूल्हे में पड़ी हो तो। यह तो इसका चेतने का स्वभाव ही है। आनन्द का वेदन करना, ज्ञान का वेदन करना, प्रत्यक्ष ज्ञान का वेदन करना – यही इसका – आत्मा का स्वरूप है। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो परमार्थमार्ग की बात चलती है न?

मुमुक्षु – मार्ग एक है न!

उत्तर – परन्तु मार्ग दो हो कहाँ से? दूसरा है नहीं न। 'एक होय तीन काल में, परमार्थ का पंथ।'

भगवान आत्मा जो शुद्ध-बुद्ध स्वरूप है, उसमें चैतन्यमूर्ति, चेतना को वेदे, चेतना

को वेदे, चेतना को करे – ऐसा चैतन्यस्वरूप है। राग को करे या हर्ष को भोगे – यह वस्तुस्वरूप ही नहीं है। संसार के भाव को करे या संसारभाव को – हर्ष से वेदे – यह वस्तु, यह आत्मा ही नहीं है। समझ में आया? अतीन्द्रिय भगवान आत्मा.... उसे आत्मा कहते हैं कि जिसमें अकेली चेतना भरी है। वह तो चेतने का, जानने का, देखने का, वेदने का, अनुभव करने का काम करे – ऐसा यह आत्मा है। ऐसे आत्मा को तू **मुण** – जान। राग को, अमुक को करे, वह आत्मा नहीं; वह तो अनात्मा है। समझ में आया?

व्यवहार के रत्नत्रय के विकल्प उठें या करे, या वेदे, वह आत्मा नहीं, वह आत्मा नहीं। आत्मा ज्ञानमूर्ति प्रभु, वह ज्ञान में जमकर, ज्ञान का अनुभव करे, ज्ञान का वेदन करे, ज्ञान में ज्ञान की एकाग्रतापने का अनुभव करे – ऐसा यह आत्मा है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु – इसी प्रकार सुना करें – ऐसा लगता है।

उत्तर – ऐसा? आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि बोले, वह आत्मा नहीं।

मुमुक्षु – सुने वह?

उत्तर – सुने वह आत्मा नहीं। आहा...हा...! अरे...! भगवान! विकल्प से सुने, वह आत्मा नहीं। समझ में आया?

भगवान आत्मा चेतनस्वरूप (है), वह तो चेतने का काम, वेदने का काम, जानने का काम करे, उसे आत्मा कहते हैं और उस आत्मा को **मुण** – अनुभव... उस आत्मा का अनुभव कर, वह शिवलाभ का हेतु है। पैसे के लाभ का और धूल के लाभ का दुनिया प्रयत्न करती है। निरुपद्रव कल्याणमूर्ति मुक्तपर्याय के लाभ के लिये यह एक ही उपाय है; दूसरा उपाय नहीं। आहा...हा...! बहुत सार-सार भरा है।

बुद्धु वह तो बुद्ध है, बुद्धदेव है, सत्यबुद्ध है, वह सच्चा बुद्ध है। समझ में आया? यह आत्मा भगवान सत्यबुद्ध है, यह इसका सत्यपना, इसका बुद्धपना जानना। वह स्वयं देव है, सत्यबुद्ध स्वयं देव है। तू ऐसे देव को जानकर अनुभव (कर)। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा देव है, इसलिए तू जानकर दूसरे को कुछ कहना – ऐसा यह आत्मा

है ही नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा आत्मा जानकर दूसरे को कहना, दूसरे को समझाना, बहुतों को लाभ होगा – यह आत्मा ऐसा है ही नहीं, यह कहते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु – प्रभावना होती है।

उत्तर – प्रभावना किसकी? कहाँ होती होगी?

श्रोता – अन्तर में।

समझ में आया? यह ज्ञान, और अन्तर **बुद्धु** सत्यबुद्ध भगवान। भगवान बुद्धदेव स्वयं सत्य है, यह बुद्धदेव ही सत्य है। 'बुद्धं शरणं' आता नहीं इसमें? आता है या नहीं? 'बौद्धं देवं शरणामि, बुद्धम गच्छामि' ऐसा कुछ शब्द आता है। लड़के बोलते थे, नहीं? अकलंक-निकलंक नाटक में बोलते थे। अभी किसी ने किया था या नहीं? पहले एक बार धीरूभाई ने नहीं किया था? 'बौद्धं देवं शरणामि' वे कहते 'अरिहंतं शरणामि, अरिहंत शरणामि' 'बुद्धं शरणं गच्छामि'।

यहाँ कहते हैं कि बौद्धं देवं शरणम् गच्छामि। यह मैं बौद्धदेव हूँ, भाई! आहा...हा...! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव फरमाते हैं कि भाई! तू तो सत्यबुद्ध है न! इसमें सत्यबुद्ध का पूरा पिण्ड है, सच्चा बुद्ध है, सच्चा बुद्धपना, सच्चा देवपना, वह तू है, उसे जानकर अनुभव कर, यही मोक्ष के लाभ का हेतु और कारण है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया? भाई! दूसरे के प्रश्न के उत्तर दे, समाधान करे तो कितना कल्याण हो! ए...ई...! धूल भी नहीं होता, सुन न! वह कहाँ मोक्ष का मार्ग था? आहा...हा...! समझ में आया?

सत्यबुद्ध भगवान चिदानन्द की मूर्ति, ऐसा स्वभाव, उसका अनुभव कर, यही मुक्ति के लाभ का हेतु है। दूसरा कोई कारण है नहीं। आहा...हा...! यह स्थिर.... स्थिर भगवान है, उसमें स्थिर हो, बाकी कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है। आहा...हा...! लोगों को कठिन (लगता है) ऐसा भी यह सब व्यवहार.... व्यवहार। अब सुन न! व्यवहार था कब उसमें? वह व्यवहार ही नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! दूसरे से सुनना और दूसरे को सुनाना – ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। ऐ... ई... निहालभाई!

यह तो सत्य का साहब बुद्धदेव परमात्मा स्वयं है। ऐसा आत्मा, उसे अन्तर्मुख होकर **मुणहु** – जान, अर्थात् अनुभव कर। समझ में आया?

मुमुक्षु – स्थिर में स्थिर हो, ऐसा तो आप ही समझा सकते हो।

उत्तर – वह स्थिर तत्त्व, स्थिर-स्थिर तत्त्व है। कल वहाँ नहीं आया था? अविचल आया था। दोपहर में आया था, दोपहर में आया था। अविचल रहने का स्थान भगवान है। वह उपशमरस और अकषाय शान्तरस और वीतरागता के रस से पिण्ड जमा हुआ वह आत्मतत्त्व है, वीतरागता के अकषाय रस से जमा हुआ पिण्ड है। उसमें विकल्प उठाना कि मैं दूसरों से समझूँ और दूसरों को समझाऊँ, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

वाह...! **बुद्धु** यह भगवान बुद्ध है, सत्यबुद्ध है। स्वयं से स्वयं जाननेवाला है, अपना ज्ञान अपने से जाने और वेदन करे – ऐसा यह आत्मा है, दूसरे किसी पहलू से आत्मा की स्थिति को माने तो वह आत्मा वैसा नहीं है। समझ में आया? जानपने के विशेष बोध द्वारा दूसरे को समझावे तो वह अधिक है, तो वह आत्मा का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। क्या कहा, समझ में आया? जानपने के विशेष बोल से दूसरे का समाधान करे – ऐसा आत्मा है, यह आत्मा ऐसा है ही नहीं। ए... छोटाभाई! आहा...हा...! भगवान आत्मा सत्य साहब प्रभु! अकेला बुद्ध पिण्ड प्रभु है। उसमें इस विकल्प का अवकाश कहाँ है? वह जाना हुआ तत्त्व है, उसे कहूँ – ऐसा विकल्प, वस्तु का स्वरूप कहाँ है? ऐसा आत्मा ही नहीं है। ऐसा होवे तो सिद्ध भगवान बोलना चाहिए। समझ में आया? आहा...हा...!

जिणु वह स्वयं जिन है, देव-जिनदेव है। ओ...हो...हो...! सच्चा जिन यह भगवान आत्मा है। समझ में आया? वे समवसरण में-लक्ष्मी में विराजमान हैं, वे तो तेरे लिए व्यवहार जिन हैं। तेरे लिए तेरा जिन वीतरागी बिम्ब वह स्वयं जिन है, परमेश्वर है। उनका जिन भी अन्दर में परमात्मस्वरूप जिन है। समवसरण और वह सब जिन-बिन है नहीं। समझ में आया? वाणी-ध्वनि निकले और समवसरण में इन्द्र एकत्रित हों, वह जिनपना नहीं है। आहा...हा...! उन्हें और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। समझ में आया? जिन,

तू स्वयं सच्चा जिन है। रागादि कर्म शत्रु को हनन करनेवाला है। अर्थात् ? यह भी व्यवहार से है। वस्तु स्वरूप से वीतरागी बिम्ब भगवान है। उसे जानकर अनुभव कर, बस! समझ में आया ?

यह तो सारमार्ग है, अकेला मक्खनमार्ग है। आहा...हा... ! ऐसे आत्मा को जिनरूप से स्वीकार, वीतरागी बिम्ब आत्मा प्रभु स्वयं मैं हूँ, उसे तू अनुभव कर। उसमें कुछ भी राग, वाणी, वाँचन, लेना-देना, शरीर के पुण्यप्रकृति के फल, उसमें यदि कहीं अधिकाई लग गयी तो जिनस्वरूप को अधिकपने नहीं माना है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भगवान जिनस्वरूप स्वयं ही है। अब, उस जिनस्वरूप के अतिरिक्त जितने बोल उठें, वे सब जिनस्वरूप नहीं हैं। अत: जिनस्वरूप की महिमा करनी है, उसके बदले उसके अतिरिक्त विकल्प, वाणी और जानपने का व्यवहार और उसकी महिमा व अधिकता स्वयं को ज्ञात हो जाये और या दूसरा ऐसा हो उसे इस प्रकार अधिकरूप माने तो वह भूल में पड़ा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तो **संसार विजयी जिनेन्द्र है....** देखो! अर्थ किया है, हाँ! संसार विजयी जिनेन्द्र है। वह तो विकल्प और उसके अभावस्वरूप जिनेन्द्र है। आहा...हा... ! अरे... ! शास्त्र के भानवाले भाव से भी वह मुक्त – ऐसा वह जिनेन्द्र है। समझ में आया ? ऐसा भगवान जिनेन्द्र प्रभु, उसका निर्विकल्प दृष्टि से ध्यान करना, उसे निर्विकल्प ज्ञान द्वारा ज्ञेय करना, यह उसे अन्दर में ऐसा वीतरागबिम्ब वह मैं हूँ, उसमें स्थिर होना, वह शिव लाभ का हेतु है। कहो, समझ में आया ? आहा...हा... !

भाई ! एक व्यक्ति कहता था, अकेला तो कुत्ता भी पेट भरता है... आहा...हा... ! दूसरे का करें, समझावें, दूसरे को समझें, तब उसका लाभ और जैनशासन कहलाता है। अरे... ! सुन... सुन..., कहा भाई ! तेरा नाम सुखसागर है, और यह विपरीतता कहाँ से लाया ? उसका नाम सुखसागर था। नहीं ? बहुत करके वहाँ है। बोर्ड लिखा है, बहुत वर्ष पहले हीराभाई के मकान में आये थे। लो, आत्मा... आत्मा... आत्मा का करना... यह तो कुत्ते भी पेट भरते हैं... आहा...हा... ! ऐसे-ऐसे मूर्ख वे कोई अलग होंगे ? दूसरे का करना है। यहाँ कहते हैं कि दूसरे का करने का विकल्प उठाना, वह आत्मा नहीं है। अब सुन न !

करने की तो कहाँ बात रही ? पर का कौन करे ? ए... निहालभाई ! यह कोई बात ! दूसरे का करना, वह 'सतरगच्छ' में है, नहीं ? बहुत करके उसमें है। हैं ? वह उस दिन तो ऐसा बोला था। मैंने कहा यह क्या कहता है यह ?

यहाँ तो कहते हैं भाई ! यह तो जिनस्वरूप भगवान आत्मा है। वह आत्मा, उसका लक्ष्य करके जिनस्वरूप में स्थिर होना, वीतरागी पर्याय से स्थिर हो, वह जैन, वह जिन के स्वरूप का आराधक है, और वह शिवलाभ का हेतु करनेवाला है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

वह **केवलणाण सहाउ** वह तो सम्पूर्ण ज्ञान का धनी है। आहा...हा... ! पूर्ण निरावरण ज्ञान का पिण्ड है, स्वतः ज्ञान का पिण्ड है, जो ज्ञान पर से नहीं आता... पर को देता नहीं, पर से आता नहीं। समझ में आया ? ऐसा अकेला चैतन्य का पुञ्ज भगवान है। ज्ञान – निरावरण केवलज्ञान का स्वभाव ही उसका वह है। अकेला पूर्ण, अकेला पूर्ण, ज्ञान स्वभाव, वह भगवान है।

देखो ! राग तो नहीं, शरीर तो नहीं, अपूर्ण तो नहीं... समझ में आया ? यह तो पूर्ण आत्मा.... आत्मा ही उसे कहते हैं। चार ज्ञान का विकास, वह वास्तव में आत्मा नहीं है। कहो, आहा...हा... ! समझ में आया ? गणधर की पदवी, चौदह पूर्व रचे, बारह अंग की रचना की, कितनी अधिकता ! (तो कहते हैं) नहीं; तुझसे किसने कहा ? अकेला ज्ञान स्वभाव है, उसमें फिर यह रचना और यह विकल्प वस्तु में है कहाँ ? यहाँ तो प्रगट चार ज्ञान की पर्याय है, वह वास्तविक आत्मा नहीं है, वह वास्तविक नहीं है; व्यवहार आत्मा है। समझ में आया ? ऐसा **केवलणाण सहाउ सो अप्पा**। लो, वह आत्मा... उसे आत्मा कहते हैं। इसके अतिरिक्त कम-ज्यादा, विपरीत अन्दर में रखेगा, वह आत्मा को नहीं जानता है। समझ में आया ? आहा...हा... !

सो अप्पा अणुदिणु 'अणुदिणु' अर्थात् हमेशा... हमेशा, ऐसा। रात और दिन अर्थात् हमेशा, ऐसे आत्मा को (ध्या)। हमेशा क्यों ? किन्तु चौबीस घण्टे में किसी दिन कुछ तो किसी का करना.... किसी का करने के लिए.... बापू ! एक व्यक्ति कहता था, दो-तीन भव हमारे होवे तो दिक्कत नहीं है। (हमने) कहा दो-तीन नहीं एकदम

समानता के अनन्त होंगे। एक भी भव के भाव की भावना करता है, उसे अनन्त निगोद के भव उसके कपाल (गर्भ) में पड़े हैं। भले ही एक दो भव हों परन्तु हमें तो दुनिया का कल्याण (करना है)। यहाँ वह शब्द है न ? जगत् का कल्याण करना... नहीं ? यह ठीक है (ऐसा) कहते हैं। समझ में आया ? कौन करे ? जगत् का करे कौन ? कल्याण करे कौन ? विकल्प करे कौन ? वस्तु में विकल्प नहीं है। समझ में आया ? आया वह तो अनात्मस्वरूप नुकसान कारक है, उससे स्व को लाभ माने, वह आत्मा को जानता नहीं है। समझ में आया ?

ऐसा **अप्पा अणुदिणु मुणहु** किसी समय में दूसरा आना नहीं चाहिए – ऐसा कहते हैं। ऐसा भगवान आत्मा अन्दर में निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति से अनुभवना, बस ! यही आत्मा का स्वरूप और मोक्ष के लाभ का हेतु है, बाकी सब बातें हैं। समझ में आया ? वे आते हैं न, दश प्रकार के धर्म ? रात्रि में क्षमा का विचार आया... त्याग धर्म नहीं आता ? त्याग आवे, उसमें दूसरा लिखे, उसे पुस्तक देना, ऐसा देना... अरे... ! भाई सुन न ! यह तो विकल्प की बातें हैं। ए...ई... छोटाभाई ! दश प्रकार के धर्म में आता है या नहीं ? दूसरे को पुस्तक देना, दूसरे को यह देना, उसे शिक्षा देना, उसे यह देना, यह महा ज्ञान का आराधना है। अरे... ! सुन न ! यह तो विकल्प की बातें हैं। समझ में आया ? यह तो पीछे अन्तर में ज्ञानानन्द की एकाग्रता की भावना की उग्रता वर्तती है, उसके निमित्त द्वारा बतलाया है। यह विकल्प द्वारा बतलाया है। देखो ! इसे राग का त्याग वर्तता है, और यह त्याग (वर्तता है) – ऐसा करके अन्दर में स्थिरता क्या है, उसे बतलाया है। वह स्वयं चीज नहीं है, समझ में आया ? आता है, शास्त्र में ऐसा कथन आता है, हाँ !

यह बात है, भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति बुद्ध जिन अकेला पूर्ण ज्ञानस्वभाव है, उसका बारम्बार – हमेशा.... फिर बारम्बार अर्थात् एक बार और फिर... ऐसा बारम्बार नहीं। एक धारावाही ऐसे भगवान का अनुभव करना। आहा...हा... ! बीच में विकल्प हो, उसे अनुमोदित नहीं करना कि यह मुझे हितकारी है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

जइ पाहउ सिवलाहु लो ! **जइ पाहउ सिवलाहु** शिव के लाभ को चाहता हो तो

यह है। निश्चय जिनराज तो तू है। भगवान समवसरण में विराजते हैं, वह आत्मा जिनराज है। वह समवसरण, जिनराज नहीं है; उनकी वाणी, जिनराज नहीं है; ॐध्वनि, जिनराज नहीं है; दिव्यध्वनि, जिनराज नहीं है; परमौदारिक शरीर, जिनराज नहीं है। जिनराज तो वीतराग का बिम्ब अन्दर स्थिर हो गया, वह जिनराज है। ए... देवानुप्रिया! यह २६ (गाथा पूरी) हुई, लो!

☆ ★ ☆

निर्मल आत्मा की भावना करके ही मोक्ष होगा

जाम ण भावहि जीव तुहुँ, णिम्मल अप्प-सहाउ।
ताम ण लब्भइ सिव-गमणु, जहिँ भावइ तहिँ जाउ॥२७॥

जब तक शुद्ध स्वरूप का, अनुभव करे न जीव।
जब तक प्राप्ति न मोक्ष की, रुचि तहँ जावे जीव॥

अन्वयार्थ – **(जीव)** हे जीव! **(जाम तुहुँ णिम्मल अप्प सहाउ ण भावइ)** जब तक तू निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना नहीं करता **(ताम सिवगमणु ण लब्भइ)** तब तक तू मोक्ष नहीं पा सकता **(जहिं भावहु तहिं जाउ)** जहाँ चाहें वहाँ तू जा।

☆ ★ ☆

२७। **निर्मल आत्मा की भावना करके ही मोक्ष होगा**। कठिन.... सार फिर से विशेष (लेते हैं)। भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु सचेत असंख्य प्रदेश में जागृत स्वभाव का पिण्ड, उसकी भावना। भावना शब्द से स्वरूप में एकाग्रता, निर्विकल्प एकाग्रता। देखो! यह भावना शब्द रखा है, हाँ! है न? **जहिं भावहु** ऐसा है न। चौथे पद में है, **भावहु** अर्थात् भावना करके मोक्ष जायेगा।

भगवान आत्मा... यह तो भावना का ग्रन्थ है, इसे पुनरुक्ति लागू नहीं पड़ती, इसे पुनर्भावना लागू पड़ती है। बारम्बार एकाग्रता... एकाग्रता.... एकाग्रता.... स्व सन्मुख की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है। व्यवहार के विकल्प, मोक्ष का मार्ग नहीं हैं। आहा...हा...! शास्त्र की स्वाध्याय करने से निर्जरा होती है, यह होती है। अरे...

भगवान आत्मा की स्वाध्याय अन्तर में करने से निर्जरा होती है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भगवान आत्मा एक ही शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति अभेदस्वभाव की एकाग्रता करते ही मोक्ष होगा, दूसरे प्रकार से मोक्ष नहीं होगा। भ्रम के भुलावे में मत पड़ – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! भ्रम के स्थान बहुत हैं। भ्रम के स्थान भटकने के बहुत और भ्रम को छोड़ने का स्थान एक भगवान आत्मा है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

जाम ण भावहि जीव तुहुँ, णिम्मल अप्प-सहाउ।
ताम ण लब्भइ सिव-गमणु, जहिँ भावइ तहिँ जाउ॥२७॥

तुझे करना हो तो यह कर, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **हे जीव! जाग तुहुं णिम्मल अप्प सहाउ ण भावहु** क्या कहते हैं ? **जब तक निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना नहीं करता....** लाख तेरे व्रत, नियम, पूजा, और भक्ति, और यह विकल्प शास्त्र के श्रवण व देने-लेने के विकल्प की जाल जहाँ तक करे, वहाँ तक आत्मा का मोक्षमार्ग नहीं है। समझ में आया ? **जब तक निर्मल आत्मा के स्वभाव की भावना नहीं करता....** इन सब विकल्पों की जालों को छोड़कर, भगवान पूर्णानन्द का स्वरूप अभेद चैतन्य में अनुभव न करे, तब तक **ताम सिवगमणु ण लब्भई – तब तक तू मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।** मोक्ष में गमन नहीं करेगा – ऐसा कहते हैं। मोक्ष में गमन **ण लब्भई**। पूर्णानन्द की ओर तेरा गमन-परिणमन नहीं होगा। आहा...हा... ! बहुत बात की है, भाई !

बेचारे कितने ही लोग तो बाहर की प्रभावना के लिये जिन्दगी खो बैठते हैं, हैं ? हम करें और बहुतों को लाभ हो, बहुतों को लाभ होता है... धूल भी लाभ नहीं है, अब सुन न ! बाहर के लिये मर-पीट कर जिन्दगी खो जाता है। समझ में आया ? परन्तु **जाम ण भावहु जीव**। जहाँ तक भगवान स्वभाव का पिण्ड प्रभु, उसकी ओर की श्रद्धा ज्ञान और चारित्र की भावना की शुद्धता की निर्विकल्पता की एकता न करे... समझ में आया ?.... वहाँ तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। यह लाख तेरे बाहर के विकल्प द्वारा, व्यवहार द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। समझ में आया ? यह सब तो स्थापित हो जाता है। ए...ई... बाबूभाई ! (लोग) चिल्लाते हैं, कहते हैं। भगवान तेरा स्वभाव ऐसा है न परन्तु.... आहा...हा... !

दिव्यध्वनि, वह जैनशासन नहीं। आहा...हा...! विकल्प उत्पन्न होता है, वह जैनशासन नहीं, पंच महाव्रत का परिणाम उत्पन्न होता है, वह जैनशासन नहीं। आहा...हा...! दूसरों को समझाने में रुकना, (उसका) विकल्प, वह जैनशासन नहीं। निहालभाई! कठिन मार्ग ऐसा... भाई! आहा...हा...! जहाँ अकेला स्थिर शान्त वीतरागी रस का तत्त्व आत्मा, उसमें ऐसे विकल्प को अवकाश कहाँ? और होवे तो वह शिवपंथ के कारण में कैसे शामिल है? शिवपंथ के गमन में, पंथ के गमन में तो शुद्ध भगवान आत्मा के ओर की अनुभव की दृष्टि, अनुभव ज्ञान, अनुभव की स्थिरता एक ही **सिवगमणु** – यह मोक्ष के पंथ का गमन और परिणमन है।

यह देखो न, छोटा ग्रन्थ है, लो! १०८ श्लोक, हैं। वे पूज्यपादस्वामी, लो न, इक्यावन श्लोक... क्या कहा यह? इष्टोपदेश। आहा...हा...! दिगम्बर सन्त, उनकी वाणी, सम्पूर्ण मोक्षमार्ग को खोल देती है। वीतरागी मुनि थे, वीतरागी मुनि... समझ में आया? भले नग्न शरीरादि था, उस वाणी और नग्न शरीर में हम नहीं हैं। वाणी और नग्न शरीर और विकल्प में हम नहीं हैं; हम जहाँ हैं, वहाँ वे नहीं हैं। समझ में आया?

ऐसा भगवान आत्मा... उसे कहते हैं कि जब तक निर्मलस्वभाव की, स्वभाव की एकाग्रता न करे और बाहर में विकल्प की जाल में घूमा करे, तब तक **सिवगमणु ण लब्भइ**। जहाँ तुझे भाव हो वहाँ जा। इस स्वभाव में मुक्ति चाहिए हो तो स्वभाव की ओर की एकता कर, वरना विकल्प में गया है और उससे लाभ मानता है, यह तो अनादि का पड़ा है। यह तू करता है, उसमें हमारे कहना क्या? **जहिं भावहु तहि जाउ** ओ...हो...हो...! **जहाँ चाहे वहाँ तू जा**। मोक्ष का लाभ चाहता हो तो इस स्वभाव की ओर एकाग्र हो। समझ में आया? यह सब प्रपञ्च के विकल्प की जाल छोड़ दे। भगवान आत्मा निर्विकल्प स्वरूप (विराजमान है, उसका) ध्यान कर, बस! एक ही उपाय है, आहा...हा...! कहो, समझ में आया?

वह बाहर मीठा कैसा लगता है? भले हमारे एक-दो भव बढ़ें.... समझे न! वह तो दो-तीन भव कहता था। यह तो ऐसा सुना कि भई! एकाध भव करना पड़े परन्तु जगत का कल्याण हो जाये तो भले आत्मा को एक दो भव हों, कोई बाधा नहीं। एक भव की भावना,

वह अनन्त भव की भावना है। भव करने का भाव तो राग है। आहा...हा... ! समझ में आया ? वह भावना दूसरे के कल्याण का निमित्त होगी। धूल भी नहीं होगी। मूढ़... मूढ़ फंस जायेगा, उलझ जायेगा, उलझ जायेगा, कहा। दुनिया को मीठा जहर जैसा लगे – ऐसा अच्छा... आहा...हा... ! कितना परोपकारी लगता है यह ! तुम्हारे लिये हमारे एक-दो भव करना पड़े तो भले करना पड़े परन्तु (हमारा) अवतार तुम्हारे लिये, हमें जन्म लेकर उद्धार करना है। आहा...हा... ! अन्य को लगे कि आहा...हा... ! वे मूढ़ जैसे होते हैं। भिखारी हों और दबैल का लड़का...आहा...हा... ! अपने लिए अवतार लेकर भी उद्धार करने की भावना करते हैं, हाँ !

मुमुक्षु – अपना बड़ा हितकारी है।

उत्तर – नहीं, नहीं, वे मूर्ख तो ऐसा मानते हैं कि यह वास्तविक धर्मी है। वास्तविक लगता है, अपना भले ही चाहे जो हो, वह पोषाता है। समझ में आया ? जिसे हमारी दरकार है... आहा...हा... ! श्रीमद् ने एक जगह लिखा है न ? कि अमुक ने ऐसा माना कि हमारा चाहे जैसा हो परन्तु जैनशासन और जैनधर्म का लाभ होना चाहिए... ऐसा नहीं होता कभी। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा... ! किसे लाभ होता है ? होगा तो अन्दर में उसके कारण उसे लाभ होगा। तेरे कारण होगा ? और तूने विकल्प उठाया, इसलिए उसे लाभ होगा ? विकल्प उठाया, इसलिए उसे जरा भी लाभ है ? आहा...हा... ! समझ में आया ?

कोई अज्ञानी व्यवहार धर्म में ही फँसे रहते हैं.... ऐसा कथन लिखा है, हाँ ! कथन ठीक किया है। व्यवहार धर्म में ही सदा फँसे रहते हैं। यह पूजा, यह भक्ति, यह व्रत, यह समझाना, यह सुनना, पढ़ना, विचारना, चौबीस घण्टे संसार। अज्ञानी पण्डित का संसार शास्त्र (है।) उसे मानता है कि यह हम कुछ आगे जा रहे हैं, हम कुछ आगे जा रहे हैं। कहाँ आगे जाता है ? धूल... समझ में आया ? **व्यवहार धर्म में ही फँसे रहते हैं, निश्चय धर्म का लक्ष्य छोड़ देते हैं....** नीचे फिर अधिक लम्बा डाला है। समझ में आया ? बहुत लम्बा किया है। ऐसा करना और वैसा करना, ऐसा करना और.... उसकी बात इसमें कहाँ है ?

☆ ★ ☆

त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है

जो तइलोयहँ झेउ जिणु, सो अप्पा णिरु वुत्तु।
णिच्छय-णइँ एमइ भणिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥२८॥

ध्यान योग्य त्रिलोक में, जिन सो आतम जान।
निश्चय से यह जो कहा, तामें भ्रान्ति न मान॥ २८॥

अन्वयार्थ – **(जो तइलोयंह झेउ जिणु)** जो तीन लोक के प्राणियों के द्वारा ध्यान करने योग्य जिन हैं **(सो अप्पा णिरू वुत्तु)** वह यह आत्मा ही निश्चय से कहा गया है **(णिच्छयणइ एमइ भणिउ)** निश्चयनय से ऐसा ही कहा है **(एहउ णिभंतु जाणि)** इस बात को सन्देह रहित जान।

☆ ★ ☆

अब, **त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है**। २८, तीन लोक में पूज्य होवे तो यह भगवान स्वयं ही है। अपने लिये अपना आत्मा ही पूज्य है, आहा...हा...!

जो तइलोयहँ झेउ जिणु, सो अप्पा णिरु वुत्तु।
णिच्छय-णइँ एमइ भणिउ, एहउ जाणि णिभंतु॥२८॥

आहा...हा...! **जो तीन लोक के प्राणियों द्वारा ध्यान करने योग्य जिन है....** यह भक्तों को ध्यान करने योग्य जिन है, वह तो भगवान आत्मा है। कहो, समझ में आया? परन्तु वह भगवान को पूजने का, मूर्ति पूजने का व्यवहार बीच में आता है न? आओ, वह कोई पूज्य परमार्थ से नहीं है; परमार्थ से पूज्य हो तो वहाँ से लक्ष्य हटकर अन्दर में लक्ष्य लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आहा...हा...! वहीं का वहीं भगवान को और प्रतिमा को देखा करे। वहाँ से कल्याण है? वे अन्य कहते हैं, भगवान के दर्शन से निधत और निकाचित (कर्म का अभाव होता है)। भगवान की मूर्ति का दर्शन करे वह निधत, निकाचित तोड़े। अरे! ऐसा नहीं है। तीन लोक का नाथ पूज्य भगवान आत्मा है, उसके दर्शन से निधत और निकाचित कर्म का भुक्का उड़ जाता है – ऐसा भगवान आत्मा है।

परमेश्वर और उनकी मूर्ति को देखने से सम्यग्दर्शन नहीं होता, व्यवहार का कथन आता है, हाँ! कि उससे होता है। वह तो यहाँ से हो, तब बाह्य में समीप में निमित्त कौन (था) ? उसका ज्ञान कराया। आहा...हा...! समझ में आया ?

तीन लोक के प्राणियों को ध्यान करने योग्य जिन है, वह आत्मा है। भगवान परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर जिन, स्वयं परिपूर्ण परमात्मा है, वही भक्तजनों को – आत्मा की भक्ति करनेवाले जीवों को आत्मा का ध्यान करने योग्य है। उनका तीन लोक का नाथ आत्मा ही उन्हें पूज्य है। भगवान तीर्थंकर आदि पूज्य है, वे व्यवहार से हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? बहुत संक्षिप्त श्लोक! स्वयं कहते हैं कि मेरे लिए बनाये हैं, अन्त में ऐसा भी अन्दर लिखा है। है न ?

सो अप्पा णिरु वुत्तु – वह यह आत्मा ही निश्चय से कहलाता है.... अर्थात् क्या कहते हैं ? जिसे वास्तव में आत्मा कहा, वह जिन है, पूज्य है – ऐसा कहते हैं। जिसे वास्तव में निश्चय से वास्तविक आत्मा कहा, ऐसा। अकेला शुद्ध, बुद्ध, ज्ञानघन, आनन्दकन्द अकेला वर्तमान भले हो, त्रिकाल लम्बावे उसका कुछ नहीं। समझ में आया ? वर्तमान अकेला शुद्ध-बुद्ध घन अकेला अखण्डानन्द ध्रुव, उसे निश्चय से आत्मा कहा है। समझ में आया ? **सो अप्पा णिरु 'णिरु'** अर्थात् निश्चय से। **वुत्तु** निश्चय से तो उसे आत्मा कहा है। देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो जड़ है; पुण्य-पाप के परिणाम आस्रव; वर्तमान पर्याय की अल्पता, वह व्यवहार आत्मा है। वास्तविक आत्मा तो त्रिकाली बुद्ध चिद्घन ध्रुव है; अकेला सदृश चैतन्य का ध्रुव पिण्ड, वह वास्तविक आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया ?

'णिच्छयणइ एमइ भणिउ' निश्चयनय ऐसा ही कहता है। देखो! देखो!! **एमइ भणिउ** है न ? सत्य बात कहनेवाली वाणी और ज्ञान ऐसा कहते हैं। तीन लोक का नाथ पूज्य प्रभु तो तू है। आहा...हा...! भगवान सर्वज्ञदेव और प्रतिमा, वह व्यवहार से पूज्य; यह तेरी पर्याय – एक समय का उघाड़, वह बहुमान देने योग्य व्यवहार से है। मोक्ष का मार्ग पूज्य है, वह भी व्यवहार से है – यहाँ तो ऐसा कहते हैं। पूर्ण शुद्ध भगवान चैतन्य का पिण्ड जहाँ नमने जैसा है, जहाँ झुकने जैसा है, जहाँ अन्तर सन्मुख होने जैसा

है – ऐसा जो भगवान पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, वह तीन लोक का पूज्य स्वयं आत्मा अपने को पूज्य है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा आत्मा! उसे ऐसा (लगता है कि) ऐसा आत्मा? ऐसा आत्मा? भाई! आत्मा ऐसा है। नव तत्त्व या सात तत्त्व में आत्मा ऐसा है। समझ में आया?

निश्चयनय ऐसा ही कहता है.... एहउ णिभंतु जाणि फिर भाषा देखी? निर्भ्रान्त – नि:सन्देह.... सन्देह मत कर। यह कौन? हम भी ऐसे आत्मा? तीन लोक का भक्त पूज्य ऐसा आत्मा? भक्त तो भगवान को पूजे? अपने आत्मा को? इतना बड़ा यह तत्त्व! भ्रान्ति न कर। समझ में आया? आहा...हा...! सार... सार... सार... सार... मक्खन रखा है! उसे पूजते हैं, उसे ध्याते हैं, उसे मानते हैं। सौ इन्द्रों में भी यह प्रसिद्ध है कि आत्मा ही पूज्य है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तब फिर वह व्यवहार आया इसलिए वह.... तुम्हारा व्यवहार खोटा.... फिर वापस ऐसा कहते हैं। वह व्यवहाररूप व्यवहार है। व्यवहार नहीं – ऐसा नहीं परन्तु व्यवहार को निश्चय से पूज्यपना स्वीकार कर दे तो यह बात मिथ्या है। बीच में ऐसा व्यवहार (आता है) भगवान को वन्दन, पूजा, नामस्मरण, पूजा-भक्ति, यह शुभराग होता है, व्यवहार होता है परन्तु जानने योग्य है; पूजने योग्य वास्तव में तो आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? तब कहते हैं लो! बातें तो ऐसी करते हैं। ऐसा कितने ही कहते हैं।

कानजीस्वामी बात तो बहुत ऊँची करते हैं परन्तु फिर ऐसे मकान, मन्दिर और हाथी और यह सब कराते हैं, शोभायात्रा.... अरे! सुन तो सही, भाई! यह तो अजीव की पर्याय के काल में अजीव होता है। भक्तिवन्त का भाव शुभ होता है, उस काल में, वह जाननेयोग्य है। वास्तव में व्यवहार से आदरणीय कहा जाता है; निश्चय से आदर करने योग्य नहीं है। व्यवहार से तो आदर करने योग्य कहें न? भगवान के पैर पड़े, हे प्रभु! हे नाथ! हे देव! पूज्य हैं न! ऐसा कहते हैं। हे नाथ प्रभु! तीन लोक के नाथ वे व्यवहार से पूज्य हैं, जाननेयोग्य हैं, उसे निकाल दे तो वीतराग हो जाये और या मिथ्यादृष्टि हो जाये। समझ में आया? रतनलालजी! 'रंग लाग्यौ महावीर थारो रंग लाग्यौ' लोगों को कितना रस चढ़ जाता है, लो! ए... बाबूभाई! दो हाथ पकड़ कर ऐसे चारों ओर फिरते होते हैं।

आहा...हा...! क्या है यह? लोग उसमें महिमा मान लेते हैं। समझ में आया? और करनेवाले को महिमा आ जाती है कि आहा...हा...! हमने भी कुछ प्रभावना की। छगनभाई! सब उड़ा दिया है।

एक व्यक्ति कहता था – टोडरमलजी ने तो उस्तरा लेकर सबका मुण्डन कर दिया। एक बात आयी थी। सजायो समझते हो उस्तरा, उस्तरा होता है न? टोडरमलजी ने उस्तरा लेकर सबका मुण्डन कर दिया। ऐसा यहाँ निश्चय पूज्य में तो सबका मुण्डन कर दिया। तीन लोक का नाथ पूज्य? तो कहते हैं व्यवहार से। आहा...हा...! समवसरण में ऐसे इन्द्र भी पूजते हैं। प्रभु! आहा...हा...! व्यवहार के कथन ही ऐसे हैं। व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार का विकल्प, परपदार्थ का लक्ष्य हो, होवे परन्तु वह कहीं वास्तविक आत्मा नहीं है और वह वास्तव में पूज्य नहीं है। ए...ई...! अब तो मन्दिर-बन्दिर हो गया है। एक का बाकी रहा है न?

मुमुक्षु – मलूकचन्दभाई करे उस दिन होगा?

उत्तर – लो, यह तुम्हारे मामा करे न? बाकी रहा है, वह करे तो हो – ऐसा है। पैसे इनके लड़के के पास पड़े हैं न? आहा...हा...! कठिन बात, भाई! कहना कुछ मानना कुछ, फिर (ऐसा) कहते हैं।

भाई! ऐसे विकल्प होते हैं। वह बन्ध का कारण है, आये बिना नहीं रहते। क्यों? अबन्धस्वभावी आत्मा पूर्ण अबन्ध परिणाम को प्राप्त न करे, तब तक ऐसे भाव होते हैं, इसलिए व्यवहार है अवश्य; न माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है और व्यवहार से पूज्य कहा उसे परमार्थ से पूज्य माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! समझ में आया?

त्रिलोक पूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूँ, लो! तीन लोक के प्राणी जिसे ध्याते हैं, पूजते हैं, वन्दन करते हैं, वही परमात्मा यह आत्मा है। मैं ही हूँ। मैं त्रिलोक पूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूँ। ओ...हो...! ऐसा भ्रान्तिरहित निश्चय से जानना चाहिए। अरे...! परन्तु मैं भगवान? मैं भगवान? आहा...हा...! मैं भगवान... भाईसाहब! ऐसा वस्तुस्वरूप है, कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसे स्वरूप का शुद्ध भगवान आत्मा तीन लोक में पूज्य पुरुषों को भी पूज्य है। समझ में आया? गणधर आदि सन्त जो पूज्य हैं, उन्हें भी पूज्य आत्मा है।

आहा...हा... ! समझ में आया ? नमन करने योग्य जो मुनि आदि हैं, उन्हें भी नमन करने योग्य तो यह आत्मा है। ऐसा परमात्मा पूर्ण प्रभु, तीन लोक में जिसके साथ कोई तुलना की जा सके ऐसा नहीं। अद्वैत तत्त्व अपना भगवान है, वह पूज्य है, वह वन्दनीय है, मानने योग्य है, आदर करने योग्य है, ध्यान करने योग्य है। आहा...हा... !

☆ ★ ☆

मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं

वय-तव-संजम-मूलगुण, मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु।
जाव ण जाणइ इक्क पर, सुद्धउ भाउ पवित्तु॥२९॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत स्वभाव।
व्रत-तप सब अज्ञानी के, शिव हेतु न कहाय॥ २९॥

अन्वयार्थ – **(जाव ण इक्क पर सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ)** जब तक एक परम शुद्ध व पवित्र भाव का अनुभव नहीं होता। **(मूढह वयतवसंजम मूलगुण मोक्ख णिवुत्तु)** तब तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव के द्वारा किये गये व्रत, तप, संयम व मूलगुण पालन को मोक्ष का उपाय नहीं कहा जा सकता।

☆ ★ ☆

२९। **मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं।** ऐसे आत्मा का बहुमान श्रद्धा, ज्ञान, भान बिना भगवानस्वरूप से परमात्मा स्वयं है, उसकी अन्तर में निर्विकल्प सम्यग्दर्शन बिना अर्थात् पूर्णानन्द का नाथ भगवान स्वयं अपने आदर के अतिरिक्त जितने यह व्रत, नियम, विकल्प, तपस्या, पूजा, भक्ति, दान करे, यात्रायें करे, वे सब उसके धर्म के लिए नहीं हैं – मोक्षमार्ग के लिए नहीं हैं। समझ में आया ? अन्य लोग कहते हैं, एक बार सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो.... 'एक बार वन्दे जो कोई'..... लाख बार वन्दन कर सम्मेदशिखर की (तो भी) एक भव नहीं घटता, ले ! ऐसा यहाँ कहते हैं। ए बाबूभाई ! आहा...हा... ! तीन लोक के नाथ साक्षात् परमेश्वर को करोड़ बार वन्दन करे तो भी एक भव नहीं घटता, क्योंकि वे परद्रव्य हैं। परद्रव्य के लक्ष्य से उत्पन्न होता हुआ राग ही उत्पन्न

होता है। आहा...हा...! समझ में आया? जिसकी आत्मदृष्टि नहीं और जिसने उस विकल्प में ही लाभ माना है; जिसने विकार की क्रियाएँ होती है, उनमें लाभ माना है, जिसमें.... लो! वे फिर ऐसा कहते हैं, हमें तो उपदेश देना, उसमें निर्जरा होती है। तेरापन्थी.... आहा...हा...! अरे! कहाँ भूले, कहाँ भटके? हमें दूसरों को उपदेश देना, उसमें लाभ होता है, निर्जरा होती है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान अखण्डानन्द का नाथ प्रभु, उसके आश्रय के अतिरिक्त कोई भी विकल्प उत्पन्न हो, वह मोक्ष के मार्ग की कला में प्रवेश नहीं कर सकता। कहो, समझ में आया? निर्दोष आहार दे और खाये तो दोनों को निर्जरा (होती है)। दशवैकालिक की गाथा है, पाँचवें अध्ययन की। यह बारम्बार बोलते.... निर्दोष दाता, निर्दोष आहार-पानी देनेवाले मुनियों को दाता दुर्लभ है, और निर्दोष लेनेवाले दुर्लभ हैं। जीमनेवाले, निर्दोष आहार-पानी जीमनेवाले दुर्लभ हैं – ऐसा उसमें पाठ है। वह पाँचवाँ सूत्र है, उसकी यह अन्तिम कड़ी है। भगवानभाई! यहाँ कहते हैं; हराम पर को निर्दोष आहार-पानी देने से संवर-निर्जरा होता हो तो.... ए.... हमारे तो हीराजी महाराज तो जहाँ-जहाँ वहाँ यही बोलते, हाँ! गाँव में.... कोई उनके लिए आहार नहीं बनावे, उसके लिए यही बात करते थे। आहा...हा...!

कहते हैं, जिसकी दृष्टि इस पर के ऊपर है, इस पर के आश्रय में से किंचित् लाभ मानता है, ऐसे मिथ्यादृष्टि के व्रतादि जो हैं वे निर्जरा में नहीं है। निर्जरा में मोक्षमार्ग अर्थात् संवर-निर्जरा में नहीं है; बन्धमार्ग में है। यह विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल १, रविवार, दिनाङ्क १९-०६-१९६६
गाथा २९ से ३२ प्रवचन नं. १२

यह योगसार शास्त्र है। योगीन्द्रदेव एक मुनि हुए हैं। दिगम्बर सन्त.... अनादि सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थङ्कर भगवान का कथित मार्ग, उसे यहाँ योगसाररूप से वर्णन करते हैं। २९ वीं गाथा। २९ वाँ श्लोक है न? **मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है।**

वय-तव-संजम-मूलगुण, मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु।
जाव ण जाणइ इक्क पर, सुद्धउ भाउ पवित्तु॥२९॥

क्या कहते हैं? जब तक यह आत्मा, द्रव्य-वस्तु और उसका भाव परम शुद्ध है। शरीर, वाणी, मन तो यह पर-जड़ है; अन्दर शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह विकार-मलिन है। उनसे रहित आत्मा का स्वभाव (है)। आत्मवस्तु तो परम शुद्ध, परम निर्मल, उसका पवित्र भाव अन्दर स्वरूप में है। ऐसे आत्म-भाव का अनुभव न करे.... भगवान आत्मा शुद्ध चिद्घन आत्मा पवित्र आनन्दकन्द है – ऐसे आत्मा का अन्तर्मुख होकर, आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन और उस आत्मा का आचरण-अनुष्ठान.... जहाँ तक ऐसा अनुभव न करे, तब तक मूढ़ जीवों के, अज्ञानी जीवों के किये हुए व्रत – यह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालता हो, वह सब निरर्थक-राग की मन्दता का एक शुभराग है। समझ में आया?

भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर ने कहा, वैसा यह आत्मा अत्यन्त पवित्र शुद्ध आनन्द, सच्चिदानन्द और ज्ञायक अनाकुल शान्तरस से भरा हुआ, यह आत्मतत्त्व है। ऐसे भगवान आत्मा की श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका अनुभव, जब तक नहीं करे, तब तक अज्ञानी मूढ़ जीव के.... मूढ़ अर्थात् स्वरूप के अनजान जीव के...

समझ में आया? आत्मा वीतरागमूर्ति है। स्वरूप से शुद्ध अविकारी स्वभाव आत्मा है। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव न करे और मूढ़ जीव, व्रत पालन करे; वस्तु के स्वभाव से अनजान (मूढ़ जीव) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य पालन करे, वह मोक्षमार्ग नहीं; वह बन्धमार्ग है, वह संसार में भटकनेवाला जीव है। समझ में आया? व्रत, तप....

आत्मा चैतन्यमूर्ति शुद्धरस आनन्दकन्द है – ऐसी चीज का जहाँ अन्तर्मुख अनुभव, श्रद्धा, ज्ञान नहीं और वह स्वयं अनशन, उनोदर करे, आहार छोड़े, महीने-महीने के अपवास करे, रस छोड़ दे, दूध, दही, खाँड-शक्कर नहीं खाये – वे सब उसके तप निरर्थक हैं। समझ में आया? यह आत्मा ज्ञायक चैतन्यस्वरूप, भगवान परमेश्वर ने जो पर्याय में प्रगट किया अवस्था में – दशा में प्रगट हुआ। क्या कहा? यह आत्मा, देह में विराजमान चैतन्यरत्न, जिसमें अनन्त गुण का शुद्धपना भरा है – ऐसे आत्मा का जिसे अन्तरसन्मुख का अनुभव – सम्यग्दर्शन, ज्ञान नहीं – ऐसे जीव.... 'मूढ़' शब्द प्रयोग किया है न? मूढ़। वस्तु ज्ञाता-दृष्टा अनन्त आनन्दादि शुद्धस्वरूप से भरपूर (है), उसका भान नहीं; इस कारण मूढ़ जीव, फिर भले ही वह व्रत, तप करे, विनय करे – देव-गुरु -शास्त्र की बहुत विनय करे, यात्रा करे, भक्ति करे, पूजा करे – यह सब उसके धर्म के खाते में नहीं है, वे सब शुभभाव बन्ध के लिये हैं, संसार के खाते में है। समझ में आया? क्योंकि परमात्मा-निज स्वरूप में आनन्द और शुद्धता पड़ी है, उसे स्पर्शे नहीं, उसे स्पर्शे नहीं और मूढ़ अपने निज स्वभाव से अनजान, ऐसे विनय करे, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति; विनय, पूजा, नाम स्मरण करे – वे सब शुभरागरूपी पुण्य है, धर्म नहीं। उसे धर्म नहीं होता। समझ में आया? वह देव-गुरु-शास्त्र की वैयावृत्ति करे, सेवा करे परन्तु जिसे आत्मसेवा का पता नहीं कि मैं एक ज्ञानानन्द चिदानन्द शुद्ध ध्रुव अनादि-अनन्त पवित्र अनन्त शान्ति की खान-खजाना आत्मा हूँ; पूर्ण आनन्द जो परमात्मा को – सर्वज्ञदेव को प्रगट हुआ है, उस पूर्णानन्द का धाम आत्मा स्वभाव से है। ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का जिसे स्पर्श, स्पर्श नहीं – अनुभव नहीं, (उसे) छूता नहीं, सन्मुख नहीं – ऐसे मूढ़.... स्वभाव से अजान जीव के देव-शास्त्र-गुरु की सेवा का भाव भी उसे संवर और निर्जरा में नहीं है; बन्ध में है। उसमें बन्ध होकर वह चार गति संसार में भटकनेवाला है। रतनलालजी! कठिन बात, भाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा सत्.... सत्... सत्.... शाश्वत् ज्ञान और आनन्द की खान प्रभु आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द के भान और स्पर्श बिना जो कुछ शास्त्र की स्वाध्याय करे... यह तप के बोल में आता है। रात्रि में इसका जरा-सा चला था। यह अन्य कहते हैं न कि हम सज्झाय करते हैं न! अरे! भगवान! भाई! सुन रे प्रभु! यह चिदानन्द की मूर्ति शाश्वत् आनन्द की खान आत्मा है। शाश्वत् – अकृत, अविनाश – ऐसा तत्त्व अनन्त स्वभाव के, शुद्धस्वभाव से भरा हुआ भण्डार भगवान है। ऐसे आत्मा को अन्तर्मुख में स्पर्श बिना, बहिर्मुख की इतनी वृत्तियाँ.... शास्त्र-स्वाध्याय करे, ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़े.... स्वाध्याय करे, रात-दिन शास्त्र... शास्त्र... शास्त्र – यह सब विकल्प पुण्य-राग है, यह धर्म नहीं है।

मुमुक्षु – भले ही धर्म नहीं, परन्तु निर्जरा तो सही न?

उत्तर – धर्म नहीं, फिर निर्जरा कहाँ से आयी? समझ में आया? संवर, निर्जरा नहीं। देखो! व्रत, तप कहा है या नहीं?

भगवान आत्मा....! भाई! यह चैतन्यरत्न है। प्रभु! इसे पता नहीं है। यह देह, वाणी, मन तो मिट्टी, जड़, धूल है। अन्दर कर्म हैं – आठ कर्म; जिसे नसीब कहते हैं, वह धूल, मिट्टी, जड़ है और यह हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग की वासना – यह पाप है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप, विनय के ऐसे विकल्प उत्पन्न हों, वे पुण्य हैं; वे कोई आत्मा नहीं। ऐसे पुण्य-पाप के रागरहित भगवान आत्मा वस्तु शाश्वत् नित्य ध्रुव है। उसे स्पर्शे बिना मूढ़ जीव ऐसी स्वाध्याय करे और विनय करे.... समझ में आया? उसके – मूढ़ के सब व्रत हैं-वृथा हैं। समझ में आया? आहा...हा...! स्वसन्मुख के भान बिना परसन्मुख से हुए सभी विकल्प की जाल, पुण्य या पाप – ये दोनों बन्ध का ही कारण है। रवाणी! आहा...हा...!

कहते हैं कि **वहाँ तक मिथ्यादृष्टि अज्ञानी....** मूढ़... मूढ़ कहा है न? उसके व्रत, उसका तप.... लो! प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, सज्झाय, ध्यान करे, आँखें बन्द करके ध्यान (करे), परन्तु किसका ध्यान? आँख बन्द करके बैठे परन्तु आत्मा एक समय में अखण्डानन्द प्रभु सत् की खान है। सत् शाश्वत् अनादि-अनन्त अकृत्रिम शाश्वत् पदार्थ-तत्त्व है। उसमें शाश्वत् शान्ति और शाश्वत् आनन्द अन्दर पड़ा है। समझ में आया?

ऐसा शाश्वत् भगवान आत्मा और शाश्वत् उसका शान्ति और आनन्द का जो भाव, उसके स्पर्श के भान बिना जितने ये सब स्वाध्यायादि करते हैं... समझ में आया? उपदेश देते हैं, पूछते हैं, प्रश्न करते हैं.... समझ में आया? पर्यटना करते हैं, बारम्बार करते हैं, आँख बन्द करके बैठते हैं। इनके सब अकेले पुण्यबंध के कारण हैं। भगवान आत्मा वस्तु से अबन्धस्वरूप है, उसके ऐसे परिणाम से उसे बन्धन होता है। आहा...हा...! समझ में आया? बल्लभदासभाई! बहुत कठिन... उसमें अभी की आहा... हरिफाई में सब ऐसे के ऐसे चले हैं न? धर्म के नाम पर विपरीतता पोषते हैं। आहा...हा...!

भगवान! यह वस्तु है न प्रभु! आत्मा है, वह शाश्वत् है न? और उसके स्वभाव शान्ति, आनन्द वह ध्रुव शाश्वत् है न? उसके गुण जो हैं, वह स्वयं शाश्वत् ध्रुव और उसके गुण भी शाश्वत् ध्रुव... उसमें गुण में तो ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द और वीतरागता से भरा हुआ यह भगवान है। इसके अन्तर स्पर्श बिना उसकी सन्मुखता की दृष्टि के बिना मूढ़ इसके स्वभाव के अपरिचय से जितना ऐसा क्रियाकाण्ड व्रत, तपादि करे... समझ में आया? वह मोक्ष का उपाय नहीं है। वह आत्मा को छूटने का उपाय नहीं है; वह बँधने का और भटकने का उपाय है। आहा...हा...! प्रवीणभाई! महावीर... महावीर... महावीर... महावीर... महावीर... महावीर... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... भगवान... (करते हैं)। कितनों को ही आदत पड़ गयी होती है, वह तो एक राग-विकल्प है। शुभराग है, परलक्ष्यी वृत्ति है। शुद्धस्वरूप अन्दर है, उसके भान बिना ऐसे भाव उसे संवर और निर्जरा का कारण नहीं है; बन्ध का कारण है।

मुमुक्षु – अभिमुख होने के साधन तो हैं न?

उत्तर – जरा भी अभिमुख होने का साधन नहीं है। कहो, इस राग की दिशा पर तरफ की है, और स्वभाव की दिशा अन्तर्मुख की स्व की है; इसलिए पर तरफ की दिशा का भाव, स्व-तरफ की दिशा में मदद करे – यह तीन काल में नहीं हो सकता। क्या कहा फिर?

भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति शाश्वत् आनन्दमूर्ति! आहा...हा...! जिसने – भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द लबालब भरा है – ऐसे आनन्द को स्पर्श किये

बिना, ऐसे आनन्द को जानकर, अनुभव करके प्रतीति किये, बिना जितने ऐसे भाव व्रत, नियम के आदि के होते हैं, वे परसन्मुख की झुकाववाली वृत्तियाँ, आत्मा को अन्तर्मुख होने के लिए जरा भी मददगार नहीं है। कहो, समझ में आया या नहीं ? ऊपर कमरे में जाना हो, हॉल होवे और हॉल बीच में ? ऊपर कमरा और नीचे तलघर। ऊपर जाना हो तो थोड़ा तलघर में उतरे वह ऊपर जाने में कोई मदद करेगा या नहीं ? समझ में आया ? बीच में हॉल, नीचे तलघर, ऊपर कमरा; कमरे में चढ़ने की सीढ़ियाँ या थोड़ा चढ़ने में नीचे उतरे तो वह मदद करेगा या नहीं ?

मुमुक्षु – वे सीढ़ियाँ तो.....

उत्तर – वह तो वह सीढ़ियाँ.... यह तो स्व-सन्मुख के आये यह तो स्व-सन्मुख की दृष्टि, स्व-सन्मुख का ज्ञान और स्व-स्वरूप की रमणता, यह सीढ़ियाँ हैं। आहा...हा... ! भगवान परमानन्द का नाथ प्रभु का स्पर्श किये बिना ऐसी राग की क्रियाएँ मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा कहते हैं।

शुद्धोपयोग की भावना न भा कर और शुद्ध तत्त्व का अनुभव न करके जो कुछ व्यवहार चारित्र है, वह मोक्षमार्ग नहीं है। देखो, इन्होंने लिखा है – शीतलप्रसादजी ने। **संसारमार्ग है....** आहा...हा... ! कठिन बात, भाई ! परन्तु स्त्री-पुत्र के लिए करते हों, दुकान के लिए करते हों, वह तो पाप। हैं ? तब तो संसारमार्ग (कहो) ठीक है.... परन्तु यह दया, दान, व्रत, भक्ति... ? परन्तु भाई ! तुझे पता नहीं है, प्रभु ! यह बहिर्मुख झुकाववाली वृत्तियाँ हैं, अन्तर्मुख परमात्मा स्वयं निजानन्द से भरपूर है, उसके सन्मुख से विमुख है, इन विमुख वृत्तियों के भाव से आत्मा को पुण्य और संसार ही है। कहो, बल्लभदासभाई ! क्या करना यह ? सबने विवाद उठाया... पुण्यबन्ध का कारण है। समझ में आया ?

यह इनके अट्ठाईस मूलगुण.... साधु होवे और अट्ठाईस मूलगुण पालन करे, एक बार आहार, खड़े-खड़े आहार ले, नग्नपना-अचेलपना, सामायिक, छह आवश्यक के विकल्प – ऐसे अट्ठाईस मूलगुण पालन करे तो भी वह संसार और पुण्यवर्धक है। आहा...हा... ! भगवान ! तेरे पास कहाँ पूँजी कम है ? जहाँ आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर केवलज्ञानपने

को प्राप्त करे, अनन्त आनन्दादि दशा को अरहन्त, सिद्धपने प्राप्त हुआ, उन सब निर्मल दशाओं की खान तो आत्मा है। वे दशाएँ कहीं बाहर से नहीं आती हैं।

भगवान आत्मा एक समय में सत्... सत्... सत्... सत्.... चिदानन्द... चिदानन्द.... ज्ञान आनन्दादि अनन्त शक्तियों का रसकन्द है। उसका जहाँ अन्तर आदर नहीं, सन्मुखता नहीं, सावधानी नहीं, रुचि नहीं, उसको ज्ञेय करके ज्ञान नहीं, उसमें ज्ञेय करके स्थिरता नहीं, वहाँ तक सब बाहर के व्रत-तपादि चार गति में भटकानेवाले हैं। समझ में आया?

समयसार में कहा है न? वह दृष्टान्त दिया है। **वदसमिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।** बन्ध अधिकार में आता है न? अभव्य (यह सब) करता हुआ भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है। ऐसे व्रत पाले, तप करे.... भाई! उस तप की व्याख्या क्या? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से शोभित तत्त्व है, तत्त्व है; उसके अन्तर में एकाग्र होकर अतीन्द्रिय आनन्द का शान्ति का सागर अन्दर से उछले और जैसे गेरुँ से सोना सुशोभित होता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भगवान आत्मा की एकाग्रता से उसकी दशा में अतीन्द्रिय आनन्द की पर्याय में – अवस्था में बाढ़ आवे उसका नाम भगवान तप कहते हैं। समझ में आया? यह सब व्याख्या कैसी! ऐ... ई...! समझ में आया?

जिस जाति का आत्मा का भाव है, उस जाति का भाव उसकी दशा में प्रगट हो, उसे मोक्ष का मार्ग कहते हैं। उस जाति के भाव से विपरीत भाव (होवे), वह सब संसार के खाते में, पुण्य के खाते में है। स्वर्ग मिले या धूल की सेठाई मिले, सब भटकनेवाले हैं।

मुमुक्षु – ठीक है।

उत्तर – क्या ठीक? हैं? नग्न सत्य है, आहा...हा...! इसमें समझ में आया?

एक ओर राम और एक ओर गाँव.... एक ओर प्रभु अनन्त गुण का आतमराम, अनन्त गुण का आतमराम.... उसकी सन्मुखता, उसके सन्मुखता का ज्ञान, उसकी प्रतीति और स्वसन्मुखता के स्वरूप का आचरण, यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, यह संवर और निर्जरा है। इससे विरुद्ध जितने भाव होते हैं, सम्यग्दृष्टि के भी जितने विमुख भाव (होते

हैं), वे भी बन्ध का कारण हैं। यहाँ तो मिथ्यादृष्टि की बात ली है, क्योंकि वस्तु से अनजान – ऐसा लेना है। **मूढह** कहा है न? समझ में आया? मूढ़ह – गाथा में मूढ़ शब्द पड़ा है न?

ओ...हो...हो... ! सब जाना परन्तु तूने भगवान आत्मा नहीं जाना। महाप्रभु विराजमान है, चैतन्य प्रभु, चैतन्य रत्नाकर। चैतन्य में अनन्त रत्न हैं। जैसे, समुद्र में रत्न के ढेर पड़े हैं, स्वयंभूरमण समुद्र में तो अकेले रत्न भरे हैं, रेत के बदले रत्न हैं, परन्तु वहाँ काम के किसे हैं? वहाँ लेने भी कौन जाये? इसी प्रकार यह भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में वस्तुरूप से अरूपी आनन्दघन दल चैतन्यदल है, उसमें अनन्त शान्त और वीतरागता के रत्न अनन्त भरे हैं, ऐसे चैतन्यरत्न की अनुभव-दृष्टि के बिना, अर्थात् उसकी महिमा और बहुमान अन्तर्मुख किये बिना बाह्य में जितने व्रत -तपादि किये जाते हैं, वे सब संसार के खाते में हैं। समझ में आया? पैसा-वैसा यह धूल मिले, भूत, देव-वेव हो, चार गति में भटकेगा। कहो, समझ में आया? बल्लभदासभाई! आहा...हा... !

वीतराग परमेश्वर सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव जिन्हें पर्याय में, अवस्था में, हालत में, दशा में, स्वभाव के अन्तर आश्रय द्वारा पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वीतरागता प्रगट हुई, तब भगवान की इच्छा बिना वाणी निकली, उस वाणी में यह आया – ऐसा सन्त यहाँ फरमाते हैं। समझ में आया? योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि, जंगलवासी वन में रहते थे। उन्होंने कहा कि भाई! इस तेरी चीज का अनजान और परचीज के झुकाववाले तेरे चाहे जैसे पुण्य के भाव हों, वे तेरे आत्मा को बन्धन के लिए और भटकने के लिए हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु – एक मोक्ष नहीं मिलता?

उत्तर – बस! मोक्ष नहीं मिलता, यह भटकने का मिलता है – ऐसा कहते हैं। यह... धूल मिले, एक मोक्ष नहीं मिलता। ए... निहालभाई! यह कहते हैं। एक मोक्ष नहीं मिलता, बाकी तो सब मिले न! आत्मा की शान्ति नहीं मिलती, बाकी तो अशान्ति के ढेर मिले न! ऐसा। आहा...हा... ! अरे... ! तेरे इन्द्र के, देव के देवासन यह सब दुःख के कारण

हैं। तेरे पैसे धूल के ढेर, यह मेरे, उनके ऊपर लक्ष्य जाना वह आकुलता है, धूल है, वहाँ कहाँ (शान्ति है) ? एक मोक्ष नहीं मिले, बाकी सब भटकने का मिले। एक मोक्ष नहीं मिले इतना न? धीरे से बड़ी हाँडी निकाल दे। दलाल है, दलाल। समझ में आया? आहा...हा...! कहाँ गये पोपटभाई! गये? गये लगते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? आहा...हा...! यह २९ वीं गाथा हुई।

देखो, शब्दार्थ में से तुम्हारे पाठ होता है न, उसमें से निकालते हैं। देखो! **व्रत, तप....** यह व्याख्या की है। **संयम....** इन्द्रियदमन और **मूलगुण....** एक बार आहार लेना आदि **मूढह** परन्तु जो आत्मा के शुद्ध चिदानन्दस्वभाव से अनजान है – यह शब्दार्थ चलता है। है न श्लोक? पुस्तक में है। **मोक्ख णिवुत्तु** उसे मोक्ष नहीं कहा, उसे संवर-निर्जरा नहीं कहा। **जाम ण जाणइ इक्क** जब तक भगवान आत्मा अपनी मूल चीज को नहीं जाने। **परु** प्रधान, **सुद्धउभाउ पवित्तु** महा शुद्ध भगवान आत्मा पवित्र है, उसका सम्यग्दर्शन और अनुभव न हो, तब तक यह सब इसके व्यर्थ एक बिना की शून्य, रण में पुकारने जैसा है। इसकी पुकार कोई नहीं सुनता? और इसका रोना बन्द नहीं होता। समझ में आया?

☆ ★ ☆

व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है

जइ णिम्मल अप्पा मुणइ, वय-संजम-संजुत्तु।
तो लहु पावइ सिद्धि-सुह, इउ जिणणाहहँ उत्तु॥३०॥

जो शुद्धातम अनुभवे, व्रत संयम संयुक्त।
जिनवर भाषे जीव वह, शीघ्र होय शिवयुक्त॥ ३०॥

अन्वयार्थ – **(जइ वयसंजमुसंजुत्तु णिम्मल मुणइ)** जो व्रत, संयम सहित निर्मल आत्मा का अनुभव करे **(तो सिद्धि-सुह लहु पावइ)** तो सिद्ध या मुक्ति का सुख शीघ्र ही पावे **(इउ जिणणाहहँ उत्तु)** ऐसा जिनेन्द्र का कथन है।

☆ ★ ☆

३०, **व्रती को निर्मल आत्मा का अनुभव करना योग्य है।** ३० वीं गाथा

जइ णिम्मल अप्पा मुणइ, वय-संजम-संजुत्तु।
तो लहु पावइ सिद्धि-सुह, इउ जिणणाहहँ उत्तु॥३०॥

पुस्तक है न? भाई के पास है या नहीं? उसमें है श्लोक, इस श्लोक में है। यहाँ तो श्लोक में से (अर्थ करते हैं)। ३० वाँ **जो णिम्मल अप्पा मुणइ** है न? जो कोई आत्मा निर्मलानन्द प्रभु शुद्ध ज्ञानघन आत्मा को जो **मुणइ** अर्थात् जानता है, अन्तर निर्मल वस्तु शुद्ध चिद्घन है, उसे अनुसरण कर निर्विकल्प से आत्मा को अनुभव करता है। निर्विकल्प अर्थात् राग के मलिनता के विकल्प से मिश्रित दशा के बिना.... भगवान आत्मा निर्मलानन्द प्रभु को निर्मल अनुभव से जो अनुभव करता है। **'मुणइ' अप्पा मुणइ** अर्थात् अनुभव करता है। **वयसंजमु संजुत्तु** और उसमें भी उसे व्रत और संयम का भले व्यवहार हो परन्तु इस वस्तु सहित है तो उसे व्यवहार निमित्तरूप से वहाँ कहा जाता है। क्या कहा?

मुमुक्षु – मदद करे।

उत्तर – मदद किसने कही?

शुद्ध आत्मा अपना शुद्ध उपादान.... वह शुद्ध उपादान अर्थात् जिसमें से निर्मलता ग्रहण की जा सकती है – ऐसा यह भगवान, निर्मल आत्मा का जो अनुभव, वह उसका शुद्ध उपादान, मोक्ष का वास्तविक कारण वह है। उस काल में उसे व्रत, नियम का, निमित्त का व्यवहार होता है, तो उसे निमित्तरूप से यथार्थ लागू पड़ता है। सम्यग्दर्शन, अनुभव बिना के जो व्रतादि थे, वे तो निमित्तरूप भी नहीं कहे गये थे। यहाँ तो उन्हें निमित्तपना है – इतना सिद्ध करना है। समझ में आया? आहा...हा...!

जो कोई व्रत, संयम **संजुत्तु णिम्मल मुणइ। व्रत, संयम....** (अर्थात्) इन्द्रिय दमन **सहित निर्मल आत्मा का अनुभव करे.... 'तो सिद्ध सुहु लहु पावइ' 'तो लहु पावइ सिद्ध सुहु' 'लहु'** अर्थात् अल्प काल में, **लहु** अर्थात् शीघ्र काल में। **पावइ** अर्थात् प्राप्त करता है। **सिद्ध सुहु** (अर्थात्) सिद्ध परमात्मा का सुख। वह स्वयं आत्मा के अन्तर अनुभव में शुद्ध चैतन्य को अनुभव करता है, उसके साथ उसे व्रत, नियम के निमित्तरूप

विकल्प-व्यवहार होते हैं तो क्रम-क्रम से सब व्यवहार छोड़कर, अपने शुद्ध स्वरूप को, सिद्ध-सुख को प्राप्त करेगा। समझ में आया?

यह सब कीमत जाती है आत्मा में। अब, वह आत्मा कैसा? उसका इसे पता नहीं पड़ता। जो महिमा करने योग्य चैतन्यरत्न, वह इसे कुछ नहीं। यह देह-वाणी की क्रिया और दया-दान के परिणाम, जो कुछ महिमा करने योग्य नहीं हैं... आहा...हा...! उनकी इसे महिमा और उनकी इसे महिमा... महिमा परन्तु भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ अनन्त आनन्द को प्राप्त हुए, वह सब निर्दोष दशाएँ प्राप्त हुईं, वे परमात्मस्वरूप में – अन्दर आत्मा में पड़ी है – ऐसा आत्मा यहाँ कहा है न!

णिम्मल अप्पा मुणइ ऐसा निर्मल भगवान आत्मा वर्तमान शाश्वत भाव-स्वभाव पवित्र वर्तमान शाश्वत् है। वर्तमान क्यों कहा? शाश्वत् अर्थात् बाद में (ऐसा नहीं)। यहाँ वर्तमान शाश्वत् ध्रुव निर्मल भाव पड़ा है, उसे जो **मुणइ** अर्थात् अनुभव करता है। उसकी अन्तर्दृष्टि और आचरण है, वह भले व्रत, संयम, निमित्तरूप हो.... व्यवहार आचरण – उसे राग की मन्दता आदि हो परन्तु वह मोक्ष का वास्तविक कारण यह है और यह (मन्द राग) साथ में होता है तो इसे क्रमशः छोड़कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा, सिद्ध सुख को प्राप्त करेगा। समझ में आया?

निमित्तपना होता है। होता है (– ऐसा) यहाँ सिद्ध किया है। स्वरूप के शुद्ध उपादान की श्रद्धा-ज्ञान और आचरण की भूमिका में पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई, इसलिए थोड़ी अशुद्धता का उस भूमिका के योग्य व्यवहार-राग की मन्दता होती है, उसे निमित्तरूप कहा जाता है। माल डाले उसकी थैली... माल डाले बिना थैली किसकी कहना? जूट की यह थैली दाल, चावल की नहीं कहलाती, माल डाले तो कहलाती है कि यह दाल की थैली है, यह क्या तुम्हारे वे बड़े ढोल होते हैं न? अब तो बड़े ढोल रखते हैं न अनाज के? ढोल... ढोल... ढोल में बड़ी पोल.... बड़े ढोल रखते हैं या नहीं? इसी प्रकार हारबंध (पड़े हों), दाल, चावल, और अमुक और अमुक ऊछड़ा.... यह सब अभी तो यह हो गया है परन्तु किसका? यह सब देखा है और सब देखा है। किसकी (थैली)? कि डाले उसकी। उसका क्या? वहाँ क्या नाम लिखा है? चावल डाले तो चावल का और दाल

डाले तो दाल का और शक्कर डाले तो शक्कर का (नाम लिखते हैं)। इसी प्रकार माल आत्मा अखण्डानन्द प्रभु की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र का माल हो तो साथ में व्यवहार व्रतादि के विकल्प को थैली-वारदान कहा जाता है। आहा...हा...! ए... देवानुप्रिया!

मुमुक्षु – इसमें तो शर्त रखी है।

उत्तर – कहा न, शर्त रखी है न! उपादान को ऐसा निमित्त हो तो मुक्ति पावे। शुद्ध उपादान की वृद्धि करके.... ऐसा। समझ में आया? उसका कारण है। यह रखा है कि जहाँ आगे आत्मानुभव तो चौथे-पाँचवें में भी होता है, परन्तु यह विशेष अनुभव, स्थिरता है, वहाँ ऐसे विकल्प होते हैं, वहाँ स्थिरता विशेष (होती है), यह बताना है। समझ में आया? वरना सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में भी आत्मानुभव होता है परन्तु जहाँ व्रत, नियम के परिणाम हैं, उन्हें तो स्थिरता-अनुभव बहुत होता है, ऐसे बहुत को वजन देने के लिए उसके साथ व्रतसहित कहा गया है। समझ में आया? आहा...हा...! यह जोर देते हैं।

जहाँ आत्मा अपने पन्थ में अन्दर पड़ा, शुद्ध भगवान आत्मा के अन्तर मार्ग में चढ़ा परन्तु उस मार्ग में चढ़ने पर भी जहाँ तक उसे व्रत के परिणाम, जो विकल्प चाहिए ऐसी भूमिका के योग्य स्थिरता नहीं हुई.... समझ में आया? .....वहाँ तक उसे उग्र आचरणरूपी साधुपना नहीं होता और वह उग्र आचरण जहाँ होता है, वहाँ ऐसे विकल्प होते हैं। ऐसी बात सिद्ध करते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा मार्ग वह कैसा यह? ऐसा वीतराग का मार्ग होगा? हैं? यह तो अभी तक सुना कि रात्रि भोजन नहीं करना, रोटियाँ नहीं खाना, अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करना, कन्दमूल नहीं खाना, आलू नहीं खाना, शकरकन्द नहीं खाना.... लो! ऐसी बात एक-एक बात ऐसी? यह पौन घण्टा होने आया, ए... शशीभाई! हैं?

मुमुक्षु – भगवान ऐसा कहते हैं।

उत्तर – भगवान ऐसा कहते है, देखो! यह कहते हैं, देखो! **जिणणाहह वुत्तु** है न? देखो! इसमें है। **सिद्ध सुहु लहु पावइ इउ जिणणाहह वुत्तु** ऐसा जिनेन्द्र का कथन है। है? ३० में, इसलिए तो आचार्य शब्द डालते जाते हैं कि जिनेन्द्रदेव वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ, सौ इन्द्र से पूजनीय, समवसरण के नायक... समझ में आया?.... लाखों

सन्तों के सूर्य-चन्द्र, लाखों साधुरूपी तारे उनमें तीर्थङ्कर जो चन्द्र, उनके मुख से यह वाणी (आयी है)। आहा...हा...! परन्तु कठिन, बापू! (हमने तो अभी तक ऐसा सुना है कि) यह करो, यह खाओ और यह पिओ, यह छोड़ो, यह त्यागो.... कौन छोड़े, रखे? सुन न! परवस्तु को कब पकड़ा था, कि उसे छोड़े? समझ में आया?

यहाँ तो अज्ञानभाव, स्वरूप का अभान और राग-द्वेष की जो अस्थिरता पड़ी है, उसे स्वभाव के भान से मिटाया जा सकता है। क्या भगवानभाई! ठीक, अब ठीक हुआ। नहीं तो भागते थे। आवे अवश्य हमारे दाँत के कारण, हैं? दाँत के कारण आवें, समधी को लेकर.... चतुर व्यक्ति हैं, चले और यहाँ फिर प्रेम भी थोड़ा अवश्य, परन्तु बैठे नहीं अन्दर से, वे कहें सामायिक-प्रौषध, प्रतिक्रमण और उपवास करें तो वह कोई धर्म न हो – ऐसा होगा? अरे...! बापू! भाई! तुझे पता नहीं है। सामायिक कहाँ रहती होगी, यह पता है उसे? सामायिक एक शब्द हुआ तो सामायिक का भाव कहाँ रहता होगा? पता है? और वह भाव क्या होगा? वस्तु होगी? शक्ति होगी? अवस्था होगी? विकार होगा? अविकार होगा? उसका काल कितना होगा? भगवान जाने.... ऐसे बैठे, वह (वह सामायिक)। वह सामायिक नहीं है, सुन न अब! वह सब मूढ़ की, अज्ञानी की सामायिक है। कहो, इसमें समझ में आया? आहा...हा...! समझे?

(यहाँ चलते विषय में) निमित्त की व्याख्या की है। **णवि एस मोक्खमग्गो** पीछे आधार दिया है। ३० वीं गाथा का मूल तो यह है कि **जिणणाहह वुत्तु**। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ने समवसरण सभा में भगवान ऐसा कहते थे। आहा...हा...! कहो, समझ में आया? है न? **जिणणाहह** जिननाथ, वीतराग के नाथ अर्थात् तीर्थङ्करदेव.... ऐसा **वुत्तु** ऐसा कहते थे। **वुत्तु** अर्थात् कहना। ऐसा कहते थे कि जिसे भगवान आत्मा अनन्त चैतन्य आनन्द के रस से भरा प्रभु का जिसे अन्तर में अनुभव की उग्रता की चारित्रदशा-रमणता होती है, उसके साथ ऐसे निमित्त, उस समय में उग्र चारित्र में निमित्तरूप व्रतादि के परिणाम होते हैं, तो वह क्रम से राग का अभाव करके, शुद्धता को बढ़ाकर और पूर्ण सिद्धि के सुख को, मुक्ति के सुख को पायेगा। ऐसा जिननाथ ने वर्णन किया है। समझ में आया?

☆ ★ ☆

अकेला व्यवहारचारित्र वृथा है

वउ तउ संजमु सीलु जिय, ए सव्वइँ अकयत्थु।
जाव ण जाणइ इक्क परु, सुद्धउ भाउ पवित्तु॥३१॥

जब तक एक न जानता, परम पुनीत सुभाव।
व्रत-तप-संयम शील सब, निष्फल जानो दाव॥ ३१॥

अन्वयार्थ – **(जिउ)** हे जीव! **(जाव इक्क परू सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ)** जब तक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतरागभाव का अनुभव न करे **(वय तव संजमु सीलु ए सव्वे अकइच्छु)** तब तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्ष के लिए नहीं है। पुण्य बाँधकर संसार बढ़ानेवाला है।

☆ ★ ☆

३१, **अकेला व्यवहारचारित्र वृथा है**। देखा? उसमें निमित्त रखा था, अब अकेला व्यवहारचारित्र व्यर्थ है – ऐसा कहते हैं।

वउ तउ संजमु सीलु जिय, ए सव्वइँ अकयत्थु।
जाव ण जाणइ इक्क परु, सुद्धउ भाउ पवित्तु॥३१॥

हे जीव! जिय शब्द पड़ा है न। **जिय** वह **जिय** अर्थात् जीव होता है। **हे जीव! जाम इक्क परु सुद्धउ पवितु भाउ ण जाणइ जब तक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग.... जाणइ इक्क परु शुद्धऊ पवित्तु भाउ ण जाणइ...** जब तक, ऐसा जहाँ तक.... **जाम** है न? **जाम** अर्थात् जब तक, ऐसा चाहिए मूल तो। इसमें **जाणइ** अर्थ किया है, **जाम** चाहिए, समझ में आया? **जाम** अर्थात् जब तक। **ण जाणइ इक्क परु** आत्मा का एक शुद्ध वीतरागभाव; एक भगवान आत्मा का वीतरागभाव, शुद्धभाव, आनन्दभाव – ऐसा एक आत्मा का अन्तरभाव, शुद्ध ध्रुव स्वभाव शाश्वत् आनन्द वीतरागभाव, ऐसे को **न जाने** वह फिर **ण जाणइ** आया। समझ में आया? **जाणइ ण जाणइ**। जब तक भगवान आत्मा के वीतरागस्वभाव, ऐसे शुद्धभाव को न जाने... शुद्धभाव को न

जाने, शुद्ध उपयोग प्रगट न करे, तब तक उसके सब व्यवहार व्रतादि व्यर्थ... व्यर्थ हैं। समझ में आया ?

उसमें (३० वीं गाथा में) आया था न ? यह **मुणइ वय**। तो फिर (ऐसा अर्थ हुआ कि) जहाँ उग्र शान्ति (और) अनुभव है, वहाँ व्रत, नियम कहा परन्तु नीचे अकेले व्रत (वह) धर्म और ऊपर अनुभव धर्म, भाई ! इसमें ऐसा नहीं आया ? आया या नहीं ? ३०वीं गाथा में ? यह दो इकट्ठे हैं न ? तो भी ऐसा कहा **णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमु संजुत्तु** – ऐसा कहा। दो साथ में ऐसा कहा.... ऐसा नहीं कहा कि व्रत, तप का पहला धर्म और निर्मल अनुभव का बाद का धर्म। हैं ? आहा...हा... ! ऐसा होता ही नहीं। परन्तु कितने ही पण्डित कहते हैं। अभी के सीखे हुए (– ऐसा कहते हैं) । अरे ! भगवान ! बाड़ बेल को खाती है, उस बेल को कहाँ जाना ? समझ में आया ? बाड़ बेल को खाये, बेल चढ़ने के लिए बाड़ का सहारा ले, बेल चढ़ने के लिए बाड़ का सहारा ले बाड़ खा जाये बेल को (अर्थात् रक्षक ही भक्षक हो जाए।) –ऐसे उपदेशक कैसे ? लाओ, हम सुनते हैं, कुछ कहे, वही पूरा सब उलटा.. सुननेवाले को–चढ़ने का बेल जाये कहाँ वह ? वे बेचारा कहे उस प्रकार, जय पण्डितजी ! सच्ची बात तुम्हारी। रतनलालजी ! ऐसा ही होता है। आहा..हा.. !

अरे ! बाड़ बेल को खाये। दामोदरभाई ने कहा था जैतपुर। वे साधु थे न ? वेदान्त की श्रद्धा, हाँ ! वेदान्त की। लींबड़ी... फिर इन्हें जैन की श्रद्धा अवश्य न ? वस्तु भले फेरवाली दृष्टि थी। इसलिए वह कहने लगा, यह साधु सुधरा हुआ दिखता है न ? बड़ा सेठ था न ? दशाश्रीमाली में दस लाख रुपये पचास वर्ष पहले किसी को नहीं थे। वह यहाँ दामनगर था, और स्वयं सेठ व्यक्ति जरा नरम जैसा, दूसरों को ऐसा कि मेरे जैसे बात इसे रुचेगी। निश्चय की ऐसी वेदान्त की बात करने लगा, सेठ ऐसा है, सेठ ऐसा है। सेठ ने सुना, हाँ ! फिर बोला, अरे... महाराज ! अरे ! बाड़ बेल को खाये, बेल को कहाँ जाना ? होशियार था.... अरे ! ऐसे जैन के वेश में रहकर मुँहपट्टी में रहकर तो वेदान्त की बात करो ? इन लोगों – जैनों को कहाँ जाना ? बेचारे दुःखी, तुम जानो कि यह मार्ग होगा, हाँ ! कर देंगे... अरे ! तुम क्या करते हो, पता नहीं पड़ता, कुछ पता नहीं पड़ता। फिर सिर पर बैठा वह..... कान्तिभाई !

यह बहुत वर्ष की बात है, हाँ ! यह तो बहुत वर्ष की बात है। जैतपुर गये थे, सेठ

और वे नागजी। वे इस वेदान्त की बात करने लगे। एक आत्मा है और व्यापक है। यह जाने कि सुधरा हुआ है, सेठ व्यक्ति दिखता है, सुधरा हुआ है, फिर गाँव में बड़ा गृहस्थ ऐसा लगता है। (तब सेठ कहता है) अरे... महाराज! बाढ़ बैल को खाये, हाँ! मुँह पर कहा। अरे... ! तुम साधु यह मुँहपट्टी लेकर बैठते हो, हाथ में रजोणू और तुम अद्वैत आत्मा की बात करो? यह भगवान द्वारा कथित अनन्त आत्मा, भगवान द्वारा कथित अनन्त परमाणु, यह सब छह द्रव्य और यह सब कहाँ गया? बल्लभदासभाई! हैं?

चलता है, भाई! यह तो अनन्त संसार अनन्त काल से ऐसे ही चलता है। आहा...हा... !

वय तव संजम सीलु – देखो! इतने शब्द लिये हैं। व्रत पाले, वैय्यावृत्त करे, देव -गुरु की विनय करे, शास्त्र का स्वाध्याय करे, इन्द्रियों का दमन करे (– यह) संयम की व्याख्या है। **सीलु** अर्थात् कषाय की मन्दता का स्वभाव; कोमल... कोमल... कोमल... कोमल राग मन्द स्वभाव, शील, ब्रह्मचर्य पाले, **जिय ए सव्वे अकइच्छु** – यह सब अकृतार्थ है; इनसे तेरा कुछ भी कार्य सिद्ध हो – ऐसा नहीं है। **जाणइ ण जाण इक्क** भगवान आत्मा, जिसमें पवित्रता का धाम, पवित्र भगवान आत्मा, उस पवित्र आत्मा के पवित्र शुद्धभाव को.... भाव है न? देखो न? **सुद्धऊ भावु पवित्तु** देखो! **परु सुद्धउ भाउ पवित्तु**। यह भगवान आत्मा वीतरागभाव, आनन्दभाव, शान्तभाव, अकषायभाव, स्वच्छभाव, प्रभुताभाव, परमेश्वरभाव – ऐसे अनन्त भाव का शुद्ध से भरा हुआ भगवान – ऐसे शुद्धभाव को जब तक अन्तर्मुख होकर न जाने, तब तक अज्ञानी का व्यवहारचारित्र वृथा है। कोरे कागज में एक बिना की शून्य, रण में पुकार मचाने जैसा (व्यर्थ) है। आहा...हा... ! समझ में आया? रतिभाई! यह पढ़ाई किस प्रकार की?

पुण्य बाँधकर.... देखो! इन्होंने नीचे अर्थ किया है, थोड़ा, हाँ! **पुण्य बाँधकर संसार बढ़ानेवाले हैं**। इकतीस गाथा, नीचे अर्थ किया है। **पुण्य बाँधकर संसार बढ़ानेवाले हैं**। इन्होंने तो फिर नीचे यहाँ तक लिखा है; **सम्यग्दर्शन के बिना मन्दकषाय को भी वास्तव में शुभोपयोग नहीं कहा जा सकता**। नीचे है। वास्तव में शुभोपयोग नहीं कहा जाता। भगवान आत्मा, भगवान आत्मा अपना शुद्धभाव, जब तक उसके भण्डार की चाबी नहीं खोले, तब तक उसके इस शुभभाव के, इस शुभराग की क्रिया को

शुभोपयोग भी नहीं कहा जाता। दृष्टि मिथ्यात्व है, वह वास्तव में अशुभ ही परिणाम है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

इक्क परु सुद्धउ है न? उत्कृष्ट है न? उत्कृष्ट शुद्ध वीतरागभाव। आत्मा का स्वभाव-आत्मा का अन्तरस्वरूप उत्कृष्ट वीतरागभाव है और उसका अनुभव शुद्ध उपयोग भाव-शुद्ध-उपयोग भाव (है)। जब तक ऐसा भाव न करे, तब तक **वय तव सजमु सीलु व सव्वे इकच्छु** – यह सब अकृतार्थ है; मोक्ष के लिए अकार्य.... अकार्य.... अकार्य है। यह अकार्य किया परन्तु कार्य कुछ किया नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

नीचे थोड़ा किया है – **बाह्य अवलम्बन या निमित्त को उपादान मानना, वह मिथ्यात्व है**। ऐ...ई...! यह व्यवहार व्रतादि बाह्य अवलम्बन है। इस अवलम्बन को या निमित्त को उपादान मानना (मिथ्यात्व है)। यह अवलम्बन भी निमित्त है, इसे उपादान मानना, इसे अपना शुद्धस्वरूप मानना, (वह) मिथ्यात्व है। समझ में आया? कितना ही ठीक लिखा है, फिर निमित्त आवे, तब जरा गड़बड़ करते हैं। **कोई करोड़ों जन्मों तक व्यवहार चारित्र पालन करे तो भी वह मोक्ष का मार्ग नहीं है**। समझ में आया? कोई करोड़ों जन्मों तक पालन करे – व्रत, नियम और ऐसी बाह्य तपस्यायें करे परन्तु भगवान आत्मा के अन्तर अनुभव और सम्यग्दर्शन के बिना वह चार गति में भटकने के पंथ में ही वह पड़ा है। समझ में आया?

देखो! यह चारित्र की व्याख्या की है। 'द्रव्यसंग्रह' की गाथा है। यह व्यवहारनय का चारित्र है। निश्चय स्वरूप की दृष्टि और चारित्र होवे तो अशुभ से निवृत्तमान ऐसे शुभभाव को व्यवहारचारित्र कहा जाता है। समझ में आया? शुभाशुभपरिणाम से निवृत्ति और भगवान आत्मा की दृष्टिसहित के शुद्धोपयोग की रमणता करे, उसका नाम वास्तविक चारित्र है और उसके साथ अशुभ से निवृत्तकर शुभभाव होवे, उसे व्यवहारचारित्र (कहते हैं)। व्यवहारचारित्र, बन्ध का कारण है; निश्चयचारित्र, संवर -निर्जरा का कारण है। समझ में आया?

मुमुक्षु – क्रिया करने से अमुक भव में तो लाभ होता होगा न?

उत्तर – नहीं, नहीं; अनन्त भव तक.... अनन्त भव तक आत्मा के सन्मुख बिना की क्रिया अनन्त बार करे तो उसे कुछ लाभ नहीं होता। यह करोड़ तो एक अंक रखा है। कोरे कागज में चाहे जितने शून्य लिखा करे तो ईकाई नहीं आती, फिर करोड़ शून्य लिखो – ऐसा कहो या अनन्त शून्य लिखो – ऐसा कहो (– सब एकार्थ है)। समझ में आया? मोक्षपाहुड़ की गाथा दी है, यह जरा ठीक है। वह समयसार की दी है, वह अच्छी दी है। यह दी है, वह ठीक है।

आत्मा का स्वभाव है, आत्मा का द्रव्यस्वभाव है, उस द्रव्यस्वभाव से परिणमना, वह मोक्ष का कारण है और रागादि तो परद्रव्यस्वभाव है। विकल्प, पञ्च महाव्रत, दया, दान आदि के विकल्प तो परद्रव्यस्वभाव है। वह परद्रव्यस्वभाव तो दुर्गति है, बन्धन है। स्वद्रव्यस्वभाव से स्वगति है। (मोक्षपाहुड में कहा है कि)

जो पुण परदव्वरओ मिछ्छआदिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्त परिणदो उण वज्झदि दुट्टुकम्मेहिं॥ १५॥

ओ...हो....! लो! आचार्यों ने तो शास्त्र में बहुत काम रखा है? परन्तु गिने तब न! हैं? निभर हो गया, निभर। मुनर हो गया। मुनर नहीं कहते? हैं? ऐसे हुँकार करे नहीं, परन्तु ऊह.... तो कर। ऐसे इसे चाहे जितनी सत्य की बात कान में आवे परन्तु मूढ़ अन्तर ढलता नहीं–ढलता नहीं। नहीं, ऐसा होता है; नहीं, ऐसा होता है – ऐसा कहे। नहीं, नहीं, यह ऐसे होता है। यह झूठ ठहराना चाहता है। आहा...हा...! अरे... प्रभु! तू कहाँ जाएगा? भाई! आहा...हा...! मार्ग तो 'एक होय तीन काल में'' 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' – कहीं दो मार्ग होते हैं? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव द्वारा कथित निश्चय स्वाश्रय मार्ग, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? पराश्रित, वह मोक्षमार्ग नहीं है।

☆ ★ ☆

पुण्य पाप दोनों संसार है

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरय-णिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ, तो लब्भइ सिववासु॥३२॥

स्वर्ग प्राप्ति हो पुण्य से, पापे नरक निवास।
दोऊ तजि जाने आतम को, पावे शिववास॥ ३२॥

अन्वयार्थ – **(जिउ पुण्णिं सग्ग पावएँ)** यह जीव पुण्य से स्वर्ग पाता है **(पावइ णरयणिवासु)** पाप से नरक में जाता है **(वे छंडिवि अप्पा मुणइ)** पुण्य-पाप दोनों से ममता छोड़कर जो अपने आत्मा का मनन करे **(तउ सियवासु लब्भइ)** तो शिव महल में वास पा जावे।

☆ ★ ☆

३२; **पुण्य पाप दोनों संसार है।**

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरय-णिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ, तो लब्भइ सिववासु॥३२॥

पुण्णि पावइ सग्ग यह शुभभाव – दया, दान, व्रत, भक्ति करे तो पुण्य से स्वर्ग मिले; यह धूल; स्वर्ग की, देव की धूल। समझ में आया? और **पावइ णरयणिवासु** यदि पाप करे तो नरक में जाए। नीचे नरकगति है। पाप करे तो नरक में जाए, पुण्य करे तो स्वर्ग में जाए। समझ में आया? शुभभाव ऐसे व्रत, तप, नियम, शील, संयम कहा न? ऐसे भाव करे तो स्वर्ग में जाए। यह सेठ पाँच-दस करोड़ के, इसके कारण जरा उजला दिखे, परन्तु है तो सब धूल और धूल, वहाँ भी। हैं? दो-पाँच करोड़वाले सेठ उजले लगते हैं न? आहा...हा...! फूले-फूले समाते नहीं, आगे बिठायें। इन्हें कहाँ पैसा है? इसके लड़के के पास है, इसे कहाँ है? यह तो यहाँ रसोई का अधिकारी है, इसलिए मुँह के आगे है। ऐ...ई...! सेठ तो इसका लड़का सेठ है। उसके पास दो करोड़ रुपये हैं, लड़के के पास दो करोड़ हैं। इसे तो दो लड़के थोड़ा हिस्सा देते होंगे। कहते थे, बापूजी का हिस्सा है। दोनों लड़के अलग हो गये हैं। एक के पास दो करोड़ और एक के पास एक करोड़ है, इन भाईसाहब के। यह उनका पिता है। लड़कों का पिता 'पूनमचन्द मलूकचन्द', मुम्बई – दो करोड़ रुपये। वह यह मलूकचन्द। इनके पिता यह छोटालाल। धूल में भी नहीं, सब दुःखों से पीड़ित हैं, हैरान.... हैरान.... हैं।

वे पोपटभाई गये नहीं अभी? कहा नहीं? कैसा? 'गोवा'। 'शान्तिलाल खुशालदास' अपने दशाश्रीमाली, हाँ! चालीस करोड़ रुपये नगद। पचास हजार की एक दिन की आमदनी है। धूल में भी हर्ष नहीं, हैरान... हैरान बेचारा पूरे दिन। हैं? यह कहते हैं कि पुण्य से स्वर्ग मिले या धूल, सेठपना मिले। इसके पुरुषार्थ से नहीं, हाँ! यह जानता है कि मैंने पुरुषार्थ किया, इसलिए हमें अच्छा मिला। इसने धूल में भी मेहनत करके मर जाए तो पाँच हजार भी नहीं मिलते और दूसरे को करोड़ों रुपये सामने आकर भटकते हैं। यह तो पूर्व के पुण्य के रजकणों का उदय आवे तो गोटी जम जाती है। यह मूढ़ जानता है कि मैंने मेहनत की, इसलिए मिला। मूढ़ता में बड़ा बैल है। ऐ...ई....! आहा...हा...!

आचार्य भगवान कहते हैं कि बापू! पुण्य करेगा तो यह धूल मिलेगी, ले! स्वर्ग और सेठ। यह पाप करेगा तो **णरयणिवासु**। हिंसा, झूठ, चोरी, भोग, वासना, काम, क्रोध, महा विषय-वासना, विकार, परस्त्री लम्पटपना, शराब (पीना), माँस खाना – ऐसे भाव होंगे तो नरक में जाएगा। **छंडिदि** परन्तु दोनों को छोड़कर आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र करेगा तो मोक्ष जाएगा। दो (पुण्य-पाप) के द्वारा मोक्ष नहीं जाया जाता। इसकी बात करेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

दिगम्बर साधु पात्र रखते ही नहीं....

जिसे मुनिपने की संवरदशा होती है, उसे वस्त्र-पात्र ग्रहण करने की वृत्ति हो ही नहीं सकती और जिसे वस्त्र-पात्र की वृत्ति हो, उसे मुनिपने की संवरदशा नहीं हो सकती। फिर भी जो वस्त्र-पात्रवाले को मुनि मानता है तो उसकी प्रत्येक तत्त्व में भूल है। भाई! सत्य बात तो ऐसी है। क्या यह किसी का कल्पित मार्ग है? नहीं; यह तो वीतराग का मार्ग है, वस्तुस्वरूप ऐसा है।

प्रश्न – क्या दिगम्बर साधु पात्र रखते हैं?

उत्तर – दिगम्बर साधु पात्र रखते ही नहीं, वे पानी का कमण्डलु रखते हैं, तथापि वह पानी पीने के लिए नहीं होता। पीने के लिए वह पानी हो ही नहीं सकता, वह तो शौच के लिए है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल २, सोमवार, दिनाङ्क २०-०६-१९६६
गाथा ३२ से ३४ प्रवचन नं. १३

पुण्य-पाप संसार है – ऐसा बतलाते हैं। इसमें पहले ३१ (गाथा में) आया था न? व्यवहारचारित्र निरर्थक है, इतना कहा था। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना अकेला यह व्यवहार तप, यह सब अकृतार्थ है; वह कुछ कार्य (काम का) नहीं, निरर्थक है – ऐसा ३१ (गाथा में) कहा था। इसमें आगे है, उसके पहले ३० (गाथा में) भी निश्चय-व्यवहार साथ में कहा था। जहाँ निर्मल आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति हो, वहाँ व्रतादि निमित्तरूप होते हैं, साथ में होते हैं – ऐसा वहाँ ३० में सिद्ध किया है। २९ में ऐसा कहा था कि व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा कहा था। मोक्षमार्ग नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तपादि के परिणाम, वह मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा कहा था। समझ में आया? २८ में क्या कहा था? २८ में **त्रिलोक पूज्य जिन आत्मा ही है**। यह आत्मा ही तीन लोक में आत्मा को आदरणीय और मोक्ष का कारण है। फिर यह कहा कि इसके अतिरिक्त सब व्रतादि निरर्थक है। निरर्थक अर्थात् मोक्षमार्ग नहीं है – इतना २९ में कहा था। ३० में दो साथ में थे – शुद्ध चैतन्य की दृष्टि, अनुभव और व्रतादि के परिणाम साथ में थे। (गाथा) ३१ में कहा कि यह व्यवहारचारित्र अकृतार्थ है। अकृतार्थ अर्थात् अकार्य है, उसमें कुछ कार्य नहीं। इतना कहकर अब यहाँ ३२ में उसका फल बतलाते हैं।

पुण्णिं पावइ सग्ग जिउ, पावएँ णरय-णिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ, तो लब्भइ सिववासु॥३२॥

यह जीव, पुण्य से तो स्वर्ग पाता है। व्यवहार व्रतादि से स्वर्ग पाता है – ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? दया, दान, व्रतादि के परिणाम, शील, संयम – यह सब भाव, स्वर्ग का कारण है, अर्थात् संसार का कारण है – ऐसा कहा और **पावइ णरयणिवासु**

पाप से नरक में निवास होता है, नरक में जाता है – यह संसार है; दोनों संसार है। पाप से नरक में और पुण्य से स्वर्ग में (जाए) – दोनों संसार है, उनमें कहीं आत्मा नहीं आया; उनमें कहीं मोक्ष नहीं आया। समझ में आया? यह सब संसार दुःखरूप ही है। संसार, फिर सुखरूप कैसा? लोगों को व्यवहार से ऐसा लगता है कि यह पुण्य किया (तो) स्वर्ग मिला, यह सेठपना मिला, पैसा मिला। ये दोनों है तो संसार; दोनों भावों से मुक्ति नहीं है। ऐसी स्पष्ट बात कर दी है। क्रम-क्रम से लेते हुए (कह दिया है)। संसार मीठा है? है? संसार अर्थात् जहर। भगवान आत्मा और मुक्ति अर्थात् अमृत। इसके लिये यहाँ स्पष्टीकरण किया है।

छंडिवि अप्पा मुणइ देखो! शुभ-अशुभभाव छोड़कर, रुचि छोड़कर, आश्रय छोड़कर **अप्पा मुणइ** आत्मा का अनुभव करे। आत्मा आनन्द ज्ञानस्वरूप का अनुभव करे, उसके सन्मुख होकर, उसका आश्रय लेकर उसका अनुभव करो तो **लब्भइ सिववासु** लो! नरक वासु था, निवास। इसमें शिववास (कहा)। मोक्ष-पर्याय को पाता है, निर्मल अवस्था को पाता है। कहो, **लब्भइ सिववासु** शिवमहल में वास आता है – ऐसा कहा है। शिवरूपी महल (अर्थात्) आत्मा की मुक्तदशा, परमानन्दरूपी दशा। इन पुण्य-पाप को छोड़कर आत्मा का अनुभव करे तो मुक्ति पाता है। पुण्य के क्रियाकाण्ड से कहीं मुक्ति नहीं है, तथापि उसे बताया अवश्य कि निश्चय हो, वहाँ ऐसा व्यवहार होता है, साथ में बतलाने के लिये, परन्तु पहले व्यवहार होता है और फिर निश्चय होता है – ऐसा कुछ नहीं कहा है। समझ में आया? अकेला व्यवहार तो निरर्थक कहा है, अकृतार्थ कहा है। उसमें कुछ गलत करते हैं? संसार का कारण है। यहाँ सीधा (व्यवहार को) संसार बतलाया। अकेला व्यवहार – दया, दान, व्रतादि के परिणाम (वह संसार है)। (पहले) निमित्तरूप कहा था। निश्चय होवे तो। आत्मा का श्रद्धा स्वभाव आदि निर्मल पर्यायें प्रगट हुई तो उस व्यवहार को निमित्तरूप कहते हैं परन्तु अकेला व्यवहार तो संसार का ही कारण है। वह है तो अकेला बन्ध का कारण; निश्चय के साथ रहा हुआ व्यवहार, परन्तु उसे निमित्तरूप कहकर, आगे शुद्धि की वृद्धि हुई, छठवीं भूमिका में थी, इससे कहा कि यह दो होवे तो मुक्ति को पाता है – ऐसा कहा था। दो से होती है – ऐसा कहा जाता है न?

होती तो एक से है, परन्तु इससे होती है – ऐसा कहा जाता है। कहो, इसमें समझ में आया? इसमें बड़ा विवाद! लो! वे कहते हैं, नहीं; चौथे से सातवें तक तो व्यवहाररत्नत्रय ही होता है। यहाँ कहते हैं – व्यवहाररत्नत्रय बन्ध का कारण है; अकेला होवे तो उसे निरर्थक कहा जाता है; निमित्त भी नहीं, निमित्त भी नहीं। निमित्त तो, यहाँ उपादान आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति स्व-आश्रय चैतन्य का अनुभव होवे तो वैसे भाव को निमित्तरूप कहा जाता है। नैमित्तिक होवे तो निमित्त कहलाये न? वस्तु न होवे तो निमित्त किसे कहना?

यहाँ निमित्त का फल कहा। अकेला निमित्त हो – दया, दान, व्रतादि; पूजा, भक्ति के परिणाम (होवें) तो स्वर्ग में जाए और यह पाप के परिणाम – हिंसा, झूठ, चोरी (होवे तो) नरक में जाए; इन दोनों को छोड़े तो शिवमहल में जाए। कहो, समझ में आया? दोनों कर्म, संसार और भ्रमण का कारण है। लो! इस बात में ठीक लिखते हैं। पुण्य कर्म.... है न? अपने पुण्य अधिकार में आता है न? **साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र है, उनका बन्ध प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव.....** दयाभाव से करता है। सातावेदनीय का बन्ध, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र – यह अपने पुण्य अधिकार में आता है। यह दयाभाव-आहार, औषध, अभय और विद्यादान – यह चार प्रकार का दान दे तो सातावेदनीय आदि बाँधता है। सातावेदनीय, शुभ आयु यह....।

श्रावक और मुनि का व्यवहारचारित्र.... यह श्रावक और मुनि का व्यवहारचारित्र भी पुण्य बन्ध का कारण है। इस बात में ठीक-ठीक स्पष्टीकरण किया है। निमित्त आवे, वहाँ फिर ज़रा गड़बड़ करते हैं। निमित्त मिलाना – ऐसा आता है। समझ में आया? देखो! यहाँ तो कहते हैं कि **क्षमाभाव, सन्तोष, सन्तोषपूर्वक का आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभाव से कष्ट सहन, मन-वचन-काया का सरल कपटरहित वर्तन, पर गुण प्रशंसा, आत्मदोषों की निन्दा, निराभिमानता आदि शुभभावों से होता है।** इन सब शुभभावों से होता है और शुभभाव, स्वर्ग का कारण है। देखो! इसमें तो क्षमा को रखा। क्षमा करता हूँ – ऐसा विकल्प है न? सब शुभभाव लिया है। समझ में आया? सन्तोष, सन्तोषपूर्वक आरम्भ अथवा अल्प आरम्भ, मन्दराग – यह सब शुभभाव हैं। इनसे सातावेदनीय आदि बँधते हैं। ऊपर शुभ आयु कहा न?

असातावेदनीय, वह अशुभभाव से बँधता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, ज्ञानावरणीय (आदि) चार कर्म – यह पापकर्म (हैं)। **उनका बन्ध ज्ञान के साधन में विघ्न करने से....** ज्ञान में विघ्न करने से, **दुःखित और शोकाकुल होने से....** शोक करने से **रूदन करने से, दूसरों को कष्ट पहुँचाने से, पर का घात करने से सच्चे देव-गुरु-धर्म की निन्दा करने से, तीव्र कषाय करने से, अन्यायपूर्वक आरम्भ करने से, अत्यधिक मूर्च्छा (ममत्व) रखने से, कपटपूर्वक आचरण करने से....** कपट से आचरण और वर्तन करने से.... कहो, समझ में आया? **मन-वचन-काया को वक्र रखने से, झगड़ा करने से....** यह सब बात रखी है। शास्त्र में होती है न? **परनिन्दा और आत्मप्रशंसा से, अभिमान करने से, दानादिक में विघ्न डालने से, दूसरे का बुरा चिन्तवन करने से, कठोर और असत्य वचन से और पाँच पापों में प्रवर्तन करने से होता है।** लो! इनसे क्या होता है? असातावेदनीय बँधती है; अशुभ आयु बँधती है, अशुभ नाम बँधता है, और नीच गोत्र बँधता है। बँधता है; अबन्ध नहीं होता। समझ में आया?

व्रत, तप, शील, संयम के पालन में शुभराग होता है.... लो! है न? मोक्ष का कारण एक शुद्धोपयोग है; दूसरा कोई कारण नहीं है। एक सीढ़ी डाली है परन्तु कोई मेल नहीं है। इस और सीढ़ी डाली है। व्यवहार को सीढ़ी (रूप) रखा है। **जैसे कमरे पर पहुँचने के बाद सीढ़ियों को कौन याद करता है? सीढ़ियाँ तो ऊपर आने के लिये निमित्त थे।** वह यहाँ सीढ़ी-फीढ़ी है ही नहीं, वह तो एक है अवश्य – इतनी बात है। यहाँ निमित्त आ गया, वहाँ गड़बड़ की है। सीढ़ी-फीढ़ी है नहीं; वह तो एक है – इतनी बात। उसे छोड़कर, और वह भी यहाँ निश्चय होता है, तब ऐसा व्यवहार होता है और वह भी उसके बिना का होता है। समझ में आया? व्यवहार बिना का निश्चय होता है। आत्मा के आश्रय से श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति (प्रगट हुए, वे) व्यवहार बिना के होते हैं। व्यवहार है, इसलिए यहाँ (निश्चय में) आते हैं – ऐसा नहीं है, सीढ़ी-फीढ़ी नहीं है। समझ में आया? समयसार का थोड़ा आधार दिया है। शुभकर्म को शुशील कैसे कहें? ऐसा। यह पाठ की बात है। दोनों जीव को बाँधते हैं – अशुभ और शुभ दोनों बाँधते हैं। यह तो समयसार की गाथा दी है।

☆ ★ ☆

निश्चय चारित्र ही मोक्ष का कारण है

वउ तउ संजमु सीलु जिय, इय सव्वइँ ववहारु।
मोक्खहँ कारणु एक्कु मुणि, जो तइलोयहँ सारु ॥३३॥

व्रत-तप-संयम-शील सब, ये केवल व्यवहार।
जीव एक शिव हेतु है, तीन लोक का सार॥ ३३॥

अन्वयार्थ – **(जिय)** हे जीव! **(वउतउसंजमुसील इव सव्वइ ववहारू)** व्रत, तप, संयम, शील ये सब व्यवहार चारित्र है **(मोक्खह कारण एक्कु मुनि)** मोक्ष का कारण एक निश्चय चारित्र को जानो **(जो तइलोयहँ सारु)** जो तीन लोक में सार वस्तु है।

☆ ★ ☆

३३। **निश्चय चारित्र ही मोक्ष का कारण है**। लो! आत्मा के आश्रय से वीतरागता प्रगट हो, वह एक ही मोक्ष का कारण है। व्यवहारचारित्र बन्ध का कारण है। अभी यह बड़ा विवाद, झगड़ा (चलता है)। दूसरे कहते हैं, वह व्यवहारचारित्र पहला मोक्ष का मार्ग है। पञ्च महाव्रत.... कुन्दकुन्दाचार्य ने किसलिए पालन किये थे? ऐसा कहते हैं। पालन कहाँ किये थे? थे, निमित्तरूप थे, उन्हें बन्ध का कारण जानकर उन्हें हेय जानते थे। वास्तव में तो आत्मा '**वउतउ संजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु**' लो! यह सब व्यवहार है। '**सव्वइ ववहारु मोक्खह कारण एक्क मुणि जो तइलोयहु सारु**' देखो, यह व्यवहार, मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा सिद्ध करते हैं। इसमें है न? शब्द है?

हे जीव! व्रत.... पञ्च महाव्रत, बारह व्रत.... **तप....** प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, सज्झाय इत्यादि। सज्झाय आदि सब, हाँ! **संयम....** छह काय जीव को नहीं मारना आदि। **शील....** कषाय मन्द अथवा शरीर का ब्रह्मचर्य, **यह सब व्यवहारचारित्र है**। ऐसा कहकर इसे मोक्ष का कारण नहीं कहा। एक व्यवहार है, ऐसा कहा। यह व्यवहारचारित्र है – ऐसा कहा।

'मोक्खह कारण एक्क' लो! **मोक्ष का कारण एक निश्चयचारित्र को जानो**। व्यवहार को मोक्ष का कारण नहीं कहा। क्या पढ़ते होंगे? इसमें बड़ा झगड़ा (चलता है)। सोनगढ़ एकान्त करता है, सोनगढ़ एकान्त करता है। व्यवहार से कुछ लाभ नहीं होता – ऐसा मानता है, ऐसा वे कहते हैं। यह आचार्य क्या कहते हैं? **'वउतउ संजमुसील जिय इय सव्वइ ववहारु'** ऐसा कहा कि यह व्यवहार है। है, ऐसा कहा परन्तु मोक्ष का कारण तो निश्चय आत्मा का आश्रय करना ही है। समझ में आया? तीन लोक में सार वस्तु होवे तो मोक्ष का कारण एक निश्चयचारित्र जानो। भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन, उसका सम्यग्ज्ञान तो है ही; यहाँ तो उत्कृष्ट बात लेनी है न? उन सहित स्वरूप में आश्रय करके स्थिरता, वीतरागता, निर्विकल्प शान्ति की उग्रता (प्रगट होवे), वह निश्चयचारित्र है। वह तीन लोक में सार है। सार ही वीतरागता है, सार चारित्र है। कहो, समझ में आया?

मोक्ष का कारण तो यह एक निश्चय आत्मा का चारित्र है। व्यवहारचारित्र है – ऐसा सिद्ध किया परन्तु मोक्ष का कारण नहीं। एक कहा – **'मोक्खह कारण एक्क'** दो नहीं। यह टोडरमलजी भी ऐसा कहते हैं, मोक्ष कारण दो नहीं हैं। दो का कथन है। दो माने कि मोक्षमार्ग दो है और दोनों को उपादेय माने तो भ्रम है, भ्रमणा है – ऐसा कहा है। तब वे कहते हैं – दोनों को समान न माने, उन्हें भ्रमणा है। लो, इसमें कहाँ मुठभेड़ हुई? टोडरमल के साथ विरोध और जो बात काललब्धि की उन्हें ठीक लगे, वह फिर टोडरमल में से लेते हैं। देखो! काललब्धि कोई वस्तु नहीं है (ऐसा कहा है)। अरे...! किस अपेक्षा से कहना चाहते हैं? काललब्धि तो ठीक, जिस समय में जिस पर्याय काल का है, वह तो तब ही है। समझ में आया? परन्तु वह कहीं नयी चीज नहीं है। यह तो स्वभाव का पुरुषार्थ किया, उस समय काललब्धि पकी है, यह काल पका – ऐसा जाना है, बस! यह बात ली और वह बात छोड़ दी।

टोडरमलजी कहते हैं – व्यवहार और निश्चय दो मार्ग हैं? कथन है, दो मार्ग नहीं। इसी तरह दोनों उपादेय नहीं... दोनों आदरणीय नहीं; आदरणीय तो एक ही हैं, वास्तव में मार्ग तो एक ही है। वही यहाँ कहते हैं, देखो! इस शास्त्र में क्या आधार है? योगीन्द्रदेव

का '**मोक्खह कारण एक्क**' आत्मा की पवित्र वीतरागदशा और केवलज्ञान पाने को एक ही कारण – आत्मा के आश्रय से ही चारित्र प्रगट होता है। व्यवहार, व्रत, नियम के, विनय, भक्ति आदि के भाव तो पराश्रितभाव हैं। पराश्रितभाव व्यवहार है – ऐसा कहा, सिद्ध किया, होता है। पूर्ण वीतराग न हो (वहाँ) ऐसा व्यवहार होता है परन्तु वह व्यवहार (हेय है)। दूसरी भाषा में कहा है कि तीन लोक में सार यह है, वह व्यवहार सार नहीं है – ऐसा कहा है। हैं ?

मुमुक्षु – अनादि काल से व्यवहार में खड़ा है।

उत्तर – खड़ा है, खड़ा रखेंगे नहीं, है उसे बतलाया। पडखे खड़ा रखा – ऐसा कहते हैं। दो, तीन बोल से तो चला आता है। २८ (गाथार्थ) चला नहीं आया ? कहा न ? यह क्रम लिया न ? ३० में एकसाथ कहा, ३१ में निरर्थक कहा, ३२ में फल कहा, उसमें निरर्थक कहा था, इसमें फल कहा; है उसका फल संसार है। समझ में आया ? देखो, क्रमश: सब लिया है। ठीक लिया है। २८ में ऐसा लिया, त्रिलोक पूज्य आत्मा लिया था, तत्पश्चात् २९ में वहाँ से ऐसा लिया कि यह व्यवहार, मोक्षमार्ग नहीं; मिथ्यादृष्टि के व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं – ऐसा कहा था। नहीं, इतने से रोका नहीं क्योंकि जहाँ तक आत्मा का अनुभव न करे, तब तक यह सब मोक्षमार्ग नहीं है। ऐसा कहकर ३० में ऐसा कहा कि दोनों साथ होते हैं, बात सिद्ध की। आत्मा स्वयं का स्वरूप श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति से साधता है, तब ऐसा संयोग व्यवहार साथ में होता है – ऐसा कहकर ज्ञान कराया। पश्चात् यहाँ उड़ा दिया, अकेला व्यवहार (निरर्थक है)। यह निश्चय होवे तो उसे निमित्तपना लागू पड़ता है, नहीं तो अकेला व्यवहार अकृतार्थ है, कुछ कार्य नहीं करता.... आत्मा का कुछ कार्य नहीं करता, ऐसा। तब करता क्या है ? कि संसार। ३२ में स्पष्टीकरण किया है।

मुमुक्षु – होता है – ऐसे खड़ा रखा है।

उत्तर – खड़ा रखा है (अर्थात्) ज्ञान कराया है, ऐसा। खड़ा रखा अर्थात् ? है ऐसा ज्ञान कराया, खड़ा रखा अर्थात् है, ऐसा। (उसकी) कीमत नहीं। वह है, उसका ज्ञान कराया है। व्यवहार से अनुकूलता, व्यवहार से अनुकूलता, हाँ! निश्चय से प्रतिकूल है।

व्यवहार से अनुकूल (ऐसे) कषाय की मन्दता, शुभराग के ऐसे भाव होते हैं, बराबर सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की विनय भी व्यवहार है। वह विनय नहीं होता? निश्चय होवे वहाँ ऐसा विनय, सज्झाय, शास्त्र का स्वाध्याय – ऐसा भाव होता है परन्तु उनका फल पुण्य-बन्ध है, स्वर्ग फल है। समकिती को उसका फल स्वर्ग है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – मोक्ष का कारण नहीं है।

उत्तर – नहीं। कहा न? '**मोक्खह कारण एक्क**' यह सार है, तीन लोक में सार है। (व्यवहार) तीन लोक में सार है ही नहीं। आहा...हा...!

यह तो योगसार है। योगसार अर्थात् स्वरूप की एकाग्रता के जुड़ान का सार, मोक्षमार्ग का सार। मोक्षमार्ग यह एक ही है – ऐसा कहा है। यह योगसार.... समझ में आया? योगसार अर्थात् आत्मा शुद्ध परमानन्द की मूर्ति की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता – यह एक ही योगसार है। योगसार एक ही मोक्ष का मार्ग है, इस योगसार में यह कहा गया है, समझ में आया? ठीक, थोड़ा-थोड़ा अर्थ इन्होंने किया है।

तीन लोक में सार वस्तु मोक्ष है, जहाँ आत्मा अपना स्वभाव पूर्णरूप से प्रगट कर लेता है, कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है, परमानन्द का नित्य भोग करता है। क्या मोक्ष का उपाय ही तीन लोक में सार है? ऐसा। मोक्षसार कहा न? तो उसका उपाय भी तीन लोक में सार है। उपाय कौन? कि चारित्र। चारित्र अर्थात् दर्शन-ज्ञानसहित स्वरूप में रमणता वह। दूसरे कहते हैं, चारित्र अर्थात् यह व्रतादि चारित्र.... वह नहीं, समझ में आया? **वह उपाय भी अपने ही शुद्धात्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और उसमें ही आचरण है। निश्चयरत्नत्रयरूप स्वसमय, स्वरूपसंवेदन अथवा आत्मानुभव है।** तीन की एक व्याख्या.... आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, इसे निश्चय रत्नत्रय कहो, स्व-स्वरूप संवेदन कहो या आत्मा का अनुभव कहो।

यह एक ही ऐसा नियमरूप उपाय है। देखो! एक में से निकाला है। **यही एक ऐसा नियमरूप उपाय है, जैसा कार्य या साध्य होता है, वैसा ही उसका कारण अथवा साधन होता है**। कार्य निर्मल तो उसका साधन भी निर्मल, अन्य व्रतादि हैं वे तो मलिनभाव हैं। समझ में आया? साधन मलिन और साध्य निर्मल यह कोई यथार्थ उपाय

नहीं है। समझ में आया? **एक ऐसा नियमरूप उपाय.....** परम पवित्र मोक्षदशा, उसका कारण भी पवित्रता के परिणाम निश्चय स्वसंवेदन, निश्चयरत्नत्रय – यह एक ही उपाय है; दूसरा कोई उपाय नहीं है। समझ में आया?

व्यवहारचारित्र किया जाता है, वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। जो कोई व्यवहारचारित्र ही पाले तो भ्रम है, वह निर्वाण का साधन नहीं करता। अकेले पञ्च महाव्रतादि पाले, अट्ठाईस मूलगुण पाले, बारह व्रत पाले तो उनसे मुक्ति नहीं होती। (मुक्ति माने तो) भ्रम है, टोडरमलजी ने ऐसा लिखा, निर्वाण का साधन है नहीं, लो! **मन-वचन-काया की क्रिया को मोक्ष का उपाय मत जान।** अभी थोड़ी चर्चा आयी है, ऐ...ई...! देवानुप्रिया.... इस मन-वचन-काया की क्रिया से मोक्ष नहीं है – ऐसा यहाँ सोनगढ़वालों ने लिखा है न? उन इक्कीस उत्तर में। तो कहते नहीं; झूठ बात है। मन-वचन-काया की क्रिया मोक्षमार्ग है। क्रिया अभी, हाँ! वे परिणाम और योग नहीं, आहा...हा...! मन-वचन-काया योग; उनकी क्रिया वह योग कहा है परन्तु योग अर्थात् कम्पन होता है वह। अन्दर कम्पन होता है, वह योग है, वह बाहर की क्रिया को निमित्त है। मन-वचन और काया के पुद्गल तो जड़ हैं, उनमें प्रदेश कँपते हैं वह योग है और वह योग बन्ध का कारण है। वह योग बन्ध का कारण है, वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। देखो, यहाँ स्पष्ट लिया, देखा? इन शीतलप्रसादजी को उड़ाते हैं, इन्होंने भी पढ़ा नहीं था? स्वयं को पूरा उड़ाया इसका इसे भान नहीं होता। आहा...हा...!

व्यवहारचारित्र को व्यवहारमात्र समझ। है न? **निश्चयचारित्र के बिना उससे मोक्षमार्ग में कुछ लाभ नहीं है। मुनि का या श्रावक का व्यवहार संयम यथार्थ रीति से शास्त्रानुसार पालन करके भी ऐसा अहंकार मत कर कि मैं मुनि हूँ....** व्यवहार से पाँच महाव्रत पालन करके कहे मैं मुनि हूँ। व्यवहार से पालते हैं, मैं मुनि हूँ, मैं क्षुल्लक हूँ, यह व्यवहार का अभिमान है – ऐसा कहते हैं। पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पाले, बारह व्रत पाले तो कहता है हम श्रावक हैं, हम मुनि हैं, हम ब्रह्मचारी हैं, धर्मात्मा गृहस्थ हैं।

ऐसा करने से उसके वेश और व्यवहार में ही मुनिपना अथवा गृहस्थपना

मान लिया, वह ठीक नहीं है। व्यवहार का पालना वह तो अभिमान है, मिथ्यात्व है, राग है – ऐसा कहते हैं। राग पाले और ऐसा कहना कि हम मुनि हैं.... राग वह मुनिपना है? व्यवहार के व्रतादि मुनिपना है? बन्ध का कारण है। क्या कहना? इस धूल का कारण है। यह निश्चय वस्तु नहीं तो अकेला व्यवहार बन्ध का कारण है – ऐसा मानना चाहिए। बारह व्रत पाले, पञ्च महाव्रत पाले.... समझे न? आगम प्रमाण शुभक्रिया आदि करे और माने कि हम साधु हैं, श्रावक हैं तो मूढ़ है, कहते हैं। व्यवहार की क्रिया में मुनिपना –श्रावकपना कहाँ से आया? समझ में आया? वह तो पुण्य-बन्ध का कारण है।

शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है, वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है – ऐसा समझकर ज्ञानियों को शरीराश्रित क्रिया में अहंकार नहीं करना चाहिए। कितना ही अर्थ तो ठीक किया है।

मुमुक्षु – चौथे गुणस्थान में अनुभव होता है?

उत्तर – हाँ, होता है न; श्रावक को अनुभव होता है – यह तो पहले ही लिखते हैं।

आत्मा के सम्यग्दर्शन में स्वरूपाचरणरूप अनुभव, एक ही मोक्ष का मार्ग चौथे से शुरु होता है। जितने व्यवहार के विकल्प यह सब होते हैं, यह तो बात की, वे होते हैं। पूर्ण नहीं तो होते हैं परन्तु उनमें अहंकार करना कि यह मेरे, अभिमान किया कि हम करते हैं, विकार को हम करते हैं – ऐसा मानना तो निर्विकारी चीज तो पूरी रह गयी। समझ में आया? अहंकार नहीं करना। भावपाहुड़ का उद्धरण दिया है। हैं?

मुमुक्षु – निश्चय की अंगुली पकड़कर चलते हैं।

उत्तर – बिल्कुल अंगुली पकड़कर नहीं चलता, निश्चय है तो व्यवहार है – ऐसा नहीं और व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं; दोनों स्वतन्त्र हैं। व्यवहार है तो निश्चय है – ऐसा नहीं। स्वाश्रयपना भिन्न है, पराश्रयपना भिन्न है; दोनों चीज स्वतन्त्र है। अंगुली पकड़कर लावे न? अलग-अलग हैं। उनमें अंगुली कौन पकड़े?

वास्तव में तो आत्मा शुद्ध चैतन्य की दृष्टि ज्ञान हुआ, इसलिए सम्यग्दृष्टि इस व्यवहार से मुक्त है। व्यवहार है अवश्य; जैसे परद्रव्य हैं, ऐसे वह है परन्तु उससे मुक्त है।

वह मुझमें नहीं है। आहा...हा... ! अपने में नहीं है, उसे करके मानना कि यह हम मुनि और श्रावक हैं, (यह) मिथ्यादृष्टि है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया या नहीं ? जो अपने स्वरूप में नहीं; स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान शान्ति भी निर्मल है। उसमें व्यवहार व्रतादि का जो रत्नत्रय किया, वह उसमें तो नहीं है। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि की दृष्टि तो आत्मा पर है। राग/व्यवहार पर है ? यह तो व्यवहार पर दृष्टि है, व्यवहार आचरण वह हमारी क्रिया, हम साधु, हमें साधु मानो.... हम मनवाते हैं। अट्ठाईस मूलगुण पालते हैं, वह पाले तो.... अभी तो अट्ठाईस मूलगुण भी नहीं है। यह तो अट्ठाईस मूलगुण पालता हो – पंच महाव्रत हो, बारह व्रत हो तो कहे हम मुनि हैं, वह मूढ़ है। व्यवहार में मुनिपना कहाँ से आया ? समझ में आया ? वह तो राग की क्रिया है। राग की क्रिया में मुनिपना श्रावकपना-समकितपना, मोक्ष का मार्ग कहाँ से आया ?

'जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ' दृष्टान्त दिया, उस ओर अन्तिम गाथा है। **जीवरहित (शरीर) मुर्दा है**। भावपाहुड़ का मोक्ष अधिकार है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं, जीवरहित तो सब मुर्दे हैं। शरीर.... इसी प्रकार सम्यग्दर्शन (अर्थात्) आत्मा के भान बिना जीव का जीवन ही नहीं है, वह मुर्दा है। आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द की प्रतीति, अनुभव के बिना यह तेरे शुभ आचरण की क्रियाएँ सब मुर्दा हैं। इसमें जीवन नहीं है – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ॥ १४३॥

क्या कहा ? जैसे जो जीवरहित शरीर अपूज्य है, मुर्दा है; वैसे ही भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति के सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना यह व्यवहार व्रतादि सब मुर्दे हैं और वे पूज्य नहीं हैं। जैसे जीवरहित मुर्दा पूज्य नहीं है, वैसे सम्यग्दर्शनरहित अकेले व्रतादि, तपादि क्रियाकाण्ड, वे सब मुर्दे हैं; वे लोक में अपूज्य हैं। आहा...हा... ! अद्भुत कहा, भाई !

मुर्दा लोक में माननीय नहीं गिना जाता.... क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा का जीवन – कारणप्रभु, कारणजीव का आश्रय लिये बिना, उसकी दृष्टि-ज्ञान-चारित्र किये बिना अकेले व्रत, पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण आदि आगमानुसार पालन करे तो भी वह सब माननीय नहीं है। आहा...हा... ! हैं ?

मुमुक्षु – इसका अर्थ तो स्पष्ट है ही न!

उत्तर – यह स्पष्टता से माने तब न? तुम्हारे पास पुस्तक नहीं है? यह शास्त्र का आधार है, यह भावपाहुड़ की १४३ वीं गाथा है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव का भावपाहुड़ है, देखो! गाथा दी है न? इसमें तो न्याय, भाव क्या रखा? भाई! कि जहाँ आत्मस्वभाव शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र शुद्धता नहीं, वहाँ अकेले व्रत-नियम आदि सब मृतक-अमान्य, अपूज्य है, मुर्दा है। समझ में आया? यह गाथा है। भावपाहुड़ - १४३।

आगे सम्यग्दर्शन का निरूपण करते हैं। पहले कहते हैं कि सम्यग्दर्शनरहित प्राणी चलता हुआ मृतक है। चलता मुर्दा है, चैतन्यप्राण, भावप्राण, आनन्दप्राण जिसके – आत्मा के हैं – ऐसे प्राण की प्रतीति-ज्ञान और रमणता प्रगट की है, वह जीवित जीव है। आहा...हा...! समझ में आया? इसीलिए सैंतालीस शक्ति में पहली जीवत्वशक्ति ली है न? जीवत्वशक्ति भगवान आत्मा में है। चैतन्य, दर्शन, ज्ञान, सुख, सत्ता प्राण – ऐसे प्राण का स्वीकार होकर शुद्ध चैतन्य श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति प्रगट हुए हैं, उसे यहाँ जीवित जीव कहा जाता है। इसके बिना अकेले पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण का पालन, बारह व्रत का विकल्प, शरीर का ब्रह्मचर्य पालन – ऐसे सब शुभभाव को तो (जैसे) जीवरहित शरीर, वैसे ही चैतन्य शुद्ध निश्चय रहित वह मुर्दा है। आहा...हा...! समझ में आया?

'जीवविमुक्को सबओ' लोक में जीवरहित शरीर को शव कहते हैं, मृतक या मुर्दा कहते हैं। वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष चलता मुर्दा है। चलता मुर्दा.... दूसरा मुर्दा तो (अर्थी पर) उठाकर चले – ऐसे। अर्थी, अर्थी कहते हैं न? यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि **मृतक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से जलाया जाता है....** आहा...हा...! **पृथ्वी में गाढ़ दिया जाता है और दर्शनरहित चलता हुआ मुर्दा लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उनको वन्दनादि नहीं करते हैं।** अकेले व्यवहार-व्रतादि के पालनेवाले तो धर्मात्मा वन्दन करने योग्य नहीं मानते हैं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? क्या कहा यह?

मुनि वेष धारण करता है तो भी उसे संघ के बाहर रखते हैं.... जिसे सम्यग्दर्शन का भान नहीं, आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति का भान नहीं – ऐसे सम्यग्दर्शन के जीवनरहित के

अकेले पाँच महाव्रत और बारह व्रतादि या उसके योग्य जो क्षुल्लकपने का भाव लो न, वह पालता हो तो वह सब मुर्दा है। जैनशासन के स्तम्भ में नहीं मिलते, जैनशासन के स्तम्भ में नहीं मिलते। वहाँ तो जीवताजीव मिलते हैं। आहा...हा...! ऐसे मुर्दे उसमें हाथ नहीं आते, साथ नहीं मिलते। समझ में आया? दो गाथायें रखी हैं, हाँ!

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं॥ १४४॥

देखो! श्रावक और मुनि में मुख्य धर्म तो सम्यग्दर्शन है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति अखण्डानन्दकन्द का अन्तर अनुभव का सम्यग्दर्शन, वह श्रावक और मुनि के धर्म में मुख्य तो वह है। समझ में आया? **मुनि और श्रावक दोनों के धर्म में सम्यग्दर्शन शोभता है।** लो! समझ में आया?

आत्मा परम पवित्र प्रभु, शुद्धभाव से भरपूर पदार्थ, शुद्धभाव से भरा भगवान उसकी शुद्धस्वभाव की दृष्टि का अनुभव, उसकी दृष्टि, उसका – आत्मा का ज्ञान और उसमें रमणता अथवा दर्शन और ज्ञान – दोनों की यहाँ मुख्यता ली है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान के बिना जीव अकेले पंच महाव्रत पालते हों, बारह व्रत पालते हों, ब्रह्मचर्य पालते हों, दया पालते हों, करोड़ों का दान करते हों, वे सब भाव मुर्दे हैं। आहा...हा...! समझ में आया? वह सब राग–भाग है, मर गया मुर्दा है। रतनलालजी! अद्‌भुत बात भाई! आहा...हा...!

भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर ने पूर्णानन्द अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु देखा है। उसमें यह पुण्य-पाप के विकाररहित आत्मा हैं। शरीर की क्रियारहित आत्मा है, ऐसे आत्मा को, पूर्ण शुद्धस्वरूप के भाव को अन्तर दर्शन और ज्ञान द्वारा जो अनुभव और प्रतीति करे, उसे यहाँ श्रावक और मुनि कहा जाता है। इस सम्यग्दर्शन के बिना, आत्मा शुद्धभाव के भान बिना, शुद्ध श्रद्धा के ज्ञान बिना अकेले पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, बारह व्रत, दया, दान, भक्ति आदि का क्रियाकाण्ड, पूजा, श्रावक के छह आते हैं न? छह कर्तव्य, वे सब निरर्थक, निरर्थक मुर्दा हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

वीतराग परमेश्वर के मार्ग में आत्मा वीतरागस्वरूप परमानन्दमूर्ति की वीतरागीदृष्टि, अन्दर निर्विकल्प वीतरागी ज्ञान, उसके जीवन को जीवन कहा जाता है। उस जीव को जीवित जीव कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? यह पैसेवाले भी मुर्दा होंगे? यह वकील-वकील भी?

मुमुक्षु – इनके बाप-दादा भी।

उत्तर – इनके बाप-दादा नहीं। बाप-दादा में कहाँ तुम्हारे जैसी चतुराई थी? माणिकचन्दभाई की.... ऐ....ई....! बाप-दादा नहीं। इस वकालात की पढ़ाई, यह सब मुर्दा है – ऐसा कहते हैं। माणिकचन्दभाई में कहाँ वकालात थी? ऐ... हरिभाई! तुम्हारे पिता के पास कितने पैसे थे? और अभी पचास लाख या साठ लाख हो गये। हरिभाई! केशूभाई के समय कहाँ धूल भी उसके कारण हुआ है? मुर्दा हैं सब, मुर्दा। सत्य बात है?

भगवान आत्मा सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने पवित्र आत्मा अनन्त शुद्धभाव से भरपूर भगवान आत्मा देखा है। ऐसे शुद्धभाव की अन्तर श्रद्धा-ज्ञान, वह जीव का जीवन है। ऐसे जीव के जीवन बिना लक्ष्मी से (अपने को) बड़ा मानकर जीवे, वे तो सब मर गये मुर्दे हैं। वे तो मुर्दे परन्तु पंच महाव्रत, दया, दान, व्रत, भक्ति, आजीवन शरीर का ब्रह्मचर्य.... समझ में आया? ऐसे भाववाले भी शुद्धभाव की श्रद्धा ज्ञानरहित वे सब मुर्दे हैं। आहा...हा...! समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु – कड़क दवा है।

उत्तर – कड़वी दवा है, कहते हैं। कठोर रोग हो तो इंजैक्शन ऐसा बड़ा, लम्बा देते हैं। देखा है? गले न उतरे तो मोटा ऐसा चढ़ाते हैं? क्या कहलाता है तुम्हारे यहाँ? ग्लूकोज की ऐसी बोतल चढ़ाते हैं। इसी प्रकार भगवान यह बोतल चढ़ाते हैं। इंजैक्शन लगाते हैं, मूढ़! मर गया है तू?

भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण की खान ऐसे आत्मा की तुझे अन्तर्मुख होकर सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान नहीं और तुझे पुण्य का दया, दान, व्रत का परिणाम से हमारा जीवन है और हम कुछ करते हैं..... मर गया मुर्दा है। तुझे जीव कौन कहे? आहा...हा...! अद्‌भुत बात भाई!

मुमुक्षु – मुर्दे को जीवित करे ऐसी यह दवा है।

उत्तर – मुर्दा मरकर दूसरे भव में होवे तब जीवित होता है। इस भव में होता है? इस शुभभाव मुर्दे में से जीव नहीं होता – ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? अद्भुत बात!

भाई! इसमें तो यह सिद्ध किया है। समझ में आया? कि एक आत्मा का शुद्ध स्वभाव.... वह दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा के परिणाम यह शुभभाव है – इस रहित आत्मा की अन्तर निश्चयश्रद्धा, ज्ञान, आत्मा की शान्ति, यह एक ही धर्म और यही मोक्ष का कारण है। यह न हो और अकेले व्रतादि, बाल ब्रह्मचर्य आदि ऐसे भाव पाले तो कहते हैं कि अमाननीय है, अपूजनीय है, मुर्दा है, सन्तों से उसे निकाल देने योग्य है। मुर्दा घर में नहीं रखा जाता, निकाल दे। समझ में आया? इसमें समझ में आया?

यह वीतराग परमेश्वर की बात है, यह कहीं किसी के घर की बात नहीं है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर, जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक जाने, उनकी वाणी में आया – परमात्मा की वाणी में (आया)। कहो, समझ में आया? अनन्त तीर्थंकर हुए, वर्तमान महा-विदेह में सीमन्धर भगवान तीर्थंकर विराजमान हैं। उनकी वाणी में यह आता है, वह आया है। अरे! चैतन्य की जाति को तूने झिंझोड़ कर जगाया नहीं और अकेले विकल्प की – दया, दान, व्रत के परिणाम को तूने रखा, मुर्दा है, कहते हैं। आहा...हा...! कहो, प्रवीणभाई! क्या कहे? डण्डा मारते होंगे कोई? समझे?

तीन लोक में सार होवे तो यह है; वह (राग की मन्दता आदि) सार नहीं है। ओ...हो...! इसमें तो कितने ही न्याय दिये हैं। तीन लोक में पूज्य है न? भाई! इसकी अपेक्षा से निकाला, ३३वीं गाथा.... तीन लोक में सार, आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द प्रभु की दृष्टि, अन्दर अनुभव ज्ञान और उसमें रमणता – चारित्र, यह तीन लोक में सार और पूज्य है। इसके बिना – इस भानरहित अकेले व्रतादि, अकेले तपादि क्रियाकाण्ड का शुभभाव वह सब जैन शासन को मान्य नहीं है। वह अपूज्यनीय मुर्दा है, उसे निकाल देने योग्य है, वह जीव में मिलाने योग्य नहीं है परन्तु यह राग-मुर्दा चैतन्य में मिल ही नहीं सकता। आहा...हा...! समझ में आया? शशीभाई! बात अद्भुत, कठिन है। कहते हैं?

यह समझे, क्यों नहीं समझ सकता ? समझ सकता है, इसकी अपने घर की चीज है, घर में है, वहाँ घर में सहज साधन द्वारा प्राप्त होते हैं। उसे किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो विकल्प हो, राग – उसकी भी इसे आवश्यकता नहीं है। इतना तो स्वाधीन और स्वतन्त्र है। यह कहे कि मुझे समझ में नहीं आता। यह सब उल्टा अनादि का। समझ में आया ? वह सार है न ? उसमें दृष्टान्त दिया है। अब, ३४ वीं गाथा !

☆ ★ ☆

आपसे आपको ध्याओ

अप्पा अप्पइँ जो मुणइ, जो परभाउ चएइ।
सो पावइ सिवपुरि-गमणु, जिणवरु एम भणेइ॥३४॥

आत्मभाव से आत्म को, जाने तज परभाव।
जिनवर भाषे जीव वह, अविचल शिवपुर जाव॥ ३४॥

अन्वयार्थ – **(जो परभाव चएइ)** जो परभाव को छोड़ देता है **(जो अप्पइ अप्पा मुणइ)** व जो अपने से ही अपने आत्मा का अनुभव करता है **(सो सिवपुरिगमणु पावइ)** वही मोक्षनगर में पहुँच जाता है **(जिणवर एउ भणेइ)** – ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है।

☆ ★ ☆

३४ वीं गाथा। **आपसे आपको ध्याओ**। देखो, यह व्यवहार व्रतादि के विकल्प, दया, दान, यह सब शुभराग है। इससे आत्मा का जीवन नहीं जिया जाता। तब अपने द्वारा अपना ध्यान करो। भगवान चैतन्य, पुण्य-पाप के विकल्परहित ऐसा अन्दर आत्मा आनन्दमूर्ति, आत्मा का आत्मा से ध्यान करो; राग-वाग को लक्ष्य में से छोड़ दो। समझ में आया ? इस मुर्दे को छोड़ दो, कहते हैं। यह मुर्दा जीवित नहीं होगा। यह जीवता जीव होगा, वह जीवित होगा।

अप्पा अप्पइँ जो मुणइ, जो परभाउ चएइ।
सो पावइ सिवपुरि-गमणु, जिणवरु एम भणेइ॥३४॥

देखो ! '**जिणवर एउ भणेइ**' जिनवर वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनवर ऐसा **भणेइ** अर्थात् कहते हैं। '**जो अप्पइ अप्पा मुणइ**' आत्मा आत्मा को जाने। भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दभाव से भरपूर, उसे शुद्धभाव से आत्मा को जाने... समझ में आया ? और '**परभाव चएइ**' जो व्यवहार कहा था – मुर्दा। स्वभाव का आश्रय लेकर आत्मा निर्विकल्प शुद्ध है, परमानन्द है, उसका आश्रय लेकर शुद्धभाव से आत्मा को जाने, तब अन्तर्मुख होने पर ये विकल्प जो व्यवहार के हैं, वे छोड़े। वे मुर्दे हैं, आत्मा को अन्तर साधन में बिल्कुल सहायक नहीं है। समझ में आया ? यह तो योगसार है न ! योगसार है। मोक्षमार्ग का सार। योग अर्थात् आत्मा में जुड़ान। आत्मा में जुड़ान, उसका सार। समझ में आया ?

'**अप्पा अप्पइ जो मुणइ' जो परभाव को छोड़ देता है....** शुभ-अशुभभाव, विकार, उन्हें दृष्टि में से छोड़ देता है और '**जो अप्पइ अप्पा मुणइ' और जो अपने में ही अपने आत्मा का अनुभव करता है....** आहा...हा... ! शुभभाव, पहले धर्म होता है और फिर यह धर्म होता है – ऐसा नहीं कहा है। यह शुभभाव छोड़कर आत्मा का अनुभव करे तो धर्म होता है। उसे रखकर होता है ? आहा...हा... ! अद्‌भुत बात, जगत् को कठिन (लगती है)। वीतराग परमेश्वर की वीतराग बात.... राग के लोभियों को वीतराग की बात कठिन पड़ती है। आहा...हा... !

मुमुक्षु – इसे रुचती नहीं, शुभभाव छाया लगती है।

उत्तर – छाया ही है यह, धूप कहाँ थी ? पुण्य और पाप दोनों धूप है। भगवान आत्मा शान्त, शीतल रस से भरा हुआ, यह पुण्य-पाप के दोनों भाव पाप है, अग्नि है, जहर है, आहा...हा... ! कहो, समझ में आया ? समाधिशतक का दृष्टान्त (दिया) है। धूप में खड़ा रहे, उसकी अपेक्षा छाया में खड़ा रह न ! कहो समझ में आया ? खड़ा है परन्तु जो शुद्धभाव में रहा है, वही पन्थ है। यह वहाँ छाया में खड़ा और पुण्य में खड़ा, इसलिए पन्थ है – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

ओ...हो...हो... ! अनन्त काल का जन्म-मरण का भाव, उसे मिटाने का भाव तो कोई अपूर्व ही होगा न ! अहो ! अनादि काल के.... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि...

कहीं नजर डाली नजर पहुँचे नहीं; नजर को अन्त आवे नहीं इतना – अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... अनादि... भटककर थोथा उड़ गया इसका, भव कर करके। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त को अनन्त से गुणा करो तो भी अनन्त, इतने भव किये, भाई! आत्मा के भान बिना! एक सम्यग्दर्शन बिना ऐसे भव किये। उसमें व्रत, नियम, तप पालन करके नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया, वह तो शुभभाव था। समझ में आया?

आचार्य फरमाते हैं '**अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ।**' देखा? व्यवहार को छोड़कर.... व्यवहार को छोड़कर आत्मा का अनुभव करे। '**सो पावइ सिवपुरिगमणु**' लो! **वही मोक्षनगर में पहुँच जाता है**। वह मोक्षनगरी.... परमात्मा सिद्ध भगवान, णमो सिद्धाणं। उस सिद्धपद को (प्राप्त करता है)। इस आत्मा के शुद्धभाव का अनुभव करे, परभाव – पुण्य-पाप के भाव को अन्तर से छोड़े, स्वरूप में स्थिर हो, वह मुक्तिपुरी को पाता है। ऐसा **श्री जिनेन्द्र ने यह कहा है**। देखो, आचार्य को डालना पड़ा, भाई! यह हम नहीं कहते, भगवान ऐसा कहते हैं।

तीन लोक के नाथ, इन्द्रों के पूज्य पुरुष समवसरण में – धर्मसभा में भगवान ऐसा दिव्यध्वनि में कहते थे। आहा...हा...! भाई, तू धीरजवान हो, धीरजवान हो। तेरे स्वरूप में अन्दर अनन्त आनन्द पड़ा है। तेरे स्वभाव में अनन्त आनन्द का सागर डोलता है, आहा...हा...! ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान से जीव को स्थिरता (होने पर) अल्प काल में उसे मुक्तिनगरी मिलेगी। यह व्यवहार छोड़ तो मिलेगी – ऐसा कहते हैं। इस व्यवहार के द्वारा, इसकी मदद से आगे मुक्ति में जाया जा सकेगा – ऐसा है नहीं। ऐसा जिनवर, जिनवर, जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा, परमेश्वर, तीर्थंकरदेव – ऐसा **भणेइ**, ऐसा **भणेइ....** भणेइ अर्थात् ऐसा प्ररूपित करते हैं – ऐसा कहते हैं। लो! आचार्य ने ऐसा दृष्टान्त दिया।

योगीन्द्रदेव भी सिद्ध भगवान को ऐसा कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्यदेव की तरह.... भगवान ऐसा कहते हैं। तीन लोक के नाथ इन्द्रों के समक्ष, गणधरों की उपस्थिति में, भगवान की वाणी में ऐसा आया था कि यह आत्मा परमानन्द की मूर्ति है, इसे पुण्य-पाप के भाव हों, उनमें से दृष्टि छोड़। छोड़ दे उन्हें; छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो तो अल्प काल

में मुक्ति होगी, दूसरा कोई उपाय नहीं है। यह पुण्यभाव तुझे मदद करे – ऐसा नहीं है। अटकानेवाला बीच में आता है – ऐसा कहते हैं, इसलिए छोड़। आहा...हा... ! ऐसी बातें जगत को जमना कठिन है, भाई! समझ में आया ?

आत्मा को-आत्मा द्वारा.... ऐसा है न ? '**अप्पा अप्पइ**' है न ? आत्मा, आत्मा द्वारा.... अर्थात् क्या ? भगवान आत्मा अनन्त आनन्द और शुद्ध चैतन्य की मूर्ति, उसे आत्मा, आत्मा द्वारा.... आत्मा द्वारा अर्थात् अन्य व्यवहार द्वारा नहीं, दया-दान-व्रत, कषाय के मन्द (परिणाम) वह आत्मा नहीं है; वह तो अनात्मा, आस्रवतत्त्व है। आत्मा आत्मा के द्वारा... भगवान आत्मा अपने निर्विकल्प-रागरहित श्रद्धा-ज्ञान द्वारा परभाव छोड़कर.... यह दया, दान, व्रत के परिणाम बन्ध के कारण हैं, उन्हें छोड़कर – ऐसा जिनवर कहते हैं, तो वह शिवपुर को पाता है, वरना मोक्ष में नहीं जाता; चार गति में भटकेगा। पहले कहा था वह। (गाथा) ३३ में कहा था न ? कि पुण्य से स्वर्ग में, पाप से नरक में, और दोनों को छोड़े तो शिववास में (जाता है)। उस शिववास की यह विशेष व्याख्या की है। कहो, समझ में आया ?

'लाख बात की बात एक निश्चय उर आणो;' छहढाला में आता है या नहीं ? भगवान आत्मा.... उसका निधान चैतन्य रत्नाकर प्रभु आत्मा है, उसमें अनन्त रत्न, आनन्द और शान्ति के भरे हैं। भगवान जाने, उसकी धूल में भरा इसे दिखे और यह दिखे नहीं। कहो, हरिभाई ! पाँच-दस लाख रुपये, पचास लाख हो वहाँ तो आहा...हा... ! मैं चौड़ा गली सँकरी।

मुमुक्षु – कभी देखा न हो तो फिर ऐसा ही होता है न ?

उत्तर – धूल में भी देखा नहीं... पूरी दुनिया दिखे इसमें तेरे बाप को क्या आया ? समझ में आया ? ऐ... मोहनभाई ! अन्य पैसेवाले सब हैं न ? कहते हैं न – वाला है न सब ? कितनेवाला ? पैसेवाला, लड़केवाला, स्त्रीवाला, इज्जतवाला, मकानवाला, अमुकवाला कितने 'वाला' लगे हैं इसे ? एक वाला (विशेष प्रकार का रोग) होवे तो खा जाये, वह आता है न पैर में ? वाला, हैं ? कितने वाला ?

यहाँ तो कहते हैं भगवान रागरहित, देहरहित, मनरहित, वाणीरहित; वाला नहीं यह

तो रहित है। समझ में आया? ऐसे आत्मा की – स्वभाव की आत्मा द्वारा श्रद्धा और स्वभाव की स्थिरता कर। अल्प काल में मुक्ति हो, वह पन्थ मोक्ष का है। बीच में व्यवहार आवे उसे छोड़ता जा, छोड़ता जा; आदर नहीं करता जा, उसकी मदद लेकर आगे बढ़े, ऐसा नहीं – ऐसा कहते हैं, देखा? आहा...हा...! फिर बहुत बात (ली है)। लो, यह ३४ (गाथा पूरी) हुई।

अब, व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान होता है – ऐसा कहते हैं। इस एक की बात की न आत्मा की.... आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है, उसका भान, उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, वह मोक्ष का मार्ग है। अब ऐसे स्थान में इसे भगवान ने छह द्रव्य कहे, छह द्रव्य भगवान ने कहे.... अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश (एक-एक) इनके अन्तर भेद नौ। यह नौ तत्त्व व्यवहाररूप है, उनका इसे ज्ञान करना चाहिए; क्योंकि वीतरागमार्ग के अतिरिक्त ऐसे नौ तत्त्व अन्य में नहीं होते हैं। समझ में आया? देखो, इस गाथा में ऐसा कहते हैं, हाँ! **व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है** अर्थात् होता है। प्रयत्न से, कहा है न? प्रयत्न से जानना। उसका कारण है कि आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय उन छह द्रव्य को जानने की सामर्थ्य रखती है। छह द्रव्य जो भगवान ने कहे – अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु... परमाणु, यह रजकण, पॉइन्ट, यह धूल... इससे असंख्य कालाणु इन सबको (जाने ऐसी) आत्मा के गुण की एक पर्याय सामर्थ्य रखती है। परसन्मुखवाली एक पर्याय सामर्थ्य रखती है। यह इसे पर्याय का ज्ञान यथार्थ होने को इसे नवतत्त्व का ज्ञान यथार्थ होना चाहिए, उनमें से छाँटकर अकेले आत्मा का ज्ञान करे, उसका नाम मोक्षमार्ग है। इसके लिए यह नवतत्त्व की व्याख्या करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

व्यवहार में नौ पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है

छह दव्वइँ जे जिण-कहिय, णव पयत्थ जे तत्त।
विवहारेण य उत्तिया, ते जाणियहि पयत्त॥३५॥

जिन भाषित षट् द्रव्य जो, पदार्थ नव अरु तत्त्व।
कहा इसे व्यवहार से, जानों करि प्रयत्न॥ ३५॥

अन्वयार्थ – **(जिण जे छहदव्वह णव पयत्थ जे तत्त कहिया)** जिनेन्द्र ने जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्व कहे हैं **(ववहारे जिणउत्तिया)** वे सब व्यवहारनय से कहे हैं **(पयत्त ते जाणियहि)** प्रयत्न करके उनको जानना योग्य है।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ३, मंगलवार, दिनाङ्क २१-०६-१९६६
गाथा ३५ से ३८ प्रवचन नं. १४

यह योगसार है। योगसार अर्थात् आत्मा के मोक्ष का उपाय। उसमें सार क्या है ? – यह बताते हैं। समझ में आया ? उसमें ३४ गाथा हो गयी। अब, ३५ वीं।

छह दव्वइँ जे जिण-कहिय, णव पयत्थ जे तत्त।
विवहारेण य उत्तिया, ते जाणियहि पयत्त॥३५॥

क्या कहते हैं ? **जिनेन्द्रदेव ने..... जिण कहिआ** – ऐसा है न ? जिनेन्द्र परमेश्वर ने छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्व कहे हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान, आत्मा में प्रकाशमान हुआ है – ऐसे भगवान ने छह द्रव्य कहे हैं, वे छह वस्तुएँ; उनके नव तत्त्व-पदार्थ और सात तत्त्व, उन्हें व्यवहार से **जिण उत्तिया** – ऐसा शब्द पड़ा है। भगवान ने उन्हें व्यवहार से कहा है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु – अर्थात् नहीं है और कहा है, ऐसा ?

उत्तर – नहीं, और कहा – ऐसा नहीं, वही कहते हैं। व्यवहार से कहा है अर्थात् कि आत्मा से भिन्न हैं और भेदरूप तत्त्व हैं; इस कारण उन्हें व्यवहार से नव तत्त्व आदि कहा गया है। आत्मा निश्चय से तो अभेद अखण्ड आनन्द की मूर्ति है। उसका आश्रय करना और उसकी दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है, वह निश्चय है परन्तु निश्चय में जिसका निषेध होता है, वह चीज़ क्या ? समझ में आया ?

निश्चय आत्मा, निश्चय से तो आत्मा अनन्त शुद्ध गुण का पिण्ड एकरूप वस्तु है, वह सत्य और वह निश्चय है कि जिस आत्मा का अन्तर आश्रय करने से आत्मा को सम्यग्दर्शन और आत्मा का साक्षात्कार होता है, वह तो वस्तु निश्चय (हुई), परन्तु जब निश्चय ऐसा है, तब दूसरा व्यवहार है या नहीं ? ऐसा। फिर वह भगवान ने कहा। कहा न ? **ववहारे जिण उत्तिया** और **जिण कहिआ** छह द्रव्य। ये छह द्रव्य – छह प्रकार के पदार्थ हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, अनन्त परमाणु; पुद्गल और अनन्त जीव, ऐसे एक स्वरूप के निश्चय की अपेक्षा से ये सब छह द्रव्य भेदरूप अथवा अनेकरूप हुए, इसलिए उन्हें व्यवहार कहा गया है। समझ में आया ? यह व्यवहार है। **जिण उत्तिया** वीतराग ने कहा है। यह छह द्रव्य, नौ पदार्थ या नव तत्त्व या सात तत्त्व इनमें से छाँटकर निकालना है तो एक। कौन ? और किसमें से पृथक् पड़ता है ? अजीव, आस्रव, बन्ध से पृथक् पड़ता है और संवर, निर्जरा और मोक्ष तो भेदरूप दशा है। अभेदरूप त्रिकाल कौन ? समझ में आया ? समझ में नहीं आता ?

मुमुक्षु – स्पष्ट समझ में आये – ऐसा है।

उत्तर – ऐसा न ? यह कहते (हैं)। स्पष्ट समझ में आये ऐसा है।

आत्मा निश्चय से तो एकरूप अभेद स्वभाव आत्मा का, वह उसका सत्व और निश्चय.... परन्तु उस निश्चय के अभेद में आना, तब कौन-सा व्यवहार निषेध में गया ? व्यवहार का अभाव हुआ, वह व्यवहार कोई चीज है या नहीं ? तो कहा कि **ववहारे जिण उत्तिया** वीतराग ने छह द्रव्य, नौ तत्त्व, सात तत्त्व पदार्थ आदि भगवान ने कहे हैं, वे व्यवहार से कहे हैं। व्यवहार से कहे का अर्थ कि भेदरूप; एकरूप में से भेदरूप और

एकरूप में से अन्यरूप – ऐसे को भगवान ने व्यवहार कहा है। समझ में आया ? वह व्यवहार नहीं जाने, उसे निश्चय नहीं होता और निश्चय है, वह अभेदस्वरूप है, तब भेद क्या है ? और चैतन्य से अन्य क्या है ? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें ?

भगवान अभेद ज्ञायकमूर्ति, वह निश्चय, वह सत्य – उसकी दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है; तब इससे अन्य अजीव आदि हैं, पुद्गल आदि हैं, वे अन्य हैं, इससे अन्य है। यह अलग, वह अलग – उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा न ? और आत्मा शुद्ध अभेद है, तब उसमें पुण्य-पाप का आस्रवभाव, अटकना बन्धभाव – यह आत्मा से विपरीतरूप भाव अन्य है तो इसका भी ज्ञान करना चाहिए और आत्मा – अभेदस्वरूप की दृष्टि करने से उसमें संवर, निर्जरा और मोक्ष भी एक समय की पर्याय – भेद है। वह भेद **जिण उत्तिया** (अर्थात्) उन्हें वीतराग ने कहा है और वे हैं। समझ में आया ? छह द्रव्य....

मुमुक्षु – प्रयत्नपूर्वक जाने।

उत्तर – प्रयत्नपूर्वक न जाने ? व्यवहार को प्रयत्नपूर्वक नहीं जानना ? प्रयत्नपूर्वक आदर नहीं करना। यहाँ जानने की बात है या नहीं ?

मुमुक्षु – इस व्यवहार को निश्चय नहीं होता – ऐसा तो कहकर कहा।

उत्तर – व्यवहार यह है, तब निश्चय हुआ, ऐसा। निश्चय हुआ अर्थात् ? अभेदपना है, उसमें यह नहीं। तब इसका ज्ञान चाहिए न ? जिससे भिन्न पड़ता हूँ कि अंशरूप मैं नहीं, वह अंशरूप और भिन्न है, वह चीज क्या ? समझ में आया ? इसलिए दो शब्द प्रयोग किये। छह द्रव्य आदि, नव पदार्थ, सात तत्त्व जिन(देव) ने कहे हैं, परन्तु यह जिन (देव) ने व्यवहार कहा है, पुनः ऐसा ले लिया। समझ में आया ? यह निश्चय नहीं है।

हाँ, **जिण उत्तिया** ऐसा कहा, व्यवहार कहा। समझ में आया ?

ते जाणियह पयत्त निश्चय में.... वीतराग ने निश्चय में ऐसा कहा (कि) तेरा एकरूप भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप, अनन्त-अनन्त गुण का एकरूप-ऐसा आत्मा वह निश्चय है – ऐसा जिन(देव) ने कहा है। तब यह व्यवहार जिन ने कहा, वह कैसा ? समझ में आया ? यह छह द्रव्य भलीभाँति जानना चाहिए, क्योंकि ज्ञान की –

आत्मा की ज्ञानदशा की एक पर्याय में यह छह द्रव्य जानने की ताकत है, वह व्यवहार है, वह जानना व्यवहार है और स्व को जानना वह निश्चय है। स्व को जानना, निश्चय तो व्यवहार है या नहीं ? और उसका ज्ञान होना चाहिए या नहीं ? प्रयत्नपूर्वक होना चाहिए या नहीं ? ऐसा कहते हैं।

उन्हें प्रयत्न करके जानना योग्य है। जो छह द्रव्य – धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल – चार अरूपी (द्रव्य); पुद्‌गलरूपी, दूसरे अनन्त जीव भी अरूपी – इन सब छह द्रव्यों को जैसे हैं वैसे, इनके द्रव्य अर्थात् वस्तु इनकी शक्ति, इनकी अवस्थाएँ जैसे हैं वैसे व्यवहार से जानना चाहिए। जब छह द्रव्य कहे तब उसका अर्थ यह हुआ कि छहों द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न हैं। यदि छह द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्र अपने से होती है – ऐसा जो जानना, अभी उसका नाम तो व्यवहार ज्ञान है, व्यवहार है। समझ में आया ? छह द्रव्य है – ऐसा कहने से वे स्वयं द्रव्य, गुण और पर्याय से है। छह वस्तुएँ हैं, वे अपनी वस्तु से है, शक्ति से है, अवस्था से है; उसमें किसी की अवस्था से कोई (होवे) तो वे छह द्रव्य नहीं रहे। समझ में आया ?

जाणियह कहा न ? **जाणियह पयत्त** वस्तु नहीं ? व्यवहार का विषय नहीं ? विषय न हो तो फिर निश्चय नहीं। किसने निषेध किया ? इसमें किसका अभाव हुआ ? या अन्य का अभाव हुआ ? आस्रव और पुण्य-पाप के बन्ध का अभाव हुआ। संवर, निर्जरा, मोक्ष की अभेद पर्याय में उनका अभाव हुआ, अभेद में वह भेद है नहीं। एक अन्य, एक विपरीत और एक भेद... समझ में आया ?

मुमुक्षु – प्रयत्नपूर्वक जानना योग्य है।

उत्तर – जानना; जानना अर्थात् स्वयं स्वतः ज्ञान हो जायेंगे – ऐसा नहीं, यह कहते हैं। जानना कि छह द्रव्य है, शुभविकल्प से यह जानने का प्रयत्न करना। शुभविकल्प है न यहाँ पर ? समझ में आया ? हैं ? सुनना, गुरु उपदेश से सुनना, शास्त्र पढ़ना... समझ में आया ? यहाँ बात तो दूसरी कहनी है कि जगत् में छह वस्तु है, इतनी जो अभी व्यवहार से न जाने तब तो उसका आत्मा निश्चय, अभेद, एकाकार ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड है, (उसे) कैसे जानेगा ? एक पर्याय में छह द्रव्य जानने की ताकत, एक समय की पर्याय

में छह द्रव्य को (जानने की) ताकत... इतना भी जो व्यवहार, यहाँ पर्याय है वह भेद है, छह द्रव्य है, वे अन्य हैं परन्तु इतना व्यवहाररूप से जो न जाने, वह उसका निषेध करके अभेद में किस प्रकार आयेगा ? समझ में आया ? अन्य से पृथक् और एक समय जितना नहीं.... व्यवहार की बातें आवे, वहाँ कठिन पड़ती है। दूसरे निश्चय में ठीक (लगे) और एक गड़बड़ करके निकाल देता है.... परन्तु इसे जानना चाहिए।

छह द्रव्य को **जिण कहिआ** – वीतरागदेव द्वारा कथित है और वे वीतरागदेव कहते हैं कि हमने **ववहारे जिण उत्तिया** नौ के भेदरूप कथन वह व्यवहार है – भगवान ऐसा कहते हैं। वे नौ हैं, इसलिए निश्चय है – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? नौ में जीव आया... जीव कैसा है ? अजीव कैसा है ? ऐसा नौ का ज्ञान... दया, दान, व्रतादि के परिणाम पुण्य हैं; हिंसा, झूठ आदि के परिणाम पाप हैं, इन दो को आश्रव कहते हैं; वस्तु इनमें अटके, इसलिए भावबन्ध कहते हैं। आत्मा में आस्रव और बन्ध से निकलकर स्वभाव की ओर जाने से जो शुद्ध संवर-निर्जरा – शुद्धि की उत्पत्ति, शुद्धि की वृद्धि और शुद्धि की पूर्णता (होती है), वे सभी पर्यायें नवतत्त्व में व्यवहाररूप से आती हैं। भगवान ने उन्हें व्यवहार कहा है। समझ में आया ? लोगों को सूक्ष्म पड़ता है। यह तो व्यवहार आया तो भी सूक्ष्म पड़ता है। लो !

व्यवहारनय से कहे हैं। ये नौ हैं, वे निश्चय से नहीं; निश्चय से अर्थात् नहीं ऐसा नहीं परन्तु है, परन्तु वे भेदरूप हैं, अन्यरूप हैं, इसलिए उन्हें भगवान ने व्यवहार कहा है। समझ में आया ? इन्होंने तो बहुत विस्तार किया है। **पर का आश्रय लेकर आत्मा का कथन व्यवहारनय से ही किया जाता है**। है इसमें.... समझे न ?

मुमुक्षु – व्यवहार वस्तु नहीं।

उत्तर – वस्तु नहीं – ऐसा होता है ? व्यवहार नहीं ? व्यवहारनय तो जाननेवाला है, तो उसका विषय नहीं ?

भगवान आत्मा एक समय में अभेद पूर्णस्वरूप, वह अपना निजतत्त्व अखण्ड है, उसे यहाँ निश्चय कहते हैं, तब निश्चय की अपेक्षा से उसकी निर्मल अवस्थाओं के भेद पड़ें, शुद्धि, वृद्धि, और पूर्ण, वह भी व्यवहार है। **जिण उत्तिया ववहार** वीतराग ने उसे

व्यवहार कहा है। आहा...हा...! समझ में आया? संवर कैसे होता है? शुद्धि अंश कैसे उत्पन्न होता है? शुद्धि की वृद्धि कैसे होती है? और पूर्णता (कैसे होती है)? यह सब दशायें हैं, ये सब दशायें व्यवहार में जाती हैं। चौदह गुणस्थान व्यवहार में जाते हैं। समझ में आया? अकेला अभेद का – निश्चय का कथन था ठीक, वह ठीक रहे.... परन्तु यह व्यवहार है या नहीं। इसकी समय की पर्याय है या नहीं? उस अभेदनिश्चय में तो पर्याय भी वहाँ तो नहीं आयी। समझ में आया?

एकरूप भगवान आत्मा निश्चयस्वरूप से एकरूप है। व्यवहार से उसे गिनो तो उसकी अवस्थाओं के प्रकार, निर्मल अवस्था के प्रकार, मलिन अवस्था के प्रकार और अन्य द्रव्य के प्रकार – यह सब इसे व्यवहार के प्रयत्न से भलीभाँति जानना चाहिए। आदर करने की बात का यहाँ प्रश्न नहीं है। ज्ञान करने योग्य है या नहीं? व्यवहारनय के विषय का ज्ञान करने योग्य है या नहीं?

मुमुक्षु – आदर करने योग्य नहीं तो फिर ज्ञान करने से क्या फायदा?

उत्तर – समझे बिना? खाये बिना, बेस्वाद कर दिया?

यह जाने तो सही कि यह भगवान आत्मा एकरूप चिदानन्द अभेद है तो इसमें संवर-निर्जरा और मोक्ष की दशा.... मोक्ष भले ही सादि-अनन्त (रहे) परन्तु एक भेद है न? भेद है उसे **जिण उत्तिया ववहार**। भगवान ने उसे व्यवहार कहा है तो उसे भलीभाँति जानना चाहिए। आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप को भगवान ने व्यवहार कहा है। भेद है न? मलिन है, उसे जानना चाहिए। वैसे ही इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरे अनन्त आत्मायें हैं, उनके अतिरिक्त यह अनन्त कर्म है या नहीं? (वह) जो निश्चय में अभेद में हुआ, शुद्ध में दृष्टि (गयी), तब अशुद्ध है या नहीं? अशुद्ध का ज्ञान चाहिए या नहीं इसे? अशुद्ध है तो अशुद्ध में परचीज कर्म आदि निमित्त है या नहीं? वह परद्रव्य है, उसका ज्ञान करना चाहिए। समझ में आया?

यहाँ तो अपने अधिक विशिष्टता कहनी है कि **ववहारे जिण उत्तिया** – ऐसा यहाँ अधिक वजन है। इस श्लोक में यह नौ, सात या छह (परन्तु) भगवान ने व्यवहार से उन्हें कहा है। उसका अर्थ कि भगवान ने निश्चय से यह दूसरा कहा है। समझ में

आया ? वह है, इसलिए उसे निश्चय कहा है। है इसलिए निश्चय है, वह अलग... परन्तु जिसमें प्रयोजन सिद्ध करने के लिए आत्मा अभेद है, वह निश्चय है और यह सब भेद, उन्हें वीतराग ने व्यवहार कहा है। वीतराग परमेश्वर ने उन्हें व्यवहार कहा है; अत: उन्हें जानना चाहिए।

ववहारे जिण उत्तिया समझ में आया ? वजन यहाँ है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने (कहे ऐसे) जगत् में छह द्रव्य हैं, अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, आकाश, इन छह द्रव्यों का ज्ञान करना चाहिए। यह छह द्रव्य व्यवहार से जिन भगवान ने कहे हैं, क्योंकि इनमें निश्चय तो एकरूप आत्मा निकालना, उसे निश्चय कहते हैं। समझ में आया ? कहो, प्रवीणभाई ! व्यवहार खोटा है, अर्थात् आश्रय करने योग्य नहीं, त्रिकाल रहनेवाला नहीं, प्रयोजन में उसका आश्रय करने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता – ऐसी बात (कहनी है) परन्तु वस्तु नहीं ? समझ में आया या नहीं ? नव तत्त्व, छह द्रव्य और नौ तत्त्व – जीव, अजीव, आस्रव, पुण्य-पाप, संवर, निर्जरा, बन्ध, ये नौ हैं, उन्हें भगवान ने व्यवहार कहा है। नौ को भगवान ने व्यवहार कहा है, उसमें से एकरूप आत्मा का आश्रय करना, वह निश्चय है। आहा...हा... ! समझ में आया ? और सात तत्त्व, लो ! इन सात में वे पुण्य-पाप आस्रव में मिल जाते हैं। ये सातों कहे, उन्हें भगवान ने व्यवहार कहा है। नौ तत्त्व को या सात पदार्थ को अथवा सात तत्त्व को या नौ पदार्थ को व्यवहार कहा है, क्योंकि व्यवहार अर्थात् भेदरूप, अन्यरूप। समझ में आया ? ओ...हो... !

यह वस्तु है। योगसार है न ? अर्थात् आत्मा एक स्वभाव अन्तर अखण्ड है, उसका आश्रय करना निश्चय वस्तु है, वह प्रयोजन सिद्ध होने में वस्तु है परन्तु वह सिद्ध होना कब ? कहते हैं, दूसरी कोई चीज निषेध करने योग्य का ज्ञान किया है या नहीं ? तो कहते हैं सात का ज्ञान, नौ का ज्ञान, छह का ज्ञान भगवान ने उसे व्यवहार कहा है। समझ में आया ? इसलिए व्यवहार से भलीभाँति छह द्रव्य को जानना चाहिए। यह सर्वज्ञ के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं होते हैं। वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी के अतिरिक्त छह द्रव्य अन्य में कहीं नहीं होते हैं। तब वे छह द्रव्य और छह द्रव्य को जाननेवाली ज्ञान की एक समय की

पर्याय इतना आत्मा एक समय की सामर्थ्यवाला.... ऐसा अन्य दर्शन में कहीं नहीं होता। समझ में आया ? और एक समय में छह द्रव्य ज्ञात हों, तथापि छह द्रव्य का निषेध, एक समय की पर्याय जाने उनका निषेध। आहा...हा... ! समझ में आया ?

एक समय में भगवान पूर्णानन्द प्रभु अभेद निश्चय का आश्रय, वह निश्चय कहा जाता है, वह सत्यदृष्टि कहलाती है। व्यवहार का ज्ञान करने योग्य है; व्यवहार आश्रय करने योग्य नहीं है। भेद का संवर, निर्जरा, मोक्ष का आस्रवतत्त्व, पुण्य -पाप का या अजीव का आश्रय करने योग्य नहीं है परन्तु उन्हें जानने योग्य है। कहो, समझ में आया ?

इन्होंने (अर्थ करनेवाले ने) तो पहले कहा है कि साधक को पहले जानना चाहिए। शास्त्र कितने – ऐसा कहा सब। गोम्मटसार में कहा है देखो ! कि **छह द्रव्य, पंचास्तिकाय.... अत्थाणं जिणवरावइट्ठाणं** भगवान द्वारा कथित उन्हें। देखो ! **आणाए अहिगमेण** भगवान की आज्ञा से छह द्रव्य जानना। **अहिगमेण** और अपने ज्ञान से, युक्ति से जानना। एक-एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। इन्होंने स्पष्ट कहा है। दूसरे कहें इसे समकित कहना। यह कहे कि व्यवहार है। यह बात सत्य है। समझ में आया ?

इस श्लोक में आया या नहीं ? **ववहारे जिण उत्तिया** छह द्रव्य की श्रद्धा, व्यवहार है; नव तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहार है; नव तत्त्व और छह द्रव्य का ज्ञान, वह व्यवहार है, फिर उसके साथ लागू करना चाहिए न ? उसमें है वह, उसका अर्थ कि भेदवाला है या नहीं ? भेद है या नहीं ? छह द्रव्य पंचास्तिकाय... समझ में आया ? फिर इतने की स्वयं साधारण व्याख्या की है।

कहते हैं कि निश्चय से देखें तो भगवान पूरा निर्मलानन्द पर से पृथक् दिखता है, और निश्चय से देखें तो एक-एक रजकण भी पर के सम्बन्ध से रहित द्रव्य.... परमाणु पृथक् दिखता है। समझ में आया ? पृथक् दिखता है का अर्थ कि अभेद की दृष्टि होने पर परमाणु भी पृथक् द्रव्य है – ऐसा इसे ज्ञान में आता है। समझ में आया ? यह ३५ वीं गाथा (पूरी) हुई। अपने को यहाँ सार-सार लेना है न ? पाठ के भाव में से... बाकी सब बहुत लिखा है।

प्रश्न – कितना ही तो मिलन बिना का।

उत्तर – इसलिए पूरा कहाँ पढ़ते हैं ?

मुमुक्षु – यह सब जानने का प्रयत्न न करे और भगवान को सिर पर धार ले तो ?

उत्तर - उसमें कौन भगवान चले ? उसका लेकर आये हैं यह – वहाँ ऐसा कहते हैं – 'ढींग घणि माथे कियो रे कौण गंजे नर खेत', परन्तु भगवान सिर पर किसलिए अलग ? सर्वज्ञ परमात्मा दूसरे देवों से, दूसरे गुरु से, दूसरे तत्त्वों से इस तत्त्व का स्वरूप सच्चा कहनेवाले हैं – ऐसा पृथक् क्यों किया ? हैं ? ये भिन्न क्यों कहलाये ? कि दूसरे की अपेक्षा इनका अलग.... दूसरे ऐसा कहते हैं, दूसरे भेद से कहते हैं, अकेले को कहते हैं। सात तत्त्वसहित, निश्चयसहित के व्यवहार को कहते हैं – ऐसे भगवान का ज्ञान मिलानवाला रहे बिना भगवान सिर पर धारे नहीं जा सकते। कौन मालिक ? तुझे ऐसा है कुछ ? भगवान अकेले धार तो वे छह द्रव्य में आते हैं – ऐसा कहते हैं, लो ! भगवान भी तूने यदि (धारे हों तो वे व्यवहार से हैं) । **जिण उत्तिया ववहारे** यह भगवान जगत् में हैं, देव-गुरु-शास्त्र हैं। उनका ज्ञान व्यवहार से ज्ञान है, निश्चय से नहीं। समझ में आया ?

निश्चय में तो स्व चैतन्यमूर्ति भगवान अखण्डानन्द प्रभु पूर्ण शुद्ध एकरूप चैतन्य है, उसका आश्रय करके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसे यहाँ निश्चय कहा जाता है। निश्चय में कहीं सत्य फल आना चाहिए। व्यवहार में जानने का आता है, उसमें क्या ? राग आवे, उसमें कुछ सत्यफल नहीं आता। समझ में आया ? ऐसी बहुत न्याय से बात रखी है। भाषा कैसी कही ? यह छह द्रव्य का कथन भगवान ने कहा है, उसे भगवान ने व्यवहार कहा है, हाँ ! भगवान ने यह कहा और भगवान ने इसे व्यवहार कहा, हैं ? अन्य गड़बड़ करते हैं न ? भाई ! दूसरे.... इसमें से गोम्मटसार का अर्थ भी मिथ्या निकालते हैं। ऐसा होता है ? निकालते हैं न, पता है न। यह लिखा उसमें... यह तो भेदवाली बात है।

एकरूप भगवान आत्मा निर्विकल्प वस्तु, आत्मा निर्विकल्प है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा का अन्तर आश्रय निर्विकल्प दृष्टि से करे, तब उसे निश्चय कहा जाता है। यह सब व्यवहार है, व्यवहार जानने योग्य है, उसका ज्ञान करने योग्य है, वहाँ खड़े रहने योग्य नहीं है।

☆ ★ ☆

सब पदार्थों में चेतनेवाला एक जीव ही है

सव्व अचेयण जाणि जिय, एक्क सचेयणु सारु।
जो जाणेविणु परम-मुणि, लहु पावइ भवपारु ॥३६॥

शेष अचेतन सर्व हैं, जीव सचेतन सार।
मुनिवर जिनको जानके, शीघ्र हुये भवपार॥ ३६॥

अन्वयार्थ – **(सव्व अचेयण जाणि)** पुद्गलादि सर्व पाँचों द्रव्यों को अचेतन या जड़ जानो **(एक्क जिय सचेयण सारू)** एक अकेला जीव ही सचेतन है, व सारभूत परम पदार्थ है **(परम मुणि जो जाणेविण लहु भवपारू पावइ)** जिस जीव तत्त्व को अनुभव करके परम मुनि शीघ्र ही संसार से पार हो जाते हैं।

☆ ★ ☆

सब पदार्थों में चेतनेवाला एक जीव ही है। लो निकाला इसमें से।

सव्व अचेयण जाणि जिय, एक्क सचेयणु सारु।
जो जाणेविणु परम-मुणि, लहु पावइ भवपारु ॥३६॥

भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर कहते हैं कि हे जीव! **पुद्गल आदि सर्व पाँचों ही द्रव्यों को....** एक परमाणु धर्मास्ति-अधर्मास्ति, आकाश, काल – ये सब अचेतन हैं। समझ में आया? यह शरीर, अन्दर कर्म, यह वाणी, यह सब अचेतन है-जड़ है; इनमें चैतन्यभाव नहीं है। चैतन्यभाव सर्वज्ञ प्रभु आत्मा में है, जिसमें चैतन्यभाव है, वह सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। समझ में आया? **सव्व अचेयण जाणि** भगवान आत्मा के अतिरिक्त कर्म के रजकण, शरीर, वाणी, यह दाल, भात, सब्जी, मकान, सब जड़ अचेतन हैं। इनमें चैतन्य का अस्तित्व नहीं है। **और इनसे बने हुए पदार्थों को अचेतन अथवा जड़ जानो।**

एक्क जिय सचेयण सारु भगवान आत्मा सचेतन है। देखो, उस व्यवहार का ज्ञान कराया। अब, जिसमें चेतनपना भरा है, चेतनपना भरा है अर्थात् जिसमें ज्ञ-स्वभाव

भरा है, अर्थात् जिसने सर्वज्ञस्वभाव भरा है, वह एक ही यह आत्मा है। समझ में आया? यह क्या कहा? वे सब हैं, उन्हें जाननेवाला ज्ञान, पर्याय का है परन्तु उसे पूरा आत्मा जानने की ताकत जिसमें सर्वज्ञपद पड़ा है, वह सबको जानता है। वे (सब) अचेतन हैं परन्तु उन्हें जाने, वह ज्ञान की दशा है परन्तु वह ज्ञानदशा, ऐसी अनन्त ज्ञानदशा का चैतन्य पिण्ड अकेला आत्मा है, वह सचेतन, सचेतन सर्वज्ञ आत्मा है, उसे तू आत्मा जान।

दूसरा क्या लक्ष्य में आया कि – आत्मा के अतिरिक्त जो समस्त हैं, दूसरे सब सचेतन, अन्य आत्माएँ भले दूसरे हों परन्तु तेरे लिए सचेतन नहीं हैं। तेरे अतिरिक्त के सब यह चैतन्य उनमें कहीं नहीं है। समझ में आया? यह एक चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, समस्त जीव को चैतन्यस्वरूप को देखो तो भी वह जीव जाननेवाला सर्वज्ञस्वभाव है – ऐसा इसे दृष्टि में आयेगा। सबमें ज्ञान नहीं है और सबका जिसे ज्ञान है – ऐसा आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी है। क्या कहा? सबमें ज्ञान नहीं है... पाँच जड़, परमाणु, शरीर, यह तो सब मिट्टी, धूल है। इनमें सबमें – अनन्त परमाणु, अनन्त आत्मा की संख्या से अनन्त परमाणु (है).... असंख्य कालाणु इन सबमें ज्ञान नहीं है। तब इन सबको जाननेवाला है, वह चैतन्यस्वभावी, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है, उसे आत्मा जान – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? एक सचेतन.... **सारु** शब्द लिखा है न फिर? सारभूत परमपदार्थ भगवान आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो भाई! योगसार है। स्वरूप की एकता करना, उसका सार स्वरूप क्या – उसकी बात है? समझ में आया?

भगवान आत्मा कहते हैं, कि जो इसमें चैतन्यस्वभाव, चैतन्यस्वभाव है, वह सार है। वापस.... वह सार है। समझ में आया? दूसरे में वह कुछ है नहीं। अनन्त परमाणु, पुद्गल जड़, मिट्टी, धूल, अनन्त गुणे पदार्थ एक जीव से जड़ बहुत-अनन्तगुने.... अनन्तगुने.... अनन्तगुने तीन काल के समय अनन्तगुने... यह सब जड़ है। समझ में आया? क्षेत्र, आकाश, सब जड़ है। बड़ा-बड़ा लम्बा क्षेत्र... काल ऐसा लम्बा, जड़ है। पुद्गल की संख्या अनन्त, वह सब जड़ है। ये सब जड़ हैं, अचेतन हैं, तब इन सब जड़ को, तीन काल के कालरूपी जड़ को और अनन्त आकाश ऐसे जड़ को जाननेवाला यह चैतन्य, वह सर्वज्ञ सारस्वरूप है। समझ में आया?

'सव्व अचेयण जाणि' देखो! **'जाणि'** लिया है न? **'सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु'** आहा...हा...! आचार्यों के कथन हैं। पेट में अन्दर इतना भरा है न? **'सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु'** इन सबको जान, यह भी नहीं परन्तु यह सचेतन सार, यह सार है। समझ में आया? एक भगवान जीव ही सचेतन है, जानने-देखनेवाला है। देखो! जीव रागवाला है या पुण्यवाला है या आस्रववाला है, वह जीव नहीं। समझ में आया? इन सबको जाननेवाला (है – ऐसा कहना), वह भी व्यवहार हो गया, भाई! आहा...हा...!

इस प्रकार सब अचेतन, काल, क्षेत्र, द्रव्य-अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, त्रिकाल काल, पुण्य-पाप, अचेतन सब भाव, सब अचेतन को जान और जाननेवाला एक चैतन्यसार है – ऐसा जान। समझ में आया? आहा...हा...! यह तो मुनियों की अन्दर बहुत मस्ती की वाणी है। थोड़े में बहुत भरा है परन्तु इसकी टीका नहीं मिलती। टीका होवे तब हो न! समझे न! **'सव्व अचेयण जाणि जिय एक्क सचेयण सारु'** आहा...हा...! एक जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... सार है। ऐसे आत्मा को जान तो तेरा कल्याण होगा, इसके अतिरिक्त तेरा कल्याण नहीं है।

जो जाणेविणि पमममुणि इस जीवतत्त्व का अनुभव करके... जानकर अर्थात् अनुभव करना। **जो जाणेविणि पमममुणि** इस भगवान आत्मा से अन्य अचेतन, इन्हें जान और जाननेवाले को सार जान, सार जान। अकेला सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा है। चैतन्यस्वभाव, चैतन्यस्वभाव.... जड़ में चैतन्य का अंश बिल्कुल नहीं है। तब यह चैतन्यस्वभाव परिपूर्ण स्वभाव से भरपूर चैतन्यसार, कहते हैं। **जाणेविण** आत्मा ज्ञानानन्द का अनुभव करके, हे आत्माओं! परम मुनि **लहु पावइ भवपारु** अल्प काल में सन्त, भव का पार पा जाते हैं। आहा...हा...!

जाणेविण इसका अनुभव करके.... भगवान आत्मा वस्तु है, उसे जानना। यह व्यवहार कहा, यह सार चैतन्य इसे जानना अर्थात् अनुभव करना.... इसके अनुभव द्वारा परम सन्त भव का पार पा गये हैं। संसार का अन्त लाने का, भगवान आत्मा के स्वरूप का अन्तर्मुख अनुभव करना, यही भव का पार लाने का उपाय है। कहो, समझ में आया?

इसलिए बीच में ऐसा भी कह दिया कि बीच में कुछ पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत के विकल्प आवें वे कहीं मुक्ति का उपाय नहीं है, भवपार का उपाय नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह नजर से दिखता है न! आँखें उघाड़े तो दिखता है या उघाड़े बिना दिखता है? सोने के नरिया हुआ, कहे। लो! सबेरे आठ बजे... ए... देखो! सोने के नरिया हुआ। बिस्तर में एक गद्दा उसमें तीन कम्बल ओढ़े, आँख को चिपका लगे देखो! नरिया सोने का हुआ, सूरज उगा... ऐसा। किस प्रकार देखना? नजर से दिखता हो तो ठीक (तब तो) माने परन्तु आँख उघाड़े तो दिखे या आँख उघाड़े बिना? समझ में आया? आहा...हा...! यह भगवान चैतन्यसूर्य आत्मा है, यह देह में विराजमान आत्मा, यह चैतन्यसूर्य है। इसलिए चैतन्यसूर्य-सचेतन में दूसरा फिर अचेतनपना न जाने – ऐसा नहीं आता। ऐसा सर्वज्ञ भगवान आत्मा का अनुभव करके अल्प काल में मुनि, मोक्ष प्राप्त करते हैं।

इन्होंने दृष्टान्त दिया है। **जैसे शक्कर और अनाज एकत्रित करके नौ (प्रकार की) मिठाई बनायी जाती है....** ऐसा दृष्टान्त दिया है, है न? जैसे शक्कर को आहार के साथ मिलाकर नौ प्रकार की मिठाई बनावे उसी में नीचे है, भाई! ३६ गाथा चलती है उसके नीचे। एक शक्कर के साथ नौ (मिठाई) बनावे **तो भी उसमें शक्कर को देखनेवाला पुरुष शक्कर को अलग देखता है**। हमने तो नमक का दृष्टान्त दिया है, यह शक्कर का ठीक है। शक्कर डाल-डालकर नौ मिठाई बनावे, नौ मिठाई करे परन्तु शक्कर को देखनेवाला शक्कर... शक्कर... शक्कर देखता है, वह शक्कर ही देखता है। उसमें चने का आटा हो, गेहूँ का आटा हो, अमुक हो, वह नहीं। शक्कर... शक्कर... शक्कर... शक्कर... शक्कर। इसी प्रकार पूरी दुनिया में जहाँ देखे तो चैतन्य... चैतन्य... चैतन्य... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला.... वह मैं। ज्ञात हो जाये दूसरी वस्तु तो क्या? मैं तो जाननेवाला हूँ। जड़ का ज्ञान, संवर का ज्ञान, निर्जरा का ज्ञान, मोक्ष का ज्ञान, दूसरे जीव का ज्ञान, अजीव का (ज्ञान) परन्तु ज्ञान... ज्ञान वह मैं हूँ। समझ में आया? बातों को पकड़ना कठिन पड़ता है। मूल बात कभी सुनी नहीं, अनन्त काल से ऊपर का ऊपर चला गया है। मूल चीज क्या है? उसे पकड़ने का कभी प्रयत्न नहीं किया

है। ऐसे का ऐसा चला गया है मुट्ठी बाँधकर... कुछ धर्म करते हैं, सामायिक किया और प्रौषध किया, प्रतिक्रमण किया यात्रा कर आये.... क्या है ? धूल भी नहीं वहाँ, सुन न! भगवान आत्मा एक समय में सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की दृष्टि और अनुभव न करे, तब तक उसे किञ्चित् धर्म नहीं होता। समझ में आया ? आहा...हा...!

फिर सब लम्बी-लम्बी बातें की हैं। फिर थोड़ा डाला है **वज्रवृषभनाराचसंहनन होना जरूरी है, उसके बिना....** ऐसा वीर्य प्रगट नहीं होता। फिर लकड़ी घुसाई है (विपरीतता) १५८ पृष्ठ पर है। यहाँ तो कहते हैं, इस भगवान आत्मा में.... देखो! बाह्य चारित्र तो निमित्तमात्र है। नीचे है १५८ में। यह दया, दान, व्रत, भक्ति तो बाह्य निमित्तमात्र है। **शुद्ध अनुभवरूप परम सामायिक अथवा यथाख्यातचारित्र उपादानकारण है।** भगवान आत्मा के आनन्दस्वभाव का अनुभव करना, वह मूल उपादान है। यह ३६ गाथा हुई। चलो।

☆ ★ ☆

व्यवहार का मोह त्यागना जरूरी है

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि, छंडिवि सहु ववहारु।
जिण-सामिउ एमइ भणइ, लहु पावइ भवपारु ॥३७॥

शुद्धातम यदि अनुभवो, तजकर सब व्यवहार।
जिन परमातम यह कहें, शीघ्र होय भवपार॥ ३७॥

अन्वयार्थ – **(जिणसामिउ एहउ भणइ)** जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं **(जइ सहु ववहारूछंडवि णिम्मलु अप्पा मुणहि)** यदि तू सर्व व्यवहार छोड़कर निर्मल आत्मा का अनुभव करेगा **(लहु भवपारूपावहु)** तो शीघ्र भव से पार होगा।

☆ ★ ☆

३७। **व्यवहार का मोह त्यागना जरूरी है।** देखा ? वहाँ (३५ गाथा में) कहा था कि **ववहार उत्तिया** समझे न ? उसे जानना (ऐसा कहा), यहाँ छोड़ने की बात करते हैं।

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि, छंडिवि सहु ववहारु।
जिण-सामिउ एमइ भणइ, लहु पावइ भवपारु ॥३७॥

ऐसे शब्द बहुत आते हैं। शीघ्र... शीघ्र... शीघ्र... शीघ्र... मोक्ष... मोक्ष... मोक्ष... आहा...हा... ! **जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि** क्या कहते हैं ? **जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते हैं....** जिनस्वामी ऐसा कहा, जिनस्वामी ऐसा कहते हैं। जिनेश्वर त्रिलोक के नाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव की वाणी में हुकम आया है। आहा...हा... ! **जिणसामी एमइ भणई** यह तीन लोक के नाथ परमेश्वर समवसरण में ऐसा हुकम, आज्ञा करते थे। क्या ?

जइ सहुववहारु छंडवि णिम्मलु अप्पामुणहि इस व्यवहार का ज्ञान करना – (ऐसा) जो हमने कहा, व्यवहार है उसे जानना, परन्तु उसकी दृष्टि छोड़। व्यवहार को छोड़ और एक आत्मा का आश्रय कर – ऐसा जिन स्वामी का हुकम है। समझ में आया ? यह सब अभी विवाद उठा है। वे कहते हैं व्यवहार से होता है। अरे ! सुन न व्यवहार छोड़ने की भगवान की आज्ञा है। अधिक लोगों की संख्या है न चीटिंयों जैसी बड़ी। आहा...हा... !

जिणसामी एमइ भणई आहा...हा... ! यह वीतरागरूपी सिंह, वीतराग के सिंह की दहाड़ जैसी वाणी आयी है कि सिंहनाद आया, देखो ! कहते हैं। **जइ सहुववहारु छंडवि** ऐसा **जई** वापस, हाँ ! **जई** अर्थात् यदि तू सर्व व्यवहार को छोड़ेगा – ऐसा कहते हैं। व्यवहार है, रागादि, पुण्यादि, निमित्तादि हो परन्तु जब **तू व्यवहार को छोड़कर निर्मल आत्मा का अनुभव करेगा....** भगवान आत्मा चैतन्य प्रभु का अन्तर में एकाग्रता का आत्म-अनुभव करेगा... यदि व्यवहार छोड़ेगा, अनुभव करेगा तो मुक्ति होगी। जब व्यवहार छोड़ेगा तब। तू कहता है व्यवहार... कुछ व्यवहार अरे ! सुन न ! समझ में आया ?

तो शीघ्र भव से पार हो जायेगा। भगवान की आज्ञा है, भगवान ने आज्ञा का उपदेश कहा, निर्मल आत्मा का अनुभव करो। **यह अनुभव तभी होता है जब सर्व पर के आश्रयरूप व्यवहार का मोह त्यागा जाए।** लो, यह ठीक है। **पर पदार्थ का परमाणुमात्र भी हितकारी नहीं है। व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान**

-चारित्र का जितना विषय है, वह सब छोड़ने योग्य है। समझ में आया? इस गाथा का नीचे अर्थ है। व्यवहारधर्म – दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह व्यवहार धर्म-पुण्य है। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र... व्यवहार सम्यग्दर्शन (अर्थात्) नव तत्त्व की श्रद्धा, भेदवाली श्रद्धा, भगवान की श्रद्धा, व्यवहार सम्यग्दर्शन; शास्त्र का ज्ञान व्यवहार ज्ञान; पंच महाव्रत का परिणाम व्यवहारचारित्र और इनका जो विषय, वह सब त्यागने योग्य है। समझ में आया? है न? पाठ में है या नहीं?

सहुववहारु छंडवि सर्व व्यवहार, ऐसा इसमें शब्द पड़ा है न? सर्व व्यवहार में तो बहुत सूक्ष्म बात ली है। परवस्तु छूटी, राग छोड़। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का विकल्प छोड़, यह गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी छोड़... यह सब व्यवहार है। **जइ** और **सहु** दो शब्द पड़े हैं न? अद्भुत लिखा है, हाँ! आहा...हा...! **सम्यग्दृष्टि चाहे गृहस्थ हो या साधु हो, केवल अपने शुद्धात्मा को ही अपना हितकारी जानता है। शेष सर्व को त्यागनेयोग्य परिग्रह जानता है।** कहो, इसमें समझ में आया? यह परिग्रह है न?

सर्व कार्य को व्यवहारधर्म जानकर छोड़ने योग्य समझता है क्योंकि व्यवहार के साथ राग करना, कर्मबन्ध का कारण है। ठीक! फिर, देखो! वहाँ तक लिया... **सिद्धों का ध्यान करता है तो भी सिद्धों को पर मानकर उनका ध्यान भी छोड़ने योग्य है – ऐसा जानता है।** सर्व शब्द पड़ा है न? भगवान सिद्ध समान हूँ, सिद्ध भगवान जैसा (हूँ) यह भी एक विकल्प है। हैं?

मुमुक्षु – बहुत जानने की गाथा है।

उत्तर – बहुत पकड़ने की गाथा है। सर्व शब्द पड़ा है, इसलिए फिर उसका स्पष्टीकरण होना चाहिए न? जितने व्यवहार के भेद वे सब छोड़ने योग्य हैं, उनका – व्यवहार का कोई अंश आश्रय करने योग्य नहीं है। फिर निमित्त हो, दया, दान के परिणाम हों, एक समय की अवस्थारूप भेद हो, गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो, कोई भी विचार आदि हो, वे सब छोड़ने योग्य हैं। तब अन्तर आत्मा की दृष्टि और अनुभव हो सकेगा – ऐसा भगवान का फरमान है। इस आज्ञा से विरुद्ध माननेवाले को भगवान की आज्ञा की

श्रद्धा नहीं है। भगवान के उपदेश की श्रद्धा नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें ? वैसे तो कहे, हे भगवान! तुमने भी यह कहा क्या यह तो तुम्हें पता नहीं। उन्होंने यह कहा है कि व्यवहार छोड़कर निश्चय आदर! – यह उनकी आज्ञा और उपदेश है। बारह अंग और चौदह पूर्व के कथन का सार – मक्खन यह है। बारह अंग और नौ पूर्व का अन्तरंग सार यह है।

भगवान आत्मा एक समय में अनन्त आनन्द का कन्द प्रभु है, उसका अन्तर आश्रय करके अनुभव कर। जितना व्यवहार है, जब तक अन्दर व्यवहार का विकल्प रहेगा, तब तक अन्तर अनुभव नहीं हो सकेगा। ऐसी भगवान की आज्ञा और उपदेश है। जब तक तेरा (लक्ष्य) भेद पर, राग पर, निमित्त पर इत्यादि गुण-गुणी के विचार पर लक्ष्य रहेगा, तब तक भगवान की आज्ञा है, और वैसा स्वरूप है। भगवान की आज्ञा है और ऐसा वह स्वरूप है कि जब तक ऐसे व्यवहार का लक्ष्य रहेगा, तब तक निश्चय में – अन्तर में नहीं जाया जा सकेगा – ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसी भगवान की आज्ञा है। कितना कहा ? कितना कहा ? अनन्त गुना पक्का है यह। ठीक, यह पुराने लोग इसलिए जरा अन्दर डाला करते हैं। देखो,

सिद्धों का ध्यान करता है तो भी सिद्धों को पर मान कर उनके ध्यान को भी त्यागने योग्य जानता है, क्योंकि वहाँ भी शुभ का अंश है। (और तो क्या) गुणगुणी भेद का विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागने योग्य है, क्योंकि इस विचार में विकल्प है, जहाँ विकल्प है, वहाँ शुद्धभाव नहीं। आहा...हा... ! **यद्यपि इस विचार का आलम्बन दूसरे शुक्लध्यान तक है तथापि सम्यग्दृष्टि इस आलम्बन को भी त्यागने योग्य जानता है।** ठीक किया है। आता है न ? अवलम्बन आवे, बयालीस भेद आदि परन्तु वह त्यागने योग्य है। अन्तर में यह आदरने योग्य है – ऐसा कहते हैं। भेद पड़ा इसलिए वह ध्यान है – ऐसा नहीं। अवलम्बन छुड़ाया, निमित्त छोड़ने योग्य है, अन्दर में स्वभाव तरफ की अभेदता में, एकरूपता में जाना वह आज्ञा है, और वस्तु भी ऐसी है। ऐसे भेद से किसी प्रकार अन्तर पकड़ा नहीं जा सकेगा। यह चीज ऐसी है, इसलिए भगवान की आज्ञा ऐसी है कि अन्तर स्वभाव का आश्रय करके

अनुभव करो, यह अनुभव एक ही मोक्ष का मार्ग है। कहो, समझ में आया? फिर दूसरा थोड़ा सा डाला है।

सम्यक्दृष्टि के देव-गुरु-शास्त्र, घर, उपवन सब ही एक अपना ही शुद्धात्मा है.... क्या कहा? इस धर्मी जीव का देव आत्मा... लो! क्या? धर्मी जीव का गुरु यह आत्मा... उसका शास्त्र भी यह आत्मा... देव-गुरु-शास्त्र पर है न? व्यवहार से भिन्न किया। पर है अवश्य न? यह घर आत्मा.... इस आत्मा का घर अन्दर आत्मा... यह घर-बर कैसा? शरीर, वाणी, मन तो कहीं रह गये, वे तो धूल हैं। बाहर के मिट्टी के घर तो कहीं रह गये, वे तो जड़ के घर थे। यह मांस का पुतला... यह कहाँ आत्मा का घर है? भगवान सच्चिदानन्द प्रभु 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' ऐसा आत्मा, उसका घर अन्दर आत्मा है, आहा...हा...! ऐसा भगवान का फरमान है। कहो, यह तुम्हारे २२-२२ मंजिल के मकान, यह घर नहीं, कहते है। हैरान होकर चला जायेगा। हैं? आहा...हा...!

उपवन... आहा...हा...! कहते हैं कि लोग घूमने जाते हैं न? उपवन, वन में... धर्मी का उपवन कौन? आत्मा उपवन है। घूमकर वहाँ हृदय जाता है, आहा...हा...! बाग -बगीचे में घूमते हैं न? मुम्बई में क्या कहते हैं? हैंगिंग गार्डन.... हवा इतनी ठण्डी थी, हम गये तब। वहाँ तो सर्दी हो गयी थी। यह कहते हैं कि वहाँ क्या है? हमें तो प्रात: घूमने जाना है। धूल में भी नहीं, कहते हैं। आत्मा उपवन है। आहा...हा...! समझ में आया?

सब ही एक अपना ही शुद्धात्मा है.... शुद्धात्मा, हाँ! अशुद्ध पर्याय, रागादि, निमित्त आदि सब छोड़ने योग्य है। **वही आसन है....** देखो, यह आसन लगाओ, अच्छा आसन ढूँढकर... यह आसन आत्मा है, भाई! अच्छा आसन लगाओ। किसका? जड़ का? वह तो मिट्टी है अन्दर आसन ज्ञानानन्द भगवान को दृष्टि में लेना, वहाँ स्थिर होना, वह उसका आसन है। 'आसन मारी सूरत दृगधारी, देख्या अलख दे दार' अन्दर में आसन लगाकर, अन्दर में असंख्य प्रदेश में स्थिर हो, वह इसका आसन है। शरीर-फरीर ऐसा करना, ऐसा करना, धूल भी नहीं... वह तो जड़ है। ऐसा रखो (ऐसा कहते हैं)। वह चाहे जैसे रहे, वह तो जड़ है।

वही शिला है.... अच्छी शिला ढूँढकर जंगल में जाकर ध्यान करना, हाँ! पत्थर

की शिला बड़ी लम्बी हो, ऊँची इतनी हो तो फिर ऐसे गिर जाये तो? थोड़ी ऐसी लम्बी हो, थोड़ी ऐसी लम्बी हो तो गिर जाये तो दिक्कत नहीं आवे, इतना होवे तो फिर ऐसा करने से ऐसा हो जाये तो? लम्बी शिला ऐसी होती है न? शिला आत्मा है, कहते हैं।

वही पर्वत की गुफा है.... वह व्यवहार छोड़ने को कहा है न? ऐसा व्यवहार छोड़ने को कहा, इसलिए यह सब व्यवहार नहीं, ऐसा कहते हैं। मूल तो इसके साथ में सम्बन्ध है भाई! वह व्यवहार छोड़ने को कहा है न? वह सब व्यवहार है, ऐसा कहते हैं। **वही सिंहासन है, वही शय्या है, ऐसा असंगभाव और शुद्ध श्रद्धान जिसे होता है वही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है....** कहो? वही जीव **नौका पर आरूढ़ हुआ है**। आत्मा के अन्तर एकाग्रता और अनुभव की नौका पर आरूढ़ है। वह संसार सागर से पार करनेवाली है। आहा...हा...!

व्यवहार के मोह से कर्म का क्षय नहीं होता। जो अहंकार करता है कि मैं मुनि.... हूँ, मैं पंच महाव्रतधारी हूँ, यह सब अहंकार मिथ्यात्व है। **मैं तपस्वी हूँ, वह व्यवहार का मोही मोक्षमार्गी नहीं है**। व्यवहार की सावधानीवाला मोक्षमार्गी नहीं है। निश्चय की सावधानीवाला मोक्षमार्गी है – ऐसा कहते हैं। पाठ में है न? **जइ सहुववहारु छंडवि** अकेला भगवान आत्मा.... **अप्पामुणहि** है न? आत्मा ही जाने, आत्मा को ही सब जाने, ऐसा। **मुनियों का नग्न वेश और श्रावक को वस्त्रसहित का वेश निमित्तकारण है तो भी मोक्ष का मार्ग तो एक रत्नत्रय धर्म ही है**। दूसरा मोक्षमार्ग नहीं है। कहो, समझ में आया? लो, यह ३७ गाथा (पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

जीव-अजीव का भेद जानो

जीवाजीवहँ भेउ, जो जाणइ तिं जाणियउ।
मोक्खहँ कारण एउ, भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ॥३८॥

जीव अजीव के भेद का, ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान।
हे योगी! योगी कहें, मोक्ष हेतु यह जान॥ ३८॥

अन्वयार्थ – **(जोई)** हे योगी! **(जोइहिं भणिउ)** योगियों ने कहा है **(जीवाजीवाहँ भेउ जो जाउइ)** जो कोई जीव तथा अजीव का भेद जानता है **(तिं मोक्खहँ कारण जाणियउ)** उसी ने मोक्ष का मार्ग जाना है। **(एउ भणइ)** ऐसा कहा गया है।

☆ ★ ☆

३८। **जीव अजीव का भेद....** देखो! अब वापस संक्षिप्त में लाये, भेदज्ञान। एक ओर अजीव और एक ओर जीव, दोनों का पृथक् ज्ञान कर।

जीवाजीवहँ भेउ, जो जाणइ तिं जाणियउ।
मोक्खहँ कारण एउ, भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ॥३८॥

इसमें सोरठा डाले, दूसरे में क्या था? वैसी गाथा नहीं डाली। वापस यहाँ डाला, सोरठा डाला है? हैं? फर्क होगा, परन्तु दूसरे में कहीं लिखा नहीं।

जीवाजीवहँ भेउ, जो जाणइ तिं जाणियउ।
मोक्खहँ कारण एउ, भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ॥३८॥

हे धर्मी... **योगियों ने....** तीर्थंकरों ने, सन्तों ने, केवलियों ने जीव-अजीव का भेद जान (– ऐसा कहा है)। जीव और अजीव का भेद जानना – ऐसा भगवान ने कहा है। दो में लाये अब, नौ में और सात में से निकालकर दो। एक ओर व्यवहार तथा एक ओर निश्चय। एक ओर अजीव तथा एक ओर जीव। समझ में आया?

जो कोई जीव तथा अजीव का भेद जानता है.... तिं मोक्खहँ कारण जाणियउ – उसने ही मोक्ष का मार्ग जाना है... जीव अर्थात् ज्ञायकस्वभाव अभेद वह जीव, बाकी सब अजीव। समझ में आया? यह जीव वह दूसरा जीव नहीं, इस जीव से सब जड़ वे (जीव) नहीं। राग, पुण्य, वह जीव नहीं। यह एक समय का भेदभाव भी वास्तव में अखण्ड जीव नहीं।

जीव तथा अजीव का भेद जानता है.... भगवान आत्मा ज्ञायकभावरूप सर्वज्ञस्वभावी पूरा जीव और इसके अतिरिक्त सब जीव का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं। समझ में आया? इस अपेक्षा से सबको अजीव कहा जाता है। यह व्यवहार भी अजीव!

आहा...हा... ! दया, दान, भक्ति, व्रत, तप के परिणाम वे अजीव... एक समय की पर्याय भी पूरा जीव नहीं। व्यवहार से जीव वह भी निश्चय से अनात्मा। समझ में आया ? ऐसा जीव-अजीव का भेदज्ञान उसे मोक्ष का कारण जान। जान, ऐसा भगवान ने कहा है। देखा ? है न ? **एउ भणई** ऐसा भगवान ने कहा है। ऊपर आ गया सब, भगवान तीर्थंकर ऐसा कहते हैं। संक्षिप्त शब्द में वह शब्द साथ नहीं (लिया होगा) समझ में आया ?

बन्ध और मोक्ष, दो हुए। बन्ध और मोक्ष, बन्ध में सम्बन्ध अजीव का है, मोक्ष का सम्बन्ध यहाँ स्वभाव के साथ है। इन दोनों को इसे जानना चाहिए। दो का ज्ञान भलीभाँति करना चाहिए। यह भेदज्ञान की प्रधानता से बात है। समझ में आया ? इसलिए जिसे संसार, राग, बन्ध, वह पर है और आत्मा ज्ञायक स्व है – उसका जहाँ भेदज्ञान होता है, उसे ही मुक्ति का कारण होता है, दूसरे को मुक्ति का कारण नहीं होता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

मुनिदशा में भावलिङ्ग-द्रव्यलिङ्ग का सुमेल

भाई ! साधु किसे कहा जाता है ? आत्मज्ञानसहित तीन कषाय चौकड़ी का अभाव जिनके अन्तर में परिणमित हुआ है, जिनकी दशा को अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसम्वेदन की मुहर-छाप लगी है, बाह्य में जिनके वस्त्र का टुकड़ा भी न हो - ऐसी निर्विकार नग्नदशा हो, वे ही 'साहूणं' पद में आते हैं। उनके सिवा जो वस्त्र-पात्रधारी तथा अन्य परिग्रहवन्त हैं, उन्हें वीतरागता के मार्ग में साधु ही नहीं कहा जा सकता।

भावरहित अकेला द्रव्यलिङ्ग हो, वह सच्चा साधु नहीं कहलाता। जहाँ अन्तर में आनन्द का ज्वार आया है, ऐसा भावलिङ्ग-भावमुनिपना प्रगट हुआ है, वहाँ उसके साथ द्रव्यलिङ्ग होता ही है; बाह्य नग्नदशा न होकर, वस्त्रसहित हो, उसे भावलिङ्ग प्रगट हो - ऐसा कभी नहीं हो सकता तथा वस्त्ररहित नग्नदशारूप द्रव्यलिङ्ग है तो उससे भावलिङ्ग प्रगट होगा - ऐसा भी नहीं है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ४, बुधवार, दिनाङ्क २२-०६-१९६६
गाथा ३८ से ४२ प्रवचन नं. १५

३८ (गाथा) थोड़ी बाकी है। **जीव-अजीव का भेद.....** योगसार।

जीवाजीवहँ भेउ, जो जाणइ तिं जाणियउ।
मोक्खहँ कारण एउ, भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ॥३८॥

हे धर्मी! ऐसा सम्बोधन करके कहते हैं, **हे योगी!** योगसार है न? आत्मा... जड़ और चैतन्य दोनों अत्यन्त पृथक् हैं – ऐसा जो भेदज्ञान करे तो आत्मा को – स्वयं को शुद्ध ज्ञान और आनन्दमय देखे और अजीव को राग-द्वेष, कर्म आदि स्वरूप देखे। समझ में आया?

जीवाजीवई भेउ जो झाणइ जो जीव-अजीव का भेद जाने। जीव, वह ज्ञान, शुद्धआनन्द आदि स्वरूप है; अजीव, ये सब रागादि, शरीरादि, कर्म – ये सब अजीव हैं। दोनों का सम्बन्ध न होवे तो बन्ध न होवे और दोनों का सम्बन्ध छूटे तब मुक्ति होती है; इसलिए इसे इन दोनों का ज्ञान भलीभाँति करना चाहिए।

मोक्खहँ कारण एउ यही मोक्ष का कारण है – ऐसा भगवान ने कहा है। जीव -अजीव का भेदज्ञान, वह मोक्ष का कारण है – ऐसा कहा है। समझ में आया? 'भेदज्ञान, वह ज्ञान है; शेष बुरा अज्ञान' – भेदज्ञान अर्थात् आत्मा और जड़ दो चीजें हैं न? न होवे तो इसे इस सम्बन्ध का बन्ध और बन्ध के अभावरूपी मुक्ति – यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। इससे आत्मा और अजीव दोनों के लक्षण भिन्न हैं, दोनों का स्वरूप भिन्न है, दो के भाव अलग हैं – ऐसे यदि दोनों को भलीभाँति भिन्न जाने तो उसे मोक्ष का कारण -पर से भिन्न स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की दशा प्रगट होती है; अतः उसके

कारण, **हे योगी!** भगवान ने तुझे ऐसा कहा है – ऐसा कहते हैं। जीव-अजीव का भेदज्ञान होवे तो इसे मोक्ष-कारण होता है – ऐसा भगवान ने कहा है। इसमें बहुत आ गया है।

अन्त में समयसार का श्लोक भी दिया है। **जीव और अजीव, लक्षण से ही भिन्न है, इसलिए ज्ञानीजन अपने को सर्व रागादि और शरीरादि से ही भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एकरूप अनुभव करते हैं**। पर से भिन्न और स्व-स्वभाव से एक आत्मा। अपने शुद्धस्वभाव से एक अभेद आत्मा और रागादि से पर (-भिन्न) – ऐसा भेदज्ञान करे तो उसे स्वभावसन्मुख की एकता होती है और उसमें से परसन्मुखता जाती है, तो निश्चित इसे अनुभव करने से मोक्ष होता है। इसे मुक्ति अर्थात् निर्मलानन्द शुद्ध, राग से भिन्न है – ऐसा अन्तर भासित होने से – एकता होने से राग से छूटकर वीतराग पद को पाता है। अब सार कहते हैं।

☆ ★ ☆

आत्मा केवलज्ञान स्वभावधारी है

केवल-णाण-सहाउ, सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ।
जइ चाहहि सिव-लाहु, भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ ॥३९॥

योगी कहे रे जीव तू, जो चाहे शिव लाभ।
केवलज्ञान स्वरूप निज, आत्मतत्त्व को जान॥ ३९॥

अन्वयार्थ – **(जोइ)** हे योगी! **(जोइहिं भणिऊँ)** योगियों ने कहा है कि **(तुहुँ केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा जीव मुणि)** तू केवलज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उस ही को जीव जान **(जइ सिय-लाहु चाहहिं)** यदि तू मोक्ष का लाभ चाहता है **(भणइ)** ऐसा कहा है।

☆ ★ ☆

३९ – **आत्मा केवलज्ञान स्वभाव का धारक है**। पहले, जीव-अजीव दो भिन्न किये न? तब अब जीव की पहचान देते हैं। पहले सामान्य बात की थी। ग्रन्थकार आचार्य स्वयं कहते हैं –

केवल-णाण-सहाउ, सो अप्पा मुणि जीव तुहुँ।
जइ चाहहि सिव-लाहु, भणइ जोइ जोइहिँ भणिउँ॥३९॥

हे योगी! योगियों ने कहा है..... सर्वज्ञ परमेश्वर अथवा सन्तों ने कहा है कि **तुहुँ केवलणाण सहाउ सो अप्पा जीव मुणि** तू केवलज्ञान-स्वभावी आत्मा को जान। केवलज्ञान, अर्थात् यहाँ केवलज्ञान पर्याय की बात नहीं है। केवलज्ञान-अकेला ज्ञानस्वभाव, अकेला ज्ञानस्वभाव; उसमें सर्वज्ञस्वभाव आ गया, परन्तु अकेला स्वभाव – ज्ञानस्वभाव आत्मा। समझ में आया? केवलज्ञान अर्थात् उस पर्याय का केवलज्ञान, (उसका) यहाँ काम नहीं है।

यह तो पूरा ज्ञानस्वरूप चैतन्य, 'दर्श मोह क्षय से उपजा है बोध जो' – आता है न? 'दर्श मोह क्षय से उपजा है बोध जो, तन से भिन्न मात्र चेतन का ज्ञान जब; तन से भिन्न मात्र चेतन का ज्ञान जब, चरित्र-मोह का क्षय जिससे हो जायेगा, वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब, अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा' – स्वरूप की स्थिरता का ध्यान कैसे वर्ते? ऐसा। बाकी दर्शनमोह, जीव और अजीव की एकताबुद्धि का नाश होने पर आत्मा, देह से भिन्न अकेला – केवलज्ञान की मूर्ति है – ऐसा अनुभव में आना चाहिए। समझ में आया?

अकेला आत्मा ज्ञानस्वरूप, देह से भिन्न चैतन्य। देह से भिन्न अथवा देह अर्थात् रागादि सब पर में जाते हैं। उनसे (भिन्न) अकेला चैतन्यस्वरूप है, वह केवलज्ञान स्वभाव का धारक है। अकेला ज्ञानस्वभाव, ऐसा। केवल अर्थात् अकेले ज्ञानस्वभाव का धारक है। वह शरीर को नहीं धारता है, कर्म को नहीं धारता है, विकार के भाव को नहीं पकड़ता है, अपने में नहीं रखता है; अकेला केवलज्ञान चैतन्यस्वरूप ज्ञानस्वभाव सर्वज्ञ स्वभाव का धारक (है)। केवलज्ञानस्वभावी शब्द लिया है न? फिर इन्होंने 'धारक' शब्द का प्रयोग किया है।

केवलणाण सहाउ उसका स्वभाव ही अकेला ज्ञानस्वरूप चैतन्य है। ऐसा अन्तर में जीव का भान, ज्ञान होने पर **मुणि जीव तुहुँ। जइ चाहहिं सिव-लाहु** यदि मोक्ष का लाभ चाहता हो, अर्थात् निर्मल आनन्द की पूर्ण पर्याय की प्राप्ति को चाहता हो तो इस

केवलज्ञानस्वभाव धारक आत्मा को तू जान। देखो! यहाँ दूसरे शास्त्र को जान, यह कुछ बात नहीं की है। समझ में आया?

यदि तू मोक्ष का लाभ चाहता हो ..... मोक्ष अर्थात् पूर्ण पवित्रता। पूर्ण पवित्रता की पर्याय को प्रगट करना चाहता हो, ऐसा। केवलज्ञान और केवलदर्शन, परमानन्द – ऐसी दशा को प्रगट करने की भावना हो तो भगवान ज्ञानस्वभाव, अकेला ज्ञानस्वरूपी है – उसका अनुभव कर। अकेले ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने से तुझे मुक्ति मिलेगी। कहो, समझ में आया इसमें? लो! इसमें केवलज्ञानस्वभावी **मुणि** जानना – यह तुझे मोक्ष के लाभ के लिए कारण है। जानना आया, इसमें चारित्र तो नहीं आया? अन्य (लोग) कहते हैं कि ज्ञान-ज्ञान आया, परन्तु इसमें चारित्र नहीं आया.... ? परन्तु जो आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप सूर्य है – ऐसा जानने से प्रतीति और स्थिरता व आनन्द का अंश – सब साथ आये हैं। यहाँ बहुत संक्षिप्त कहा है। (गाथा) ३८ में जीव-अजीव की व्याख्या की, फिर (३९ में) जीव है, वह ऐसा है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अकेली चैतन्यमूर्ति, केवल की मूर्ति है, उसमें पुण्य और पाप, रागादि, शरीर, कर्म-फर्म कुछ नहीं। कुछ नहीं, यह पर तो नहीं और है तो अकेला ज्ञानस्वभाव परिपूर्णता से भरा आत्मा है। ऐसे ज्ञानस्वभाव को **मुणि** जान, जान। इस जानने में मुक्ति आ गयी। मोक्ष का मार्ग – सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। यह केवलज्ञान की मूर्ति आत्मा है – ऐसी श्रद्धा, वह समकित; अकेला ज्ञानमय आत्मा, उसका ज्ञान, वह ज्ञान और अकेला ज्ञानमय आत्मा, उसकी रमणता, वह चारित्र है। कहो, समझ में आया इसमें?

प्रत्येक आत्मा को जब निश्चयनय से देखा जाए.... पुद्गल को स्वभाव से देखा जाए, **तब देखनेवाले के सामने अकेला एक आत्मा सर्व पर के संयोगरहित खड़ा हो जाएगा।** ऐसा कहते हैं। पर से भिन्न देखेगा तो अकेला आत्मा दिखेगा। उसमें दूसरा-दूसरा शामिल नहीं होगा – ऐसी जरा लम्बी बात करते हैं। आठ कर्म से रहित, शरीर से रहित, राग-द्वेष और भावकर्म से रहित देखता है – ऐसे आत्मा का अनुभव करो। आत्मा के अनुभव से यह सब चीजें अलग है। समझ में आया?

उसके गुणों का वर्णन किया है। आत्मा में एक प्रधानगुण ज्ञान है। उसे ही

केवलज्ञानस्वभाव कहते हैं। उस गुण से ही दूसरे गुणों का प्रतिभास होता है – ऐसा कहते हैं। आत्मा में ज्ञान है, उस ज्ञान से दूसरे गुणों का भान होता है। दूसरे गुणों से ज्ञान का भान – ऐसा नहीं होता, ऐसा कहते हैं। उसे यहाँ केवलज्ञानसवभावी विशेष क्यों कहा? कि ज्ञानस्वभाव को जानने से, वह ज्ञान दूसरे आनन्द का, श्रद्धा का, अस्तित्व का, वस्तुत्व का (– ऐसे) अनन्त गुणों का प्रतिभास ज्ञान करता है। समझ में आया? दूसरे गुण अस्ति रखते हैं परन्तु वे गुण नहीं जानते अपने को; नहीं जानते ज्ञान को। यह ज्ञानगुण ऐसा है कि जो ज्ञान स्वयं को जानते हुए, दूसरे गुण ऐसे हैं – ऐसा स्वयं जानता है। समझ में आया? आनन्द का अनुभव होता है परन्तु उस आनन्द के अनुभव को ज्ञान जानता है कि यह आनन्द है। समझ में आया?

इसी तरह ज्ञानस्वरूपी आत्मा की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन (होवे), उसे ज्ञान जानता है कि यह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन जानता नहीं। ज्ञान जानता है कि मैं त्रिकाल अस्तित्व हूँ। ज्ञान में यह प्रतिभास होता है। ज्ञान में ऐसा स्वभाव है, प्रतिभास होता है कि यह त्रिकाल अस्ति है। त्रिकाल अस्ति है, वह स्वयं ज्ञान नहीं करता, क्योंकि उसमें ज्ञान स्वभाव नहीं है। समझ में आया? ज्ञान है, वह त्रिकाल अस्तित्व है, यह त्रिकाल है – ऐसे अस्तित्व की सत्ता का बोध ज्ञान के द्वारा होता है। समझ में आया?

अन्य गुणों का प्रतिभास होता है, उसे ही सर्वज्ञपना कहते हैं। लो! **प्रत्येक आत्मा स्वभाव से सर्वज्ञ है।** प्रत्येक आत्मा स्वभाव से तो सर्वज्ञस्वरूपी है। सर्वज्ञ अर्थात् ज्ञानस्वभाव कहा तो यहाँ ज्ञान में सभी गुणों का ज्ञान आ गया और वह सर्वज्ञस्वभावी हो गया। उन समस्त गुणों का जाननहार और अपना जाननहार – ऐसा आत्मा का स्वभाव, वह सर्वज्ञस्वभाव है। अद्‌भुत बात, भाई! परन्तु इसमें क्रिया क्या करना? वे कहते हैं – तुम्हें बातें करनी हैं – ऐसी बातें कितने ही करते हैं। कौन कहता था? कल कोई (कहता था)। राणपुरवाले उन 'लल्लूगोविन्दजी' वाले न? आहा....हा...! भाई! क्रिया की व्याख्या क्या? यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसे जानना, वह क्रिया नहीं है? इसे जानना, वह क्रिया है। यह ज्ञानस्वरूपी आत्मा अनन्त गुण को जाननेवाला – ऐसा ज्ञान, उसकी निर्विकल्प प्रतीति करना – यह प्रतीति करना क्रिया नहीं है?

मुमुक्षु – बाहर परिवर्तन नहीं दिखता न।

उत्तर – बाहर में परिवर्तन क्या दिखे ? बाहर में कहाँ वह चीज थी ? बाहर में वह चीज कहाँ थी कि उसका परिवर्तन बाहर में दिखे ? क्या कहा ? समझ में आया ? क्या कहा ? यह ज्ञानस्वरूपी भगवान बाहर में कहाँ है ? शरीर में, वाणी में, उनमें तो नहीं; तो उनमें नहीं, तब उनका परिवर्तन बाहर में कहाँ दिखेगा ? कुछ समझ में आया ? उसका परिवर्तन तो, उसमें जहाँ स्वयं है, वहाँ दिखेगा।

ज्ञानस्वरूपी आत्मा माना नहीं था, जाना नहीं था, तब (इस) राग को एकत्वरूप जानकर, मानकर, लीन होता था। अब वह परिवर्तन कहाँ होगा ? शरीर में होगा ? पर में होगा ? क्योंकि फेरफार-विकार की अवस्था भी इसमें हुई थी। है ? इसमें हुई थी, यह बदला तो परिवर्तन तो इसमें होगा ? शरीर, वाणी, मन में होगा ? बाहर में परिवर्तन होगा ? कहो ? मन्दिर में यह कहाँ बैठा है ? यह बैठा है ज्ञान में। अब यह ज्ञान में बैठा है या ज्ञान में एकत्व – राग करके बैठा है – इसका निर्णय तो अन्दर में है या बाहर में है ? वहाँ बैठे 'स्वाध्याय मन्दिर' के बाह्य क्षेत्र में वह आया नहीं, वह तो आता नहीं, वह आत्मा तो अपने ज्ञान क्षेत्र में है। अब वह ज्ञानक्षेत्र में है, वह बाह्य क्षेत्र में बैठा दिखे, (वह) अन्दर में क्या करता है ? यह तो अन्दर की बात रही। हैं ? कि मैं यहाँ आया, इसलिए मुझे निवृत्ति मिली, मैं यहाँ आया, इसलिए मेरे राग घटा – यह तो मान्यता सब अन्तर में एकाग्र करते हैं। यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है, यह तो बाह्य लक्ष्य से निर्णय करता है।

अन्तर में आत्मा ज्ञानस्वभाव है, चैतन्यबिम्ब है – ऐसा जो निर्णय होना, उसकी जो क्रियाओं का परिवर्तन होना, वह तो उसकी दशा में होता है तो उस दशा का जाननेवाला (होवे), उसे दशा का पता पड़े। कहो, समझ में आया ? दूसरे परमाणु, शरीरादि तो पर -पदार्थ हैं, उसकी अवस्था का बदलना, घटना, कम होना, उसके माप से आत्मा में निवृत्ति का माप आया – वह कहाँ से आया ? पृथक ही पड़े हैं, कब अन्दर एकत्रित हो गये थे ? प्रत्येक रजकण पृथक् हैं। इसकी सत्ता अस्तिरूप तो ज्ञानस्वरूप अस्तिरूप है, अब ऐसा अस्तित्व है, उसे न मानकर मैं इस शरीर का कुछ करता हूँ-राग करता हूँ-यह करता हूँ, यह करता हूँ, यह करता हूँ, यह करता हूँ तो जो करता हूँ – ऐसी सत्तावाला

माना। अब बाहर में भले स्वाध्याय मन्दिर में बैठा हो या हाथ ऐसे करके बैठा हो परन्तु बैठा है अन्दर में-बाह्य में। समझ में आया? हरिभाई!

ज्ञानस्वभावी भगवान.... यहाँ तो यह कहा न? ज्ञानस्वभावी आत्मा। देखो! एक मूलस्वभाव इन्होंने लिया... मूल पाठ में है न? **भणइ जोइ जोइहिं भणिऊँ** हे योगी! योगियों ने ऐसा कहा है, सन्तों ने ऐसा कहा है.... तो इसका अर्थ कि तू ज्ञानस्वभाव है – ऐसी जो दृष्टि पलटे और रागादि नहीं – ऐसी जो दृष्टि होवे, उसका परिवर्तन तो उसकी दशा में होता है, अरूपी में होता है। यह जाननेवाला जाने, ज्ञान से जाने कि यह परिवर्तन हुआ (या) नहीं हुआ... यह बाहर की क्रिया से कैसे ज्ञात हो इसमें? समझ में आया?

अन्दर में परिवर्तन हुआ। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, राग का कण भी नहीं – ऐसी दृष्टि हुई, यह परिवर्तन तो पर्याय में हुआ। इस अरूपी ज्ञान ने जाना। अब इस बाहर की क्रिया में तो लड़ाई में खड़ा दिखे.... लड़ाई में खड़ा दिखे, फिर भी अन्तर में पूरा पलटा खाया है कि जिसमें अकेला ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्वामी होता है और राग तथा उसका स्वामी नहीं होता। यह अन्दर की दशा में ज्ञात होता है या बाहर से ज्ञात होता है?

एक (जीव) बाह्य से अत्यन्त त्याग करके बैठा है। लो! स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, नग्न होकर बैठा है परन्तु वह तो बाह्य चीजें संयोग में कम दिखाई दी परन्तु अन्दर में संयोगभाव को अपने स्वभाव के साथ मानता है, रागादि विकारभाव संयोगी है, उसे स्वभावभाव – चैतन्य का त्रिकालभाव है, उसके साथ मानता है तो उसे कोई भी संयोग छूटा नहीं है, जरा भी नहीं छूटे हैं, अत्यन्त संयोग के विकार में ही पड़ा है। यह माप बाहर से होता है या अन्दर से होता है? बाहर में वह कहाँ आता है तो बाहर से हो? कहो, इसमें समझ में आया? अपना निर्णय करे और फिर दूसरे का काम.... दूसरे का क्या काम है इसे? ऐसा ज्ञानस्वभाव आत्मा का है।

इसमें ऐसा एक दर्शनस्वभाव इसके साथ इन्होंने लिया है। ऐसे सुखस्वभाव है, वीर्यस्वभाव है, चैतन्य का अमूर्तस्वभाव है। इतने मूलस्वभाव इन्होंने अधिक लिये हैं। शास्त्र के दूसरे आधार लेकर भी लिये हैं।

☆ ★ ☆

ज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिँ कहिँ जोवउ तहिँ अप्पाणउ॥४०॥

को समता किसकी करे, सेवे पूजे कौन।
किसकी स्पर्शास्पर्शता, ठगे कोई को कौन?
को मैत्री किसकी करे, किसके साथ ही क्लेश।
जहँ देखूँ सब जीव तहँ, शुद्ध बुद्ध ज्ञानेश॥ ४०॥

अन्वयार्थ – **(को सुसमाहि करउ)** कौन तो समाधि करे **(को अंचउ)** कौन अर्चना या पूजन करे **(छोपु-अछोपु करिवि)** कौन स्पर्श-अस्पर्श करके **(को वंचउ)** कौन वंचना या मायाचार करे **(केण सहि हल कलहु समाणउ)** कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे **(जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ)** जहाँ कहीं देखो वहाँ आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।

☆ ★ ☆

४० गाथा... **ज्ञानी को हर जगह आत्मा ही दिखता है।** इस देह में विराजमान चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द है, यह देहादि वाणी आदि तो जड़ है, यह तो मिट्टी है। रागादिभाव होते हैं, वह तो विकार, दोष है, वह आत्मा नहीं है; अत: आत्मा के जाननेवाले को सर्वत्र आत्मा ही भासित होता है, यह बात यहाँ अधिक कहते हैं।

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।
हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिँ कहिँ जोवउ तहिँ अप्पाणउ॥४०॥

देखो, यहाँ जोर है। जहाँ देखते हैं, वहाँ आत्मा दिखता है। **कौन समाधि करे, कौन अर्चा-पूजा करे....** भगवान आत्मा ज्ञान चैतन्यसूर्य प्रभु आत्मा है। ऐसा जहाँ अन्तर में भासित हुआ, अब उसे समाधि करूँ – यह कहाँ रहा? स्वरूप ही ज्ञान है। मैं आनन्द और ज्ञानस्वरूपी आत्मा हूँ – ऐसा जहाँ भासित हुआ, वहाँ उसे दूसरे सभी आत्मा

भी ज्ञान और आनन्दमय हैं – ऐसा भासित होता है। समझ में आया?

यह आत्मा ही ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। यह शरीर, वाणी तो जड़ है, मिट्टी है। दया, दान, काम, क्रोध के शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह तो विकार है, उस विकाररहित आत्मा अन्तर में जहाँ जाना, कहते हैं कि, उसे अब क्या करना रहा? समझ में आया? अब **कौन समाधि करे.....** समाधि अर्थात् ऐसे स्थिर होओ... जाना कि आत्मा है, उसमें स्थिर हुआ ही है। समझ में आया?

कौन अर्चा या पूजन करे.... स्वयं भगवान ज्ञानस्वरूपी आनन्दमूर्ति का जहाँ भान हुआ, वह आत्मा में ही स्वयं परमात्मस्वरूप का धारक, किसकी अर्चा-पूजा करना इसे अब? पूजा और अर्चा जो पर की करता था, वह तो शुभभाव था। भगवान की पूजा और अर्चा यह तो शुभ-पुण्यभाव था। वह पुण्यभाव जहाँ मैं नहीं, मैं तो ज्ञानस्वरूपी चिदानन्द आत्मा हूँ – ऐसा भान होने पर वह किसकी पूजा करे? वह तो अपनी पूजा करता है। आहा...हा...! अर्चा.... अर्चा है न? किसे अर्चे? भगवान को अर्चता है न? पूजा करता है, वह तो शुभभाव होता है तब होता है। परन्तु जहाँ आत्मा ही शुभभाव से भिन्न भासित हुआ, चैतन्यस्वरूप भासित हुआ और उसमें स्थिर हुआ तो वह स्वयं की पूजन करता है, स्वयं, स्वयं को अर्चना और बहुमान देता है। अब उसे दूसरे की पूजन करना नहीं रहा। समझ में आया?

कौन स्पर्श-अस्पर्श.... करे। समझ में आया? यह अमुक हाथ का स्पर्श करना है, अमुक हाथ का स्पर्श नहीं करना, यह स्पर्श करने योग्य है, यह अस्पर्श करने योग्य है, यह छूने योग्य नहीं, यह छूने योग्य नहीं, यह छूने योग्य है.... परन्तु वस्तु के ज्ञानस्वरूप में यह है कहाँ? किसे स्पर्शे और किसे अस्पर्शे? स्पर्श-अस्पर्श की बुद्धि तो बाह्य लौकिक में है। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु पूर्णानन्द का स्वरूप जहाँ स्वयं ही आत्मा सच्चिदानन्द है – ऐसा अन्तर में भान का भास और भाव प्रगट हुआ तो कहते हैं कि किसके साथ स्पर्श -अस्पर्श? फिर इस चीज को छूना नहीं, इस माँस को छूना नहीं, पानी को छूना, अच्छी चीज को (छुआ जाता है), यह वस्तु में कहाँ रहा? समझ में आया? **छोपु अछोपु करिवि** है। कौन स्पर्श करे? वस्तु ही भगवान आत्मा अपने चैतन्यमन्दिर में विराजमान है, उसे

जहाँ अन्तर में जाना, देखा, अनुभव किया – ऐसे आत्मा को अब स्पर्श-अस्पर्श कुछ नहीं रहता। समझ में आया?

'को वंचउ' कौन वंचना या मायाचार करे? भगवान आत्मा जानने-देखनेवाला चिदबिम्ब है, ऐसा आत्मा का भान हुआ तो दूसरे आत्माएँ भी ऐसे हैं। दूसरे देह में विराजमान आत्मा भी देह, वाणी से भिन्न, इस मिट्टी से भिन्न हैं और इन राग-द्वेष से भी पृथक् अन्दर चैतन्य आनन्द है। किसे ठगूँ और किसे नहीं ठगूँ? ऐसा कुछ उसमें नहीं रहता। आहा...हा...! **कौन वंचना या मायाचार करे?** किसके साथ मायाचार करे? सब भगवान आत्मा चैतन्य ज्योत प्रभु आत्मा है, आनन्द की मूर्ति वह आत्मा है। विकार और शरीर, वह आत्मा नहीं है – ऐसा जिसने आत्मा को जाना, वह किसे ठगे? किसके साथ मााया करे? सब भगवान दिखे, उसमें माया किसके साथ करे? – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

भगवान ज्ञानस्वरूपी प्रभु...! यह योगसार है। चैतन्यभगवान ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु है – ऐसा जहाँ योग अर्थात् अपने भाव का जुड़ान जहाँ स्वभाव के साथ हुआ, अब वह दूसरे के साथ मायाचार, वंचना करने का कहाँ रहा? समझ में आया? इस आत्मा को जानता नहीं था, तब तक वह मायाचार करता था। किसी दोष को छुपाना, इसे ऐसा बताऊँ, इसे यह बताऊँ, यह तो आत्मा को जानता नहीं था कि आत्मा ऐसा है ही नहीं। राग, द्वेष और माया, कपट यह माया आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। इस आत्मा को जानने पर कौन मायाचार करे?

कौन किसके साथ मैत्री और कलह करे? शत्रु... शत्रु... ओ...हो...हो...! यह आत्मा, देह के रजकणों से भिन्न और पुण्य-पाप के राग से भिन्न है – ऐसा जहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा का भान हुआ, वह किसके साथ मैत्री करे? सब परमात्मा हैं, मैत्री किसके साथ करना? कहो, प्रवीणभाई! किसका भजन करना? – ऐसा कहते हैं। यह भजन करनेवाला आत्मा जगा, चैतन्यमूर्ति मैं हूँ, आनन्द का कन्द, वह अतीन्द्रिय आनन्द के मनके अन्दर फिराता है। आहा...हा...! समझ में आया? देह से, यह रजकण, मिट्टी, धूल, राग, मलिनता है। निर्मलानन्द प्रभु आत्मा, वह मैं हूँ – ऐसा जहाँ अन्दर में भासित

हुआ, उसे तो निर्मल ज्ञान और आनन्द के मनके पर्याय में फिरते हैं। किसे फेरना ? कौन सी माला इसे गिननी ? किसकी माला गिननी ? आहा...हा... ! किसके साथ मैत्री करना ? समझ में आया ? किसके साथ क्लेश करना ?

कलहु अर्थात् शत्रुता। किसके साथ क्लेश करे ? भगवान आत्मा शान्त-आनन्द ज्ञानमूर्ति को आत्मा कहते हैं – ऐसा शान्तस्वभाव जहाँ ज्ञात हुआ, (वहाँ) किसके साथ क्लेश (करे) ? स्वयं के साथ क्लेश नहीं, स्वयं में क्लेश नहीं, पर के साथ कहाँ क्लेश करे ? पर-आत्मा में क्लेश देखता नहीं। पर के आत्मा में क्लेश है नहीं, वे तो क्लेशरहित आत्मा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? किसके साथ क्लेश करे ?

'जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ' वजन यहाँ है, हाँ ! **जहाँ कहीं देखो, वहाँ आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।** इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि समस्त आत्माएँ एक ही हैं – ऐसा यहाँ नहीं कहना है। जहाँ देखो उसकी दृष्टि में से राग-द्वेष और शरीर से उठ गयी है, राग-द्वेष के भाव से, शरीर से उठकर (मैं) आत्मा ज्ञान हूँ – ऐसी हो गयी है; इसलिए ऐसा ही आत्मा जैसे अपने को देखता है – ऐसे दूसरे आत्मा को भी ऐसा देखता है। आत्मा दूसरे का है – ऐसा देखता है। रागादि, शरीरादि तो अजीव में जाते हैं। समझ में आया ?

पहले जीव-अजीव का भेद कहा, फिर केवलज्ञानस्वभावी जीव कहा – ऐसा जाना उसे दूसरे के साथ कलह करना कहाँ रहा ? दूसरे का पूजन करना कहाँ रहा ? स्वयं ही पूजने योग्य – ऐसा आत्मा अपने ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसे दूसरे के साथ क्लेश, शत्रुता या पूजन – यह कुछ नहीं रहता। आहा...हा... ! समझ में आया ?

'जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ' जहाँ-जहाँ देखो वहाँ भगवान आत्मा (दिखता है)। आहा...हा... ! धर्मी जीव अपने आत्मा को विकार और शरीर के संयोगरहित देखता है तो जैसी दृष्टि से स्वयं को देखता है, वैसी ही दृष्टि से दूसरे आत्माओं को देखता है। समझ में आया ? दूसरे का आत्मा, यह रागवाला आत्मा देखे ? राग तो विकार है। शरीरवाला आत्मा देखेगा ? शरीर तो अजीव है। समझ में आया ? दूसरे के आत्मा को भी, आत्मदृष्टि से स्वयं को जैसा देखा-राग और विकाररहित, शरीररहित वह आत्मा – ऐसा

जहाँ भान हुआ, ऐसी दृष्टि दूसरे आत्मा को भी आत्मा, आत्मा देखता है। जहाँ देखता है वहाँ आत्मा की पर्याय अपने (जैसी) देखता है। दूसरे प्रकार से ऐसा है। सूक्ष्म बात रखी है।

'जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ' इसका अर्थ क्या? आत्मा दूसरा है – ऐसा देखता है। यह परमाणु आदि को देखे तो भी उसमें ज्ञान देखता है कि मैं इन्हें जाननेवाला हूँ, यह तो जड़ हैं। समझ में आया? रागादि को जानता है तो जाननेवाला तो ज्ञान है, उस ज्ञान को जानता है। शरीर को जानते हुए ज्ञान है, उस ज्ञान को ज्ञान जानता है अर्थात् आत्मा ही जहाँ हो, वहाँ ज्ञात होता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अपनी मौजूदगी में तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है – ऐसा जाना तो दूसरे की मौजूदगी को देखने पर भी उसका ज्ञान ही स्वयं का उसमें होता है, उस ज्ञान को ही स्वयं देखता है। इसलिए जहाँ देखो वहाँ आत्मा, आत्मा और आत्मा.... यह स्वयं का आत्मा का ज्ञान ही देखता है। अद्भुत बात, भाई! ऐसा यह धर्म किस प्रकार का? इसने कभी सुना नहीं है।

अनन्त काल में भटक-भटक कर मर गया। चौरासी के अवतार में भुक्का (निकल) गया। अनादि का आत्मा कहाँ नया है? आत्मा कहीं नया होता है? अनादि का है परन्तु अनादि का वह स्वयं कौन तत्त्व है, उसका ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, चैतन्यज्ञान है – ऐसा कभी जाना नहीं। यह तो राग वह मैं, शरीर की क्रिया वह मैं, मैं पर का कुछ कर दूँ, पर से मुझमें कुछ होवे वह मैं, यह सब आत्मा को अनात्मा के रूप में माना है। समझ में आया?

कोई अमुकभाई नहीं, सब आत्मा है – ऐसा जानें। उस समय जाननेवाले का ज्ञान जाननेवाले के ज्ञानरूप ज्ञातारूप से परिणमता है, उसे जाने ऐसे निश्चय की बात यहाँ की है। वह जैसा है – ऐसा जाने। समझ में आया? उसकी पर्याय भी जैसी है, ऐसी जानें परन्तु उस पर्याय का ज्ञान होने पर ज्ञान स्वयं का होता है न? सामनेवाले के दोष का ज्ञान हुआ परन्तु वह ज्ञान हुआ न? उसमें ज्ञान हुआ (वह) तो स्वयं में हुआ है और स्वयं का ज्ञान हुआ है, दोष का ज्ञान नहीं। समझ में आया? दूसरे के आत्मा, जड़ को देखनेवाले की मुख्यता में ज्ञान न हो तो यह है, ऐसा निर्णय किसने किया? यह तो स्वयं जानता है, यह

तो स्वयं जानता है। जहाँ हो वहाँ मेरा ज्ञान, जहाँ हो वहाँ मेरा ज्ञान। हैं ? स्वयं का ज्ञान दिखता है – ऐसा कहते हैं।

मेरा ज्ञान आया था या नहीं ? वह पुस्तक नहीं, नहीं ? मेरा ज्ञान कहा था न ? हैं ? अभी रख दी लगती है। सेठिया का है न ? मेरा ज्ञान, मेरा ज्ञान, वहाँ कहा है न ? हैं ? लड़का मर गया, लड़के का लड़का (मर गया).... मुर्दा पड़ा था, उसकी माँ को कहे, क्या है ? मैं गायन बनाऊँ वह बोल.... रोने का क्या ? इसमें किसका रोना लगे ? रोनेवाला नहीं रे रहनेवाला रे..... रोनेवाला रहनेवाला नहीं है ! किसकी लगाना इसमें ? समझ में आया ? 'सेठिया' है, हाँ ! सरदारशहर का गृहस्थ व्यक्ति है। अन्तर अरहन्त ध्याये, सम्यक्सूर्य उगसे जी.... मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... यह बहिनें रोवे तब कहे न ? मेरा पेट... मेरा पेट...। अब पेट रख न, पेट कब तेरा था ? लड़का मर जाये तो कहे मेरा पेट.... मेरा (पेट)। ऐसा, स्त्रियाँ बोलती हैं। बोलती हैं – ऐसा थोड़ा-थोड़ा सुना है। ऐसी उनकी मथने की सब रीति होती है, मूढ़ की।

यहाँ कहते हैं कि परन्तु 'गुणी जन सम्यक् सिद्ध प्रभु नित ध्याये, चैतन्य सूर्य उगसे जी, म्हारा ज्ञान....' मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... रतनलालजी ! दीपचन्द सेठिया है न ? दीपचन्द सेठिया, सरदारशहर का। पूरे दिन उनके घर में ऐसी ही बातें करते हैं। गृहस्थ व्यक्ति है, पाँच-सात लाख रुपये। गृहस्थ व्यक्ति.... बस ! यह सबको (कहे) मर गया लड़का, लड़के का लड़का... घर में मुर्दा पड़ा है, बड़ी बिल्डिंग है, पैसावाला है, लड़के की बहू से कहे क्या करना है ? रोना है ? नहीं, बापूजी ! आप कहो, फिर गीत बनाया। मुर्दे के पास यह गीत बोले.... फिर सगे-सम्बन्धी सभी लोग आये सभी साथ में गीत बोलने लगे.... रोना किसका ? इसमें किसका रोना ? समझ में आया ? यह गीत उस दिन वहाँ बोले थे, हाँ ! हैं ?

'गुणीजन अर्थ ग्राही उपयोग, गुणीजन.....' पदार्थ जो है, उसे जाननेवाला मेरा उपयोग है, मेरा आत्मा अर्थ / वस्तु जो है, उसे जाननेवाला मेरा उपयोग है। मेरी चीज ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, उसे ग्रहण करनेवाला मेरा उपयोग है। 'चैतन्य निज प्राण छे जी....' समझ में आया ? 'गुणीजन ज्ञायक ज्योत जगाय, देखो तो शान्ति जीव में, जी'

किसकी लगायी इसमें ? ए... मोहनभाई ! तीन-तीन वर्ष का लड़का मर गया। वे गृहस्थ लोग इसलिए छोड़ो रोना ! किसका रोना-धोना ? वह तो आत्मा है, अब यहाँ से चला गया, इतने दिन यहाँ शरीर में रहा। अब अन्यत्र गया ? वहाँ कहाँ आत्मा नष्ट हो ऐसा है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यह धर्मी के जीवन में क्षण-क्षण में वैराग्य होता है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! ऐसे प्रसंग में हो, परिवार में हो फिर भी मेरा ज्ञान... मेरा ज्ञान... उस क्षण मैं तो जानने-देखनेवाला वह मेरा ज्ञान, बाकी तो वह (पुत्र) मेरा नहीं, राग मेरा नहीं, कोई मेरा नहीं। समझ में आया ? सही समय पर काम आये या नहीं ? बातें करे (काम न आवे) परन्तु जब मरण हो घर में बीस वर्ष का (लड़का) मर गया हो, फिर पता पड़े.... हैं ? अरे ! भाई मर गया, कौन मर जाता है ? आत्मा मरता होगा ? शरीर मरता होगा ? यह तो मिट्टी है, यह तो पर्याय-अवस्था बदली दूसरी हो गयी, राख की हो गयी। यहाँ थी (अब) राख की हो गयी। मरे कौन ?

आत्मा त्रिकाली सनातन शुद्ध चैतन्य है, उसके भान में कहते हैं। देखो ! समझ में आया ? देखो ! यह अन्तिम आया 'गुणीजन जड़सुख छे जी जंजाल' यह कल्पना की है कि इसमें सुख है और इस लड़के में सुख है, पैसे में सुख है; धूल है मूढ़ ! 'गुणीजन जड़ सुख छे जी जंजाल, आनन्दघन आप छे जी' मैं आनन्दघन आत्मा हूँ, आनन्द का धारक आत्मा। यह सही समय पर इसकी कसौटी होती है। निहालभाई ! यह बीस वर्ष का मर जाये और स्त्री छोड़कर बैठ जाये, और दूसरे रोने लगें.... हाय...हाय... ! क्या है परन्तु ? किसकी लगा रखी है ? श्मशान है यहाँ ? यहाँ तो आत्मा है। आहा...हा... !

भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति है – ऐसा जहाँ अन्तरभान हुआ, कहते हैं कि वह सर्वत्र ज्ञान ही देखता है। ज्ञान अर्थात् यहाँ आत्मा। समझ में आया ? आहा...हा... ! **एक अद्वैत आत्मा का ही अनुभव आ रहा है, अनुभव के समय में तो अपने मैं ही लीन होता है।** अनुभव के काल में हमें जाननेवाला देख – ऐसा कहते हैं। **अनुभव की माता भावना है।** ऐसा कहकर बहुत लम्बा किया है, दृष्टान्त दिया है, जरा ! ठीक कहा है। **जैसे कोई खेत में जाये....** यह चने पकते हैं या नहीं ? चने... खेत में चने पकते हैं न ? चने,

उसकी नजर चने पर होती है, कितने चने हुए? ऐसी (नजर) होती है। पत्तों और जड़ पर नहीं होती। खेत होवे न दो-पाँच? उसकी नजर वहाँ (चने पर होती है)। यहाँ तो चना क्यों लिया है? चना खाने में तुरन्त ही मिठास लगती है न? कच्चा भी अच्छा लगता है और पका भी अच्छा लगता है। वह चना देखने जाये और वे गुच्छे हुए हों न? उस चने पर उसकी नजर होती है, उन पत्तों पर नहीं। कितने पके हैं? चने कितने हुए हैं? पूरे खेत में फिरे तो चने पर नजर (होती है)। फल अच्छा आया है चने का फल अच्छा आया है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **वह डाली पत्ते, मूल को नहीं देखता और कहता है कि इस खेत में से पाँच मण चना निकलेगा।** ऐसा कहे, लो! इस एक बीघा में पाँच मण चना (निकलेगा), चना आयेगा, ऐसा कहते हैं। पत्तियाँ आयेंगी – ऐसा वह कहता है?

दूसरा दृष्टान्त दिया है, सोने में मणि जड़ी हुई हो। स्वर्ण में मणि जड़ी होती है न? **जब झवेरी के पास बेचने ले जाओ तब वह केवल मणियों को देखता है....** ऊँचा झवेरी अन्दर मणि-मणि देखता है। सोना किसलिए (देखे)? उसे तो मणि लेना है। मणि, मणि, मणि.... मणि स्वर्ण पर नजर नहीं और स्वर्णवाले के पास जाओ तो मणि नहीं देखता। वह सोना-सोना देखता है, बात सत्य है। समझ में आया? आहा...हा...!

इसी प्रकार भगवान आत्मा जहाँ देखो वहाँ मैं जाननेवाला.... जाननेवाला.... जाननेवाला.... मेरे जानने में ज्ञान का फल जानने का आया है, उसे वह देखता है। समझ में आया? दृष्टान्त ठीक किया है। इन लोगों का कुछ चलता होगा, चना... चना... चना... देखे, मीठे सरस लगते हैं। चने पर नजर है, वह चने देखता है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है – ऐसी जिसे आत्मा की श्रद्धा और भान हुआ है, वह जहाँ हो वहाँ आत्मा का ही पाक देखता है। मैं जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला.... दूसरा मुझमें है नहीं, मैंने दूसरा जाना-देखा नहीं, मैं ही मुझे जानने -देखनेवाला हूँ। कहो, समझ में आया? यह सब (लिया है)। **व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से असत्य है।**

किसके साथ मैत्री और किसके साथ (क्लेश) करना? समझ में आया? एक

दृष्टान्त सर्वार्थसिद्धि में दिया है, वह जरा ठीक लगता है। सामायिक का, यह आत्मा की सामायिक किसे कहें कि –

एकत्वेन प्रथमं गमनं समयः, समय एव सामयिकं,
समय प्रवर्तानमस्येति वापिगृह्य सामायिकं॥ अ. ७, सूत्र २१॥

आत्मा के साथ एकमेक हो जाना, आत्मामय हो जाना, वह सामायिक है। यह सामायिक लेकर बैठते हैं न ? वह सामायिक कहाँ है ? आत्मा का भान तो कुछ है नहीं, सामायिक करके बैठे, किसकी ? धूल की सामायिक ? जिसने आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप को देखा, जाना है, वह ज्ञान में लीन हो जाता है, उसे सामायिक कहते हैं। कहो, समझ में आया ? सामायिक – सम-समतास्वरूप चैतन्य ज्ञान में ज्ञान की लहर में, लहर में लीन हो गया, जो समतास्वरूप कायम है, उसके अन्दर में वर्तमान पर्याय से समता में लीन हो गया, उसे सामायिक कहते हैं। समझ में आया ? बहुत से यह सामायिक करते हैं या नहीं ? हम सामायिक करते हैं ! ऐ....शोभाचन्दजी ! यह सब करते हैं, यह सब प्रतिमाधारी नाम धराकर सामायिक करते हैं, सबेरे-दोपहर सामायिक करते हैं। किसकी सामायिक ? आत्मा जाने बिना कहाँ से होगी ? पहले आत्मा ही कौन है, इसकी खबर बिना एकाग्र किसमें होगा ? यह सब ऐसे के ऐसे.... आहा...हा... !

मुमुक्षु – हिले-चले बिना स्थिर रहते हैं।

उत्तर – हिले-चले कौन ? शरीर नहीं चले, उसमें इसके बाप का क्या हुआ ? आत्मा अन्दर हलचल करता है। खलबलाहट... पुण्य-पाप के विकल्प उठाकर मेरे हैं, और उस पर दृष्टि पड़ी है, वह सब खलबलाहट हो रहा है। णमोकार गिनता हो या भगवान के भजन का विकल्प उठता हो, वह विकल्प मेरा है (ऐसी) दृष्टि वहाँ पड़ी है। वस्तु ऐसी भिन्न है, उसका तो भान नहीं... भान नहीं और विकल्प पर दृष्टि है तो वह सामायिक में है या मिथ्यात्व में है ? मिथ्यात्व ही है। ऐ.... भगवानभाई !

श्रोता – नये व्यक्ति हैं।

उत्तर – आ गये न अब, पकड़ में आ गये अब।

आत्मा कैसा है ? आत्मा कौन है ? यह जाने बिना, उसके साथ एकमेक कौन

होगा ? ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा न ? सामायिक की व्याख्या की न ? सर्वार्थसिद्धि, हाँ ! पूज्यपादस्वामी... आहा...हा... ! **आत्मा के साथ एकमेक हो जाना, आत्मामय हो जाना, वह सामायिक है।** आत्मा पहले सम्यग्ज्ञान में, दर्शन में भासित हुए बिना एकमेक होना कहाँ से होगा ? यह तो देह की क्रिया मैं करता हूँ, ऐसा बैठा तो (मानता है कि) मैं बैठा.... कुछ राग होवे तो यह मेरा आत्मा है – ऐसा तो यह मानता है। अनात्मा को आत्मा मानता है तो स्थिर किसमें होगा ? (अनात्मा में) एकाग्र हुआ। आत्मा रागरहित और शरीररहित चीज है, उसका ज्ञान हो, वह उसमें स्थिर हो, उसे सामायिक कहते हैं। यह ४० (गाथा पूर्ण) हुई।

☆ ★ ☆

अनात्मज्ञानी कुतीर्थों में भ्रमता है

ताम कुतित्थइँ परिभमइ, धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएँ जाम णवि, अप्पा-देउ मुणेइ ॥४१ ॥

सदगुरु वचन प्रसाद से, जाने न आतम देव।
भ्रमे कुतीर्थ तब तलक रे, करे कपट के खेल ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ – **(गुरूहु पसाएं जाम अप्पादेउ णवि मुणेइ)** गुरु महाराज के प्रसाद से जब तक एक अपने आत्मारूपी देव को नहीं पहचानता है **(ताप कुतित्थिइँ परिभमइ)** तब तक मिथ्या तीर्थों में घूमता है **(ताप धुत्तिम करेइ)** तब ही तक धूर्तता करता है।

☆ ★ ☆

अनात्मज्ञानी कुतीर्थों में भ्रमता है। कुतीर्थ शब्द का प्रयोग किया है। फिर दूसरा प्रयोग करेंगे।

ताम कुतित्थइँ परिभमइ, धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएँ जाम णवि, अप्पा-देउ मुणेइ ॥४१ ॥

गुरु महाराज की कृपा से जब तक एक अपने आत्मारूपी देव को नहीं

पहचानता.... भगवान आत्मा, देह-देवल में आत्मा स्वयं सच्चिदानन्ददेव है। ये हड्डियाँ और चमड़ी मिट्टी और धूल है। भगवान आत्मा अन्दर देह-देवल में विराजमान है। अपने देव के स्वरूप को न जाने, **तब तक मिथ्या तीर्थों में भटकता है**। यह शब्द प्रयोग किया है न? **ताम कुतित्थिइ** शब्द प्रयोग किया है पहला भाई! कुतीर्थ शब्द प्रयोग किया है, हाँ! फिर उसमें लेंगे। फिर इस देव को लेंगे। बाहर कहाँ तेरा भगवान है? यह बाद में (लेंगे) परन्तु पहले तो कुतीर्थ (लेंगे)। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं है, आत्मा देवस्वरूप है, उसका जहाँ भान नहीं है, वह जहाँ-तहाँ भटका करता है। नदी, सागर में स्नान करता है। है न? नदी और सागर में स्नान करने जाता है। वहाँ स्नान करने से कल्याण (होता है)? वहाँ बहुत मछलियाँ स्नान करती हैं। समझ में आया? वहाँ नहाने जाओ, वहाँ अपना कल्याण होगा। शत्रुंजय में नहाने जाओ, कल्याण होगा.... धूल में (नहीं होगा)। वहाँ तो बहुत मछलियाँ नहाती हैं, वहाँ नहाने से कल्याण होता होगा? जहाँ-तहाँ कुतीर्थ में **रेत और पत्थर के ढेर करने से....** पत्थर लगाते हैं न? दो-दो, तीन-तीन, देवी-देवता और **पर्वत से गिरने से, अग्नि में जलकर मरने से भला होगा....** ऐसा मानते हैं न?

अभी किसी ने कहा कि एक व्यक्ति मरा है। शंकर के पास सिर दिया है, हाँ! राज्य लेने के लिए, मर गया, ऐसे का ऐसा मूढ़ जीव। धूल में भी वहाँ राज्य नहीं मिलता। ऐसे कुतीर्थ में आत्मा के देव को जाने बिना पाप है, पुण्यलाभ नहीं। **लोक मूढ़ता है**। यह लोक मूढ़ता है। समझ में आया?

जब तक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, संसार में आसक्त है, तब तक इसे इन्द्रियों के इष्ट विषयों की प्राप्ति की कामना रहती है और उसके बाधक कारण मिटाने की लालसा रहती है। ऐसा कहते हैं। **मिथ्यामार्ग के उपदेशकों द्वारा जिस किसी की पूजा-भक्ति से और जहाँ-तहाँ जाने से विषयों की प्राप्ति में मदद होना जानते हैं, उसकी भक्ति पूजा करते हैं**। देखो न! कुतीर्थ में कर्ता है या नहीं? यहाँ तो भगवान के नाम से करता है, अभी तो। **मिथ्यादेवों की मिथ्या गुरुओं की, मिथ्या धर्मों की और मिथ्या तीर्थों की बहुत भक्ति करता है**। नदी, सागर में स्नान करे,

इस्लाम माने। **खेल-तमाशा में विषय का पोषण करके धर्म मान लेता है।** यह मूढ़ता है, कहते हैं। समझ में आया? इत्यादि बात करते हैं। लो!

आत्मानुभव को ही निश्चय धर्म मानना, सम्यग्दर्शन है। भगवान आत्मा को शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनुभव करना, वह आत्मदेव और उसका नाम सम्यग्दर्शन है, वह देव की पूजा है। कुतीर्थ में जहाँ-तहाँ भटकने से कुछ मिले ऐसा नहीं है। गंगा में स्नान करेंगे तो मैल जाएगा.... शरीर का मैल जाएगा, आत्मा का मैल नहीं जाएगा। तुम्बी, तुम्बी का दृष्टान्त नहीं आता? कड़वी तुम्बी साथ में ले जाना, उसने कहा। आता है न? तीर्थयात्रा को निकले थे, तो साथ में कड़वी तुम्बी दी, इसे भी साथ में स्नान कराना, कराते-कराते सबमें नहाये और तुम्बी को स्नान कराकर आये, तीर्थ की हुई तुम्बी लाओ, काटो, टुकड़े करो.... (टुकड़े होने के बाद कहा) कड़वी है.... इतना-इतना स्नान किया (तो भी) तुम्बी की कड़वाहट तो मिटी नहीं और तुम इतने-इतने तीर्थ करने गये और आत्मा के भान बिना तुम्हारी कड़वाहट तो मिटी हुई दिखती नहीं। तीर्थ कर-करके यह सब भ्रम दिखता है। ऐसा दृष्टान्त आता है। तुम्बी को सब तीर्थ कराये परन्तु तुम्बी तो कड़वी रही। ऊपर से मैल निकला, अन्दर तो कड़वाहट रही। इसी प्रकार बाहर से स्नान करे, जहाँ-तहाँ गिरे परन्तु भगवान आनन्द शुद्ध आनन्दकन्द है – ऐसा न मानकर उसे दया, दान के विकल्प से लाभ होता है और इस पर से मुझे लाभ होता है, मुझे लाभ मिलता है, और इससे कुछ प्रतिकूलता टलती है, सन्तानहीनता मिटती है, पुत्रादि होते हैं और पैसा मिलता है, यह सब भ्रम तो पड़े हैं। भ्रम का जहर तो तेरा उतरा नहीं, तूने किसका तीर्थ किया? समझ में आया? यह तो फिर व्यवहार की क्रिया है, वह निमित्तरूप है – ऐसा कहेंगे।

☆ ★ ☆

निज शरीर ही निश्चय से तीर्थ व मन्दिर है

तित्थइँ देवलि देउ णवि, इम सुइकेवलि-वुत्तु।
देहा-देवलि देउ जिणु, एहउ जाणि णिरुत्तु॥४२॥

तीर्थ-मन्दिरे देव नहिं, यह श्रुति केवलि वान।
तन मन्दिर में देव जिन, निश्चय करके जान॥ ४२॥

अन्वयार्थ – (**सुइकेवलि इम वुत्तु**) श्रुतकेवली ने ऐसा कहा है कि (**तित्थहिं देविल देउ णवि**) तीर्थक्षेत्रों में व देवमन्दिर में परमात्मदेव नहीं है (**णिरूत्तु एहउ जाणि**) निश्चय से ऐसा जान कि (**देहादिवलि जिणु देउ**) शरीररूपी देवालय में जिनदेव हैं।

☆ ★ ☆

निज शरीर ही निश्चय से तीर्थ व मन्दिर है। अब यह अन्दर का आया।

तित्थइँ देवलि देउ णवि, इम सुइकेवलि-वुत्तु।
देहा-देवलि देउ जिणु, एहउ जाणि णिरुत्तु॥४२॥

श्रुतकेवली भगवान, जिस ज्ञान में पूर्ण सर्वज्ञ आदि अथवा श्रुतकेवलियों ने **तीर्थक्षेत्रों में और देवमन्दिर में परमात्मादेव नहीं.....** ऐसा कहा है परन्तु **णिरुतु** हाँ! **णिरुतु** अर्थात् निश्चय से। समझ में आया? श्रुतकेवली और भगवान, सन्तों ने बाहर देवालय में देव नहीं है, परमात्मा वहाँ नहीं है (– ऐसा कहा है)। निश्चय से परमात्मा नहीं। निश्चय से परमात्मा देह-देवल में तेरा आत्मा विराजमान है। समझ में आया?

निश्चय से ऐसा जान.... देखा? निश्चय से है न पाठ? **णिरुतु** ऐसा जान, ऐसा। **'देहादेवलि जिणु देउ' शरीररूपी देवालय में जिनदेव है।** भगवान आत्मा वीतरागस्वरूप विराजमान आत्मा है, उसे तू पहचान और उसकी पूजा कर, यह देव की पूजा है। समझ में आया? उन कुतीर्थों को लेकर अब यहाँ थोड़ा बाहर का डाला है। वहीं का वहीं भटका करे, सम्मेदशिखर और वह यहाँ है न, शत्रुंजय, वहाँ मानो भगवान है। वहाँ तो भगवान की स्थापना है। वास्तविक भगवान भी वहाँ नहीं, वे पर भगवान परन्तु वास्तविक वहाँ नहीं, ऐसा कहते हैं। क्या कहा? जो भगवान की स्थापना की है, वे वास्तविक भगवान भी वहाँ नहीं। वास्तविक भगवान तो समवसरण में विराजमान तीर्थंकररूप से वे वास्तविक भगवान हैं और वहाँ तो उन्हें देखेगा तो शरीर और वाणी तुझे अकेले दिखेंगे, भगवान नहीं दिखेंगे; उनका आत्मा नहीं दिखेगा। वह आत्मा कब दिखता है? कि तू तेरा देखेगा तो उनका आत्मा तुझे ज्ञात होगा। उनके आत्मा का ज्ञान कब होता है कि यह भगवान सर्वज्ञ

परमेश्वर हैं ? इस रागरहित तेरे आत्मा का ध्यान तू करे तब यह भगवान है – ऐसा तुझे ख्याल में आयेगा नहीं तो शरीर, वाणी दिखेंगे, समवसरण दिखेगा, लोग दिखेंगे, इन्द्र दिखेंगे आहा...हा...! मानो ऊपर से आये गंगाधर और विद्याधर.... समझ में आया ? साक्षात् परमात्मा विराजते हों तो वहाँ तुझे क्या दिखेगा ? परमात्मा, उनका आत्मा दिखेगा ? उनका आत्मा कब दिखेगा ? कि तू स्वयं जब उसे राग की आँख छोड़कर, पर को देखना छोड़कर और स्व को देखने जाये, तब तेरा आत्मा ज्ञात होगा (और तब) परमात्मा ऐसे होते हैं (ऐसा ज्ञात होगा)। समझ में आया ?

शरीररूपी देवालय में जिनदेव है। बाहर में तो व्यवहार है। शुभभाव, पूजा, भक्ति का शुभभाव व्यवहार है परन्तु परमार्थ से वहाँ देव है (ऐसा नहीं)। तेरा वह नहीं और परमार्थ से भगवान विराजते हैं, जो आत्मा, वह आत्मा यहाँ नहीं, वह तो स्थापना निक्षेप है और स्थापना निक्षेप में भी, स्थापना में भी भगवान के गुण गाते हैं न ? या मूर्ति के गुण गाते हैं ? भगवान ऐसे, तुम भगवान ऐसे, तुम भगवान ऐसे, तुम भगवान ऐसे.... परन्तु इस आत्मा की दृष्टि होवे तो उसे ऐसे शुभभाव के भाव को व्यवहार कहा जाता है परन्तु जिसे आत्मदृष्टि नहीं और अकेला वहीं देखता है, उसे कहते हैं कि आत्मा देव यहाँ है, वहाँ बाहर में कहीं नहीं है। अपने देव को छोड़कर दूसरे देव को पूजने जाये, वह पूजन सच्ची नहीं होती। समझ में आया ? इसकी विशेष व्याख्या करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ५, गुरुवार, दिनाङ्क २३-०६-१९६६
गाथा ४२ से ४५ प्रवचन नं. १६

वास्तव में शरीर ही तीर्थ और मन्दिर है। समझ में आया? यह शरीर ही आत्मा का तीर्थ और मन्दिर है, क्योंकि यहाँ आत्मा बसता है। बाह्य मन्दिर में कहीं यह आत्मा नहीं बसता। आत्मा को देखना और जानना हो – अनुभव करना हो तो कहीं (वह) मन्दिर में नहीं, प्रतिमा में नहीं, तथा साक्षात् भगवान है, उनमें भी यह आत्मा नहीं है। समझ में आया? इस आत्मा को देखना हो, जानना हो तो इस शरीररूपी तीर्थ और मन्दिर में वह दिखेगा। यह आत्मा कहीं भगवान के पास नहीं है। समवसरण में नहीं है कि वहाँ उसके समक्ष देखने से यह आत्मा दिखे।

प्रश्न – नमूना तो सच्चा है।

उत्तर – नमूना यहाँ होता है या वहाँ होगा?

मुमुक्षु – मन्दिर में नहीं?

उत्तर – नहीं, नहीं; उसमें बिल्कुल नहीं। यह आत्मा वहाँ है या यहाँ है? नमूना यहाँ है या वहाँ है? कहो, यह तो यहाँ ४२ (गाथा में) सिद्ध करना है। समझ में आया?

'**तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।**' श्रुतकेवली भगवान, श्रुतकेवली भगवान ऐसा कहते हैं। यह निश्चय की बात है न? '**देहादिवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुतु।**' देहरूपी देवालय में यह जिनेश्वर विराजमान है। देखो! यह वास्तविक तत्त्व। यह तो भगवान है, यह कहीं भावनिक्षेप से वहाँ नहीं। प्रतिमा और मन्दिर है, वह वहाँ भावनिक्षेप से भगवान है? वह तो स्थापना है।

यहाँ शरीर और यह तीर्थ है। यह शरीर, वह मन्दिर है कि जिसमें भगवान स्वयं

अन्दर में जाए तो तीर्थ हो – तिरने का उपाय मिले। कहो, इसमें समझ में आया ? इसमें बड़ा विवाद आया था न ? 'लालनजी' को इस गाथा में उन्हें संघ से बाहर किया था, ऐसा अर्थ पहले किया तब। सम्प्रदाय में रहने दें ? ऐ...ई...! अरे! हमारा मन्दिर.... हमारे मन्दिर....! परन्तु उस मन्दिर में तेरा आत्मा वहाँ कहाँ है ? तुझे आत्मा का दर्शन, और आत्मा को देखना और आत्मा का तीर्थ करना या पर का करना है तुझे ? हैं ?

मुमुक्षु – बहुत वर्षों तक मन्दिर में थे, स्थानकवासी हैं वे।

उत्तर – वे थे, सब पता है। सब पता है, कितने वर्ष पहले का पता है। 'लालन' हमारे पास रहे थे न!

श्रुतकेवली, वापस भाषा है, हाँ! श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं। **वुत्तु.... वुत्तु** कि देह देवल में **देउ जिणु** ऐसा जान। **णिरूत्तु** इस देह देवालय में भगवान है – ऐसा करके सिद्ध करते हैं कि भाई! तेरा आत्मा तो यहाँ है। आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अखण्ड आनन्द, वह इस शरीर में विराजमान है, तू अन्दर उसके सन्मुख देख तो तुझे आत्मा मिलेगा या वहाँ मन्दिर में देखने से आत्मा मिलेगा ? समझ में आया ? क्या है इसमें ? चिमनभाई! पहेली कठिन होती जाती है। यह सब है, वह उत्थापित हो जाता है – ऐसा कहते हैं। कहाँ गये ? परन्तु वह तो शुभभाव में वे भगवान कैसे थे – यह स्मरण करने में वे निमित्त हैं। स्मरण करे तो.... परन्तु स्मरण भगवान कैसे थे वे ? और वे भगवान कैसे थे, ऐसा मैं हूँ – ऐसा जानने का तो यहाँ आत्मा में है। इसमें समझ में आया ? रतनलालजी!

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर कैसे थे ? – उनका सामने एक प्रतिबिम्ब है (कि) ऐसे भगवान। यह भगवान का स्मरण। पर भगवान, हाँ! समझ में आया ? उसमें – शुभभाव में वह (स्मरण) निमित्त था। आत्मा वहाँ से प्राप्त होता है या भगवान साक्षात् विराजते हों, वहाँ से आत्मा प्राप्त होता है ? ऐ....निहालभाई! अद्भुत बात! एक ओर मूर्ति स्थापित करना, मन्दिर होना और फिर कहे कि उसमें भगवान नहीं। हैं ? वहाँ भगवान होवे तो फिर यहाँ अन्दर देखने का नहीं रहता। ऐसे ही (बाहर ही) देखा करे। ऐसे देखने से यह आत्मा दिखे – ऐसा है ? – ऐसा साक्षात् भगवान हो, वहाँ देखे (तो) यह भगवान दिखे ऐसा है ? इस देहदेवालय को तीर्थ और मन्दिर कहा जाता है, जहाँ भगवान आत्मा विराजता है,

परमानन्द निज परमात्मा। उसे देखने के लिए यह शरीर ही तीर्थ और मन्दिर है। ऐसा व्यवहार है, शुभभाव है।

मुमुक्षु – तब तो फिर उदासीन और प्रेरक में कोई फर्क रहता ही नहीं।

उत्तर – यहाँ सब उदासीन ही है; प्रेरक-फ्रेरक कोई है ही नहीं। प्रेरक तो उसकी गतिवाला हो या इच्छावाला हो तो इस अपेक्षा से प्रेरक कहलाता है। दूसरे के कार्य के लिए किसी प्रेरक में अन्तर है – ऐसा है नहीं। हमारे पण्डितजी तो कुछ बोले नहीं, यह बताया तो भी, सुन लिया। यह दो होकर एक डाला इन्होंने उदासीन-प्रेरक। फिर उदासीन-प्रेरक क्या? कुछ कराता है, उससे होता है, शास्त्र के वाक्य से कुछ ज्ञान होता है, यहाँ से यहाँ (ज्ञान) होता है? धूल में भी नहीं होता। सुन न! यह तो परसम्बन्धी का जो ज्ञान होता है, वह भी तुझसे होता है, उसमें निमित्त कहलाता है। उसमें स्वसम्बन्धी का ज्ञान, देह सम्बन्धी होता ही नहीं। शास्त्र के वाक्य, वे निमित्तरूप हों या मन्दिर आदि निमित्तरूप हों, वह तो परसम्बन्धी के ज्ञान में स्मरण में निमित्तरूप है; उपादान तो वहाँ अपना है। समझ में आया? और अपने स्मरण के लिए उस निमित्त के ऊपर लक्ष्य करे, तब स्मरण होता है अपना? शास्त्र वाक्य हो तो भी वह वाक्य ऐसा है – ऐसा बतलाता है, वह तो परसम्बन्धी का ज्ञान, वह अभी परलक्ष्यी ज्ञान है, उसमें भी उपादान तो स्वयं का ही है; वाक्य (तो) निमित्तमात्र है।

भगवान ऐसे थे, मन्दिर में जाकर (देखे कि) भगवान ऐसे थे, उनके स्मरण में स्मरण तो अपना उपादान है, उसमें वे निमित्त हैं। इस उपादान के स्मरण में वह आत्मा आता है? समझ में आया? यहाँ पर इतनी बात सिद्ध करनी है और फिर दूसरे श्लोक में दूसरे प्रकार से सिद्ध करनी है।

भगवान आत्मा..... देखो! **न मन्दिर में, न तीर्थक्षेत्र में, न गुफा में, न पर्वत पर, न नदी के तट पर.....** कहीं यह आत्मा नहीं है। है आत्मा कहीं? तो जहाँ नहीं, उसे परमार्थ मन्दिर और तीर्थ कैसे कहा जाएगा? है तो इस शरीर में है। इसे मन्दिर और इसे तीर्थ कहते हैं कि जो अन्दर में देखने से आत्मा का ज्ञान होता है। समझ में आया? **अभी तक जिसने परमात्मा को देखा है, उसने अपने अन्दर ही देखा है।** लो! इस ओर

लिखा है। १७४ पृष्ठ पर। समझ में आया? (पृष्ठ) १४२ वाँ है न? जो अभी तक अनन्त आत्माएँ जो हुए, उन्होंने आत्मा देखा तो अन्दर में देखा है। या बाहर में देखा है? या बाहर के द्वारा देखा है? कहो, समझ में आया? यहाँ तो उत्थापते हैं। वह तो शुभ में भगवान कैसे थे – उनके स्मरण में निमित्तमात्र है, परन्तु वहीं मान ले कि यह भगवान है और इनसे मुझे आत्मलाभ होगा..... तो आत्मा तो यहाँ है, वहाँ कहाँ था? समझ में आया? तीर्थ और मन्दिर में भटका-भटक (करता है)। मानो वहाँ से मोक्ष मिल जाएगा; मानो वहाँ से आत्मा आ जाएगा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान... सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो अन्दर दृष्टि करे तब प्राप्त हो ऐसा है। समझ में आया? अद्‌भुत बात, भाई! समझ में आया? यह तो फिर दूसरी बात की है।

यहाँ तो अपने इतना (लेना है कि) **वर्तमान में परमात्मा का दर्शन करनेवाला भी अपने शरीर के अन्दर ही देखता है; भविष्य में भी जो कोई परमात्मा को देखेगा, वह अपने शरीररूपी मन्दिर में ही देखेगा**। तीन काल की बात सिद्ध की है। अपने इसमें से सार-सार (लेते हैं)। समझ में आया? अनन्त काल में जितने आत्मा हुए – मोक्ष को प्राप्त हुए या सम्यग्दर्शन-ज्ञान को प्राप्त हुए, वे अन्दर आत्मा के भीतर में से -अन्तर से प्राप्त हुए हैं। कहो, ठीक होगा? हैं? और वर्तमान में पाते हैं, वे भी अन्तर में दर्शन करने से पाते हैं; भविष्य में पायेंगे तो अन्तर में इस आत्मा को देखने से अन्दर आत्मा मिलेगा। इस आत्मा को कोई भूतकाल में बाहर से देखकर पाये, वर्तमान में फिर अन्दर से देखकर पाये और भविष्य में फिर दूसरे प्रकार से पायें – ऐसा होगा? समझ में आया?

चाहे तो तीर्थ हो सम्मेदशिखर और चाहे तो शत्रुञ्जय और चाहे तो मन्दिर (होवे), सब (वे) भगवान सर्वज्ञ परद्रव्य कैसे थे? – उनके स्मरण के लिए निमित्त है। समझ में आया? आत्मा का स्मरण, तो स्मरण कब होता है? कि पहले उसका अवग्रह, विचारधारा होवे तब न? तो उसे पकड़कर विचारधारा कहाँ से प्रगटे? अन्दर लक्ष्य करे, तब प्रगटे या बाहर के लक्ष्य से प्रगटे? तो किसके यह सब बड़े मन्दिर बनाते हो? यह तीन-तीन लाख के मन्दिर! अच्छा होता है, रामजीभाई कहते हैं, तुम्हारे अहमदाबाद में अच्छा होगा, हाँ! बड़े सेठ कहलाते हो। भले उसके-लड़के के पिता तो कहलाओ। कहो, समझ में आया?

साधारण नहीं चलता। प्रमुख तुम्हारा है या नहीं ? यह तुम्हें कहते हैं। कहो, समझे इसमें ? आहा...हा... ! समझ में आया ?

यह आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द सम्पन्न है, तो इस आत्मा की प्राप्ति आत्मा के सन्मुख देखकर होवे – ऐसा है या पर के सन्मुख देखकर होवे – ऐसा है ? यह आत्मा अन्तर में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द – ऐसा आत्मा यहाँ विराजमान है। अब इस आत्मा के सन्मुख देखना हो तो कहाँ देखना ? ऐसा (बाहर में) देखना ? अन्तर में अन्दर देखने से आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञायक है, वह तो अन्तर में देखने से वह भाव ज्ञात हो – ऐसा है, इसलिए वास्तव में आत्मा को यह देह, वही देवालय है। देह ही देवालय है और देह ही वह तीर्थ है कि जहाँ आत्मा प्राप्त होता है। दूसरे देह और देवालय में वहाँ कहीं आत्मा प्राप्त होवे – ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! अद्‌भुत बात की है। भाई !

मुमुक्षु – छह आवश्यकों में पहला तो देव-दर्शन आता है।

उत्तर – देवदर्शन है न ? परदेव या यह देव ? कौन-सा (देव) ? यह क्या चलता है ? इस ४२ वीं गाथा में क्या लिया ? देखो ! '**तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि**' तीर्थ में, देव में यह देव नहीं। तीर्थ में और देवालय में यह देव नहीं – ऐसा श्रुतकेवली कहते हैं।

मुमुक्षु – इसका पर है न इसलिए।

उत्तर – वे तो पर हैं। वहाँ कहाँ आत्मा था ? उसके लिए तो यह लगाई है यहाँ।

योग-अन्दर आत्मा का योग। ऐसा जुड़ा, वह ऐसे जुड़ाय ? मन्दिर और तीर्थ में देखने से आत्मा दिखता होगा ? समझ में आया ? आहा...हा... ! अद्‌भुत बात !

योगीन्द्रदेव मुनि दिगम्बर सन्त हैं, वे स्वयं ४२ वें (दोहे में) कहते हैं। वास्तव में शरीर तीर्थ नहीं है, सब बाहर का उड़ा दिया। यहाँ जा और अन्दर देख – ऐसा कहते हैं। रतनलालजी ! लोगों में शोर मच जाये.... हाय...हाय... ! सुन न ! यह तो भगवान कैसे थे ? उसका ज्ञान-परोक्ष स्मरण करने में वे निमित्त हैं। समझ में आया ? अथवा जहाँ -जहाँ भगवान मोक्ष पधारे, वहाँ आगे ऊपर विराजमान हैं, उनका स्मरण (होता है) कि हो...हो... !

परन्तु वे तो पर के द्रव्य के परमात्मा के स्मरण में वे निमित्त हैं। इस भगवान आत्मा की स्मरण के लिए तो अन्दर में जाये तो स्मरण होता है – ऐसा है। आहा...हा...! हैं?

मुमुक्षु – अपने हित के लिए भी निमित्त के सन्मुख देखना ही नहीं?

उत्तर – निमित्त के सन्मुख देखे, इसे देखे नहीं – ऐसा है। यह योगसार है, योग अर्थात् आत्मा, शुद्ध चिदानन्द में जुड़ना-एकाकार होना। यह ऐसे (बाहर में) एकाकार होने से ऐसे (अन्दर) एकाकार हो – ऐसा नहीं है। ए... निहालभाई! पहुँच तो वहाँ फिर चिपटे, वहाँ मुक्ति और मोक्ष है.... वह तो एक शुभभाव होता है तब स्मरण में भगवान के स्मरण के लिए ऐसे भगवान थे। उस स्मृति को फिर झुकाना है अन्दर में.... वह स्मृति तो परलक्ष्यी हुई है। समझ में आया? ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर, वैसा मैं हूँ – ऐसा इसे अन्तर में जाए तो इसकी शक्ति की प्रतीति होती है या बाहर में देखने से प्रतीति होती होगी? सम्मेदशिखर देखे और शत्रुंजय देखे... दो हजार पुराना मन्दिर है, और पाँच हजार पुरानी प्रतिमा है। इससे भी लाख वर्ष पुरानी हो तो क्या है? परन्तु यह अनन्त काल का प्राचीन यह आत्मा है, वह? हैं? आहा...हा...!

जब जो जीव अनन्त हुए, उन्होंने इस आत्मा में अन्तर देखा, आत्मा अनन्त आनन्दकन्द है – ऐसा अन्तर में देखा, तब आत्मा की प्राप्ति हुई। कभी बाहर में देखकर आत्मा की प्राप्ति होवे – ऐसा भूतकाल में किसी जीव को हुआ नहीं, वर्तमान में होता नहीं, भविष्य में होगा नहीं। जो जीव, आत्मा अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध ध्रुव चैतन्य में अन्तर योग करेगा-जुड़ेगा, तब उसका ज्ञान होगा और तब इसका कल्याण होगा। अहा...हा...! कहो, समझ में आया? फिर तो इन्होंने लम्बी बात की है, उसका कुछ नहीं।

कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न.... करे। लो! कोई साधु की मूर्ति को देखकर प्रश्न करे तो वह सच्ची बात है? वह मूढ़ है या नहीं? वहाँ कहाँ साधु थे? (वह तो) साधु की मूर्ति है। समझ में आया? मूर्ति देखकर पूछे कि महाराज! इसका क्या? तू मूढ़ है, वहाँ कहाँ साधु थे? वह तो स्थापना है। इसी प्रकार भगवान की स्थापना (की हो उसमें) वहाँ कहाँ भगवान थे? समझ में आया? इतना थोड़ा-थोड़ा ठीक है, कोई-कोई बोल। अब, ४३।

☆ ★ ☆

देवालय में साक्षात् देव नहीं है

देहा-देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु, सिद्धे भिक्ख भमेइ॥४३॥

तन मन्दिर में देव जिन, जन मन्दिर देखन्त।
हँसी आय यह देखकर, प्रभु भिक्षार्थ भ्रमन्त॥ ४३॥

अन्वयार्थ – **(जिणु देउ देहादेवलि)** श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है **(जणु देवलिहिं णिएइ)** अज्ञानी मानव मन्दिरों में देखता-फिरता है **(महु हाउस पडिहाइ)** मुझे हँसी आती है **(इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ)** जैसे इस लोक में धनादि की सिद्धि होने पर भी कोई भीख माँगता फिरे।

☆ ★ ☆

४३ – **देवालय में साक्षात् देव नहीं है**। देखो! उसमें (४२ गाथा में) यह तीर्थ और मन्दिर है – ऐसा कहा था। अब, देवालय में साक्षात् देव नहीं है (ऐसा कहते हैं)। वह तो परोक्ष व्यवहार देव है।

मुमुक्षु – दूसरे सम्प्रदायवाले इस गाथा का आधार निषेध के लिए देते हैं।

उत्तर – निषेध के लिए देते हैं। यह तारणस्वामीवाले, यह स्थानकवासी लोग इसका (आधार) देते हैं। देखा यह? यह तो आत्मा का अन्दर (उपयोग) प्रयोग करे, तब यह साधन अन्तर में होता है परन्तु जब अन्दर स्थिर नहीं हो सकता, तब भगवान परमात्मा, मन्दिर, देव, का शुभभाव होता है, होता है; वह नहीं है – ऐसा माने तो भी मूढ़ है और उससे (कुछ धर्म) होता है – ऐसा माने तो भी नहीं है। अरे... समझ में आया? बाह्य तीर्थ, मन्दिर, भक्ति, और पूजा का भाव होता ही नहीं – ऐसा माने तो वह व्यवहार को नहीं मानता। व्यवहार है अवश्य परन्तु उससे आत्मा की प्राप्ति होती है – ऐसा माने तो व्यवहार और निश्चय एक हो गये, मूढ़ हो गया वह तो। समझ में आया? ४३।

देहा-देवलि देउ जिणु, जणु देवलिहिँ णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु, सिद्धे भिक्ख भमेइ॥४३॥

श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है। यह जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में है, यह जिनेन्द्रदेव, हाँ! स्वयं का है न? वहाँ (समयसार में) ३१वीं गाथा में केवली की स्तुति में आत्मा रखा है। समझ में आया? केवलज्ञानी की स्तुति कैसे होती है? – ऐसा भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव को प्रश्न किया। कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा कि इस आत्मा के अन्दर अतीन्द्रिय का अनुभव करे, इन्द्रियातीत होकर, तो वह केवली की स्तुति की कहा जाता है। समझ में आया?

श्री जिनेन्द्रदेव देहरूपी देवालय में हैं। यह जिनेन्द्र यहाँ है। **'जणु देवलिहि जिएइ' अज्ञानी जीव मन्दिरों में देखा करते हैं।** वहाँ यह भगवान विराजते हैं – ऐसा मानते हैं। वहाँ तो भगवान की स्थापना है। वहाँ तो साक्षात् भावनिक्षेप से भगवान वहाँ भी नहीं है, पर भगवान भी वहाँ नहीं है। हैं? विवेक बिना वहीं उनके सन्मुख देखने से मेरा कल्याण हो जाएगा और अन्दर का सम्यग्दर्शन हो जाएगा और सम्यग्ज्ञान हो जाएगा – (ऐसा माने तो) मूढ़ है। ऐसा यहाँ कहते हैं।

अज्ञानी **'जणु देवलिहि जिएइ'** मन्दिरों में देखते हैं। वहाँ भगवान है, वहाँ भगवान है, वहाँ भगवान है। हे भगवान! दे दो मुझे, दे दो, शिवपद मुझको दे दो रे महाराज! शिवपद! तेरा शिवपद वहाँ है? तेरा शिवपद तो यहाँ है। जो होवे वह तो बात लेनी न? तुम्हारे मन्दिर होता हो तो क्या? नया होता है इसलिए मानो....

मुमुक्षु – तो फिर दर्शन करते समय वहाँ क्या कहना?

उत्तर – कहना वहाँ क्या? ऐसे बोले भले परन्तु उसका विवेक चाहिए कि वे कुछ दे ऐसा नहीं। मेरा शिवपद तो मेरे पास है, यह तो एक भक्ति का भाव है। आहा...हा...! बाह्य भक्ति तो.... अन्दर की भक्ति तो अन्दर में उतरे वह भक्ति है। ज्ञानानन्दस्वरूप के अन्दर में एकाकार होकर अनुभव करना, वह आत्मा की भक्ति है। जिसके सन्मुख देखकर स्थिर होवे उसकी भक्ति वह है। सन्मुख देखकर उसमें स्थिर होवे तो वह परभक्ति है,

व्यवहार है। होता है, व्यवहार; व्यवहार नहीं – ऐसा नहीं। पूर्ण वीतराग न हो, इसलिए ऐसा व्यवहार होता है परन्तु कोई ऐसा माने कि इस व्यवहार के द्वारा अन्तर में निश्चय होगा – यह बात मिथ्या है, यह बात यहाँ सिद्ध करते हैं। समझ में आया?

कहते हैं कि '**महु हासउ पडिहाइ**' अरे.... **मुझे हँसी आती है**। बड़ा राजा **इस लोक में धनादिक की सिद्धि होने पर भी वह भीख माँगता फिरता है....** बड़ा राजा हो और भीख माँगे, भाईसाहब! कुछ देना, रोटी देना... इसी प्रकार तीन लोक का नाथ चैतन्य भगवान यहाँ विराजता है और माँगता है पर से। परदेवालय में और मन्दिर में माँगता है कि मुझे मोक्ष देना, वह है उसमें? 'राजा भिक्षार्थ भ्रमे ऐसी जन को टेव' है या नहीं इसमें? समझ में आया?

भगवान आत्मा....! यहाँ तो योगसार है न? योग अर्थात् अपने में जुड़ान हो, तब योग कहलाये या पर में जुड़ान हो, वह योगसार कहलाये? अपने में, ज्ञानानन्दस्वरूप चैतन्य में एकाकार होने से योगसार कहा जाता है। योगसार नहीं, योग है भले व्यवहार, सार नहीं; सार तो यह योगसार है। समझ में आया? आहा...हा...! दूसरे प्रकार से कहें तो वह योग तो असत्य है, यह योग ही सत्य है; वह योग व्यवहार है, यह योग निश्चय है; व्यवहार योग असत्यार्थ है, निश्चययोग सत्यार्थ है। समझ में आया? अरे...!

मुमुक्षु – दूसरा रंग.....

उत्तर – दूसरा रंग होवे, शुभभाव का होवे। दूसरा क्या है? जब होवे तब शुभ होवे, तब भगवान ऐसा है। ऐसा भी कहे हे प्रभु! तुम्हारी भक्ति से... देखो न! श्रीमद् का एक वाक्य नहीं? 'भजि ने भगवन्त भव अन्त लहो, भजि ने भगवन्त भव अन्त लहो' ए.... निहालभाई! 'भजि ने भगवन्त....' दूसरे ऐसा बोले कि उन भगवान को भजकर भव का अन्त हो गया। शब्द ऐसे हैं। आता है न? 'शुभ शीतलतामय छाय....' भाषा तो ठीक, भव अन्त की बात लेते हैं। वापस वह (आता है) 'भजि ने भगवन्त....' इस भगवान को भजकर, यह भगवान ऐसा कहते हैं, उनका भजन तब व्यवहार से कहलाता है कि वे ऐसा कहते हैं कि तेरे स्वरूप का भजन कर, तब भव का अन्त आयेगा। समझ में आया? हमारा स्मरण करते रहने से, हमारे सन्मुख देखकर मर जाए तो भी कहीं तेरा कल्याण हो – ऐसा नहीं है।

है वीतरागमार्ग! परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ का मार्ग ऐसा है। जगत् तो ऐसा एकान्त मानकर बैठ जाता है कि वहाँ से हमारा मोक्ष होगा, वह मूढ़ है। वैसे ही आत्मा के स्वरूप का आश्रय करके पूर्ण स्थिरता न हो, तब तक ऐसा स्मरण और भक्ति का भाव आये बिना नहीं रहता। अशुभ से बचने के लिए (आता है)। स्थिरता का शुद्ध उपयोग न हो (तब) अशुभ से बचने के लिए ऐसा शुभभाव होता है परन्तु उस व्यवहार से अन्दर में कल्याण होगा – ऐसा मान ले तो वह बात (झूठ है)। आहा...हा...! सामने देखना छोड़कर अन्दर में देखेगा, यह भगवान अन्दर में पूर्णानन्द का नाथ विराजता है 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' – यह अन्दर में देखे, तब उसका कल्याण होगा। ज्ञान से देखे, श्रद्धा से माने, स्थिरता से लीन हो, उसमें स्थिर होवे और उसे देखे और माने, स्थिर हो या बाहर से आता होगा? आहा...हा...! कहो समझ में आया? जो बात हो वह स्पष्ट तो आना चाहिए या नहीं।

लोक में बड़ा धनाढ्य हो और घर का.... यहाँ कहने का आशय ऐसा है कि पूँजी है घर में.... समझ में आया? पूँजी समझे न? लक्ष्मी है घर में और माँगने जाए वहाँ.... ऐसे यह लक्ष्मी यहाँ अन्दर में पड़ी है – अनन्त केवल ज्ञानादि लक्ष्मी तो यहाँ है, भीख माँगता है भगवान के पास, बाहर के भगवान के पास... हे भगवान! देना, कुछ देना। वे भगवान कहते हैं कि तेरे पास है, मेरे पास नहीं। समझ में आया? देखो!

यहाँ इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमन्दिरों की बाहरी भक्ति से ही संतुष्ट होते हैं व अपने को धर्मात्मा समझते हैं, इस बात का बिलकुल विचार नहीं करते हैं कि यह मूर्ति क्या सिखाती है व हमारे दर्शन करने का व पूजन करने का क्या हेतु है, कुछ नहीं समझते.... वे केवल कुछ शुभभाव के पुण्य बाँध लेते हैं परन्तु उनको निर्वाण का मार्ग नहीं दिख सकता है। अन्तरंग चारित्र के बिना बाहरी चारित्र होता है – यह बालू में से तेल निकालने के समान प्रयोग है। बाह्य चारित्र है न यह सब? पूजा, भक्ति आदि बाह्य चारित्र है, व्यवहार है, विकल्प.... इस अन्तरंग बिना चारित्र, अन्तर में रमणता बिना यह बाहर का चारित्र **बालू में से तेल निकालने के समान प्रयोग है**। रेत में से तेल निकालना। **सम्यग्दर्शन**

बिना.... अर्थात् क्या कहते हैं ? अपना जो स्वरूप है, उसे अन्तर्मुख से प्रतीति किये बिना **सर्व ही शास्त्र का ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र है।** कहो, समझ में आया इसमें ? आहा...हा... ! ऐसा कहकर बहुत बात ली है।

थोड़ा सा अन्त में लिया है। पृष्ठ १७९ में – **जिसने आत्मदेव को शरीर के अन्दर देख लिया, उसे फिर बाहर की क्रिया में मोह नहीं हो सकता।** बाह्य क्रिया आवे अवश्य परन्तु मोह नहीं है। **कारणवश अशुभ से बचने के लिए वह बाह्य क्रिया करे तो भी उसे निर्वाण का मार्ग नहीं मानता।** यह सब सार है। लक्ष्य में होवे तो सब आ जाता है। बाकी सब लम्बी बात बहुत है। समयसार का दृष्टान्त दिया है। **जो परमार्थ से बाह्य है....** समयसार है न ? **'परमट्ठबाहिरा'** परमार्थ भगवान आत्मा.... (वहाँ) पुण्य का अधिकार है। तो पुण्यभाव तो शुभभाव है और शुभभाव में लक्ष्य तो पर के ऊपर जाता है। स्वभाव चैतन्यस्वरूप, जिसे उसकी दृष्टि नहीं, उसका आश्रय नहीं – ऐसे परमार्थ से बाह्य जीव **निश्चयधर्म को नहीं जानते।** सच्चे धर्म को नहीं समझते। **मोक्ष के मार्ग को नहीं जानते वे अज्ञान से संसार भ्रमण के कारणरूप पुण्य को ही चाहते हैं....** उस शुभभाव की ही भावना होती है, उससे मुक्ति होगी – ऐसा मानते हैं। **पुण्यकर्म का बंध करनेवाली क्रिया को निर्वाण का कारण मान लेते हैं।**

दूसरा दृष्टान्त दिया है, मोक्षमार्ग का समयसार का – **कोई बहुत कष्ट से मोक्षमार्ग से विरुद्ध असत्य व्यवहाररूप क्रियाएँ करके कष्ट भोगता है तो भोगो....** मिथ्यादृष्टि अन्य और कोई जैन में रहनेवाले **जैनों के महाव्रत और तप के भार से पीड़ित होते हुए कष्ट भोगते हैं तो भोगो परन्तु उनका मोक्ष नहीं होता है।** पर तरफ के लक्ष्य में दया, दान, व्रत, भक्ति, तप से कभी भी मुक्ति नहीं होती है। अरे ! व्यवहार, व्यवहार, व्यवहार.... व्यवहार है अवश्य, परन्तु उससे निश्चय प्राप्त नहीं होता – ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। पर के योग से स्व-योग प्राप्त नहीं होता। योगीन्द्रदेव (ऐसा कहते हैं) कि श्रुतकेवली ऐसा कहते हैं, श्रुतकेवली ऐसा निश्चय से कहते हैं। समझ में आया ? यह ४३ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख

मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति॥४४॥

नहीं देव मन्दिर बसत, देव न मूर्ति चित्र।
तन मन्दिर में देव जिन, समझ होय समचित्त॥ ४४॥

अन्वयार्थ – (**मूढा**) हे मूर्ख! (**देउ देवलि णवि**) देव किसी मन्दिर में नहीं है (**सिलि लिप्पइ चित्ति णवि**) न देव किसी पाषाण लेप या चित्र में है (**जिणु देउ देहा-देवलि**) जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में हैं (**समचित्ति सो बुज्झहि**) उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

☆ ★ ☆

४४। **समभाव से अपने देह में जिनदेव को देख**। उन दो में निषेध किया न? अब यहाँ देखने में साधन क्या? ऐसा कहते हैं। यह तीर्थ और मन्दिर यह है – ऐसा कहा। देवालय में देव नहीं (है), अज्ञानी मानता है – ऐसा कहा। तब यहाँ देखने में करना क्या? किस भाव से आत्मा दिखता है? समझ में आया?

मूढा देवलि देउ णवि, णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु, सो बुज्झहि समचित्ति॥४४॥

वजन यहाँ है। उन परदेव, देवालय में तो शुभराग है, शुभविकल्प है, पर का स्मरण है। भगवान आत्मा को अन्दर देखने में '**समचित्ति**' सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञात हो – ऐसा है। कहो, समझ में आया? '**समचित्ति**' क्यों कहा? बाहर के परोन्मुखता में तो शुभराग होता है। देवालय, देव, मन्दिर, दर्शन, भक्ति में शुभराग है। शुभराग से चैतन्यमूर्ति दिखती नहीं।

चैतन्यमूर्ति भगवान राग से रहित समभाव अरागी ज्ञान, अरागी श्रद्धा, अरागी स्थिरता द्वारा अन्तर में अवलोकन होता है। समझ में आया? यह '**समचित्ति**' योग है।

स्वभाव पूर्णानन्द का माहात्म्य आकर जो स्थिरता – अन्दर में एकाग्रता (होती है), उस एकाग्रता को यहाँ समभाव कहा गया है। बाहर की अन्दर में एकाग्रता हो, उसे तो विषमभाव-शुभराग कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा निज प्रभु आत्मा विराजमान है, उसे देखने में तो समभाव चाहिए; पर को देखने में तो राग होता है, शुभभाव होता है। समझ में आया?

हे मूर्ख! देव किसी मन्दिर में नहीं है न देव किसी पाषाण, लेप या चित्र में है.... समझ में आया? **'जिणु देउ देहा-देवलि' जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालय में है।** देखो, यह जिनेन्द्र अर्थात् आत्मा.... **'जिणु'** कहा है न? **'जिणु'**। यह जिनदेव तो यह आत्मा है। **'जिणु देउ'** जिनदेव तो **'देहा-देवलि'** शरीररूपी देवालय में भगवान यहाँ विराजते हैं। तेरा जिनेन्द्र तो यहाँ विराजता है। वीतरागमूर्ति आत्मा.... आत्मा ही जिनेन्द्र है। जिनेन्द्र, अर्थात् वीतराग का इन्द्र है, अर्थात् आत्मा ही अपना वीतरागी स्वभाव का ही ईश्वर है। अपना त्रिकाल वीतरागस्वरूप है, अकषायस्वरूप है, अनाकुलस्वरूप है, बेहद शान्तस्वरूप है – ऐसा वीतराग का ईश्वर, यह आत्मा स्वयं ही जिनेन्द्र है। समझ में आया? अरे! भाईसाहब! मैं जिनेन्द्र होऊँ? तू जिनेन्द्र न हो तो होगा कहाँ से? पर्याय में – अवस्था में जिनेन्द्र आयेगा कहाँ से? भगवान आत्मा स्वयं स्वरूप से जिनेन्द्र न हो तो पर्याय में-अवस्था में जिनेन्द्र होगा कहाँ से? समझ में आया?

मुमुक्षु – हे भाई! हे सखा! हे भव्य... ऐसा आता है न?

उत्तर – यह तो सब सम्बोधन चाहे जो करे। हे भव्य! इसमें सम्बोधन चाहे जैसे करें, उसका कुछ नहीं।

'समचित्ति सो बुज्झहि' उस देव को समभाव से पहचान या उसका साक्षात्कार कर। लो, यह सार यहाँ है। वहाँ **परमात्मादेव ईंट और पाषाण के बने हुए मन्दिर में नहीं मिलेगा।** वहाँ परमात्मा नहीं मिलेगा। कहो? **नहीं परमात्मा का दर्शन किसी पाषाण या धातु या मिट्टी की मूर्ति में होगा या नहीं किसी चित्र में होगा।** लो! **अपना आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा जिनदेव है।** यहाँ डाला, यहाँ ही है। भगवान आत्मा वीतरागी पिण्ड आत्मा ध्रुव शाश्वत् चिदानन्दमूर्ति है, वह स्वयं ही

जिनेन्द्र का स्वरूप है। जिन और जिनवर ने कोई अन्तर नहीं है। ऐसा यह जीव, वह स्वयं ही जिनेन्द्र है। इसके दर्शन अन्तर में समभाव से होते हैं। समभाव अर्थात् परसन्मुख का झुकाववाला राग.... उसे छोड़कर, स्वभावसन्मुख की श्रद्धा, ज्ञान जो समभावरूप है, उससे भगवान जिनेन्द्र दिखते हैं, उससे श्रद्धा में आते हैं, उससे ज्ञात होते हैं। आहा...हा...!

योगीन्द्रदेव मुनि थे, दिगम्बर सन्त जंगल में बसते थे, उन्होंने दुनिया को यह कहा है। यह जैनधर्म का रहस्य है। समझ में आया? इस रहस्य का धारक भगवान तू है, तेरे सन्मुख देखने से तू परमात्मा होवे ऐसा है। पर के सन्मुख देखने से तू परमात्मा होवे – ऐसा नहीं है। पराधीनतावाले को (ऐसा लगता है कि) ऐसा होगा, पर के बिना मेरे चले नहीं, पर के बिना चले नहीं, पर के लक्ष्य बिना चले नहीं, पर के ज्ञान बिना चले नहीं, पर के आधार बिना चले नहीं... वह पामर हो गया। अर्थात् उसे अपनी स्वतन्त्रता का भान नहीं है। समझ में आया? वह तो एकान्त शुभभाव का निमित्त है – ऐसा कहते हैं। इतना, समझ में आया? बाकी लम्बी-लम्बी बात की है। वह तो सब चलता है। अब ४५ (गाथा)।

☆ ★ ☆

ज्ञानी ही शरीर मन्दिर में परमात्मा को देखता है

तित्थइ देउलि देउ जिणु, सव्वु वि कोई भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ, सो बुहु को वि हवेइ॥४५॥

तीर्थ रु मन्दिर में सभी, लोग कहे हैं देव।
बिरले ज्ञानी जानते, तन मन्दिर में देव॥ ४५॥

अन्वयार्थ – (**सव्वु वि कोई भणेइ**) सब कोई कहते हैं (**तित्थइ देउलि देउ जिणु**) कि तीर्थ में या मन्दिर में जिनदेव है (**जो देहा-देउलि मुणइ**) जो कोई देहरूपी मन्दिर में जिनदेव को देखता या मानता है (**सो को वि बुहु हवेइ**) सो कोई ज्ञानी ही होता है।

☆ ★ ☆

ज्ञानी ही शरीर मन्दिर में परमात्मा को देखता है। शरीररूपी आत्मा का मन्दिर, यह आत्मा वहाँ देखता है, किसी दूसरे मन्दिर में यह आत्मा नहीं दिखता। यहाँ 'देखने' से शुरु किया है। वह नहीं देखता था, ऐसा था। समझ में आया? नहीं देखता था, ऐसा है, इसमें देव है अब देखता है यहाँ – ऐसा कहते हैं।

तित्थइ देउलि देउ जिणु, सव्वु वि कोई भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ, सो बुहु को वि हवेइ॥४५॥

सब कोई कहते हैं कि तीर्थ में अथवा मन्दिर में जिनदेव है। अज्ञानी सब ऐसा कहते हैं कि भगवान वहाँ विराजते हैं। दूसरे आक्षेप करते हैं देखो! तुम्हारे में ऐसा लिखा है। अरे! सुन न अब, भाई! यह तो स्थापना निक्षेप को आत्मा वहाँ मान लेता है। उसे भावनिक्षेप माने वह तो भूल है, स्थापना में भाव भगवान है – ऐसा माने वह भूल है परन्तु उस स्थापना में यह आत्मा माने तो यह बड़ी भूल है – ऐसा कहते हैं, यहाँ तो यह बात है। समझ में आया? और स्थापना नहीं है – ऐसा माने तो भी वह मूढ़ जीव है। वस्तु नहीं कुछ? स्वयं को जब तक पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक अशुभ से बचने के लिए, (ऐसा) भाषा में व्यवहार (आता है)। वरना तो शुभभाव उस काल में उस प्रकार का होता है, उस प्रकार का, हाँ! भक्ति का, ऐसा। दया का राग हो, तब दया का; स्मरण का हो, तब स्मरण का; भक्ति का उस प्रकार का राग, उस काल में आता है, होता है परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि वहाँ तू आत्मा को देखना चाहेगा तो वहाँ आत्मा नहीं मिलेगा। समझ में आया? इसका वे तो वहाँ एकान्त मानकर आत्मा प्राप्त होगा, वहाँ से मुझे समकित होगा (ऐसा मानते हैं)। समकित तो स्वभाव सन्मुख होने से होता है, परसन्मुखता से तो व्यवहार समकित, (वहाँ) श्रद्धा का विषय पर है।

मुमुक्षु – उसे व्यवहार समकित नहीं होता?

उत्तर – बिल्कुल नहीं होता, इसके लिए तो यहाँ बात करते हैं। ऐसा देखे, ऐसा नहीं होता। फिर भी यह देखना है अवश्य; जहाँ तक पूर्ण अपने स्वरूप में स्थिर न हो, वहाँ तक ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता, व्यवहार को न माने (और) एकान्त,

निश्चय माने तो वह मूढ़ है और उस व्यवहार द्वारा आत्मा को देखेगा – ऐसा माने तो भी मूढ़ है। कहो ?

सब कोई कहते हैं कि तीर्थ में या मन्दिर में जिनदेव है। जो कोई देहरूपी मन्दिर में जिनदेव को देखता है या मानता है, सो कोई ज्ञानी ही होता है। ज्ञानी, कोई धर्मात्मा (देहरूपी) मन्दिर में आत्मा देखता है। समझ में आया ? भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ है, उसे इस देहदेवालय में देखता है, वह ज्ञानी है। दूसरा अज्ञानी वहाँ भगवान देखता है, वह अज्ञानी है – ऐसा कहते हैं। व्यवहाररूप से जाने वह ज्ञानी है। व्यवहाररूप से जाने कि भक्ति है, शुभव्यवहार है, भगवान की स्थापना है, भगवान यहाँ साक्षात् विराजमान नहीं है। हमारे भगवान का मुझे उपकार वर्तता है, हमारे उपकारी का भाव प्रसिद्ध करने के लिए भगवान की मूर्ति की भक्ति है – ऐसा जाने तो वह अज्ञानी नहीं है, परन्तु उससे मेरा कल्याण, केवलज्ञान अन्दर हो जाएगा या समकित होगा – ऐसा वहाँ भगवान को माने तो वह मूढ़ अज्ञानी है – ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया ? कहो, भगवानभाई !

(संवत्) १९८२ में कहा था, एक भाई थे न! वे कैसे, 'मणिलाल सुन्दरजी' या क्या नाम (था) ? 'मणिलाल सुन्दरजी' वढवाणवाले वैद्य, वैद्य थे ? १९८२ में वढवाण में चतुर्मास था न ? वढवाण... फिर रात्रि में बैठे थे, पाँच, सात, दस व्यक्ति बैठे थे फिर कहा, देखो ! भाई ! ऐसी बात है। एक व्यक्ति ने (दूसरे के) पिता को सौ रुपये दिये। अब वह दिये (इसलिए) नाम में ऊपरी रूप से लिखा था। बहुत विस्तार नहीं, फिर दोनों मर गये। तब (जिसने) सौ रुपये दिये (उसने कहा) मेरे पिता ने तेरे पिता को दस हजार रुपये दिये थे (उसने) सौ के ऊपर दो शून्य चढ़ाये, सौ रुपये दिये थे फिर दो शून्य चढ़ाकर दस हजार (किये और कहा) तेरे पिता को मेरे पिता ने दस हजार रुपये दिये थे, लाओ। दूसरा लड़का कहता है कि मैं बहियाँ देखूँगा। बहियों में देखा तो सौ निकलते हैं परन्तु यदि सौ स्वीकार करूँगा तो (सामनेवाला) दस हजार माँगता है (इसलिए उसने कहा) सौ भी नहीं (देना निकलता)। उसने दो शून्य चढ़ाये, इसने निकाल डाले। ऐसा कहा था। इन श्वेताम्बरों ने भगवान के सिर पर इतने अधिक गहने (चढ़ाकर) शून्य चढ़ा दिये। स्थानकवासी के पास से माँगा तो उसने मूल में से निकाल दिया। ए.... हरिभाई !

(संवत्) १९८२ की बात है, ४० वर्ष हुए, रात्रि में उपाश्रय में बैठे थे। 'मणिलाल सुन्दरजी' थे। देखो! भाई! मूर्ति तो है, कहो क्या कहना है तुम्हारे? परन्तु मूर्ति चाहिए सादी। श्वेताम्बर थे। पता है, श्वेताम्बर थे 'बढ़वा' जाते हुए आते थे। रात्रि में आये थे, वहाँ हमारे पास आये थे। देखो! मूर्ति है परन्तु मूर्ति में ऐसा नहीं होता, यह तो बढ़ा डाला, बढ़ाकर स्थानकवासी से माँगा तो वह कहते हैं, मूल में ही नहीं है। कहा, ऐसा बना है। बात सुनो, कहा। पाँच, सात व्यक्ति रात की चर्चा में थे, उस समय ऐसी कोई चर्चा नहीं थी। महाराज कुछ कहते होंगे, उसमें कुछ सन्देह का स्थान (नहीं होता)। वे कुछ कहते होंगे – ऐसा कहकर निकाल देते परन्तु यह तुम्हारा झूठा कर देते हैं।

यहाँ तो कहते हैं, **जगत् में व्यवहार को ही सत्य माननेवाले बहुत हैं**। क्या? यह व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, देवालय, मन्दिर आदि परमात्मा ये ही मानो सत्य है, इस व्यवहार को ही सत्य माननेवाले बहुत जीव हैं। **सब ऐसा ही कहते हैं कि घड़ा कुम्हार ने बनाया....** देखो! यह जरा ठीक है, भाई! घड़े को कुम्हार ने बनाया (ऐसा अज्ञानी देखता है परन्तु) **घड़ा मिट्टी से बना है...** पूरी दुनिया कहती है कि कुम्हार ने घड़ा बनाया, कुम्हार ने घड़ा बनाया.... व्यवहार को सत्य मान लेते हैं। यह तो व्यवहार है, इसे सत्य मान लेते हैं। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान, तीर्थ और देवालय तो व्यवहार है, इनसे सत्य आत्मा मान ले, मूढ़ है – ऐसा कहते हैं। समझे न? **घड़ा मिट्टी से बना है – ऐसा कोई नहीं कहता**। कहते हैं कोई? उसमें आता है या नहीं? तेरा (उपादान का) नाम भी कौन याद करता है? उस उपादान से (निमित्त) कहे – जहाँ हो वहाँ पूछे तो हमारी बात है। घड़ा कुम्हार ने किया, रोटी स्त्री ने की, पानी भर आये.... यह घिसने का किया इस अमुक पत्थर द्वारा अच्छा सिल-बटना, सिल-बटना अर्थात् बारीक किया। यह सब बातें इस निमित्त से तो पूरी दुनिया बोलती है और तू उपादान की बात कहाँ पूछने जाता है? वह कहता है परन्तु उपादान भगवान के पास है, हाँ! सम्यग्ज्ञानी के पास उपादान का पूछें तो वे उपादान से कहेंगे।

यहाँ कहते हैं वास्तव में घड़े में मिट्टी का आकार है। क्या कहते हैं? घड़े में मिट्टी का आकार आया है। कुम्हार में आकार आया है? शक्ल समझे न? आकार... उसकी

आकृति... मिट्टी में कुम्हार की आकृति आयी है ? या मिट्टी आयी है ? **मिट्टी का ढेर ही घड़ेरूप हुआ है।** मिट्टी का जो ढेर था, वह घड़ारूप हुआ है या कुम्हार घड़े के रूप में हुआ है ? **कुम्हार के योग और उपयोग मात्र निमित्त है, इसी प्रकार तीर्थस्वरूप जिन प्रतिमाएँ केवल निमित्त है, उनके द्वारा अपना शुद्ध आत्मा जैसा परमात्मा, अरिहन्त और सिद्ध का स्मरण हो जाता है।** इतना.... परमात्मा ऐसे आत्मा थे, ऐसा स्मरण का एक निमित्त है।

वास्तव में वह क्षेत्र प्रतिमा, मन्दिर सब अचेतन जड़ हैं तो भी चेतन का स्मरण कराने के लिए निमित्त है। अर्थात् स्मरण करे तो निमित्त कहलाते हैं। वही उनका स्मरण, हाँ! परमात्मा भगवान का नहीं। **इसलिए उनकी भक्ति द्वारा परमात्मा की भक्ति की जाती है।** उनकी भक्ति द्वारा अर्थात् परमात्मा सर्वज्ञ की, हाँ! **मिथ्यादृष्टि जीव विचार नहीं करता कि वास्तविक बात क्या है ? वह मन्दिर और मूर्ति को ही देव मानकर पूजता है, इस कारण आगे विचार नहीं करता कि प्रतिमा तो अरहन्त और सिद्ध पद के ध्यानमय भाव का चित्र है, वह भाव की स्थापना है।** किसके भाव की ? भगवान के भाव की। **वह साक्षात् देव नहीं है।** वह साक्षात् देव भी नहीं तो यह आत्मा देव, वहाँ कहाँ से आया ? कहो, समझ में आया ?

फिर इन्होंने जरा ऐसा लिया है, भक्त कहीं पत्थर के गुण नहीं गाते। भगवान भावनिक्षेप से कौन है ? उनके वहाँ गुण गाते हैं। मूर्ति को देखकर (कहते हैं) भगवान तुम ऐसे हो, ऐसे हो, ऐसे हो। लो, समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि सदा जानता है और अनुभव करता है कि जब मैं मेरे अन्दर शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखता हूँ तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दिखता है। अपना परमात्मा देखने में तो अन्तरदृष्टि करे तो देखे तो जिनदेव तो यहाँ है। राग को जीतनेवाला वीतराग होनेवाला तो भगवान आत्मा स्वयं है। जिनदेव तो आत्मा है। यह जिनदेव पर में नहीं रहता। कहो, समझ में आया ? **मुझे मेरे अन्दर मुझे मेरे द्वारा ही देखना चाहिए। यही आत्मदर्शन निर्वाण का उपाय है।** आत्मा का दर्शन निर्वाण का उपाय है। कहीं भगवान का दर्शन निर्वाण का उपाय नहीं है.... बाहर की भक्ति, निर्वाण का उपाय नहीं है।

दृष्टान्त दिया है **सिंह की मूर्ति को साक्षात् सिंह मानकर पूजा करे कि यह सिंह मुझे खा जाएगा तो उसे अज्ञानी ही कहते हैं।** सिंह खा जाएगा? ऐसे भगवान तिरा देंगे? ऐसा यहाँ कहते हैं, भाई! सिंह देखकर खा जाएगा – ऐसा माने तो मूढ़ है, वह तो स्थापना है। इसी प्रकार यह भगवान मुझे तार देंगे अन्दर का भाव, वह मूढ़ है। वहाँ कहाँ तेरा भाव था? सुनते हैं न इतने वर्ष से? ३१ वर्ष हुए। हैं? इसका पक्का हृदय कठिन है। कहो, समझ में आया? **ज्ञानी जानता है कि सिंह की मूर्ति का आकार उसकी क्रूरता और भयंकरता बताने के लिए एकमात्र साधन है....** सिंह के स्वरूप को दिखाने के लिए एक निमित्त है। उस सिंह का स्वरूप, हाँ! **वह साक्षात् सिंह नहीं है, इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।** साक्षात् सिंह का लाभ नहीं है। **सिंह का स्वरूप बताने के लिए सिंह की मूर्ति परम सहायक है।** निमित्त है। **जो शिष्य सिंह के आकार और उसकी भयंकरता से अनजान है, उसे सिंह का ज्ञान कराने के लिए सिंह की मूर्ति प्रयोजनवान है।** यह निमित्त है। **इसी प्रकार जब तक स्वयं के अन्दर परमात्मा का दर्शन न हो, तब तक यह जिनमूर्ति परमात्मा का दर्शन कराने के लिए निमित्तकारण है।**

यह (सिंह) सब खा जाएगा... ऐसे यह मुझे तिरा देंगे... वे कहते हैं न? गाय कहीं दूध देगी? सिंह कुछ मारेगा? गाय कहाँ है वहाँ? वह तो स्थापना है। समझ में आया? स्थानकवासी यह दृष्टान्त देते हैं। गाय कुछ दूध नहीं देती, सिंह कुछ नहीं मारता और भगवान कुछ तिरा नहीं देते। तीनों देते हैं, तीन बात कहते हैं। कौन कहता है कि यह गाय सच्ची है और कौन कहता है कि वहाँ भगवान सच्चे हैं, वह तो निमित्त हुआ। उन भगवान का आत्मा कैसा? यह जानने का निमित्त हुआ और फिर ऐसा ही आत्मा मैं हूँ – ऐसा अन्तर्मुख देखे तो होता है। समझ में आया? 'वाद-विवाद करे सो अन्धा' हैं?

मुमुक्षु – कैसे देखना यह सिखलाते हैं?

उत्तर – आत्मा कैसे देखना ऐसा सीखता है। कहो, समझ में आया? **मूर्ति को मूर्ति मानना, परमात्मा नहीं मानना, यही यथार्थ ज्ञान है। जो व्यवहार में मग्न रहता है, वह मूल तत्त्व को नहीं पहचानता।** है न? उस व्यवहार में वहीं का वहीं मग्न रहे

तो वह आत्मा को नहीं देखता। यह भगवान तिरा देंगे.... शाम, सबेरे, दोपहर तीन-तीन घण्टे वहीं का वहीं भगवान के पास (बैठा रहे), जय भगवान, जय भगवान (करे)। वहाँ नहीं, यहाँ अन्दर देख। समझ में आया? व्यवहार से निश्चय प्राप्त नहीं होता – ऐसा कहते हैं। तथापि व्यवहार है अवश्य। समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु – यह योगसार कभी पढ़ा नहीं।

उत्तर – नहीं, कभी पढ़ा नहीं, पहली बार पढ़ा जाता है।

व्यवहार वास्तव में अभूतार्थ और असत्यार्थ है। जैसा मूल पदार्थ है, वैसा उसे नहीं कहता। इस ओर है, भाई! १८५ में। व्यवहार तो वास्तव में असत्यार्थ है। वहाँ भगवान है आत्मा? वह तो असत्यार्थ है आत्मा, यह आत्मा स्वयं सत्यार्थ यहाँ है, समझ में आया? दृष्टान्त अभी दिया है। **व्यवहार में जीव नारकी, पशु, मनुष्य, देव कहलाता है। निश्चय से ऐसा कहना असत्यार्थ है।** आत्मा नारकी, मनुष्य, पशु है? वह तो व्यवहार से बतलाया। वास्तव में तो झूठा है। **आत्मा न तो नारकी है न पशु है न मनुष्य है न देव है। शरीर के संयोग से व्यवहारनय से आत्मा के भेद व्यवहार चलाने के लिए किये गये हैं।** व्यवहारनय के.... व्यवहारनय के व्यवहार चलाने के लिए भेद किये गये हैं, निश्चय के लिए नहीं।

जैसे तलवार लोहे की होती है। सोने की म्यान में तो सोने की तलवार, चाँदी की म्यान में चाँदी की तलवार, पीतल की म्यान में पीतल की तलवार कहलाती है – यह कहना सत्य नहीं है। सत्य है? यह तो निमित्त से बात है। **सब तलवारें एक ही हैं। उनमें भेद करने के लिए सोना, चाँदी व पीतल की तलवार ऐसा कहना पड़ता है।** ऐसी सब बहुत लम्बी बात है।

परमात्मदेव को ही आप देखता है। लो! **इसी तरह जो अपने देहरूपी मन्दिर में विराजमान परमात्मदेव को ही आप देखता है, आपको मनुष्यरूप नहीं देखता।** अपने को मनुष्यरूप तो नहीं देखता परन्तु परस्वरूप जो परमात्मा, उसरूप आत्मा नहीं देखता। अपने स्वरूप से अखण्ड ज्ञायकमूर्ति है – ऐसा देखता है, उसे सच्चा ज्ञान और सत्य ज्ञान कहा जाता है। लो!

पुरुषार्थसिद्धियुपाय में यह दृष्टान्त दिया है न? **निश्चयनय यथार्थ वस्तु को कहता है। व्यवहारनय वस्तु को यथार्थ नहीं कहता।** देखो, निश्चयनय वास्तविक तत्त्व का सत्यस्वरूप कहता है, व्यवहारनय उस सत्यस्वरूप (को नहीं कहता) वह तो उपचार से कथन करता है। **सर्वज्ञदेव निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहते हैं।** सर्वज्ञ परमेश्वर व्यवहार को असत्यार्थ और निश्चय को सत्यार्थ कहते हैं। **बहुधा सर्व ही संसारी जीव इस भूतार्थ निश्चय के ज्ञान से दूर हैं।** भगवान आत्मा स्वस्वरूप से प्राप्त होता है, ऐसे निश्चय ज्ञान से बहुधा प्राणी दूर हैं। बहुभाग व्यवहार को निमित्त को लगा है। भगवान आत्मा....! व्यवहार, निमित्त है अवश्य, बहुभाग उसी में लगा है कि इससे निश्चय (प्राप्त होगा)। असत्य से सत्य प्राप्त होगा। आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से वह सब इसमें नहीं है, इसलिए असत्य है। व्यवहार है, वह उपचार है। लोग – बहुत जीव वहाँ लगे हुए हैं। भूतार्थ भगवान आत्मा अन्दर में अखण्डानन्द प्रभु को देखने का निश्चय का ज्ञान करनेवाले थोड़े हैं। समझ में आया?

जिस बालक ने सिंह नहीं जाना है, वह बिलाव को ही सिंह जान लेता है, बिल्ली.... बिल्ली.... **क्योंकि बिलाव देखकर उसे सिंह कहा गया था, उसी तरह जो निश्चयतत्त्व को नहीं जानता है, वह व्यवहार ही को निश्चय मान लेता है।** लो! निश्चय समझे बिना व्यवहार को निश्चय मान ले वह तो मूढ़ है। दो तत्त्व अलग प्रकार के हैं। व्यवहार, वह उपचार और व्यवहार है और यह तो निश्चय और यथार्थ है। **व्यवहार ही को निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्य को नहीं पाता है।** लो! समझ में आया? इतनी गाथायें तो मन्दिर की हुई। ४२ से शुरु हुई थी न? हैं? ४२ से यहाँ तक कहा। ४१ में दूसरा था न? ४१ में कुतीर्थ का था... ४१ में कुतीर्थ में भ्रमने से मुक्ति होती है – ऐसा मानता है और यह अपना भगवान सत्य है, वहाँ जाने से मुक्ति होती है – ऐसा मानता है। समझ में आया?

अज्ञानी, इस गंगा नदी में नहाना और इसमें स्नान करना और इसमें यह करना, तीर्थ में भ्रमना और भटकना.... जो वास्तविक व्यवहार तीर्थ भी सत्य नहीं है – ऐसे तीर्थ में भ्रमने से आत्मा का कल्याण होगा – ऐसा माननेवाला मूर्ख है। ऐसा कहा। फिर यहाँ कहा

कि व्यवहार तीर्थ देव, देवालय, मन्दिर आदि जैन शासन में है, गिरनार की यात्रा इत्यादि इनसे निश्चय प्राप्त होगा ऐसा कहनेवाले अपने अन्दर में भूले हैं। कहो, इसमें समझ में आया? आहा...हा...! यह वहाँ कहाँ भगवान थे? गिरनार में नेमिनाथ भगवान हैं? नेमिनाथ भगवान तो मोक्ष पधारे हैं। वहाँ नेमिनाथ भगवान को देखने जाये तो मूर्ख है। यह तो उनकी स्थापना है। उनके स्मरण में ऐसे 'नेमिनाथ' भगवान थे, ऐसे थे। ओ...हो...! वासुदेव और बलदेव, भगवान नेमिनाथ जब विराजमान थे, तब वन्दन करने आते थे। साक्षात् भगवान विराजते। बलदेव-वासुदेव जिनके भक्त थे – ऐसा स्मरण में निमित्त है, शुभभाव है, भक्ति का भाव तो मुनियों को भी होता है। मुनियों को होता है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव वन्दन करने गये थे या नहीं? गये थे, होता है, परन्तु कोई ऐसा मान ले कि वहाँ से – ऐसे से ऐसा अन्दर में जाया जाएगा और मुक्ति होगी, इस बात में सार नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कौन मुनिराज को नहीं मानेगा?

प्रश्न – आप मुनि को मानते हैं?

उत्तर – भाई! आत्मज्ञानयुक्त सच्चे भावमुनिपने को कौन नहीं मानेगा? वे तो पञ्च परमेष्ठी में साधु परमेष्ठी हैं, उनके तो हम दासानुदास हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आप मुनि को नहीं मानते; परन्तु भाई! तुम्हें मनवाने का क्या काम है? अन्तर में सच्चा मुनिपना हो और दूसरे उसे न मानें तो क्या मुनिपना नष्ट हो जाता है? और यदि अन्तर में सच्चा मुनिपना न हो और दूसरे मुनिपना मानें तो क्या सच्चा मुनिपना आ जाता है? मुनिपना मनवाने आदि के विकल्प तो कहीं दूर रह गये, परन्तु मुनि को तो व्रतादि के शुभविकल्प आयें, वह भी कर्तव्य नहीं है, सहज है। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

धर्म रसायन को पीने से अमर होता है

जइ जर-मरण-करालियउ, तो जिय धम्म करेहि।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ, जिम अजरामर होहि॥४६॥

जरा मरण भय हरण हित, करो धर्म गुणवान।
अजरामर पद प्राप्ति हित, कर धर्मोषधि पान॥

अन्वयार्थ – **(जिय)** हे जीव! **(जइ जर-मरण करालियउ)** यदि तू जरा व मरण के दुःखों से भयभीत है **(तो धम्म करेहि)** तो धर्म कर **(तुहुँ धम्मरसायण पियहि)** तू धर्म रसायन को पी **(जिम अजरामर होहि)** जिससे तू अजर-अमर हो जावे।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ६, शुक्रवार, दिनाङ्क २४-०६-१९६६
गाथा ४६ से ४९ प्रवचन नं. १७

योगीन्द्रदेव मुनि, दिगम्बर मुनि हुए। उन्होंने यह योगसार बनाया। योगसार का अर्थ – आत्मा का स्वभाव शुद्ध और आनन्द है, उसमें एकाग्रता का होने का नाम योग कहा जाता है। उसमें सार अर्थात् निश्चय स्वभाव की स्थिरता (होवे), उसे योगसार कहते हैं। ४५ गाथा हो गयी है।

४६ – **धर्म रसायन को पीने से अमर होता है।** धर्मरूपी औषध पीने से अमर होता है। इस गाथा में ऐसा कहते हैं।

जइ जर-मरण-करालियउ, तो जिय धम्म करेहि।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ, जिम अजरामर होहि॥४६॥

हे जीव! यदि तू जरा और मरण के दुःखों से भयभीत है.... जरा-मरण और

दुनिया के संयोग का दुःख – ऐसे दुःखों से यदि तू भयभीत है, चौरासी के अवतार से (भयभीत है)। **तो धम्म करेहि – धर्म कर।** यह धर्म कर अर्थात् धर्म क्या? यह आता है अन्दर, थोड़ा अर्थ किया है। **धर्म उसे ही कहते हैं कि जो संसार के दुःखों से निकालकर मोक्ष के परमपद में धारण करे। वह धर्म, रत्नत्रयस्वरूप है।** सूक्ष्म बात है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्मा की अन्तर में सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान और रमणता (होवे), उसे यहाँ धर्म कहा गया है। समझ में आया? **कर धर्मोंषधि पान** – ऐसा है न? **तू धर्मरसायन का पान कर।** धर्मरूपी औषधि भी रसायन अर्थात् उत्तम औषधि। **जिससे तू अजर-अमर हो जाएगा।** जिससे तू अजर और अमर हो जाएगा। जरा और मरणरहित हो जाएगा.... परन्तु धर्म अर्थात् क्या?

पहले ऐसा कहा है कि मनुष्य को यह जन्म-जरा-मरण के दुःख पहले भासित होना चाहिए। समझ में आया? **जरा व मरण के भयानक दुःख हैं। जब जरा आ जाती है, शरीर शिथिल हो जाता है, अपने शरीर की सेवा स्वयं करने को असमर्थ हो जाता है, इन्द्रियों की शक्ति घट जाती है, आँख की ज्योति कम हो जाती है।** इत्यादि।

मुमुक्षु – सब अनुकूल हो तब?

उत्तर – अनुकूल नहीं, धूल में भी अनुकूल नहीं। अनुकूल कब था? बाहर के इन्द्रिय आदि मेरे, और पद आदि अनुकूल.... यहाँ तो कहते हैं कि प्रतिकूल हो या अनुकूल, उस बाह्य सामग्री की रुचि छोड़ दे। समझ में आया यहाँ?

यहाँ तो तुझे चार गति में भटकने का भय लगा होवे तो धर्म-औषधि का पान कर – ऐसा कहते हैं। जैसे, बाहर के रोग को मिटाने को औषध है; वैसे ही जन्म-जरा-मरण के रोग को मिटाने के लिए आत्मा में औषध है। आत्मा के पास है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अनाकुल आनन्दस्वरूप है, उसका अन्तर में अनुभव करना। आत्मा के आनन्दस्वरूप का अनुसरण करके अन्तर में उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणतारूप अनुभव करना, यह जन्म -जरा-मरण का नाश करने की औषधि उपाय है। यह एक औषधि है। समझ में आया?

लोगों ने दूसरे औषध ढूंढ़े कि भई ! इस रोग पर यह औषध.... परन्तु किसी ने जन्म-मरण की औषधि ढूँढ़ी ? है ?

मुमुक्षु – वीतरागदेव ने दिया।

उत्तर – वीतराग सर्वज्ञदेव भी कहते हैं, वही कहते हैं। समस्त रोगों की दवा (शोधकर) इस रोग पर यह दवा और इस रोग पर यह दवा.... परन्तु इस चौरासी लाख के जन्म-मरण, जरा में भटकता है, उसकी दवा किसी ने खोजी ? वह तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव तीन काल-तीन लोक के ज्ञाता, वीतराग कहते हैं कि उसके लिए धर्म रसायन औषध है। धर्मरूपी उत्तम रसायन है। वह धर्म किसे कहना ? समझ में आया ? देखो ! नीचे है।

रत्नत्रय के भाव से ही नये कर्मों का संवर होता है और पुराने कर्मों की अविपाक निर्जरा होती है। वह धर्म रत्नत्रयस्वरूप है। देह की क्रिया, धर्म नहीं है, आत्मा में कोई दया, दान, व्रत का भाव हो, वह भी धर्म नहीं है। समझ में आया ? आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका अन्तर में अनुभव करना, आत्मा पवित्र अनन्त गुण का धाम आत्मा है, उसमें विकार जितना दिखता है, वह आत्मा नहीं – ऐसे आत्मा में अन्तर्मुख होकर आनन्द की शान्ति का अनुभव करना, वही एक जन्म, जरा, मरण को मिटाने की औषध है। कहो, समझ में आया ?

रत्नत्रय निश्चय से एक आत्मिक शुद्धभाव है.... रत्नत्रय (है वह) मोक्ष प्राप्त करने के लिए तीन रत्न हैं। यह तीन रत्न अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यह सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा पूर्णानन्द है, उसमें अन्तर्मुख होकर निर्विकल्प श्रद्धा होने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। राग के अवलम्बन बिना चैतन्य ब्रह्म भगवान आत्मा की अन्तर अभेद निर्विकल्प प्रतीति होने को सम्यग्दर्शनरूपी जन्म, जरा, मरण को मिटाने का औषध कहते हैं। उस आत्मा का ज्ञान कि यह परमानन्दमूर्ति आत्मा है – ऐसे आत्मा का ज्ञान; आत्मा का ज्ञान दूसरी चीज का नहीं – वह जन्म, जरा, मरण रोग को मिटाने का औषध एक महा उपाय है और फिर स्वरूप में स्थिर होना। जो आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द, जो श्रद्धा -ज्ञान में लिया हो, उसमें अन्तर में स्थिर होना, रमना, जमना,

आनन्द का विशेष अनुभव करना – इसका नाम चारित्र कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें ? यह धर्म-औषध पान शुद्धभाव है।

आत्मतल्लीनता है.... अनादि की पुण्य-पाप के विकारीभाव की तल्लीनता है वह जन्म, मरण के रोग को उत्पन्न करने का कारण है। आत्मा में होनेवाले परलक्ष्यी शुभाशुभभाव – दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभ (भाव) और हिंसा, झूठ आदि अशुभ(भाव) में लीनता, वह जन्म, जरा, मरण को बढ़ाने का वह रोग है। जन्म, जरा, मरण को मिटाने की औषध, उस चैतन्य भगवान आत्मा परमानन्द की मूर्ति में लीनता, उसमें एकाग्रता (करना है)। पहले आत्मा को पहचाने, पहचानकर श्रद्धा करे, जाने और फिर उसमें लीनता करे, वह लीनता आत्मिकभाव है।

आत्मलीनता है, वह **स्वसंवेदन है....** समझ में आया ? लो ! गुरु से मिले – ऐसा नहीं यह कहते हैं। स्व-संवेदन हुआ, तब गुरु से मिला ऐसा कहने में आया ? स्व-संवेदन – आत्मा ज्ञानानन्द प्रभु आत्मा है, अनादि-अनन्त सद्चिदानन्दस्वरूप है; यह देह तो मिट्टी-जड़ है, वाणी जड़ है, कर्म जड़ है, पुण्य-पाप के भाव होते हैं वह विकार, दोष और दुःख है। इनसे रहित आत्मा का स्वभाव, उसका अपना स्वसंवेदन (अर्थात्) ज्ञान, ज्ञान से ज्ञान को जाने, ज्ञान, ज्ञान से आत्मा को जाने; ज्ञान, ज्ञान से आत्मा का वेदन करे; ज्ञान, ज्ञान से आत्मा में स्थिर हो, वह स्वसंवेदन एक ही जन्म, जरा, मरण को मिटाने का उपाय – रसायन है। कहो, समझ में आया ? स्वानुभव है.... अनुभव है। भगवान आत्मा अनादि का पुण्य और पाप, शुभाशुभराग का अनुभव करता है, वह अनुभव तो पर विकार का (अनुभव है)। वह तो चार गति के भटकने का मूल है। भगवान आत्मा का जो अनुभव, वही मोक्ष का कारण है और रोग – जन्म, जरा, मरण को मिटाने का एक रसायन है। रसायन अर्थात् उत्तम औषधि। कहो समझ में आया ? डॉक्टर और वैद्य नहीं देते ? उत्तम रसायन या भस्म या.... देते हैं न कुछ ? पुडिया, हैं ? वह ऊँची – कीमती होती है। यह भी ऊँची कीमती रसायन है, कहते हैं। औषध में भी ऊँची (औषध को) रसायन कहते हैं।

मुमुक्षु – कीमती में मात्रा अधिक रहती होगी।

उत्तर – मात्रा उसमें अधिक है। समझने के लिए। रोग तो स्वयमेव मिटता है। समझ में आया? यह तो दृष्टान्त है। दृष्टान्त में से कहीं पूरा सिद्धान्त नहीं निकलता, आंशिक निकलता है।

जैसे वह रसायन रोग को मिटाने का कारण है, वैसे भगवान आत्मा सदचिदानन्द प्रभु का अन्तर में एकाकार होकर अनुभव, श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करना, वह एक ही जन्म-जरा-मरण को मिटाने का रसायन है। वह एक ही औषध है। श्रीमद् में आता है न? श्रीमद् में.... आत्मसिद्धि में

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान॥

कहो, समझ में आया? आत्मा राग में, पुण्य में, शरीर में, पर में है – यह मान्यता महाभ्रम है।

पुरुषार्थ.... कल आया था न? समस्त वकील को मूर्ख सिद्ध किया था परन्तु ऐसा लेख लिखा था... गप्प मारा था। आहा...हा...! सब वकील मूर्ख हों – ऐसा नहीं। वकील कर्तारूप हो तो मूर्ख हो, कहो समझ में आया? यह तो ऐसा लिखा है कि मूर्ख के जाम जैसा लिखा है। मनुष्य पुरुषार्थ से बड़े-बड़े बाघ को वश करता है – ऐसे पानी पर बड़े स्टीमर चलावें। जैसे लड़का खेल खेलता है, उसमें पानी में चलाता है, इतना पुरुषार्थ! आत्मा पर का कर नहीं सकता होगा? धूल में भी नहीं करता हो, हाँ! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि भाई! तेरा पुरुषार्थ या तो विकार में चलता है और या पुरुषार्थ स्वभाव में चलता है; पर में तेरा पुरुषार्थ जरा भी काम नहीं करता। आहा...हा...! धूल में भी नहीं करता। एक आँख की पलक झपक सकता है? ऐसा हो जाता है, धूल में भी कुछ नहीं लेता। सब बहुत लिया है, इसमें.... बिजली, आकाश में से पकड़कर पानी में उतारी, ऐसा किया.... बिजली कहीं आकाश में से पकड़ी होगी? यह बिजली... बिजली होती है न?

वह अलग, वह उतारी हुई नहीं। यह तो पंखा चलाया, पानी को बाहर निकालने को यह बिजली... ऐसा कहते हैं, यह तो पता है, इसकी कहाँ बात है, धूल भी कुछ नहीं

करता। आत्मा करे क्या ? अपनी सत्ता में विकार करे और या आत्मा का अनुभव करके मुक्ति करे। बाकी पर का अणुमात्र भी नहीं बदल सकता है। आहा...हा... ! बड़ा मानधाता... वह नहीं था एक बड़ा ? रामो... रामो... कहता था न ? 'गामा !' ऐसा उसका बड़ा शरीर लट्ठ जैसा, पूरे हिन्दुस्तान में क्या पूरे देश में बड़ा योद्धा कहलाता था, वह मरते समय ऐ...ऐ... (हो गया)। मक्खी बैठे तो हाथ (उठा नहीं सकता), वह तो जड़ है। जड़ में आत्मा क्या कर सकता है ? आत्मा या दीनता करे और या उग्रता पुरुषार्थ करे, उलटा या सुलटा। समझ में आया ?

मुमुक्षु – परन्तु शरीर अच्छा होवे तो....

उत्तर – धूल में अच्छा शरीर, कहना किसे शरीर ? यह तो मिट्टी है। शरीर तो मिट्टी है। यह निरोगता होवे तो उसकी दशा, रोग होवे तो उसकी दशा... आत्मा को उसके कारण कुछ रुकता है, इस बात में जरा भी दम नहीं है। शरीर में रोग हो, वह जड़ में है, उसमें आत्मा को क्या आया ? समझ में आया ?

यहाँ तो 'आत्मभ्रान्तिसम रोग नहीं...' आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है – ऐसा न मानकर, उसे रागवाला और शरीरवाला और परवाला मानना – ऐसा एक महारोग मिथ्यात्व का इसे लगा है। आहा...हा... ! 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य सुजान' इसे क्या रोग है ? यह बतलानेवाले ज्ञानी हैं परन्तु सुजान, हाँ ! भलीभाँति जाननेवाले, सम्यक्ज्ञानी की बात है; और उनकी आज्ञा है कि इस प्रकार नहीं मानना – कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र को नहीं मानना यह पथ्य है। 'औषध विचार ध्यान' और उसका औषध विचार और ध्यान है। कहो ! विचार और ध्यान उसके औषध हैं। कहो, समझ में आया ?

देखो ! **जहाँ अपने आत्मा के ही शुद्ध स्वभाव का श्रद्धान है, ज्ञान है, और उसमें ही स्थिरता है, उसे ही आत्मदर्शन कहते हैं।** उसे आत्मदर्शन कहते हैं। भगवान आत्मा परसन्मुख की उपयोग दशा को बदलकर और अपने स्वभाव के अन्तर में उपयोगदशा को जोड़े.... योगसार है न ? उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कहते हैं। **वही एक धर्म रसायन है।** लो, मांगीरामजी ! कितना गुजराती सीखकर आये ? समझ में आया ? जवाब दिया.... कहो समझ में आया ? एक धर्म रसायन जो **अमृतरस का पान है। जिसका पान**

करने से स्वाधीनरूप से परमानन्द का लाभ होता है। आहा...हा... ! परन्तु इसे सूझ नहीं पड़ती। यह भगवान स्वयं समीप है। समझ में आया ?

और **शुद्धोपयोग ही धर्म है।** नीचे शब्द है, क्या कहा ? आत्मा में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग वासना, काम, क्रोध, ये पापपरिणाम वह अशुभभाव है; दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप आदि शुभभाव हैं, पुण्यभाव है, वह धर्म नहीं है; धर्म को आत्मा में इन शुभ और अशुभभाव से हटकर अन्तर आत्मा के आनन्द में शुद्धभाव प्रगट करना, पुण्य-पाप के भावरहित – ऐसे शुद्धभाव को भगवान, धर्म कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

कषाय के उदयसहित शुभोपयोग धर्म नहीं है। देखो ! इसमें तो बराबर ठीक लगता है। निमित्त का आवे तब जरा दृष्टिकोण बदल जाता है। कषाय का उदय, शुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, जप का विकल्प उठता है, वह तो राग है, वह धर्म नहीं है। आहा...हा... ! वह तो शुभ उपयोग है, पुण्य-बन्ध का कारण है। शुद्ध उपयोग – रागरहित आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, आत्मा का शुद्ध व्यापार, उसे यहाँ शुद्धयोग कहा जाता है, उसे यहाँ धर्म कहा जाता है। समझ में आया ? फिर (लिया है कि) अशुभ से बचने को शुभ करना पड़ता है। **परन्तु उसे बन्ध का कारण मानना चाहिए। मोक्ष का उपाय एकमात्र स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग है।** उसके बिना कोई मोक्ष का उपाय एक भी नहीं है। कहो, समझ में आया ?

'वृहद् सामायिक' का दृष्टान्त दिया है। **अब तू शुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त करके उन विषय-कषायों का पूर्णरूप से नाश कर डाल, विद्वान् लोग अवसर मिलने पर शत्रुओं को मारे बिना छोड़ते नहीं हैं।** हे आत्मा ! तुझे अभी अवसर मनुष्य देह में अवसर मिला है। आत्मा का भान करने का अवसर आया है। यह विकाररूपी शत्रु को नाश करने का तेरा काल है। आहा...हा... ! अरे ! चौरासी के अवतार तुझे भटकते हुए मनुष्यपना, उसमें इन विकाररूपी शत्रुओं को नाश करने का तेरा अवसर है और विद्वान् अवसर को पहचान कर शत्रु को मार डालते हैं। अभी अपना अवसर है। समझ में आया ? फिर धर्म रसायन की बात की है। ठीक !

☆ ★ ☆

बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है

धम्मु ण पढ़ियइँ होइ, धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि, धम्मु ण मत्था-लुंचियइँ॥४७॥

शास्त्र पढ़े मठ में रहे, शिर के लुँचे केश।
धरे वेश मुनि जनन का, धर्म न पाये लेश॥

अन्वयार्थ – (**पढियइँ धम्मु ण होइ**) शास्त्रों के पढ़ने मात्र से धर्म नहीं हो जाता (**पोत्थापिच्छियइँ धम्मु ण**) पुस्तक व पीछी रखनेमात्र से धर्म नहीं होता (**मढिय-पएसि धम्मु ण**) किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता (**मत्था-लुचियइँ धम्मु ण**) केशलोंच करने से धर्म नहीं होता।

☆ ★ ☆

४७। **बाह्य क्रिया में धर्म नहीं है**। ४७ श्लोक

धम्मु ण पढ़ियइँ होइ, धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि, धम्मु ण मत्था-लुंचियइँ॥४७॥

शास्त्र पढ़नेमात्र से धर्म नहीं हो जाता। शास्त्र पढ़-पढ़कर बढ़ा पण्डित हुआ हो, इसलिए धर्म हो जाये – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? '**पोत्था-पिच्छिय**' **यह पुस्तक और पिच्छी रखनेमात्र से धर्म नहीं हो जाता**। नग्न मुनि हो गया और पिच्छी रखी और एक पुस्तक रखी, वह कहीं धर्म नहीं है। देखो! यह योगीन्द्रदेव स्वयं दिगम्बर मुनि हैं, जंगलवासी आचार्य हैं, आत्मध्यान में मस्त हैं, वे कहते हैं कि तेरी मोरपिच्छी या पुस्तक से कहीं धर्म नहीं होता है।

किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता। एकान्त में जाकर वन में रहे, किसी मठ में रहे.... वन में और मठ में रहे उसमें क्या हुआ? बहुत से चकवे उसमें रहते हैं। समझ में आया? हैं? मठ और वन सब एक ही है, उसमें क्या? धर्म का पता नहीं, वहाँ मठ में रहे या वन में रहे या घर में रहे... समझ में आया? और आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध का

भान करके चाहे तो वन में रहे या चाहे तो घर में रहे.... समझ में आया? आत्मा के भान बिना, कहते हैं किसी मठ में रहने से धर्म नहीं होता।

ऐसा **केशलोंच करने से भी धर्म नहीं होता। 'मत्था-लुचियइँ'** सिर का लोंच करते हैं न, छह-छह महीने में? उससे कहीं धर्म नहीं है। लोगों को ऐसा हो जाता है.... आहा...हा...! वह तो जड़ की क्रिया है; वह कहीं आत्मा की क्रिया है ही नहीं। उसमें कुछ राग मन्द होवे और सहनशीलता करे तो वह पुण्यभाव है। अन्दर आत्मा के आनन्द के भान बिना ऐसा सिर मुँड़ाने पर भी कहीं धर्म-वर्म है नहीं। कहो, समझ में आया? आहा...हा...!

जिस धर्म से जन्म, जरा, मरण का दुःख मिटे, कर्मों का क्षय हो, यह जीव स्वाभाविक दशा को प्राप्त करके अजर-अमर हो जाये, वह धर्म.... कहलाता है। वह **आत्मा का निजस्वभाव है**। धर्म है, लो! **वही निश्चय रत्नत्रयमय धर्म, स्वानुभव अथवा शुद्धोपयोग की भूमिका को प्राप्त करेगा**। लो, अपनी श्रद्धा करेगा, अपना ज्ञान करेगा, एकाग्रता करेगा, वह सच्चे शुद्धोपयोग की प्राप्ति करेगा।

जो कोई उस तत्त्व को भलीभाँति न समझे.... भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा, जगत् का साक्षी, जगत् की चक्षु, दुनिया के दृश्य को देखनेवाला, यह ज्ञेय का ज्ञाता – ऐसा भगवान आत्मा ज्ञातादृष्टा अनुभव में न ले और इसके अतिरिक्त **बाह्य क्रियामात्र व्यवहार ही करे और माने कि मैं धर्म का साधन कर रहा हूँ....** तो वह धर्म साधन है नहीं। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु – क्षेत्र विशुद्धि....

उत्तर – क्षेत्र विशुद्धि भी नहीं। क्षेत्र विशुद्धि किसकी? (बीज) बोये तब क्षेत्र विशुद्धि कहलाये न? बोये बिना (क्या)? 'खस' में रहते, नहीं वे? कुम्हार नहीं? गुजर गये। रायचन्द्रजी! बहुत इतने-इतने तक खेत को साफ करते (परन्तु) बोये नहीं, तो बोये बिना उगता होगा? क्या कहा उसका नाम? रायचन्द्रजी! अपने थे न यहाँ? जीवनलालजी के साथ, वे बाद में साधु हुए थे। वे खेत में बहुत साफ करते थे। इतना-इतना खोद कर अन्दर से बौर और काँटे निकालते। बोने का समय आवे तब बोते नहीं। वे फिर ऐसी लाईन

में चले गये, कुछ सूझे नहीं, धर्म की लगन अवश्य; करे ऐसी मेहनत और समय आवे तब बोये नहीं – ऐसी वहाँ उनकी छाप थी।

मुमुक्षु – घासफूस तो हुआ।

उत्तर – घासफूस तो मुफ्त भी होगा। घासफूस होने में क्या है?

मुमुक्षु – दृष्टान्त भी ठीक मिल गया।

उत्तर – नहीं, नहीं, दृष्टान्त है यह। उसे भी ऐसी लाईन.... ऐसा फिर उसे भाव अवश्य, दीक्षा लेना, दीक्षा लेना – ऐसा अवश्य। करे तब करे और फिर बैठ जाये, कुछ सूझ नहीं पड़े ऐसे खेत साफ करे परन्तु बीज बोये बिना उगे कहाँ से? बीज बिना वृक्ष का अंकुर फूटता होगा?

इसी तरह भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु का अनुभव किये बिना मोक्ष का फल कहीं पकता नहीं है। बाहर का क्रियाकाण्ड करके मर जाये – दया पालो, व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे, और लाखों-करोड़ों का दान करे.... समझ में आया? लाखों-करोड़ों का दान करे और लाख-करोड़ मन्दिर बनाये.... हराम... धर्म हो उसमें तो। शुभभाव हो, शुभभाव-पुण्य हो। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं न, देखो न! सब कठोर भाषा ली है। (यहाँ) **कहा है कि ग्रन्थ पढ़ने से ही धर्म नहीं होता, ग्रन्थ का पठन पाठन इसलिए उपयोगी है कि जगत् के पदार्थ....** जानकर फिर आत्मा का अनुभव करना। समझ में आया? **यदि शुद्धात्मा का लाभ न करे, केवल शास्त्रों का अभ्यासी महान विद्वान और वक्ता होकर धर्मात्मा होने का अभिमान करे....** शुद्धात्मा भगवान परमानन्द की मूर्ति का अनुभव न हो, सम्यग्दर्शन नहीं, उसका अनुभव नहीं, केवल शास्त्रों का पाठी है.... अकेला शास्त्र पढ़े, दुनिया में महान विद्वान कहलाये, वक्ता – फिर पाँच-पाँच लाख लोगों में भाषण दे... **धर्मात्मा होने का अभिमान करे तो वह सब मिथ्या है।** वह कोई धर्मात्मापना नहीं है। आहा...हा...! है?

मुमुक्षु – ऐसा तो अनादि से चला आता है।

उत्तर – अनादि से ऐसा का ऐसा चला आता है।

धर्म तो आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करना, वह धर्म है। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का अन्दर में वेदन करे, उसका नाम धर्म है। उस धर्म के बिना बाहर के शास्त्रों के अध्ययन में विद्वत्ता धारण कर अभिमान करे (तो वह) मिथ्या है।

इसी प्रकार कोई बहुत शास्त्रों का संग्रह करे.... भरो पुस्तकें पाँच-दस लाख बड़ी... समझे न? जैसे दाने का संग्रह करते हैं न? वैसे ही यह पुस्तकों का संग्रह करे। कहो, समझ में आया? **पिच्छी रखकर साधु या क्षुल्लक श्रावक हो जाये....** लो! बहुत पुस्तक रखे, पिच्छी रखे... समझ में आया? **केशलोंच करे, एकान्त मठ में या गुफा में बैठे परन्तु शुद्ध आत्मा की भावना न करे....** अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान की अन्तर्दृष्टि, ज्ञान और अनुभव न करे। **बाह्य मुनि या श्रावक के वेश को ही धर्म मान ले तो ऐसा मानना मिथ्या है। शरीर के आश्रय से जो वेश होता है, वह केवल निमित्त है, व्यवहार है, धर्म नहीं।** यह व्यवहार, धर्म नहीं है। समझ में आया?

व्यवहार क्रियाकाण्ड से या चारित्र से रागभाव-शुभभाव होने से पुण्यबन्ध का हेतु है.... लो! समझ में आया? **वह संवर और निर्जरा का हेतु नहीं.... मुमुक्षु जीव को इस बात की दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिए कि भाव की शुद्धि भी मुनि अथवा श्रावकधर्म है....** धर्मात्मा को यह दृढ़ता से श्रद्धा में रखना चाहिए कि अन्दर में आत्मा के पुण्य-पाप के भाव बिना आत्मा की शुद्धि की भावना होना, और भाव होना, वही मुनि और श्रावकधर्म है। समझ में आया? अशुभभाव से बचने के लिए शुभभाव आता है। समझ में आया?

कोई जीव चाहे जितना ऊँचा बाह्य चारित्र पाले और किसी को चाहे जितने शास्त्रों का ज्ञान हो तो भी निश्चयधर्म के बिना साररहित है.... कहो, रतनलालजी! व्यर्थ है, एक के बिना की शून्य है, कोरा कागज। हैं?

मुमुक्षु – धर्मी की पहचान तो हो....

उत्तर – धूल में धर्मी की पहचान नहीं होती। धर्म की पहचान, धर्मी आत्मा की

पहचान शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति का अनुभव, यह धर्म की पहचान है। दया, दान, व्रत के परिणाम तो विकार हैं, वह धर्मी की पहचान नहीं है। अद्भुत, कठिन बात।

निश्चय धर्म के बिना साररहित है, चावल रहित तुष के समान है। जैसे चावल न हो और अकेला छिलका हो, छिलका कहते हैं न? तुष.... तुष। इसी प्रकार आत्मा के शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, अनुभव के बिना यह बाह्य क्रिया महाव्रत के परिणाम आदि सब व्यर्थ, व्यर्थ है। **पुण्यबन्ध कराकर संसार का भ्रमण बढ़ानेवाले हैं।** सबकी बात (की है)। वे कहें, संसार बढ़ाये? संसार बढ़ाये? फिर टीका (आलोचना करे)। आत्मा शुद्धचैतन्य प्रभु निर्विकल्प आनन्दकन्द का अनुभव सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना जितनी क्रिया – पंच महाव्रत आदि की दया, दान, भक्ति, पूजा की करे, वह सब पुण्यबन्ध की करनेवाली है। संसार भ्रमण बढ़ानेवाली है। उसमें तो संसार बढ़ता है – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। कहो, मोहनभाई! जितना अंश वीतराग है, उतना धर्म है – ऐसा कहना है। समझ में आया?

हे आत्मा! तू इस पाप का बंध करनेवाली कल्पना को छोड़, ऐसा अहंकार न कर की मैं शूरवीर हूँ। अन्तिम बोल – दृष्टान्त है। **बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सबसे अधिक लक्ष्मीवाला हूँ....** छोड़ दे यह बात। भगवान आत्मा निराला ज्ञानानन्द है, उसे ऐसा बाहर का अभिमान किसका? बड़ा पैसेवाला हूँ, मुझे दुनिया करोड़पति मानती है, मैं **गुणवान हूँ, समर्थ हूँ, अथवा सर्व मनुष्यों में अग्र हूँ, मुनिराज हूँ.... निरन्तर निर्मल आत्मतत्त्व का ही ध्यान कर,** यह अहंकार छोड़ दे। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वभावी वस्तु का निरन्तर अनुभव कर तो मोक्ष की लक्ष्मी मिलेगी। बाह्य क्रियाकाण्ड में कुछ मिले ऐसा नहीं है। अद्भुत कठिन परन्तु.... लो! यह शीतलप्रसाद तो स्पष्ट लिखते हैं।

मुमुक्षु – व्यवहार सिद्ध करके व्यवहार को उड़ाते हैं।

उत्तर – व्यवहार सिद्ध नहीं किया? व्यवहार है, किसने इंकार किया? व्यवहार से लाभ होता है, इससे इंकार करते हैं, व्यवहार से लाभ का इंकार करते हैं। यह ४७ वीं गाथा (पूरी हुई)।

☆ ★ ☆

राग-द्वेष त्यागकर आत्मस्थ होना धर्म है

राय-रोस बे परिहरिवि, जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ, जो पंचम-गइ णेइ ॥४८॥

राग द्वेष दोऊ त्याग के, निज में करे निवास।
जिनवर भाषित धर्म वह, पञ्चम गति में वास॥

अन्वयार्थ – (**राय-रोस बे परिहरिवि**) राग-द्वेष दोनों को छोड़कर वीतराग होकर (**जो अप्पाणि वसेइ**) जो अपने भीतर आत्मा में वास करता है, आत्मा में विश्राम करता है (**धम्मु जिण वि उत्तियउ**) उसी को जिनेन्द्र ने धर्म कहा है (**जो पंचम गइ णेइ**) यही धर्म पंचम गति मोक्ष में ले जाता है।

☆ ★ ☆

राग-द्वेष त्यागकर आत्मस्थ होना धर्म है।

राय-रोस बे परिहरिवि, जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ, जो पंचम-गइ णेइ ॥४८॥

क्या कहते हैं ? बहुत संक्षिप्त शब्दों में संक्षिप्त कहते हैं। जो कोई आत्मा, पुण्य और पाप के, राग और द्वेष के भाव को छोड़कर.... शुभ और अशुभभाव जो राग-द्वेषमय है, वह बन्ध का कारण है, उसे छोड़कर.... '**अप्पाणि वसेइ**' जो आत्मा में बसता है। देखो ! पुण्य और पाप के भाव में बसना, वह आत्मा में बसना नहीं है – ऐसा कहते हैं। इस शुभभाव में बसना भी आत्मा का बसना नहीं है – ऐसा कहते हैं। बहुत संक्षिप्त भाषा में (कहते हैं)।

राग-द्वेष के विकल्प छोड़कर, शुभ-अशुभ की – राग की वृत्तियाँ छोड़कर '**अप्पाणि वसेइ**' '**अप्पाणि**' यह त्रिकाली आत्मा है, बसना वह अन्दर स्थिरता है। आत्मा में विश्राम कर। आहा...हा... ! भगवान चैतन्यधाम अन्दर विराजमान है, पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा शाश्वत् विराजमान है आत्मा; उसमें बस, उसमें निवास कर, उसमें स्थिर हो – यह मुक्ति का उपाय है। यह योगसार है – ऐसा कहना है न ! '**वसेइ**'

यह योगसार है। जिसे भगवान, आत्मा कहते हैं, वह तो शुद्धस्वभावी वस्तु है। शुद्धस्वभावी वस्तु में बसने को योगसार कहते हैं, उसे मोक्ष का मार्ग कहते हैं।

'सो धम्मु जिण वि उत्तियउ' इसे वीतरागी परमेश्वर ने धर्म कहा है। सर्वज्ञदेव परमेश्वर, जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान था – ऐसे परमेश्वर ने आत्मा में बसने को धर्म कहा है। देखो भाषा है न? आहा...हा...! परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा वीतराग परमेश्वर की वाणी में ऐसा आया है कि जितना भगवान आत्मा शुद्धभाव है, उसमें बसे, उसे उतना धर्म होता है। समझ में आया?

'सो धम्मु जिण वि उत्तियउ' वीतराग परमेश्वर ने – सर्वज्ञदेव ने यह आत्मा आनन्दमय देखा है, इस आनन्द में जितना बसे, उतना भगवान परमात्मा ने धर्म कहा है। जितना यह पुण्य और पाप में जाये, उसे भगवान ने अधर्म कहा है। आहा...हा...! अद्भुत बात! माँगीरामजी! बहुत कठिन बात, चलता है न? दिल्ली में क्या चलता है? थोड़ा चलता है – ऐसा कहते हैं।

भाई! यह एक आत्मा है या नहीं? तो आत्मा तो उसे कहते हैं कि जिसमें कर्म, शरीर और पुण्य-पाप के भावरहित चीज को आत्मा कहते हैं। आत्मा उसे कहते हैं और केवली ने उसे आत्मा कहा, परमेश्वर ने उसे आत्मा कहा है। शरीर, कर्म को तो भगवान ने अजीव कहा है। वाणी, शरीर और कर्म अजीव कहे; आत्मा में पुण्य-पाप के भाव हों उन्हें भगवान ने आस्रव-बन्ध का कारण कहा है। वे कहीं आत्मा नहीं हैं। आहा...हा...! अद्भुत बात! कठिन....। इस आस्रव के पुण्य-पाप के भावरहित त्रिकाली आत्मचीज को अकेले वीतराग-विज्ञानघन शुद्धभाव से भरपूर तत्त्व है – ऐसे शुद्धभाव में बसे, उसे शुद्धभाव प्रगट होता है। समझ में आया? जितना यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में, आवे उतना वह अशुद्धभाव है, बन्धभाव है, वह अधर्मभाव है।

मुमुक्षु – अशुद्धभाव अर्थात् बन्धभाव।

उत्तर – यहाँ तो कहा न, देखो न! दो ही भाषा है, दो ही बात है। राग-द्वेष के विकल्प शुभ हों या अशुभ हों, उन्हें छोड़कर, भगवान आत्मा अनन्त शान्त और आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु में बसे, वह भगवान आत्मा आत्मा में बसे, रहे, स्थिर हो, एकाग्र हो,

उतना शुद्धभाव प्रगट होता है, उतना भगवान ने धर्म कहा है और वह धर्म पंचम गति का कारण है। '**णेई**' है न? पंचम गति को प्राप्त कराता है। '**णेई**' (अर्थात्) **ले जाता है**। वह धर्म पंचम गति मोक्ष को प्राप्त कराता है परन्तु बीच में यह शुभभाव दया, दान, व्रतादि, भगवान की भक्ति आदि हो भले परन्तु वे मोक्ष को पहुँचावें – ऐसी उनमें ताकत नहीं है। वे बन्ध के कारण हैं। आहा...हा...! जैसे पाप के भाव, बन्ध का कारण हैं, वैसा ही पुण्य का भाव भी बन्ध का कारण है। उनमें बसना वह कहीं मोक्षगति में ले जाये – ऐसी उनमें ताकत नहीं है। दोनों दु:ख है, क्या कहा इन्होंने?

मुमुक्षु – इतना मार्ग तो कटेगा....

उत्तर – जरा भी नहीं कटेगा। दोनों ही – पुण्य और पाप बन्धन के ही कारण हैं। आहा...हा...! इसे गले उतारना (कठिन पड़ता है)।

भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग ने ज्ञान में तेरा आत्मा देखा, वह आत्मा तो पूर्ण शुद्ध आनन्दकन्द है। ऐसे आत्मा में अन्तर में एकाग्र होकर स्थिर होना, इसका नाम शुद्धोपयोग और शुद्धधर्म है, यह एक ही मुक्ति का कारण है; बाकी कोई मोक्ष का कारण है नहीं। आहा...हा...! देखो न? वे धर्म मानकर बेचारे मन्दिर और यात्रा पाँच-पाँच लाख निकालते हैं; यात्रा (करेंगे तो) मुक्ति होगी (ऐसा मानते हैं) धूल में भी नहीं होगी। राग मन्द (आवे) अशुभ से बचने के लिए शुभभाव होता है, अशुभ से बचने को शुभभाव होता है परन्तु उससे संवर-निर्जरा होवे – ऐसा है नहीं। अद्‌भुत बात, भाई! तो करना किसलिए? वह भाव आवे, भाई! जब इसे पापभाव न हो, एक बात। शुद्धस्वरूप में स्थिरता न हो, दो बात। क्या कहा? शुभभाव अपने आप आता है, आये बिना रहता ही नहीं। जब तक आत्मा पूर्ण वीतरागपने को न प्राप्त करे, तब तक बीच में शुभभाव आता है परन्तु वह आवे तो मोक्ष का कारण है – ऐसा नहीं है। आत्मा को शान्ति का कारण है – ऐसा नहीं है। वह शुभभाव स्वयं ही अशान्ति है। आहा...हा...! यह देखो आया, अशुभभाव तीव्र अशान्ति, शुभभाव मन्द अशान्ति परन्तु है अशान्ति। लो, ठीक! परन्तु अशान्ति है, उसमें जरा शान्ति नहीं है। जरा नजदीक नहीं, अशान्ति में क्या नजदीक आया।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु अनादि-अनन्त चैतन्य ज्योत, अनादि-अनन्त

अकृत्रिम-अकृत अविनाशी – ऐसा चैतन्यप्रभु, उसके स्वभाव में तो परमानन्द और शुद्धता भरी है। उसे पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर स्वरूप में बसना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – वह आत्मा में बसना है। **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** – वह भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शिष्य उमास्वामी ने कहा है। **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** – यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा की निर्विकल्प शुद्ध पर्याय है। यह आत्मा में बसे, वह पर्याय कहलाती है। निमित्त और राग में अटके, उसे वहाँ आत्मा में बसा – ऐसा कहाँ से आया? आत्मा में बसे, उसे आत्मा की पूर्णदशा प्रगट होती है। समझ में आया?

मुमुक्षु – रोग घटे किस प्रकार?

उत्तर – परन्तु रोग घटे कब? आत्मा में रोग ही नहीं है, रोगरहित चीज और निरोगता देखे, उसमें स्थिर हो तो निरोगता प्रगट हो। १०५ डिग्री बुखार घटा और ९९ रहा, छह महीने चला तो उसे क्षयरोग की शंका पड़ेगी। ९९-९९ रहा करे, भाईसाहब! कुछ होगा, रात्रि में गर्म बहुत रहता है। रात्रि बारह बजे बाद तपता है। छह महीने तक न मिटे तो उसे यहाँ हॉस्पीटल आना चाहिए। उसे 'अमरगढ़' की हॉस्पीटल फोटो लेने आना चाहिए। क्या है? भाई! छह महीने से ९९, ९९, ९९ थोड़ा-थोड़ा रहा करता है। वह लम्बे काल रहे तो क्षय में जाये। समझ में आया? इसी प्रकार मन्दराग भी ऐसा का ऐसा कर्तृत्वबुद्धि से रहे तो वह क्षय में – मिथ्यात्व में जाता है। आहा...हा...!

धर्म तो आत्मा का निजस्वभाव है। जिनेन्द्र ने धर्म कहा, भगवान ने इसे धर्म कहा.... **धर्म अपने ही पास है....** कहीं बाहर ढूँढ़ने जाना पड़े – ऐसा नहीं है। जगत् को व्यवहार से देखना, ऐसी एक बात ली है, ठीक है। दो-तीन बातें सब ली है, ठीक है, साधारण बात है। कहो? यह ४८ गाथा (पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

आशा-तृष्णा ही संसार भ्रमण का कारण है

आउ गलइ णवि मणु गलइ, णवि आसा हु गलेइ।
मोहु फुरइ ण वि अप्पहिउ, इम संसार भमेइ॥४९॥

मन न घटे आयु घटे, घटे न इच्छा भार।
नहिं आतम हित कामना, यों भ्रमता संसार॥

अन्वयार्थ – **(आउ गलइ)** आयु गलती जाती है **(मणु णवि गलेइ)** परन्तु मन नहीं गलता है **(आसा णवि गलेइ)** और न आशा तृष्णा ही गलती है **(मोहु फुरइ)** मोहभाव फैलता रहता है **(अप्पहिउ णवि)** किन्तु अपने आत्मा का हित करने का भाव नहीं होता है **(इम संसार भमेइ)** इस तरह यह जीव संसार में भ्रमण किया करता है।

☆ ★ ☆

४९ – **आशा-तृष्णा ही संसार भ्रमण का कारण है।**

आउ गलइ णवि मणु गलइ, णवि आसा हु गलेइ।
मोहु फुरइ ण वि अप्पहिउ, इम संसार भमेइ॥४९॥

कहते हैं, अरे! आत्मा, आयु तो बीती जा रही है। भाई! जो कुछ आयु लेकर आया – ८०-८५-९०-१००, यह आयुष्य तो बीता जा रहा है, बापू! आयुष्य गलता है परन्तु तेरी तृष्णा नहीं गलती। आहा...हा...! है न? **आयु गलती जाती है परन्तु मन नहीं गलता है....** आहा...हा...! क्योंकि जहाँ पर की भावना है, उसमें मन गले किस प्रकार? आत्मा आनन्दस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान के बिना तृष्णा नहीं घटती। अज्ञानी को, यह करूँ, यह करूँ, यह करूँ, यह करूँ.... पुण्य-पाप करूँ, पुण्य-पाप करूँ, पुण्य-पाप करूँ.... यह तृष्णा चलती जाती है।

न आशा, तृष्णा गलती है। बड़ा हुआ ऐसे अन्दर गहरे-गहरे आशा बढ़ती ही जाती है, उस आशा का छोर लम्बा होता है। आशा का बीज बोया हो और फिर बड़ा हो, वृद्ध हो, तो हो गया, कर सके नहीं फिर झपट्टे मारे, अन्दर विचार के झपट्टे मारे, इसका ऐसा होवे तो ठीक.... इसका ऐसा होवे तो ठीक। अब कुछ कर सकता नहीं ठीक हो या न ठीक हो, तुझे क्या काम? आत्मा का ठीक हो तो तेरा कल्याण होगा। समझ में आया? आशा, तृष्णा गलती नहीं है।

मोहभाव फैलता रहता है। भगवान आत्मा के स्वरूप की श्रद्धा और भान बिना

यह करूँ.... ऐसा कहना चाहते हैं। यह पर तरफ का यह करूँ, यह करूँ इसमें तो तृष्णा बढ़ जाती है। इसमें कहीं आत्मा को एकाग्र होने का प्रसंग नहीं है। आहा...हा...! आनन्दघनजी ने कहा है न 'आशा औरन की क्या कीजै? आशा औरन की क्या कीजै? ज्ञान सुधारस पीजै, आशा औरन की क्या कीजै?' समझ में आया? 'भटकत द्वार-द्वार लोकन के कूकर आशाधारी' कूकर आशा – कुत्ता होता है न? कुत्ता। 'भटकत द्वार-द्वार लोकन के' भूख लगे (इसलिए) बाहर में जहाँ-तहाँ भटकता है। दरवाजा हो वहाँ सिर मारता है। ऐ... टुकड़ा देना, ऐ... टुकड़ा देना, ऐ... टुकड़ा देना, इसी प्रकार यह मूढ़ जहाँ हो वहाँ मान देना, मुझे बड़ा कहना, मुझे मान देना, मुझे बड़ा कहना, मुझे अच्छा कहना, मैं ऊँचा हूँ – ऐसा कहना। इस आशा तृष्णा के टुकड़े माँगने में भिखारी (की तरह) भ्रमण किया करता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – मैं बड़ा हूँ – ऐसी आशा रखे, कहने न जाये।

उत्तर – कहने जाये, जुलूस निकाले उसे कहने जाये। दो-चार तो व्यक्तिगत कहना, हाँ! मैं यहाँ से जाता हूँ और जुलूस तैयार करना, मेरा नाम मत लेना। समझ में आया? और पैसा चाहिए हो तो मैं दूँगा.... दो सौ-तीन सौ चाहिए हो तो मैं दूँगा परन्तु जुलूस निकालना, जुलूस सब इकट्ठे होवें और बहुत लोग हों, मैं तो उसके योग्य नहीं था परन्तु मुझे तुमने यह सम्मान दिया, यह तुम्हारा बड़प्पन है – ऐसा कहकर एक-दूसरे को मक्खन लगाते हैं। हैं? मैं तो इस योग्य नहीं था परन्तु यह तुम्हारा बड़प्पन है कि तुम दूसरे को मान देते हो। वे भी प्रसन्न हों और यह भी प्रसन्न हो जाता है। जा मरो दोनों! बनता है न ऐसा। ऐ...ई...! यह उल्टा बनता है ऐसा। अन्य को गुप्तरूप से कहे, देखो भाई! इतना करना, हाँ! मेरी प्रतिष्ठा बड़े इतना थोड़ा रखना। तुम मित्र हो न! स्वयं नहीं कहे, मित्र से कहलावे, जगत में ऐसा होता है। भिखारी हैं, रंक हैं, पागल! दुनिया से सम्मान लेना चाहते हैं। यह राजा, महाराजा, सब भिखारी हैं। समझ में आया? भले करोड़-करोड़ की जागीर कहलाये (परन्तु) रंक के रंक हैं, भिखारी में भिखारी है। हमें बड़ा कहो, हम राजा हैं, हमें बड़ा गिनो।

एक बार हमने देखा था न! पालीताना दरबार था न, क्या (नाम) था? वे मर गये

हैं, बहादुरसिंहजी ! हम (संवत्) २००६ की साल में बाहर निकले थे न ? जाने के लिए, रास्ते में किसानों को ऐसा मनवावें; उस समय गाँधी का जोर था न ? उसमें खड़े थे, नहीं ? उस गाँव में.... तुम नहीं थे, नहीं ? तुम नहीं थे न ? कब कौन सी तिथि और काल की बात नहीं, तब यह था या नहीं इतनी बात है, उसकी लाईन अलग है, वहाँ आगे वे दो घोड़े में खड़े थे और दो घोड़े खड़े हों उसे कहते थे, समझे न ? ए... पटेलों ! ऐसा मत करना, ए... पटेलों ! ऐसा मत करना। वे सबको कहते थे। अरे... ! कहा, यह भी भिखारी है। समझ में आया ? भिखारी है, यह रंक है, कहा।

कहते हैं, आहा...हा... ! ४९ हैं न यह.... आयु गलती है और तृष्णा गलती नहीं। आयु बीते वैसे तृष्णा बढ़ जाती है। समझ में आया ? **'मोहु फुरइ'** और मोहभाव फैलता जाता है। **'अप्पाहिउ णवि' परन्तु अपनी आत्मा का हित करने का भाव नहीं होता।** आहा...हा... ! समय चला जाता है सारा। मान में सम्मान में, बड़प्पन में... यह किया और यह मुझे माना और इसने बड़ा किया.... (जीवन) इसी में चला गया। आत्मा का हित करने का काल सब चला गया। इसका है न ? वह गुजराती है न ? क्या है गुजराती ? गुजराती है या नहीं ? कितने का है यह ? ४९, इसमें ४८ होगा, इसमें थोड़ा अन्तर है, हाँ ! एक का अन्तर है।

मन न घटे आयु घटे, न घटे इच्छा-आश।
तृष्णा मोह सदा बढ़े, इससे भ्रमता खास॥ ४९॥

बहुत श्लोक किये हैं।

आयु गले मन ना गले, इच्छा आशा न गलंत।
तृष्णा मोह सदा बढ़े, या ही भव भटकंत॥ ४८॥

हिन्दी है। यहाँ तो ऐसा कहना है, राजा और भिखारी पर से कुछ महिमा चाहते हैं, उनकी तृष्णा बढ़ती जाती है और मोह की स्थूलता बढ़ जाये व आत्मा का हित उन्हें सूझता नहीं। ऐसा मानो कि हम बढ़ गये-बड़े हो गये, ऐसे हुए-ऐसे हुए। आहा...हा... ! समझ में आया ? लड़का अच्छा हुआ, फिर आमदनी करने में बढ़े.... मूढ़ मानता है हम बढ़े किसके बड़े ?

श्रीमद् ने नहीं कहा 'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये?' लक्ष्मी बड़ी – दो करोड़-पाँच करोड़, धूल करोड़.... 'लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये?' सोलहवें वर्ष में कहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र सोलह वर्ष में (कहते हैं), सात वर्ष में जातिस्मरण था, यह श्रीमद् राजचन्द्र.... १९५७ में देह छूट गया, सात वर्ष में जाति स्मरण-पूर्वभव का ज्ञान था, सोलह वर्ष में मोक्षमाला बनायी, उसमें ऐसा कहते हैं।

लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी पर बढ़ गया क्या बोलिये?
परिवार और कुटुम्ब है क्या वृद्धि नय पर तोलिये?
संसार का बढ़ना अरे नर देह की यह हार है।
नहीं एक क्षण तुझको अरे इसका विवेक-विचार है।

लक्ष्मी बढ़ी, दुकानें बढ़ी, वह क्या कहलाता है तुम्हारा? मुख के आगे बैठा हो उसे क्या (कहते हैं)? मुनीम! मुनीम बढ़े यह बढ़े धूल भी नहीं बढ़ी, सुन न! भटकने का बढ़ा है।

मुमुक्षु – दिखता तो है।

उत्तर – दिखता है न! भटकने का बढ़ा, हैरान... हैरान हो गया है। देखो न! पता नहीं पड़ता? है? आहा...हा...! अरे! मुम्बई जाये तो इसका लड़का इसके साथ बात नहीं करे, इससे कहे बापू! अभी मुझे फुरसत नहीं है। यह जाये तो कहे बापू! मुझे अभी फुरसत नहीं है, हाँ! बैठो! जाओ घर पर खाकर आना, मैं फुरसत में होऊँगा तो तुम्हारे साथ खाने आऊँगा। इसकी फुरसत नहीं होती। यहाँ तो कहते हैं कि बाहर के साधन बढ़ने से बढ़ा हुआ मानना, यह परिभ्रमण के कारण में बढ़ा है, फँसने के कारण में (बढ़ा है)। नर देह, ऐसा मनुष्य देह मिला.... आहा...हा...! मुश्किल से जन्म-मरण-जरा को मिटाने का यह भव है, भव को मिटाने का भव है – ऐसे भव को बढ़ाने का साधन बढ़ा परन्तु आत्मा का हित स्फुरित नहीं होता – ऐसा कहते हैं। देखो, है न? **अपने आत्मा का हित करने का भाव नहीं होता।** समझ में आया? आहा...हा...! चक्रवर्ती जैसी सम्पत्ति और बहुत बात ली है।

यहाँ अन्तिम शब्द आत्मानुशासन का है। **मनुष्य सदा शरीर का पोषण करता**

है और विषयभोग भोगता रहता है, इससे अधिक खराब काम दूसरा क्या होगा ? वह विष पीकर जीवन चाहता है। जहर पीकर जीवन चाहता है। भगवान अमृत के आनन्दकन्द में अन्दर डूबे नहीं, अन्दर में आवे नहीं और बाहर में भटकाभटक भटका करता है, वह जहर पीकर जीवन चाहता है। तृष्णा बढ़ जाये, मरने तक तृष्णा बढ़ जाये, जाये नहीं वापस, वापस फिरे नहीं। क्यों हरिभाई ? फिर भाई की भी माने नहीं।

इसलिए कहते हैं कि इस सब तृष्णा को छोड़ और भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की श्रद्धा, ज्ञान, अनुभव कर। इसमें तेरे कल्याण का पन्थ है। बाकी दूसरी जगह कल्याण नहीं है-सब अकल्याण है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वात्सल्यमूर्ति मुनिराज के सम्बोधन के उपाय

जैसे माता बालक को शिक्षा दे, तब कभी ऐसा कहती है कि बेटा तू तो बहुत सयाना है.... तुझे यह शोभा देता है ? और कभी ऐसा भी कहती है कि तू मूर्ख है, पागल है; इस प्रकार कभी मधुर शब्दों से शिक्षा देती है तो कभी कड़क शब्दों से उलाहना देती है, परन्तु दोनों समय माता के हृदय में पुत्र के हित का ही अभिप्राय है। इसीलिए उसकी शिक्षा में भी कोमलता ही भरी है।

इसी प्रकार धर्मात्मा सन्त बालकवत् अबुध शिष्यों को समझाने के लिए उपदेश में कभी मधुरता से ऐसा कहते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा सिद्ध जैसा है, उसे तू जान! और कभी कठोर शब्दों में कहते हैं कि अरे मूर्ख! पुरुषार्थहीन नपुंसक! अपनी आत्मा को अब तो पहचान! यह मूढ़ता तूझे कब तक रखनी है ? अब तो छोड़!

इस प्रकार कभी मधुर सम्बोधन से तो कभी कठोर शब्दों से उपदेश देते हैं, परन्तु दोनों प्रकार के उपदेश के समय उनके हृदय में शिष्य के हित का ही अभिप्राय है; इसलिए उनके उपदेश में कोमलता ही है, वात्सल्य ही है। — *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

आत्मप्रेमी ही निर्वाण का पात्र है

जेहउ मणु विसयहँ रमइ, तिमु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ॥५०॥

ज्यों रमता मन विषय में त्यों ज्यों आतमलीन।
मिले शीघ्र निर्वाण पद, धरे न देह नवीन॥

अन्वयार्थ – **(जाइउ भणइ)** योगी महात्मा कहते हैं **(हो जाइयहु)** हे योगीजनों! **(मणुजेहउ विसयहँ रमइ)** मन जैसा विषयों में रमण करता है **(जइ तिसु अप्प मुणेइ)** यदि वैसा यह मन आत्मा के ज्ञान में रमण करे तो **(लहु णिव्वाणु लहेइ)** शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर ले।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ८, रविवार, दिनाङ्क २६-०६-१९६६
गाथा ५० से ५३ प्रवचन नं. १८

---

५० वीं गाथा। ४९ वीं में ऐसा आया था। यह योगसार है। योगीन्द्रदेव दिगम्बर मुनि ने ४९ वीं में ऐसा कहा कि यह आयु घटती जाती है, फिर भी तृष्णा नहीं घटती। आयु घटती जाती है और तृष्णा नहीं घटती; बढ़ती है क्योंकि इसे आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं है। समझ में आया? आत्मा, वह एक ओर राम और दूसरी ओर गाँव। एक ओर आत्मा सच्चिदानन्द अनाकुल आनन्दकन्द पदार्थ है और एक तरफ पुण्य-पाप के विकल्प, राग, शरीर, वाणी, कर्म और बाह्य सामग्री है। जिसे बाह्य सामग्री के प्रति प्रीति है, उसे तृष्णा बढ़ जाती है।

भगवान आत्मा शुद्ध सन्तोष का पिण्ड आनन्द का कन्द है। ऐसे आत्मा के अन्तर प्रेम के बिना बाहर की चीज़ के प्रेम से – फिर (भले ही) अन्दर शुभराग का, पुण्य का प्रेम होवे तो भी, वह तृष्णा का वर्द्धक प्रेम ही है। समझ में आया? इस कारण कहते हैं कि

आयु व्यतीत होती जाती है, फिर भी मन नहीं गलता, तृष्णा नहीं घटती। क्यों नहीं घटती? कि पर में इसका प्रेम नहीं घटता। तब अब कहते हैं कि (वह) कैसे घटे?

मुमुक्षु – इतना-इतना सुने और प्रेम नहीं घटे?

उत्तर – यह इंकार करते हैं। गुरु का सुने और समझे नहीं तो वह सुना नहीं – ऐसा कहते हैं।

प्रश्न – वह तो स्वयं के ऊपर है न।

उत्तर – किसके ऊपर है? यह आयेगा। उस ५२ वें में (आता है न)? किसमें? ५३ में आता है न? शास्त्र पठन (भी) आत्मज्ञान के बिना निष्फल है। गुरु के पास सुने तो भी निष्फल है; इस आत्मा की अन्तर्दृष्टि के बिना, आत्मा के अन्तर के आनन्द के प्रेम बिना, उसके अनुभव के बिना गुरु के पास सुने या शास्त्र पढ़े – सब निष्फल है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान आत्मा एक सैकेण्ड में असंख्यातवें भाग में आनन्द का कन्द है। आहा...हा...! आनन्द का सरोवर है। समझ में आया? जैसे, मृगमरीचिका में पानी नहीं, परन्तु सरोवर में पानी है; वैसे ही जगत के किसी पदार्थ में आत्मा को सुख नहीं है; आत्मा में सुख है। समझ में आया? ऐसे आत्मा में अन्दर में आनन्द है – ऐसा प्रेम किये बिना, बाहर के प्रेम के कारण यह अनन्त काल से.... भले ही यह शुभराग – दया, दान, व्रत के परिणाम हों परन्तु भगवान आत्मा से विरुद्ध परिणाम का प्रेम, इसे तृष्णा-वर्द्धक है। पण्डितजी! हरिप्रसादजी! समझ में आया?

भगवान आत्मा.... यह कहते हैं। **आत्मा का प्रेमी निर्वाण का पात्र है।** है? देखो!

जेहउ मणु विसयहँ रमइ, तिमु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु, लहु णिव्वाणु लहेइ॥५०॥

बहुत संक्षिप्त भाषा! योगी महात्मा योगीन्द्रदेव सन्त दिगम्बर महात्मा हैं। (वे) कहते हैं कि हे योगी! हे आत्मा का जुड़ान करनेवाले! पर का प्रेम छोड़कर, पुण्य-पाप का, शरीर, मन, वाणी, सारी दुनिया, आत्मा के अतिरिक्त सबका प्रेम छोड़कर जिसे

आत्मा आनन्दकन्द का प्रेम लगा, उसे यहाँ योगी, उसे यहाँ धर्मी कहा जाता है। समझ में आया?

कहते हैं, हे धर्मी! **जैसे मन विषयों में रमण करता है....** जैसे तेरा मन पाँच इन्द्रियों के शब्द, रूप, रस, गन्ध में रुचि करके रमता है.... समझ में आया? आत्मा अन्तर ज्ञायक चिदानन्दस्वभाव के अतिरिक्त, जो मन अन्तर के-आत्मा के प्रेम अतिरिक्त पूर्णानन्द का नाथ भगवान आत्मा की अन्तर जिसे रति, रुचि और प्रेम नहीं है, उसे पुण्य-पाप और बन्ध व उसके फल में उसका प्रेम है, तो कहते हैं कि जैसा प्रेम तुझे पर में है, वैसा प्रेम यदि आत्मा में करे (तो) अल्पकाल में तेरी मुक्ति होगी। कहो, समझ में आया?

मणु जेहउ विषयहं रमइ विषय शब्द से अकेले भोग आदि, ऐसा नहीं; आत्मा के अतिरिक्त शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सब, हाँ! आहा...हा...! जैसा शास्त्र के शब्दों को सुनने का प्रेम है, वह प्रेम भी पर में जाता है। हरिप्रसादजी! आहा...हा...! जैसा प्रेम इसे शब्द में, रूप में, गन्ध में, स्पर्श में, देव-शास्त्र-गुरु में या स्त्री, कुटुम्ब-परिवार में या आत्मा के अतिरिक्त किसी भी कर्म और शरीरादि में जैसा मन वहाँ लीन होकर रमता है.... यहाँ ऐसा कहना है कि वह तेरा ही पुरुषार्थ है कि जहाँ पर में तू रमता है – ऐसा कहते हैं। उसमें कहीं किसी कर्म-बर्म का याद नहीं किया। समझ में आया? है न?

जैसे मन, विषयों में रमण करता है, यदि उसी प्रकार यह मन, आत्मा के ज्ञान में रमे तो.... एक ही सिद्धान्त है। भगवान आत्मा पूर्ण शान्त, आनन्द का रस है, उसका जिसे प्रेम नहीं लगा और जिसे प्रेम इन बाह्य पदार्थों में उल्लसित वीर्य से जहाँ अटका है, कहते हैं कि जैसे भाव से पर में प्रेम से अटका है, (वह) तेरे उल्टे पुरुषार्थ से (अटका है), कर्म के कारण नहीं, किसी (अन्य) के कारण नहीं। भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द की मूर्ति प्रभु की ओर का प्रेम छोड़कर, इसको-बाहर की चीज के प्रेम में जिसका मन लीन हो गया है, ऐसी लीनता तूने तेरे उल्टे पुरुषार्थ से की है। ऐसा ही उल्टा पुरुषार्थ जैसे ऐसा किया ऐसा जो गुलांट खा... गुलांट अर्थात् आत्मा के आनन्द में प्रेम कर तो क्षणमात्र में तेरी मुक्ति होगी। समझ में आया?

तुलसीदास कहते हैं – 'जैसी रति हराम से, तैसी हरि से होय, चला जाए बैकुण्ठ

में, पला न पकड़े कोई।' आता है या नहीं ? 'जैसी रीति हराम से' – पैसा, पाँच रुपये मिलें, दस रुपये मिलें, स्त्री अनुकूल बोल, वहाँ (फूल जाता है कि) आहा...हा... ! पूरा होम हो जाता है, पूरा होम हो जाता है ! स्वाहा ! किसमें ? इस पुण्य और पाप, राग और तृष्णा में स्वाहा (हो जाता है)। उसमें भगवान का धुआँ होता है। आहा...हा... ! बल्लभदासभाई !

भगवान परमानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसका प्रेम छोड़कर, जैसी लीनता पर में लगी, वैसी लीनता यदि तुझमें (सब में) करे, यह तेरे अधिकार की बात है। कर्म घटे और अमुक हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। आहा...हा... ! यहाँ तो भाई ! कर्म को याद भी नहीं किया। तू ऐसे (रमता है), वैसा ऐसे (स्व में) रम – ऐसा कहा है। यह कहते है, कर्म इसे रोकते है, कर्म घटे तो कुछ मोक्ष का मार्ग होवे.... आहा...हा... ! भाई ! तेरे शान्तरस का तुझे प्रेम नहीं है। समझ में आया ?

आनन्दघनजी एक जगह कहते हैं, अपने आता है, नहीं ? निर्जरा अधिकार में (आता है)। जहाँ रति.... निर्जरा अधिकार.... २०६ (गाथा) एक बार कहा था। पालीताना में कहा था, एक बार अहमदाबाद में कहा था। रति... रति... हे आत्मा ! आत्मा में रति कर। आत्मा में रति कर का अर्थ यह कि देह की क्रिया मुझे लाभदायक है, पुण्य-पाप के परिणाम मुझे लाभदायक है (ऐसा जो मानता है), उसे आत्मा में रति नहीं है। समझ में आया ? तेरा प्रेम पर ने लूट लिया है। एक जरा अनुकूल प्रतिष्ठा हो, बाहर प्रसिद्धि हो, बाहर में इसके गुणगान गाये जाते हों, बाहर प्रसिद्धि के लिए मथ जाये, वह मथ जाता है, पूरी जिन्दगी चली जाती है। पाँच-पाँच, पच्चीस-पच्चीस वर्ष पैसा कमाने में, उसकी वासना में उसे प्रसिद्धि पाने में, इसकी कुर्सी सामने आगे लेने का कितना प्रेम है कि जीवन आत्मा को खोकर, आत्मा को खोकर और खो जाये परन्तु पर का प्रेम नहीं छोड़ता। कहो, रतिभाई !

मुमुक्षु – लुटेरे प्रेम लूट ले जायें, उसमें यह क्या करे ?

उत्तर – यह लुटता है। लूटे कौन ? आहा...हा... !

जैसा मन... समझ में आया ? यह कहा न, रति का ? आनन्दघनजी एक जगह

कहते हैं 'कहाँ दिखाऊँ और को कहाँ दिखाऊँ भोर, तीर अचूक है प्रेम का लागे रहे सो ठोर, कहा दिखाऊँ और को' – इस आत्मा का प्रेम, आत्मा शुद्ध चैतन्य की अन्तर की दृष्टि के प्रेम को दूसरे से क्या कहें ? कहते हैं और 'कहाँ दिखाऊँ भोर' इसके प्रकाश की महिमा किसे दिखायें ? 'तीर अचूक है प्रेम का' यह अचूक तीर का प्रेम लगा, अन्दर भगवान आत्मा के ऊपर.... 'लागे रहे सो ठोर' इस आत्मा का प्रेम हुआ, (इसलिए) वहीं इसकी रुचि बारम्बार जाती है। संसार के प्रेमी संसार की कोई भी विविध प्रकार की चीजें देखकर (उनमें प्रेम करते हैं)। समझ में आया ?

खाने बैठा हो और विविध प्रकार के नमूने खाने में परोसे तो वहीं इसे लक्ष्य रहता है। यह क्या आया ? चावल आये, क्या कहलाते हैं तुम्हारे ? चावल को क्या कहते हैं ? तुम्हारे लड़के चावल खाते हैं वह क्या ? इस आम के साथ यहाँ नहीं देते थे ? चिवड़ा। यह विविध नमूने ऐसे देखता है कि इसमें चिवड़ा आता है ? इसमें आम के टुकड़े आते हैं ? इसमें मौसम्बी का रस रखा है या दूसरा पानी रखा है ? यह विविध प्रकारों का प्रेम है (इसलिए) वहाँ देखा करता है। समझ में आया ?

इसी प्रकार आत्मा के अतिरिक्त विविध प्रकार के पुण्य-पाप और पुण्य-पाप के बन्धन और बन्धन के अनुकूल-प्रतिकूल बाह्य फल.... मूढ़ बाहर की प्रीति के प्रेम में भगवान आत्मा की प्रीति खो (बैठा) है। भले बाहर में त्यागी हुआ हो परन्तु जिसे अन्दर में बाह्य के राग में पुण्य, दया, दान का विकल्प उत्पन्न होता है, उसका जिसे प्रेम है, वह पूर्ण भोगी है, योगी नहीं – ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! हे जोगिया ! कहा न ? हे जोगिणा ! आहा...हा... !

भगवान आत्मा अन्दर परमात्मा के तेज और नूर व आनन्द से भरा हुआ तेरा तत्त्व है। उसके प्रेम में एक क्षण भी प्रेम कर तो तेरा संसार – जन्म-मरण का नाश हो जाएगा – ऐसा जिसका प्रेम ! ऐसा परमात्मा अन्दर में तू विराजमान है परन्तु जैसा प्रेम – पर में लीनता है – ऐसा प्रेम यदि इसमें (आत्मा में) करे तो क्षण में सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त करके मुक्ति हुए बिना नहीं रहे। है न ?

जैसे (मन) विषयों में रमण करता है यदि उसी प्रकार यह मन आत्मा के

ज्ञान में रमे तो.... 'तिसु अप्प मुणेई' ऐसा शब्द है न? आत्मा, भगवान आत्मा, जिसके तेज के एक समय के ज्ञान में तीन काल-तीन लोक विविध एक तत्त्व के अतिरिक्त जितने तत्त्व हैं, वे सब आत्मा की एक समय की दशा में ज्ञात हो – ऐसे तत्त्व हैं। फिर भी वे तत्त्व मेरे हैं – ऐसा ज्ञात नहीं होता। ऐसे आत्मा के चैतन्य के प्रेम में देख तो पूरी दुनिया तुझे अन्दर में प्रेम रहित (दिखेगी), उसका प्रेम कहीं लगेगा नहीं। ज्ञातादृष्टा होकर जगत की चीजों का जानने-देखनेवाला होगा, यह जानने-देखनेवाला हुआ, उसे पुण्य और पाप के भाव में भी प्रेम उड़ गया है। फिर यह साधन मुझे अनुकूल है और यह साधन प्रतिकूल है – ऐसा आत्मा के स्वभाव के प्रेम में यह बात नहीं रहती है। समझ में आया? आहा...हा...! **मन आत्मा के ज्ञान में रमे तो शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर ले।** तो अल्प काल में केवलज्ञान प्राप्त करे और मुक्ति पाये।

योगीन्द्र आचार्य योगी अर्थात् धर्मात्मा... योगी अर्थात् जिनका झुकाव बाह्य के झुकाव से छूटा है और जिनका झुकाव-दिशा आत्मा की तरफ हुई है – ऐसा धर्मी सम्यग्दृष्टि से लेकर (समस्त धर्मात्मा) जीवों को कहते हैं कि अरे! **मन को गाढ़भाव से अपनी आत्मा में रमाना चाहिए। तभी वीतरागता के प्रकाश से शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा।** पहला पद ले लिया क्योंकि **आत्मवीर्य के प्रयोग से ही प्रत्येक कार्य का पुरुषार्थ होता है।** ऐसा कहते हैं, देखो! **अज्ञानी जीव पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों में जितनी आसक्ति से रमता है....** यह भी वीर्य से (पुरुषार्थ से) है – ऐसा कहते हैं। तेरे उलटे पुरुषार्थ से पाँच इन्द्रियों के विषयों में एकाकार (होता है)। अरे... वाणी सुनने में एकाकार (हो जाता है), वह भी तेरे पुरुषार्थ की पर में उल्टी उग्रता है – ऐसा कहते हैं। हैं? भावनगर से सुनने आते हैं।

वीतराग ऐसा कहते हैं कि सुनने के प्रेम को भी छोड़। आहा...हा...! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय... हिरण की नाभि में कस्तूरी है परन्तु उसे कस्तूरी का पता नहीं है; इसी प्रकार यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सरोवर... सरोवर... सागर अन्दर है। आहा...हा...! उसके प्रेम को छोड़कर पर में एकाकार (होकर) झुलस गया है। अत: एक बार गुलांट खा। पर का प्रेम छोड़कर यहाँ प्रेम कर! अपना प्रेम कर तो परमात्मा हुए बिना नहीं रहेगा। आहा...हा...! कहो, शशीभाई! समझ में आया?

पाँच इन्द्रियों के दृष्टान्त दिये हैं न? जैसे हाथी स्पर्श में वशीभूत हो गया है न? हाथी स्पर्श इन्द्रिय में वशीभूत हो गया है; मछली रस में (वशीभूत हो गयी है)। मछली को (खाने में) रस होता है न? खाने में जरा आटा दे तो भी उसमें रस (आता है)। मछली को जाल में डालते हैं न? पानी में लोहे का कटिला जाल होता है न? उसमें आटा डालते हैं, आटा खाने आवे तो मछली वहीं पड़ जाये ऐसी लीन हो गयी है, मछली रस में लीन हो गयी है। भँवरा, कमल में (लीन हुआ है)। कमल इतना हो उसमें लिपट जाता है, बन्द हो जाता है, रसलीन हो गया है। फिर हाथी आकर पूरा कमल खा जाता है परन्तु उसके प्रेम को नहीं छोड़ता और पतंगा, दीपक की ज्योति में (लीन होता है)। लो, समझ में आया? पतंगा दीपक की ज्योति में भस्म हो जाता है। ऐसी बत्ती देखे तो.... ऐसा जाये। विषय के प्रेम में पूरा शरीर भस्म हो जाये तो भी उसे पता नहीं रहता। कहते हैं कि यदि ऐसा प्रेम आत्मा में करे, वह भी तेरे पुरुषार्थ की गति का ही कार्य है। शरीर भस्म अर्थात् शरीर का कुछ भी हो परन्तु तुझे वहाँ नुकसान नहीं होगा। आहा...हा...! समझ में आया? हिरण जंगल में पकड़े जाते हैं। लो न! कान का (संगीत का) शौकिन है न? सुनने में ऐसा लीन हो जाता है ऐसा! वीणा बजाते हैं फिर मृग को मारते हैं। मृग ऐसे सुनने बैठा हो, ऐसे मुक्का मारते हैं। लीन हो गया है लीन, कहते हैं। समझ में आया?

दिन-रात आत्मा का ही स्मरण करना चाहिए। कहते हैं, जैसे इन पाँच इन्द्रियों के विषयों में, एक-एक में जैसे पाँचों लीन है, वैसे आत्मा में इसे लगन लगनी चाहिए। सम्यग्दर्शन में इसकी लगन लगे... सम्यग्दर्शन उसे कहते हैं कि आत्मा अखण्डानन्दमूर्ति की इसे अन्दर में लगन लगी हो। समझ में आया?

मुमुक्षु – दूसरे रस का वेदन तो इसे ख्याल में है।

उत्तर – ख्याल में है परन्तु यह चीज है या नहीं ऐसी? ख्याल में इसने क्या खड़ा किया है, वहाँ कहाँ ख्याल में है? प्रतिक्षण नया खड़ा करके यह... यह है, त्रिकाली ऐसा है, उसका इसे लक्ष्य नहीं है। क्षण में वेदनेवाला है कौन? स्वयं त्रिकाली है। बात (यह है कि) इसे पड़खा बदलना नहीं आता।

भगवान आत्मा.... जैसा प्रेम वहाँ है... यह वेश्या की आसक्ति (होती है), परस्त्री

के लम्पट की कितने आसक्त होते हैं, देखो न ! हैं ? आहा...हा... ! देखो न ! एक आता है न ? उन सूरदास का नहीं आता। वे थे न ? वेश्या के पास जाते, सर्प था, वेश्या के घर जाते सर्प था, उन्हें ऐसा लगा कि रस्सी है, ऐसा विचार कर सर्प को पकड़कर अन्दर गया, ऊपर चढ़ गया ! हैं ? सर्प है या रस्सी, भूल गया, वेश्या के प्रेम में... आता है या नहीं ? शशीभाई ! हमने तो सब सुना है, हमने कहीं ऐसा पढ़ा नहीं है। ऐसा प्रेम ! फिर उसने आँखें फोड़ डाली परन्तु आँखें फोड़ने से क्या होता है ? समझ में आया ? अपने को यह रूप नहीं देखना, यह रूप (नहीं देखने के लिये) आँखें फोड़ डालो परन्तु आँखें कहाँ रोकती हैं ? वे तो जड़ हैं तेरा प्रेम पर में है, इसे छोड़ने के लिए अन्तर में प्रेम कर, तब बाहर की आँखें फोड़ी कहा जाएगा। आँखें, बाहर का क्या काम है वहाँ ?

कहते हैं, **आत्मा के रस में ऐसा रसिक हो जाना चाहिए कि मान-अपमान....** बहुत बोल लिये हैं न ? जीवन-मरण, कंचन सुख में समानभाव रखना चाहिए। **जैसे धतूरा खानेवाला प्रत्येक जगह पीला रंग देखता है....** देखो ! धतूरा पीनेवाला सब चीजों को पीली देखता है। इसी प्रकार धर्मी को सभी चीजें अनित्य और क्षणिक दिखती हैं। एक नित्यानन्द भगवान आत्मा दृष्टि में आने पर सब चीजें क्षणिक, नाशवान् है। मैं अविनाशी आत्मा हूँ, एक अविनाशी मैं हूँ, बाकी सब नाशवान है। समझ में आया ?

शुद्ध निश्चयनय से उसे जिस प्रकार अपना आत्मा परमात्मरूप शुद्ध दिखता है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा परमात्मरूप शुद्ध दिखता है। निश्चय से, हाँ ! निश्चयदृष्टि से जैसा अपना आत्मा पुण्य-पाप के रागरहित ज्ञात होता है, वैसी ही दृष्टि से दूसरे आत्मा को भी वह देखता है। उसका आत्मा उन पुण्य-पाप के राग, शरीर, कर्मरहित (है), उसे आत्मा जानता है। समझ में आया ? अपना भगवान आत्मा शुभ-अशुभ राग, बन्धन और फल रहित है – ऐसी दृष्टि जहाँ धर्मात्मा को (हुई).... योगसार अर्थात् आत्मा के योग की हुई.... वह दूसरे आत्माओं को (भी वैसा ही देखता है)। वह आत्मारूप से तो इसे स्वीकार करता है, दूसरे आत्माएँ भी पुण्य-पाप के रागवाले हैं – ऐसा नहीं। पुण्य-पाप का राग तो आस्रव है। कर्म, शरीर तो अजीव है, उनका आत्मा है, वह तो ज्ञानानन्द अखण्डानन्द प्रभु है। ऐसे धर्मी, अपने आत्मा को जैसे निर्विकारी देखता है, वैसे ही दूसरों

के आत्माओं को भी उनकी स्थिति को निर्विकारी देखता है। समझ में आया? आहा...हा...! शरीर को देखे, परन्तु वह तो जड़ है – ऐसा देखता है। उसके पुण्य-पाप को जाने परन्तु वह तो विकार है – ऐसा जानता है। इसे – आत्मा को जाने तो निर्विकारी आत्मा है – ऐसा उसे जानता है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया?

लोक एक शुद्ध आत्मिक सागर बन जाता है। उसी आत्मसागर में वह आत्मज्ञानी एक मत्स्य हो जाता है। ऐसा कि आत्मा के आनन्द में स्वयं शुद्ध के प्रेम में पड़ा है न? (इसलिए) सब आनन्दमय आत्मा है – ऐसा भासित होता है। स्वयं जगत् के आनन्दरूपी सागर का मानो मत्स्य हो – मछली हो जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? **ज्ञानी जीव ऐसा आत्मरसिक हो जाता है कि उसे तीन लोक की सम्पदा जीर्ण तृण के समान दिखती है।** समझ में आया? यह बात की। फिर तो बहुत लिखा है।

पूज्यपादस्वामी का आता है न? **मोक्षार्थी के लिए उचित है....** मोक्ष के अर्थी को यह उचित है कि **आत्मज्योति के विषय में प्रश्न पूछना...** प्रश्न करे तो आत्मा कैसा? आत्मा कैसे प्राप्त हो? आत्मा में क्या है? आत्मा प्राप्त होवे तो उसे क्या दशा हो? समझ में आया? आत्मार्थी – मोक्षार्थी को ऐसे प्रश्न करना चाहिए। आहा...हा...!

मुमुक्षु – हमारा दुःख कब मिटेगा – ऐसा (प्रश्न करना चाहिए)।

उत्तर – दुःख मिटे यह। आत्मा का दुःख कब मिटे? ऐसा। दुःख कहाँ, यह स्त्री-पुत्र का दुःख है? आहा...हा...! उसमें – 'अनुभवप्रकाश' में दृष्टान्त दिया है, नहीं? 'पानी में मीन प्यासी मुझ सुन-सुन हाँसी... पानी में मीन प्यासी।' पानी में मीन प्यासी। अनुभवप्रकाश में दृष्टान्त दिया है न? दूसरे में यह भजन है। एक व्यक्ति था, वह कहता – मुझे आत्मज्ञान दो। एक व्यक्ति एक साधु के पास गया, (जाकर कहा), मुझे आत्मज्ञान दो। तब (साधु ने) कहा – मेरे पास तो नहीं है परन्तु समुद्र में एक मछली है, उसके पास जा, मछली तुझे देगी। (वहाँ जाकर) मछली से कहता है भाई! तुम तो बड़े पुरुष हो, हमें किसी ने कहा है कि तुम (आत्मज्ञानी हो)। (तब) मछली कहती है, हाँ, तुम बड़े पुरुष हो कि मुझे यहाँ ढूँढ़ने आये। मछली ऐसा कहती है – मेरा एक

काम करो। क्या? मछली कहती है – मुझे थोड़ा-सा पानी लाकर दो, प्यासी हूँ, बहुत वर्षों से प्यासी हूँ, एक पानी का प्याला लाकर दो, पानी का प्याला क्या करना है? यह पानी नहीं भरा है यह सब? (मछली कहने लगी) पानी भरा है ऐसा तुम कहते हो? तब तुम आत्मा ज्ञानरूप नहीं भरे हो? तुम कहाँ अन्दर से चले गये हो। हैं? मछली ने उससे कहा, मेरे लिए पानी लाकर दो। फिर मैं तुम्हारी प्यास.... पानी तो तेरे पास है, यह रहा समुद्र, देख! तब तू कौन है? यह पूछनेवाला, जाननेवाला है कौन? मछली ऐसे (बाहर) नजर करती है, इसलिए पानी नहीं दिखता, ऐसे (अन्दर) नजर से दिखता है। इसी प्रकार यह अनादि का आत्मा पुण्य और पाप, राग और द्वेष, देहादि की क्रिया बाहर को देखता है परन्तु अन्दर में चिदानन्द जल से भरा हुआ समुद्र है, उसे नहीं देखता। समझ में आया?

भगवान आत्मा.... यह पानी में मीन प्यासी। बल्लभदासभाई! इसी प्रकार आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, अनाकुल आनन्द और ज्ञान का सागर अन्दर है परन्तु नजर करें तब न? इसे नजर करने का समय नहीं मिलता। आहा...हा...! समझ में आया? इसलिए कहते हैं – इस आत्मा का प्रश्न करना, आत्मा की **इच्छा करना....** चाह अर्थात् इच्छा; आत्मा का **दर्शन करना**। इसकी लगन लगाना, दूसरी लगन छोड़कर; विकार और फल और अमुक की, ऐसा पुण्य किया और उसका फल क्या आएगा? छोड़ न होली अब.... भगवान आत्मा सच्चिदानन्दमूर्ति है, अनाकुल आनन्द का समुद्र है, वहाँ देख। वहाँ तुझे शान्ति मिले ऐसा है। बाहर के क्रियाकाण्ड में कहीं धूल भी नहीं है। समझ में आया? यह दया, दान, भक्ति का परिणाम यह सब राग के भाव हैं। इस राग में आत्मा नहीं है। इसमें धर्म नहीं और राग में आत्मा भी नहीं, इसका प्रेम छोड़कर आत्मा का प्रेम कर। अब, (५१ वीं गाथा में) जरा शरीर की जीर्णता बतलाते हैं।

☆ ★ ☆

शरीर को नरक घर जानो

जेहउ जज्जरु णरय-घरु, तेहउ बुज्झि सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ, लहु पावहि भवतीरु॥५१॥

नर्कवास सम जर्जरित, जानो मलिन शरीर।
करि शुद्धातम भावना, शीघ्र लहो भवतीर॥

अन्वयार्थ – **(जेहउ णरय-धरूज्जरू)** जैसा नरक का वास आपत्तियों से जर्जरित है **(तेहउ सरीरू बुज्झि)** तैसे ही शरीर के वास को समझ **(णिम्मलउ अप्पा भावहि)** निर्मल आत्मा की भावना कर **(लहु भवतीरू पावहि)** जिससे शीघ्र ही संसार से पार हो।

☆ ★ ☆

शरीर को नरक घर जानो। ऐसा लिखा है, पाठ में दूसरा है।

जेहउ जज्जरु णरय-घरु, तेहउ बुज्झि सरीरु।
अप्पा भावहि णिम्मलउ, लहु पावहि भवतीरु॥५१॥

यह किसलिए कहते हैं? भगवान अनाकुल आनन्द के प्रेम में, कहते हैं कि यह शरीर नरक के घर जैसा जर्जरित तुझे दिखेगा। नव द्वार से मल, मूत्र, थूक, चारों ओर से पसीना झरे – ऐसी यह धूल है। भगवान आत्मा आनन्द का कन्द है। आहा...हा...! कहो, बल्लभदासभाई! आत्मा आनन्द सच्चिदानन्द सत् शाश्वत्, शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का सागर, सरोवर है भगवान, उसके प्रेम के बिना तुझे यह शरीर मीठा लगता है। चाट लें, शरीर का मानो भोग ले, क्या करे, मानो सुन्दर लगे, ऐसा करें, क्या है परन्तु? यह तो हड्डी है, चमड़ी है, माँस है, खून है, पीव है। एक गन्ने जितनी जरा सी चमड़ी उतर जाये, गन्ने की छाल। शेरड़ी समझते हो, गन्ना... गन्ना। एक छिलका उतरे तो पता पड़े। थूँकने के लिए खड़ा न रहे। कहता था न – मेरे भोग के लिए है, बहुत सुन्दर शरीर अद्भुत, मक्खन जैसा! धूल में भी नहीं, मूर्ख! तेरे शरीर में तो हड्डियाँ और चमड़ी भरी है अकेले। आहा...हा...!

'जेहउ णरय घरु जज्जरु' यहाँ तो **शरीर को नरक की उपमा दी है**। आहा...हा...! **जैसे नरक में सर्व अवस्थाएँ खराब और ग्लानि उपजानेवाली होती है....** नीचे नरक है न नारकी? यह माँस और शराब खाने (पीनेवाले) लम्पटी मरकर नरक में जाते हैं।

समझ में आया ? यह महाराज, यह राजा, सब कहलाते हैं न ? सब मोटर-वोटर चलनेवाले... लाखों-करोड़ों मनुष्यों को मारें, मछलियों को मारें, माँस खायें, शराब पिये, परस्त्री के लम्पटी – ये सब नरक के मेहमान होते हैं। मार खाने के लिए... यहाँ तो खम्बा-खम्बा होती हो, सब मरकर नीचे गये। यह राजा, महाराजा, सब वहाँ (गये हैं), हाँ! वहाँ जार्ज -वार्ज और एडवर्ल्ड और सब। आहा...हा... ! और साढ़े तीन करोड़, पाँच-पाँच करोड़ के बंगले में सोते हों, हैं ?

मुमुक्षु – देरी क्या ? किसकी लगे ?

उत्तर – किसकी लगे ? पानी का पत्थर बड़ा भारी हो, वह पानी में साथ पड़े नीचे। इसी प्रकार अकेला पाप। आत्मा को भूलकर नरक का पाप (किया हो) यह पाप का बोझ बढ़ा वह नीचे नरक में जाता है। कहते हैं कि उसकी प्रतिकूलता नरक में (बहुत है)। ऐसा यहाँ तो शरीर का वर्णन करना है, हाँ! जैसे ग्लानिकारक है, खराब है, मल-मूत्र से भरपूर है, नारकी.... खारा पानी, अंग छेद इत्यादि-इत्यादि... नरकवास में क्षण भर भी साता नहीं है। कोई उसमें सुखकारी नहीं है – ऐसा।

मानव का यह शरीर भी नरक जैसा है। लो! यहाँ तो यह उपमा दी, देखो! आहा...हा... ! क्या कहना चाहते हैं आचार्य ? कि जैसे नरक में उत्पन्न होनेवाले, बड़े महाराजा मरकर नरक में गया हो तो हाय...हाय... ! अर...र... यह क्या है ? उसे पूर्वभव का पता नहीं होता कि मैं एक राजा था और मरकर (यहाँ) आया हूँ। अर...र... क्या है यह ? जहाँ उत्पन्न हो वहाँ सिर पर मधुमक्खी का छत्ता होता है। मधुमक्खी का छत्ता जैसा उत्पत्ति का स्थान होता है वहाँ उत्पन्न होता है और उत्पन्न हो साथ में नीचे छत्तीस प्रकार के शस्त्र होते हैं। नीचे छत्तीस प्रकार के शस्त्र, उसमें गिरे एकदम! टुकड़े। यहाँ अभी महाराज को डोलिया में निकालते हों, बड़े राजा आदि को डोलिया में निकालते हैं। डोलिया... डोलिया, समझते हो ? बड़ा पलंग हो, हाथ में हुक्का दिया हो, सिर पर पगड़ी बँधायी हो... क्या कहलाता है उसकी ? पालकी! यहाँ पालकी निकलती हो, वहाँ नरक में पोढ़े हों। हाय... ! अरे! यह अवतार क्या है यह ? यह क्या है ? कितने काल (रहना है) ? कैसी स्थिति ? दूसरे परमाधामी आते हैं (और कहते हैं) यह नरक का स्थान है पापी! तुमने पाप किया,

इसलिए यहाँ अवतार लिया है। जैसे यह नरक का शरीर है, अथवा नरकस्थान अच्छा नहीं लगता; उसी प्रकार यह शरीर नरक जैसा है – ऐसा यहाँ बतलाना है। आहा...हा...! दूसरी बात तो कहीं रह गयी।

यहाँ तो आत्मा के सामने एक शरीर रखा। शरीर '**जज्जरु**' नरक के स्थान जैसा है। कहो, समझ में आया? देखो, इसमें जरा लिखा है, **शरीर के ऊपर से त्वचा को हटा दिया जावे तो स्वयं को इस शरीर से घृणा हो जाएगी....** जरा चमड़ी उतारे, वहाँ आहा...हा...! दुर्गन्ध लगती है। ऐसा मानो चाट लूँ या खा लूँ, क्या करूँ? इसे ऐसा लगे, इसे जरा चमड़ी उतारकर दिखावे तो आहा...हा...! ऊँ हू.... इसके भाग (टुकड़े) करके दे, एक तपेली में माँस, एक में इसका खून, एक में इसकी चमड़ी, एक में इसकी हड्डियाँ, एक में दाँत (ऐसे) सब अलग भाग बतावे (तो) ऐसा कहे। अर...र...! यह शरीर? तब यह शरीर किसका शरीर है?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, आहा...हा...! ऐसा बतलाने के लिए बात की है, हाँ! घृणा या द्वेष कराने के लिए नहीं। भाई! तू अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है न, प्रभु! उसका प्रेम छोड़कर तुझे ऐसे नरक के जैसे शरीर के प्रेम में फँसकर जिन्दगी बिताता है, इसी में। चौबीस घण्टे इसी की सम्हाल, इसे खिलाना, इसे पिलाना, इसे नहलाना, इसे धुलाना और सुलाना.... प्रातः हो, वहाँ वापस यह (सब)। यह भी तेरा समय चला जाता है, यह होली नरक जैसा शरीर है। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। ऐसे आनन्दकन्द के सन्मुख देखे बिना इसी-इसी में तेरा (जीवन) जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

करोड़ों रोगों का स्थान है। कहो! **शरीर में बालपना परवशरूप से (पराधीनता से) बहुत ही कष्ट से बीतता है।** एक तो शरीर का बालकपना हो, बालकपना होता है न शरीर का? (वह) पराधीनता में जाता है। **युवानी में घोर तृष्णा शान्त करने के लिए धर्म की भी परवाह नहीं करता....** युवावस्था में कमाने का होता है, बस! कमाओ... यहाँ जाओ, यहाँ जाओ, यहाँ जाओ, भटको...! वृद्धावस्था में अशक्त होकर घोर शारीरिक और मानसिक वेदना सहता है। लो!

इस मनुष्य शरीर से ऐसा साधन हो सकता है कि फिर कहीं भी शरीर धारण नहीं करना पड़े। कहते हैं कि ऐसा नरक के स्थान जैसा नरदेह है परन्तु इसमें यदि आत्मा अपना साधन करे तो फिर देह नहीं मिलती। फिर से शरीर नहीं मिलता – ऐसा यहाँ आत्मा में साधन है। आहा...हा...! परन्तु यह आत्मा क्या? इसे माहात्म्य नहीं आता। किञ्चित् यह दया पालन करूँ, यह व्रत पालूँ, भक्ति करूँ और पूजा करूँ, शरीर करूँ, यात्रा करूँ और वह करूँ, भोग करूँ – ऐसी क्रियाकाण्ड और राग को देखने में इसकी जिन्दगी जाती है। भगवान की भक्ति वह राग है, वह शुभराग है। ए... माँगीरामजी! भगवान की भक्ति शुभराग है, हिंसा है। भले ही आवे परन्तु है हिंसा... आत्मा की हिंसा होती है। ए... जगजीवनभाई! परन्तु यह क्या हाँ जी करते हो? भगवान की भक्ति हिंसा? कोई करेगा नहीं। सुन न! करे न करे, वह भाव आये बिना रहेगा नहीं परन्तु वह भाव-भगवान की भक्ति का भाव भी शुभराग है। शुभराग भी स्वभाव की हिंसा (करता है।) आहा...हा...! कहते हैं कि तेरा प्रेम वहाँ लूट गया, यहाँ तो देखता नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। यह सब शरीर का राग, बाहर का राग-प्रेम में तू लुट गया। तुझे आत्मा भगवान सच्चिदानन्दप्रभु, सिद्धसमान सदा पद मेरो – ऐसे आत्मा के प्रति तो तुझे प्रेम, रति और रुचि हुई नहीं। रति, रुचि हुए बिना तेरे जन्म-मरण मिटनेवाले नहीं हैं।

परन्तु यह बात तो जैसे हो वैसे आयेगी न। एई... निहालभाई! भाव आता अवश्य है... भक्ति, पूजा, दया, दान का शुभभाव (आता अवश्य है)। परन्तु वह शुभराग कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। यहाँ तो स्वभाव के प्रेम की बात चलती है; इसलिए स्वभाव से विरुद्ध भाव का प्रेम, रुचि मिथ्यात्वभाव है। यह राग-भक्ति (स्वयं) मिथ्यात्वभाव नहीं है परन्तु राग में धर्म-आत्मा का निश्चय से कल्याण होगा – ऐसी मान्यता को भगवान, मिथ्यात्व कहते हैं। आहा...हा...! ए... जयन्तीभाई! तुम्हारे तो कहाँ मूर्तिपूजा थी? ठीक है, परन्तु इन मूर्ति पूजावालों को विवाद उत्पन्न हो ऐसा है। तुम्हारे (तो) भगवान की माला जपते हैं, लो न! णमो अरिहन्ताणं.... णमो अरिहन्ताणं... वही का वही है। माला गिने तो भी शुभराग है; यह राग है, वह आत्मा के स्वभाव की हिंसा है। ए... माँगीरामजी! अर...र...! हैं?

यह राग है, वह आत्मस्वभाव का प्रेम कराकर छुड़ाना है। आहा...हा...! यहाँ तो

आत्मप्रेम की बात चलती है, उसके समक्ष शरीर को नरक जैसा सिद्ध किया। देखो न! आहा...हा...! नव द्वार झरते हैं। इसके परिणाम में भी विकार है। मेरा प्रभु आत्मा है, उसमें वह कहाँ है। समझ में आया? और इस शरीर की क्रिया हम (करते हैं).... शरीर धर्म साधन.... 'शरीर आध्यं खलु धर्म साधनं'.... यहाँ तो कहते हैं नरक का द्वार, स्थान है। साधन कहाँ से होगा? शरीर अच्छा होवे तो धर्म साधन होता है.... धूल में भी नहीं होता। शरीर से धर्म होता है – ऐसा तुझसे किसने कहा? समझ में आया? अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का शुभभाव हो, उससे धर्म नहीं है तो फिर शरीर से धर्म कहाँ से लाया? तुझे आत्मा के स्वभाव का प्रेम नहीं, भगवान आत्मा वीतरागकन्द है, उसकी तुझे श्रद्धा नहीं – ऐसा यहाँ कहते हैं। देखो!

मुमुक्षु – कहने में कुछ बाकी नहीं रखा।

उत्तर – बाकी नहीं रखा?

हे मूर्ख! अन्तिम है.... **यह तेरा शरीररूप घर, दुष्ट कर्म शत्रुओं का बनाया हुआ...** है, वह कैदखाना है। इसमें अन्तिम है। **हे मूर्ख! यह तेरा शरीररूप घर, दुष्ट कर्म शत्रुओं द्वारा बनाया हुआ एक कैदखाना है, इन्द्रियों के बड़े पिंजरे से बना हुआ है।** इन्द्रियों के बड़े पिंजरे में कैद किया है। **नसों के जाल से लिपटा हुआ है....** नसों की जाल यह... नसें हैं न नसें? **खून और माँस से लिप्त है....** खून और माँस से यह शरीर अन्दर पूरा सब लिप्त है। **चमड़े से ढँका हुआ गुप्त है....** यह चमड़े से ढँका हुआ है। **आयुष्यकर्म की बेड़ी से बँधा हुआ है।** आयुकर्म है, तब तक शरीर छूटेगा नहीं। **ऐसे शरीर को कैदखाना जान, व्यर्थ प्रेम करके पराधीनता के कष्ट मत उठा। इसमें से बाहर निकलने का यत्न कर।**

ऐसा शरीर धूल-मिट्टी.... भगवान अन्दर चैतन्य आनन्दकन्द है, उसका प्रेम छोड़कर तुझे यह प्रेम होता है, उसे छोड़ दे! आत्मा का कल्याण करना हो तो देह चाहे जिस पर्याय में वर्तता हो, वह जड़ है। चाहे जिस प्रकार वर्तता हो – निरोगता, रोगीपना, सरोगता, वाणी निकलती हो – यह सब परचीज है। भगवान आत्मा निर्विकल्प चैतन्यतत्त्व का प्रेम करके इस शरीर में उपजना छोड़ दे। समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु – हमारी जेल बहुत अच्छी है, हमारी जेल बहुत मजबूत है – ऐसा कोई नहीं कहता।

उत्तर – अच्छी कहता है, मेरा शरीर बहुत अच्छा है – ऐसा नहीं कहते ? हमारा शरीर मजबूत है, हमें तो कभी रोग नहीं हुआ, साठ वर्ष हुए परन्तु सोंठ नहीं लगाई, बहुत मूर्ख बोलते हैं। सब सुना है या नहीं ? साठ-साठ वर्ष हुए तो भी कभी सोंठ नहीं लगाई, परन्तु किसका गर्व करते हो तुम ? यह सड़ेगा उस दिन इसमें कीड़े पड़ेंगे.... यह कहाँ आत्मा है तो सड़े नहीं। समझ में आया ? साठ वर्ष तक कभी रोग नहीं आया, बुखार नहीं आया.... अब आवे वह अलग बात – ऐसा बहुत से कहते हैं। बहुत से वृद्ध ऐसा (कहते) सुने हों। हैं ? तुम्हारे पिता को कैसा होगा ? हैं ? उन्हें ऐसा था, ऐसा बहुत होता है। हमने बहुत लोगों को देखा है। साठ वर्ष हुए कभी सोंठ नहीं लगाई। यह क्या है परन्तु अब ? ऐसा हमारा शरीर अच्छा, धूल भी नहीं, सब सड़ा हुआ चमड़ा है। ऐसी महिमा इसकी करता है परन्तु तुझे आत्मा की महिमा नहीं रुचती।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द अन्दर प्रभु विराजमान है। अनादि-अनन्त सनातन सत्य प्रभु आत्मा है, उसके प्रेम के समक्ष इसका प्रेम नहीं रहता। इसका प्रेम क्या ? इसके लिए तो इसे नरक की उपमा दी है। हैं ?

☆ ★ ☆

जगत प्रपंचों में उलझा प्राणी आत्मा को नहीं पहचानता

धंधइ पडियउ सयल जगि, णवि अप्पा हु मुणंति।
तहिँ कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति॥५२॥

जग के धन्धे में फँसे, करे न आतम ज्ञान।
जिसके कारण जीव वे, पाते नहिं निर्वाण॥

अन्वयार्थ – **(सयल जगि धंधइ पडियउ)** सब जग के प्राणी अपने-अपने धन्धों में, लोक व्यवहार में फँसे हुए हैं, तल्लीन है **(अप्पा हु णवि मुणंति)** इसलिए निश्चय से आत्मा को नहीं मानते हैं **(तहिं कारणि ए जीव णिव्वाणु ण**

हु लहंति फुडु) यही कारण है कि जिससे ये जीव निर्वाण को नहीं पाते – यह बात स्पष्ट है।

☆ ★ ☆

५२ – **जगत प्रपंचों में उलझा प्राणी आत्मा को नहीं पहचानता।** देखो यह आया।

धंधइ पडियउ सयल जगि, णवि अप्पा हु मुणंति।
तहिँ कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति॥५२॥

जगत के सब प्राणी अपने-अपने धन्धों में-व्यवहार में फँसे हुए हैं.... कोई कमाना, कोई खाना, कोई पीना, कोई भोग, समझ में आया? दुनिया में प्रसिद्धि में पड़ना – कुर्सी पर बैठना, प्रतिष्ठा पाना सबके आगे सबसे बड़ा हुआ दिखना इस धन्धे में पड़े हुए हैं। त्यागी नाम धरानेवाले भी पुण्य-दया, दान, व्रत के व्यवहार-धन्धे में पड़े हुए हैं। समझ में आया? उन्हें फुर्सत नहीं मिलती, यह मन्दिर बनाना है और ऐसा कराना है, यह होली, यह सब राग का धन्धा है। समझ में आया?

मुमुक्षु – धन्धा तो छोड़ दिया है।

उत्तर – कहाँ धन्धा छोड़ा? कौन-सा धन्धा परन्तु? जिसे यह बाहर की.... यह कहते हैं। **'धंधइ पडियउ सयल जगि'** पूरा जगत व्यापार-धन्धे (में पड़ा है), राग के धन्धे में पड़ा है फिर कोई अशुभराग का धन्धा कोई शुभराग का धन्धा (करता है)। आत्मा कौन है? उसे देखने और विचारने के लिए चौबीस घण्टे फुरसत में नहीं होता। यह खाना है और यह पीना है। यह नहीं खाना और यह धन्धा, यह दया पालन की और इसकी भक्ति की। मैंने उपदेश दिया उसमें समझे। गया, मर गया – ऐसे का ऐसा कहते हैं। शुभराग के धन्धे में भगवान को खोकर बैठा।

मुमुक्षु – विस्तार विशाल है।

उत्तर – यह विशाल ही है। योगसार है या नहीं? क्या (कहा)? आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव में जुड़ान होवे, उसका नाम योग है; इसके अतिरिक्त रागादि में जुड़ान हो

वह सब (आत्म) योग से विरुद्ध योग है। कहो, इसमें समझ में आया? साधु होकर या त्यागी होकर फुरसत में कहाँ (पड़ता है) ? कितने पत्र, कितने कागज, कितने समाचार, कितने तार... उसका यह धन्धा.... यह तो सब पाप का धन्धा है।

मुमुक्षु – इतना परिग्रह लौकिक में भी नहीं होता।

उत्तर – इतने पत्र भी नहीं होते, मलूकचन्दभाई ! आहा...हा... ! सबेरे से शाम एक तो व्यक्ति रखा हो, इतने पत्र आये ? कितने आये ? उसे लिखो, यह पत्र इसे लिखो... तेरा धन्धा ही यह है। भगवान कहाँ गया तेरा ? कहो, समझ में आया ?

जगत् के सभी प्राणी अपने-अपने धन्धे में-व्यवहार में फँसे हुए हैं, तल्लीन हैं, इसलिए निश्चय से आत्मा को नहीं मानते हैं। देखो, वे आत्मा को मानते ही नहीं। जो पुण्य और पाप के राग के प्रेम में फँसे हैं, उन्हें आत्मा क्या है – उसका प्रेम है ही नहीं। समझ में आया ? जगत् के धन्धे वाला अशुभभाव के पाप में – यह करूँ और यह कमाया, लड़के हुए, और विवाह किया, यह हुआ कुछ बड़े... वे वहाँ पड़े हैं। त्यागी नाम धरानेवाले... नाम धरानेवाले, हाँ! वे भी शुभभाव के राग में कदाचित् यह किया और यह लिया, यह दिया, यह धूल की उसमें पड़े हैं, वे सब फँसे हुए हैं। 'सांगो कहे सलवाणा, कईं चढ्या कईं पाला' समझ में आया ? जेल में पड़े हैं, जेल में।

एक ऊँट को जेल में डाला और एक सेठ को डाला। वह सेठ कहता है (कि) मैं ऊँट के ऊपर बैठा हूँ परन्तु बैठा है जेल में न ? समझ में आया ? इसी प्रकार वस्त्र बदलकर नग्न होकर बैठे, साधु भी किसका नग्न ? वह क्रिया तो जड़ की है और अन्दर में कोई दया, दान का परिणाम हो तो विकार है, वहीं फँसा है। भगवान आत्मा, राग की क्रिया, देहरहित है – ऐसे आत्मा का प्रेम करने का समय नहीं निकालता। हरिप्रसादजी ! योगीन्द्रदेव ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

यह सब पता है। तुम नाचनेवाले और (हम) देखनेवाले। नाचनेवाले को मेहनत पड़ती है, उस देखनेवाले को मेहनत क्या पड़े ? हैं ? ऐसे नाचता है, देख लिया, हो गया, जाओ ! ए...निहालभाई ! भाषा कैसी ली है, देखो न !

सकल जगत् – ऐसा लिया है न ? '**धंधइ पडियउ सयल जगि**' जग शब्द में सब

– एक-एक लिया, हाँ! हमें धर्मोपदेश करना, हमें दूसरों को सुनाना है, हमें समझाना है, यह भी पूरा राग का धन्धा है। धूल में भी निर्जरा नहीं, निर्जरा कहाँ थी? प्रभावना किसकी? धूल में... राग होता है, उसमें प्रभावना कहाँ आयी? हैं?

मुमुक्षु – दिशा बदली।

उत्तर – किसकी दिशा बदली? वही की वही दिशा है, पर की और पर की दिशा है।

सकल जगत, लिया है। देखो! हैं? '**णवि अप्पा हु मुणंति**' देखो, इसमें आत्मा को देखने-जानने के लिए निवृत्त नहीं होता (आत्मा तो) अत्यन्त निर्विकल्प तत्त्व है। निर्विकल्प तत्त्व.... जिसमें एक विकल्प शास्त्र सुनूँ और शास्त्र दूसरे को कहूँ – इस विकल्प का जिसमें अवकाश नहीं है। आहा...हा...! हरिप्रसादजी! आहा...हा...! यह वीतरागमार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा अन्दर समझकर, अन्दर में समा गये। समझ में आया?

कहते हैं कि जिसे आत्मा का – अन्तर ज्ञानानन्द का प्रेम नहीं है, वह कोई अशुभ के धन्धे में फँसे, कोई शुभराग के व्यवहार-धन्धे में फँसे हैं, यह व्यवहार राग, यह सब संसार ही है। आहा...हा...! समझ में आया? अपना नाम रखने के लिए नये-नये पुस्तक बनाना... हमने हमारी नयी पुस्तक बनायी है, हमने इतनी पुस्तकें बनायी हैं.... होली एक ही है। बल्लभदासभाई! और फिर कोई सेठ आवे, उससे कहे यह पुस्तक पाँच ले जाओ, पाँच-पाँच ले जाओ, एक रखना और दूसरे प्रभावना करना – यही धन्धा? वे लड़के के राग का धन्धा, तेरे यह धन्धा। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, भाई! प्रभु! तू अन्तर्निर्विकल्प-विकल्प के शुभराग से रहित चीज है न! उसका तुझे प्रेम नहीं है, उससे विरुद्ध राग के प्रेम के धन्धे में फँसा है (उसमें) भगवान तू भूल गया है। आहा...हा...! समझ में आया, माँगीरामजी? कितने ही तो धन्धे के लिए पुस्तकें भी रखते हैं, हमारे द्वारा बनायी हुई इतनी पुस्तकें हैं। एक-एक सेट ले जा, एक-एक सेट ले जाओ, तुझे यही धन्धा है? वह लेनेवाला ऐसा कहे, ओ...हो...! महाराज ने बहुत प्रभावना की है। ए... ज्ञानचन्दजी!

भगवान ज्ञानस्वरूप में अन्तर एकाग्र होना, वह ज्ञान की प्रभावना है। यह राग है,

वह तो वास्तव में पुण्य-बन्ध का कारण है। उसके प्रेम में फँसने से अन्दर भगवान आत्मा विस्मृत हो जाता है। यह धन्धा छोड़ – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह व्यवहार है, यह धन्धा खोटा है – ऐसा यहाँ कहते हैं, वह कहते हैं।

यही कारण है जिससे जीव निर्वाण प्राप्त नहीं करते... देखो इस व्यवहार के पुण्य की क्रियाकाण्ड में फंसे... स्वयं करते हैं, दूसरों से कराते हैं, करते हुए को अनुमोदना देते हैं। ओहो...हो... ! बहुत अच्छा किया। पाँच लाख-दस लाख खर्च करके एक मन्दिर बनाया हो (तो कहे) तीर्थंकर गोत्र बाँधोगे.... धूल में भी नहीं बाँधेगा, सुन न ! पैसा खर्च किया उसमें राग मन्द किया हो तो कदाचित् पुण्य होगा। उस पुण्य में तीर्थंकर गोत्र नहीं बाँधेगा, उस पुण्य से लाभ माने वह तो मिथ्यादृष्टि जीव है। समझ में आया ? आहा...हा... ! हीरालालजी ! क्या है ? पुस्तक है या नहीं ? यह आया न ?

सकल संसार, शरीर में प्राप्त इन्द्रियों के विषयों के तथा भूख-प्यास के रोग.... उसमें पड़े हैं। यह तो स्थूल बात करते हैं। उसे कोई परोपकारी गुरु मिलता है, कहते हैं। **सुनाना चाहता है, तो उसकी तरफ ध्यान नहीं देता....** ध्यान नहीं देता, यह तो सब निश्चय की बातें करते हैं, निश्चय की बातें करते हैं (ऐसा करके) निकाल देता है। निश्चय अर्थात् सच्ची, व्यवहार अर्थात् आरोपित – खोटी... सुन न ! यह तो निश्चय की बात करते हैं, लो ! आत्मा ऐसा और आत्मा ऐसा, आत्मा ऐसा... कुछ करना नहीं ? परन्तु क्या करना ? अन्दर पहचान करके स्थिर होना, यह करना है। आत्मा में ज्ञान और श्रद्धा करके अन्दर स्थिर होना, यह करना है। दूसरा करना क्या है ? आहा...हा... !

कहते हैं कि **मनरहित पंचेन्द्रिय को हित-अहित का विचार करने की शक्ति नहीं है।** तुझे कुछ शक्ति मिली तो तू पर में घुस गया। समझ में आया ? नारकी जीवों का धन्धा मार खाना और दूसरों को मारना है। यह धन्धे की व्याख्या की। **मान कषाय की तीव्रता से मनुष्यों को अपनी प्रसिद्धि करने की तीव्र इच्छा (रहती है)।** मान-कषाय के लिए तीव्र इच्छा-मान दो, अभिनन्दन दो, हमारा नाम रखो, पाँच लाख का मकान, बनाकर हमारा नाम रखो.... नाम रखना है न ? भटकने का... नाम खोना नहीं है न ?

मुमुक्षु – दूसरों को दान करने की प्रेरणा मिलती है।

उत्तर – किसकी प्रेम मिलता होगा, तुझे मान चाहिए, उसमें प्रेरणा कहाँ रही? समझ में आया? कोई धनादिक का संग्रह करता है – ऐसी बात है।

फिर आत्मानुशासन की थोड़ी बात करते हैं। **बालवय में अंग ही पूरे नहीं बनते तब अज्ञानी होकर अपने हित-अहित का विचार नहीं कर सकता है।** है न? **जवानी में काम से अन्धा होकर स्त्रीरूपी वृक्ष से भरे वन में भटकता रहता है। प्रौढ़ावस्था में तृष्णा की वृद्धि करके अज्ञानी प्राणी खेती आदि कार्यों द्वारा धन कमाने में कष्ट पाया करता है।** और बाहर त्यागी होवे तो रागादि की क्रिया में पड़ता है। सब एक ही प्रकार का धन्धा है। **इतने में बुढ़ापा आ जाता है, तब अधमरा हो जाता है। भला भाई! हम मनुष्य जन्म को सफल करने के लिए निर्मल धर्म कहाँ करते हैं?** अब इसे धर्म करने का अवसर कहाँ? वह समय तो गँवा दिया। टोडरमलजी कहते हैं न! एक तो वास्तव में समय आया, तब व्यवहारधर्म में इसमें समय गँवाया। व्यवहारधर्म अर्थात् राग और पुण्य, दया और दान, इसमें गँवाया; (आत्मा का) निश्चय करने का, अनुभव का समय तो चला गया। समझ में आया? ए... रतिभाई! अद्भुत यह।

☆ ★ ☆

आत्मज्ञान बिना शास्त्रपठन निष्फल है

सत्थ पढंतहँ ते वि जड, अप्पा जे ण मुणंति।
तहिँ कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति॥५३॥

शास्त्र पाठि भी मूढ़सम, जो निज तत्त्व अजान।
इस कारण इस जीव को, मिले नहीं निर्वाण॥

अन्वयार्थ – **(सत्थ पढंतह जे अप्पा ण मुणंति ते वि जड)** शास्त्रों को पढ़ते हुए जो आत्म को नहीं पहचानते हैं, वे भी अज्ञानी हैं **(तहिं कारणि ए जीव फुडु लहंति)** यही कारण है कि ऐसे शास्त्र पाठी जीव भी निर्वाण को नहीं जाते हैं, यह बात स्पष्ट है।

☆ ★ ☆

अब, ५३ – शास्त्र पाठी... देखो ! इसमें लिखा है, हाँ ! गुरु से सुनता है परन्तु समझे नहीं तो शून्य है, कहते हैं । **आत्मज्ञान बिना शास्त्रपाठ निष्फल है** । लो ! आया अब । यह तेरा शास्त्र पढ़ परन्तु यह आत्मा शास्त्र के पठन के विकल्प से भिन्न है, ऐसे सम्यक् के अनुभव बिना तेरे शास्त्र का पठन भी रण में चिल्लाने जैसा है । आहा...हा... ! बहुत परन्तु यह तो किसी का सब निकाल देते हैं । छिलके तो निकाल ही डाले न !

सत्थ पढंतहँ ते वि जड, अप्पा जे ण मुणंति ।
तहिँ कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति ॥५३ ॥

देखा ! जड़ कहा, जड़ । **शास्त्रों को पढ़ते हुए भी जो आत्मा को नहीं पहचानते....** शास्त्र-पठन, यह किया और यह किया और यह किया... यह तो सब विकल्प हैं, यह तो राग है । शास्त्र का पठन तो परलक्ष्यी ज्ञान है ।

मुमुक्षु – परन्तु शास्त्र में सातवें गुणस्थान में अनुभव लिखा है ।

उत्तर – धूल में भी नहीं लिखा उसमें । शास्त्र में लिखा है कि चौथे गुणस्थान में निर्विकल्प अनुभव होता है । समझ में आया ? आत्मा में चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण दशा प्रगट होती है । आत्मा में चौथे गुणस्थान में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है – ऐसा भगवान ने कहा है । आठवें में कहीं नहीं लिखा है । उलटे (अर्थ) निकालते हैं ।

'सत्थ पढंतह' कहा न ? देखो न ! **कितने ही विद्वान् अथवा स्वाध्याय करनेवाले व्याकरण, न्याय, काव्य, वैद्यत्व, ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि अनेक विषय के शास्त्र जानते हैं परन्तु शुद्धनिश्चयनय के विषय ऊपर लक्ष्य नहीं देते हैं** । लो, भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति परमानन्द, विकल्प और राग से रहित है; उस पर वे दृष्टि नहीं देते हैं, पुरुषार्थ नहीं करते । आहा...हा... ! देखो ! अन्दर धर्म शास्त्र लिखा है, हाँ ! आत्मज्ञान से बाहर रहते हैं, देखा ! अध्यात्मज्ञान से बाहर रहते हैं । अध्यात्मज्ञान का पता नहीं पड़ता । उसका यह है और व्याकरण ऐसा होता है, इसका शब्दकोश ऐसा होता है, इसकी यह धातु होती है और यह धातु होती है.... तेरी चैतन्य धातु कैसी है ? यह तो निर्णय कर । बल्लभदासभाई ! अरे...अरे... ! भारी झटके हैं हाँ ! यह बहिनें, नहीं ? दाने, फटकती है दाने ? सूपड़ में फटकती हैं । फिर नीचे मारती हैं गब्बोई, वे जरा छिलके (होते

हैं वे एकदम निकाल डालें)। ऐसा यहाँ कहते हैं। आत्मा ज्ञानानन्द प्रभु के भान बिना तेरा यह पठन किस काम का? और दूसरे को पढ़ाये दूसरे के निकाल छिलके, निकल जाएँगे। समझ में आया?

आत्मा ही निश्चय से परमात्मदेव है, उसका अनुभव उन्हें नहीं होता, इसलिए वह भी जड़.... है। आहा...हा...! भाषा देखो न? ये शास्त्र के पढ़नेवाले भी जड़... क्यों? कि राग और पर का ज्ञान, वह चैतन्य नहीं है। भगवान आत्मा अपने अन्तर्मुख में जाकर चैतन्य का अन्तरज्ञान करे, उसे चैतन्य कहते हैं। आहा...हा...! इतनी पुस्तकें इसने बनायीं, अमुक साधु ने इतनी बनायी, दो लाख (पुस्तकें बनायी) परन्तु धूल... दस लाख बनावे तो वह तो उसने राग किया और जड़ की क्रिया मैंने बनायी – यह तो मिथ्यात्व किया। मैंने पुस्तकें बनायी – यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। हरिप्रसादजी! पुस्तक बनाना यह...? समझ में आया?

जिनवाणी पढ़ने का फल निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का प्रयास है। देखो! **जिनवाणी पढ़ने का फल निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का प्रयास है। इसके लिए ही चारों अनुयोगों के ग्रन्थ पढ़कर शास्त्री विषय जानकर, मुख्यरूप से यह जानना चाहिए कि यह जगत जीवादि छह द्रव्यों का समुदाय है,** इससे मेरा तत्त्व पृथक् है। आत्मा और ज्ञान को इसमें से निकाले तो उसने शास्त्र में कहे हुए फल को जाना कहलाये। आत्मा को निश्चय से न जाने तो कुछ इसने जाना नहीं है। यह विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल १०, सोमवार, दिनाङ्क २७-०६-१९६६
गाथा ५३ से ५६ प्रवचन नं. १९

सत्थ पढंतहँ ते वि जड, अप्पा जे ण मुणंति।
तहिँ कारणि ए जीव फुडु, ण हु णिव्वाणु लहंति ॥५३ ॥

शास्त्र पढ़ने पर भी, उस शास्त्र का सार आत्मा अनन्त शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए और उसका अनुभव करना चाहिए – वह करता नहीं और अकेला शास्त्र का व्याकरण, वैद्यक, काव्य, न्याय और ज्योतिष, धर्म शास्त्र पढ़े परन्तु अन्तर स्वरूप शुद्ध अभेद है, उस पर लक्ष्य, दृष्टि अभेद पर न करे तो इसके शास्त्र मन्थन में कोई सार नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें?

अध्यात्म से बाहर रहता है। अन्तर स्वरूप.... वीतराग के शास्त्र का कहने का आशय तो (यह है कि) भगवान आत्मा एक समय में अभेद पूर्ण वस्तु है – उसका अनुभव करना, उसका ज्ञान करके उसके अन्दर में एकाग्र होना, यह शास्त्र का सार है। शास्त्र पढ़कर भी यह न करे तो उन शास्त्र पढ़नेवालों को जड़ कहा है। जड़ कहा है न? पढ़-पढ़कर करने का था, वह तो किया नहीं; शास्त्र के पठन में रुक गया। देखो! अन्दर है, इस तरफ.....

जड़ जैसे ही आत्मज्ञान रहित हैं। जिनवाणी जानने का फल निश्चयसम्यग्दर्शन की प्राप्ति करने का प्रयास है। जिनवाणी सुनकर, पढ़कर, धारण कर फल तो यह है कि अन्दर स्वरूप का निश्चयसम्यक् निर्विकल्प आत्मा की प्रतीति करना और अनुभव करना, यह उसका सार है। यह नहीं किया, इसके बिना क्रियाकाण्ड और शास्त्र-पठन किया करे, उसमें कहीं आत्मा का झुकाव नहीं होता, (उसे) जड़ कहा है, जड़। **चार**

अनुयोगों के ग्रन्थ पढ़कर.... चारों अनुयोग पढ़कर, छह द्रव्य जानकर, नव तत्त्व जानकर, पंचास्तिकाय को जानकर.... जानकर अन्दर निकालना तो आत्मा है; उस आत्मसन्मुख का अनुभव और दृष्टि नहीं है तो उस चारों अनुयोग के पठन को-सबको यहाँ जड़ कहा है। जिसका चार गति का फल है, उसे जड़ कहा है। समझ में आया?

भेदज्ञान की कला प्राप्त करके निश्चयसम्यग्दर्शन के लाभ के लिये नित्य भेदविज्ञान का मनन करना। शास्त्र कहकर तो यह कहना है न कि राग और कर्म से तेरी चीज भिन्न है और यह आत्मा अपने अनन्त स्वभाव-गुण से अभिन्न है। समझ में आया? आत्मा अनन्त गुण शुद्ध चैतन्य, अतीन्द्रिय आनन्द आदि गुण आत्मा के हैं – ऐसे गुण से आत्मा अभिन्न एक है और राग, विकार, शरीर से आत्मा भिन्न है। यदि ऐसे आत्मा का अन्तर ज्ञान, निर्विकल्प वेदन और दृष्टि नहीं की तो इस शास्त्र पठन का उसे कोई फल नहीं। आहा...हा...! कहो, समझ में आया इसमें कुछ? कपूरचन्दजी! क्या करना? चक्की लाकर गेहूँ दलना.... उसे पता लगता है। आहा...हा...!

कहते हैं, भाई! यह तो बाहर की वस्तु है। वस्तुस्वरूप एक समय में सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। आत्मा शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार है। उस आत्मा का अन्तर अनुभव करना और दृष्टि करके लीन होना, यही सम्पूर्ण (जिनागम का सार है)। शास्त्र भले ही कम पढ़ा हो, विशेष आता न हो परन्तु करने योग्य यह है। यह न किया होवे तो उसने पढ़कर क्या किया? समझ में आया?

यहाँ नीचे इन्होंने थोड़ा लिखा है। समझ में आया? **अन्दर आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।** यदि अन्तर में प्रयत्न करे तो **आत्मानन्द का अनुभव होता है, तभी मोक्षमार्ग का पता मिलता है।** अन्तर का आत्मा ज्ञायक निर्विकल्प है – ऐसा प्रतीति में आने पर, मोक्ष का मार्ग यह है – ऐसा उसे पता लग जाएगा। इसके बिना शास्त्र पढ़ने में कुछ पता नहीं लगेगा। **समस्त शास्त्रों के पठन का हेतु सम्यग्दर्शन का लाभ है।** देखो! पहले यह लिया। अन्य कहें, क्रिया करना, व्रत पालना – यह शास्त्र का फल है। यहाँ तो कहते हैं कि पहले सम्यग्दर्शन करना, यह पहला फल है। सम्यग्दर्शन के बाद स्वरूप में स्थिरता-चारित्र करे, वह तो उत्कृष्ट वैराग्य है, उत्कृष्ट पुरुषार्थ है, परन्तु पहले

यह सब पढ़कर सम्यग्दर्शन का लाभ चाहिए। उसे नहीं पाया तो शास्त्र पढ़ना कार्यकारी नहीं है। शास्त्र पढ़कर क्या (किया) ? वाद-विवाद किया, दूसरे को समझाया और दूसरों से बहुत बातें धारण की, परन्तु जो करने का था, वह तो किया नहीं।

अनेक जीव, व्यवहार शास्त्र में कुशल होकर विद्या का मद करके उन्मत्त हो जाते हैं.... व्यवहार शास्त्र में बाह्य में कुशल (होवे, वह) मद करता है, मद। हम पढ़े हैं, हमें आता है। समझ में आया ? उसे कुछ नहीं आता; उसे समझाना नहीं आता, बोलते नहीं आता और (कहता है कि) हमें तो सब आता है। कहो, निहालभाई ! आहा...हा... !

मुमुक्षु – आता होवे तो....

उत्तर – क्या आता होवे तो ? धूल कहलाये ? इसे आना कहते हैं ? यह आना है ही नहीं। आत्मा का अन्तर निर्विकल्प श्रद्धा और वेदन करना, वह 'आना' है। समझ में आया ? हजारों लोगों को समझाना या लोगों से बातें धारण करना, यह कहीं तात्विक बात नहीं है। भगवान आत्मा अन्तर आनन्दकन्द सच्चिदानन्दमूर्ति है, उसका अन्तर में वेदन करके, निर्विकल्प आत्मा का स्वाद लेना, अनुभव करना – यह पूरा फल है। यह किया, उसने सब किया। समझ में आया ? यह किया नहीं, उसने कुछ किया नहीं।

उन्मत्त हो जाता है, कषाय की मलिनता बढ़ा देता है। देखो, बढ़ा देता है। कषाय अभिमान बढ़े, मुझे आता है, देखो, इसे नहीं आता। देखो ! इसे आया, इतना बोल हमको आये, हमको जवाब देना आता है, हम बड़े पंडित चतुर हैं (ऐसा) मिथ्या अभिमान बढ़ता है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसके अन्तरभान बिना ऐसे बाह्य पठन, कषाय वृद्धि करता है। **ख्याति पूजा लाभ का प्रेमी होकर....** बाहर में प्रेमी है, दुनिया में बड़ा कहे। **सांसारिक विषय-कषाय की पुष्टि के लिए ही ज्ञान का उपयोग करता है। उसमें कभी अध्यात्मिक ग्रन्थ नहीं पढ़ता, कभी आत्मा के शुद्धस्वरूप का मनन नहीं करता।** कदाचित् पढ़े तो भी अन्दर मनन (नहीं करता) अन्तर में आनन्दस्वरूप में झुकाव करके निर्विकल्प दशा प्रगट करना (चाहिए), वह नहीं करता। **उसके अन्दर संसार का मोह घटने के बदले बढ़ता जाता है।** ठीक लिखा है। किस ओर है ? यहाँ (है) ? है या नहीं अन्दर ? है।

वे आत्मज्ञान का प्रकाश पाये बिना अज्ञान के अन्धकार में ही जीवन गँवाकर मनुष्य जन्म का फल प्राप्त नहीं करते। अज्ञान में.... शास्त्र पढ़े, बड़प्पन लेकर वाद-विवाद (किया) परन्तु भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वरूप है, उसे अन्तर सम्यग्दर्शन द्वारा, निश्चय द्वारा अनुभव न करे तो उसकी सम्पूर्ण जिन्दगी अफल जाती है। धूल भी नहीं... दुनिया लाखों माने या न माने, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु – बहुत लोग माने तो अधिक अच्छा।

उत्तर – उसके साथ क्या काम है ? माने या न माने, उसके घर रहा। समझ में आया ?

शास्त्रों का ज्ञान उनके लिए संसार बढ़ानेवाला बन जाता है। भाषा देखो ! आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द की दृष्टि के अनुभव बिना उसे शास्त्र का ज्ञान संसार वृद्धि का कारण होता है। जहाँ-तहाँ हमें आता है, उसे नहीं आता, हम ऐसा सीखे... समझ में आया ? इसे अपनी बढ़ाई के आगे दूसरे की महत्ता नहीं सूझती। समझ में आया ? **निर्वाणमार्ग से उन्हें दूर ले जाता है।** लो ! समझ में आया ? यह ५३ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

इन्द्रिय व मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव

मणु-इंदिहि वि छोडियइ, बुहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ, सहज उपज्जइ सोइ॥५४॥

मन इन्द्रिय से दूर हट, क्यों पूछत बहु बात।
राग प्रसार निवार कर, सहज स्वरूप उत्पाद॥

अन्वयार्थ – **(बहु मणु इंदिहि वि छोडियइ)** यदि बुद्धिमान मन व इन्द्रियों से छुटकारा पा जावे **(कोइ ण पुच्छियइ)** तब किसी से कुछ पूछने की जरूरत नहीं है **(रायहँ पसरू णिवारियइ)** जब राग का फैलाना दूर कर दिया जाता है **(सहज सोइ उपज्जइ)** तब यह आत्मज्ञान सहज ही पैदा हो जाता है।

☆ ★ ☆

५४। **इन्द्रिय व मन के निरोध से सहज ही आत्मानुभव।**

मणु-इंदिहि वि छोडियइ, बुहु पुच्छियइ ण कोइ।
रायहँ पसरु णिवारियइ, सहज उपज्जइ सोइ॥५४॥

मन, इन्द्रिय को दूर कर। आता है न? है न इसमें? यह संक्षिप्त में संक्षिप्त बात... भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु है, उसे मन और इन्द्रिय से दूर कर और अनुभव कर – यह करने का है। **क्या बहुत पूछे बात?** बहुत बड़ी-बड़ी बातें पूछे और यह करे और वह करे... परन्तु यह सार तो निकालता नहीं। कहो, समझ में आया? **क्या बहुत पूछे बात?** ऐसा आया या नहीं अन्दर? है? पूरे दिन पूछना-पूछना, पूछा पूछ, पूछा पूछ (करता है) परन्तु पूछ कर करना क्या है? है?

मुमुक्षु – स्पष्ट होता है।

उत्तर – क्या स्पष्ट होता है। करने का तो यह है, यह स्पष्ट क्या हुआ?

यहाँ पाठ है न? '**बहु पुच्छियइ ण कोइ**' बहुत पूछताछ करता है, पूरे दिन कि इसका ऐसा है और उसका ऐसा है और इसका ऐसा है और उसका ऐसा है.... इसलिए यह सम्यग्दर्शन हो गया? और सम्यग्ज्ञान उसके कारण निर्मल हो गया? ऐसा नहीं। देवानुप्रिया! '**रायहँ पसरु णिवारियइ**' देखो! कहते हैं, तीन बात की। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसे मन और इन्द्रिय से हटाकर और राग दूर करके अन्तर में एकाकार होना, यह मोक्ष के लिए करने योग्य है। मन और इन्द्रिय से हटाकर, अन्दर जाना और राग को दूर करके वीतराग दृष्टि करना। आहा...हा...! धमाल (के कारण) यह भी सूझे ऐसा नहीं। यह शत्रुंजय की यात्रा और हो... हो... हो... हो... जयचन्दभाई! बड़ी धर्मशालाएँ, दस-दस हजार लोग आवें... आहा...हा...! धर्म... धर्म... धर्म... मानो धर्म वहाँ लुटता होगा! धर्म कहाँ है? समझ में आया? यह तो जरा राग की मन्दता होवे तो शुभभाव होता है। भक्ति और यात्रा में धर्म-वर्म है नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु – कोई यात्रा करेगा नहीं।

उत्तर – कौन करता है? भाव आये बिना रहेगा नहीं, आयेगा तब। अभी कहते थे

कल, हाँ! कि हम विनती करने आनेवाले हैं। ए...ई...! मैंने कहा अब 'अभी शरीर-वरीर काम नहीं करता, अब अपना मन....' नहीं, हम आयेंगे। कहे, जयन्तीभाई! और दो-चार -पाँच आकर (कहें), पालीताना आये सोलह वर्ष हो गये, एक बार तो आओ, पधारो। लो, इन्हें अभी नजदीक लगता है।

यहाँ तो कहते हैं कि इस यात्रा करने की बड़ी यात्रा यह कि यह भगवान आत्मा अनन्त शान्तरस का पिण्ड है, यह मन और इन्द्रियों से दूर करके राग हटाकर अन्दर में स्थिर होना, यह बड़ी यात्रा है। आहा...हा...! ऐ...ई...! माँगीरामजी! वह तो शुभभाव होता है, परन्तु वह कहीं धर्म है और उसके कारण अन्तर आत्मसन्मुख जाया जाता है, इस बात में कोई दम नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? भक्ति, यात्रा होती है परन्तु उसका परिणाम शुभभाव जितना है। समझ में आया? परन्तु वह शुभभाव हुआ, इसलिए आत्मसन्मुख जाएगा – ऐसा नहीं है। उनकी दोनों की दशा और दिशा में अन्तर है। आहा...हा...! एक व्यक्ति ने पूजा-भक्ति-यात्रा शुभभाव है, वह पूरा उत्थापित कर दिया (क्योंकि) जब तक स्वरूप में स्थिर नहीं हो सके, तब तक ऐसा भाव आता है परन्तु उस भाव द्वारा धर्म होता है, उस भाव के द्वारा धर्म का कारण होता है, इस बात में दम नहीं है। अरे...अरे...! कठिन बात परन्तु.... है न?

बुद्धिमान मन और इन्द्रियों से छुटकारा पाता है.... भगवान आत्मा, मन और इन्द्रियों से हट जाये, यह इसे करने का है। **तो किसी को भी पूछने की आवश्यकता नहीं रहती।** कुछ पूछने की जरूरत नहीं, यह तो आता है न? निर्जरा (अधिकार) में आता है। निर्जरा (अधिकार) २०६ (गाथा) क्या बहुत पूछने का काम है तुझे? अन्दर जा न! ए...! आहा...हा...! फिर करके तो यह करने का है, यह तो तू करता नहीं, पूरे दिन पूछताछ करता है परन्तु इसमें क्या है? आहा...हा...! भगवान चिदानन्दमूर्ति आत्मा अखण्ड प्रभु सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने आत्मा देखा, ऐसे आत्मा के अन्तर में स्थिर होना, दृष्टि करके स्थिर होना, यह मुख्य धर्म का कर्तव्य और कार्य है। अब, यह करता नहीं और पूरे दिन पूछताछ करता है कि इसका कैसे और इसका कैसे? सब इसका (ऐसा कि) अन्दर स्थिर हो यह। ले, समझ में आया? यह बाहर से कोई क्रियाकाण्ड से या पूजा-भक्ति

से (या) शत्रुंजय की लाख यात्रा करे, करोड़ करे सम्मेदशिखर की, उसमें से आत्मा प्राप्त हो ऐसा नहीं है। कहो, जगजीवनभाई! क्या होगा?

कहते हैं कि राग का फैलाव दूर कर। लो! देखो, आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होने पर आत्मा की शान्ति का विस्तार होता है। राग का विस्तार घटे और अराग का विस्तार होता है। आहा...हा...! शुभराग का भी विस्तार घटता है – यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आनन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है। नित्यानन्द आत्मा अन्दर है, उस नित्यानन्द में – आनन्द में एकाग्र होने पर आनन्द का फैलाव होता है। राग का विस्तार घटता है, यह वस्तु कर्तव्य है। आहा...हा...! समझ में आया? **तब यह आत्मज्ञान सहज ही उत्पन्न हो जाता है।**

शास्त्र के रहस्य को जाननेवाले, जो व्यवहार-निश्चयनय से अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनय से छह द्रव्यों का स्वरूप भले प्रकार.... जानकर आत्मा की ओर उपयोग लगाना चाहिए। **आत्माधीन निश्चयचारित्र के लाभ के लिए उपयोग को (उन्हें) मन और इन्द्रियों की तरफ जाने से रोकना चाहिए।** लो! **इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा मिटाना चाहिए....** इत्यादि-इत्यादि बहुत बात है। पूछताछ करने की क्या आवश्यकता है? इत्यादि इन्होंने डाला है। **वास्तव में जिसे अनुभव करना है, वह स्वयं ही है।** क्या कहते हैं? अनुभव-आत्मा का धर्म करनेवाला तो स्वयं ही है। अनुभव करनेवाला आत्मा है। आत्मा स्वयं है, उसे पर के पास से कहाँ कुछ लेना है? समझ में आया? स्वयं ही अनुभव करनेवाला और स्वयं ही अनुभव का आनन्द लेनेवाला है। उसमें पर को पूछकर कहाँ अन्दर में मिले ऐसा है? आहा...हा...! बहु पूछे बात, हाँ! साधारण बात जानने की जरूरत है – ऐसा कहते हैं। **वास्तव में जिसे अनुभव करना है, वह स्वयं ही है।**

आत्मा के आनन्द की गाढ़ श्रद्धा सर्व आत्मा अथवा परपदार्थ के आश्रित सुख के प्रति वैराग्य उत्पन्न कर देती है। लो! यह आत्मा की श्रद्धा कि मैं आनन्द हूँ, इस श्रद्धा से आत्मा को पर-शरीरादि में आनन्द है, इस बुद्धि का नाश हो जाता है। आत्मा में गाढ़ श्रद्धा होने पर आत्मा आनन्द और अनाकुल शान्त और शान्ति का पर्वत स्वयं है,

ऐसे भगवान आत्मा की गाढ़ प्रतीति होने पर आत्मा के अतिरिक्त दूसरे आत्मा और दूसरे पुद्‌गल में सुखबुद्धि का नाश हो जाता है। कहो, समझ में आया? दूसरे पुद्‌गल शब्द से यह पैसा-धूल, स्त्री, पुत्र इस धूल में कहीं सुख है नहीं। समझ में आया? यह ५४ (गाथा पूरी) हुई।

☆ ★ ☆

पुद्‌गल व जगत् के व्यवहार से आत्मा को भिन्न जाने

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ, अण्णु वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ, लहु पावहि भवपारु॥५५॥

जीव पुद्‌गल दोऊ भिन्न है, भिन्न सकल व्यवहार।
तज पुद्‌गल ग्रह जीव तो, शीघ्र लहे भवपार॥

अन्वयार्थ – (**पुग्गलु अण्णु जि**) पुद्‌गल मूर्तिक का स्वभाव जीव से अन्य है (**जिउ अण्णु**) जीव का स्वभाव पुद्‌गलादि से न्यारा है (**सहु ववहारू अण्णु जि**) तथा और सब जगत् का व्यवहार प्रपंच भी अपने आत्मा से न्यारा है (**पुग्गलु चयहि वि जिउ गहहि**) पुद्‌गलादि को त्यागकर यदि अपने आत्मा को निराला ग्रहण करे (**लहु भवपारू पावहि**) तो शीघ्र ही संसार से पार हो जावे।

☆ ★ ☆

पुग्गलु अण्णु जि अण्णु जिउ, अण्णु वि सहु ववहारु।
चयहि वि पुग्गलु गहहि जिउ, लहु पावहि भवपारु॥५५॥

५५, संसार से पार होने का उपाय – एक आत्मा का ज्ञान है। '**पुग्गल अण्णु**' यह शरीर, कर्म आदि अन्य है। असद्‌भूत व्यवहार का विषय जो कर्म, पुद्‌गल वे सब अन्य हैं। '**अण्णु जि सहु ववहारु**' बहुत संक्षिप्त डाला है। अशुद्ध निश्चय से उत्पन्न होते, ऐसे पुण्य-पाप, राग-द्वेष के भाव भी व्यवहार हैं। वह व्यवहार भी आत्मा के स्वभाव से अन्य है। समझ में आया? इन्होंने आगे थोड़ा डाला है, हाँ!

मेरा शुद्ध स्वभाव इन पाँच तत्त्व और सात पदार्थों के व्यवहार से निराला है। भगवान आत्मा का जो व्यवहार, वह पाँच तत्त्व और सात पदार्थों के व्यवहार से अत्यन्त निराला है। पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष से निराला तत्त्व अखण्ड अभेद है। समझ में आया ? व्यवहार, समस्त व्यवहार से अर्थात् ? कर्म, शरीर से भिन्न; पुण्य-पाप से भिन्न और आत्मा की इस विकारी पर्याय या अविकारी पर्याय से भी भिन्न है। अविकारी पर्याय सद्भूत व्यवहार का विषय है। समझ में आया ? यह सब व्यवहार है। गुण-गुणी भेद भी व्यवहार है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य और उसके आश्रित रहनेवाले गुण – ऐसा विकल्प भी व्यवहार है। उस व्यवहार को छोड़ – ऐसा कहते हैं। देखो, समझ में आया ?

'अण्णु जि सहु ववहारु' 'सहु ववहारु' सर्व व्यवहार। लो ! व्यवहाररत्नत्रय तो व्यवहार अन्य है। गुण-गुणी के भेद से भगवान आत्मा अन्दर में विचारता है कि ओ...हो... ! इस वस्तु में ऐसे अनन्त गुण रहे हुए हैं, अनन्त आनन्द है – ऐसा जो भेदवाला विकल्प है, वह व्यवहार है। वह व्यवहार भी भगवान आत्मा से अन्य है। समझ में आया ? आहा...हा... ! समझ में आया ? निराला.... नारकी और नारकी आदि के (भेद से) तो भिन्न है। **संकल्प-विकल्परूप क्रियाएँ, यह सब मेरे शुद्ध आत्मिक परिणमन से भिन्न है।** संकल्प-विकल्प की क्रियाएँ.... सभी आत्मा के संकल्प से-वस्तु से भिन्न है।

जगत् का समस्त व्यवहार मन-वचन-काया के योग से अथवा शुभ या अशुभ के उपयोग से चलता है। मेरे शुद्ध उपयोग में और निश्चय आत्मिक प्रदेशों में उनका कोई संयोग नहीं है.... दो बात – मेरे शुद्धभाव में और शुद्ध आत्मप्रदेश में... समझ में आया ? प्रदेश डाले हैं न ? व्यंजनपर्याय। असंख्य प्रदेश शुद्ध हैं। उन शुद्ध प्रदेशों में यह सब मन-वचन-काया का व्यापार या शुभाशुभभाव, वह मेरे शुद्धभाव में नहीं हैं; वे मेरे शुद्ध असंख्य प्रदेश के क्षेत्र में नहीं हैं। आहा...हा... ! यह तो वे कहते हैं – मन-वचन-काय की क्रिया, वह धर्म है। उससे निर्जरा होती है – ऐसे लेख आते हैं, लो ! ओ...हो...हो... ! धर्म के विद्रोही धर्म के नायक हो गये हैं। हैं ? विद्रोही कहा, धर्म के विद्रोही धर्म के नायक हैं – ऐसा दावा करते हैं। हैं ? आहा...हा... !

जहाँ निर्विकल्प पदार्थ ही प्रभु आत्मा निर्विकल्प आनन्दकन्द है, सच्चिदानन्द का

गोला ही सम्पूर्ण भिन्न है। मन, वाणी, देह से पूरी चीज ही परमात्मस्वरूप भिन्न है – ऐसे भिन्न को भिन्न देखे, देखकर अनुभव करे नहीं और बाहर की क्रिया से धर्म माने, मन-वचन से धर्म माने, पुण्यपरिणाम से धर्म माने, तीर्थयात्रा पूजा से धर्म मानता है, वे तो भगवान के दर्शन से समकित होता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इस भगवान के दर्शन से समकित होता है। भगवान के दर्शन से होता है, शुभभाव होता है। भाव है, वह शुभ है, वह कहीं धर्म नहीं है, संवर-निर्जरा नहीं है। कितने ही बड़े-बड़े (विद्वान्) कहते हैं, आस्रव चाल घटती है, संवर बढ़ता है... परन्तु भाई! परद्रव्य है, वहाँ लक्ष्य जाये अर्थात् शुभभाव (की) वृत्ति उत्पन्न हो (उस) शुभ की दिशा पर के प्रति है और स्वभाव की-शुद्ध की दशा अन्तर के प्रति है। कहो, समझ में आया इसमें?

कहते हैं, मेरे शुद्ध उपयोग में कुछ है नहीं। है न? फिर थोड़ा सा डाला है। वह अशुद्ध व्यवहार... सर्व व्यवहार कहा है न? **अशुद्ध निश्चय से कहे जानेवाले, रागादि भावों से, अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहे जानेवाले कार्माण आदि शरीरों के सम्बन्ध से; उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से कहे जानेवाले स्त्री, पुत्रादि, चेतन और धन आदि अचेतन पदार्थों से मैं भिन्न हूँ।** यह तो स्पष्टीकरण ठीक किया है। सब व्यवहार का अर्थ किया है। **सद्भूत व्यवहार से कहे जानेवाले गुण-गुणी के भेदों से भी मैं दूर हूँ।** लो!

मैं समस्त व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। आहा...हा...! स्वयं परमात्मा है, उसे किसी राग और पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है – ऐसे आत्मा का अन्दर में ध्यान करना और श्रद्धा-ज्ञान करना ही मोक्ष का मार्ग है। बहुत से कहते हैं, ऐसा कहे और फिर वापस (मन्दिर बनाते हैं)। इन मलूकचन्दभाई को कहते हैं, मन्दिर अच्छा बनाना। रामजीभाई! इन्हें बहुत कहते हैं। अच्छा करना, अमुक करना, अमुक करना। ए...ई...! यह कहें परन्तु पैसा कहाँ से लाना? तुम्हें पैसा लाने को कहा जाये? इतने अधिक पैसे लाना कहाँ से? कहो, समझ में आया?

वह तो शुभभाव होता है, तब यह सब वस्तुएँ होती हैं। बाकी होना हो, तब होता है। शुभभाव होता है – भक्ति का, पूजा का, मन्दिर होवे तो ठीक, देव-दर्शन होवे – ऐसा भाव

होता है परन्तु इस भाव की मर्यादा को ऐसा टाँके कि यह भाव आया, इसलिए अब इसे आत्मा का अनुभव और धर्म होगा – ऐसा नहीं है। इसी प्रकार इस बात को अत्यन्त उड़ा ही दे; अशुभभाव से बचने के लिए – ऐसा भक्ति का, पूजा का, दया का, दान का, यात्रा का भाव होता है, उसे उड़ा दे तो वह तत्त्व को नहीं समझता। समझ में आया?

मैं समस्त व्यवहार की रचना से निराला एक परम शुद्ध आत्मा हूँ। लो! **ज्ञायक एक प्रकाशवान परम निराकुल, परम वीतरागी, अखण्ड द्रव्य हूँ।** ठीक कहा है। अर्थ ठीक करते हैं। समझ में आया? **इस प्रकार मनन करके जो अपने आत्मारूपी रत्न का ग्रहण करके....** भगवान आत्मा अपने स्वरूप का रत्न – चैतन्यरत्न – उसके अन्तर में एकाग्र होकर चैतन्य को ग्रहण करता है। **उसके ही स्वामीपने में सन्तुष्ट हो जाता है।** धर्मी तो अपने सहजात्मस्वरूप का स्वामी (होता है)। यह आत्मा शरीर, वाणी, मन का तो मालिक नहीं परन्तु दया, दान के विकल्प का मालिक भी आत्मा नहीं है। आहा...हा...! सहजात्मशुद्ध चैतन्यपिण्ड प्रभु, उसका यह आत्मा सहजानन्द का स्वामी है। समझ में आया? और अपने स्वरूप के–सहजानन्द के स्वामी में ही धर्मी को सन्तोष दिखता है।

यह (अज्ञानी पर का) स्वामी हुआ – मकान का, मालिक का, अमुक का, इतनी स्त्रियाँ, इतने लड़के, इतनी इज्जत, इतनी कीर्ति, इतने मकान, यह इतने-इतने शुभभाव किये, उनका स्वामी होता है तो कहते हैं कि वह स्वयं असन्तोष में घिर गया है। आहा...हा...! उसे सन्तोष नहीं होता। सन्तोष तो धर्मात्मा को अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान में सन्तोष है। अपना सहज स्वाभाविक आत्मा की पूँजी, आत्मा की पूँजी अनन्त गुणरूप का स्वामी होने से सन्तोष मानता है। शिष्यों का स्वामी हो – हमारे इतने शिष्य, इतनी हमारी चेलियाँ... समझ में आया? हमने इतनी पुस्तकें बनायीं, इसके – अमुक के हम स्वामी... कितनी पाठशालाओं के हम स्वामी, उन सबके अधिपति हैं, प्रत्येक में होता है न....? क्या कहलाते हैं उसके? प्रमुख, अध्यक्ष... अमुक के (ट्रस्टी हैं,) अमुक के अध्यक्ष हैं, यह सब पर का स्वामीपना मानना यह तो मूढ़ता है। वहाँ कहाँ पर में तेरा स्वामीपना था? समझ में आया? कितनों को ऐसा होता है।

किसके लड़के ? उसका आवेग हो जाता है। यह लक्ष्मी इतनी कहलाती है, दो करोड़ –पाँच करोड़ यह किसकी ? मेरी।

मुमुक्षु – तो लक्ष्मी इसकी होगी या नहीं ?

उत्तर – धूल में भी इसकी नहीं है। इसकी होवे तो इसके आत्मा में घुस जाना चाहिए। समझ में आया ? हैं ?

मुमुक्षु – तिजोरी में पड़े होते हैं।

उत्तर – तिजोरी में (होवे) परन्तु... तिजोरी, तिजोरी की स्वामी है, परमाणु परमाणु का स्वामी है। यह कहाँ से लाया उसमें ? देखो !

उसके ही स्वामीपने में सन्तुष्ट हो जाता है.... आहा...हा... ! भगवान आत्मा अपना अभेद, अखण्ड, आनन्दस्वरूप का वेदन-अनुभव करने पर उसमें सन्तोषपना समाहित हो जाता है। उसके स्वामीपने में ही सन्तोष है। राग और पर के स्वामीपने में तो दु:खदायक अधिक भ्रम है। समझ में आया ? (फिर) समयसार का दृष्टान्त दिया है।

☆ ★ ☆

आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है

जे णवि मण्णहिँ जीव फुडु, जे णवि जीउ मुणंति।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया, णउ संसार मुचंति॥५६॥

स्पष्ट न माने जीव को, अरु नहिं जानत जीव।
छूटे नहिं संसार से, भावे जिन जी अतीव॥

अन्वयार्थ – **(जे फुडु जीव णवि मण्णहिं)** जो स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानते हैं **(जे जीउ णवि मणंति)** व जो अपने आत्मा का अनुभव नहीं करते हैं **(ते संसार णउ मुंचुति)** वे संसार से मुक्त नहीं होते **(जिण णाहहं उत्तिया)** ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

☆ ★ ☆

५६। **आत्मानुभवी ही संसार से मुक्त होता है।**

जे णवि मण्णहिँ जीव फुडु, जे णवि जीउ मुणंति।
ते जिण-णाहहँ उत्तिया, णउ संसार मुचंति॥५६॥

जो भगवान आत्मा.... **जो स्पष्टरूप से आत्मा को नहीं जानता....** स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष समझ में आया। '**णवि-मण्णहिं जीव फुडु**' आत्मा विकल्परहित, मन के संगरहित सीधे आत्मा अपने को ज्ञात हो... ऐसे आत्मा को प्रत्यक्षरूप से कोई नहीं जानता। समझ में आया? **और जो अपने आत्मा को अनुभव नहीं करता....** जानना और अनुभव करना, दोनों साथ लिये हैं। प्रत्यक्ष नहीं जानता.... दो शब्द अलग किये हैं न? एक तो प्रत्यक्ष नहीं जानता; उसमें वजन यह दिया कि राग और मन रहित आत्मा को सीधे जानने का नाम आत्मा का जानना कहलाता है। समझ में आया? ऐसे दो बोल (कहे हैं)।

'**जे णवि-मण्णहिं जीव फुडु जे णवि जीउ मुणंति**' भगवान आत्मा...! यहाँ तो अकेले आत्मा के ही गीत हैं। योगसार! भगवान पूर्णानन्द प्रभु के अन्दर में एकाकार हो, वही योगसार है; बाकी कुछ सार-फार है नहीं। क्या कहते हैं? जो कोई जीव अपने आत्मा को **स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानता....** एक बात। परोक्ष से जानना कि यह आत्मा है, यह आत्मा (है) वह आत्मा नहीं। प्रत्येक गाथा में भाव बदलते हैं, हाँ! बात तो ऐसी की ऐसी लगती है परन्तु बदलते हैं। भगवान आत्मा '**स्वानुभूत्या चकासते**'। एक ज्ञान की लहर से जागता भगवान स्वयं अपने को प्रत्यक्ष न जाने, उसे कहते हैं कि, उसे हम ज्ञान नहीं कहते। आहा...हा...! ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु – एक विकल्प से जाने और....

उत्तर – विकल्प से जाने, वह ज्ञान ही नहीं, वह ज्ञान ही नहीं है। प्रत्यक्ष जाने, उसे ज्ञान कहते हैं – यहाँ ऐसा सिद्ध करना है। विकल्प से जानना, वह जानना नहीं है। जमूभाई! सब बात ऐसी है।

मुमुक्षु – व्यवहार से जाना कहलाता है?

उत्तर – नहीं, एक ही प्रकार। व्यवहार से जाना, वह जानना है ही नहीं। ज्ञान का सीधा ज्ञान हुए बिना जानना, वह ज्ञान है ही नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया?

मुमुक्षु – सीधा अर्थात् ऐसा....

उत्तर – सीधा अर्थात् राग बिना, अन्दर प्रत्यक्ष ज्ञान। शास्त्र का ज्ञान और उसका उत्पन्न हुआ विकल्प, उससे आत्मा (जाना) – ऐसा नहीं है। '**फुडु**' शब्द इसलिए प्रयोग किया है।

भाई! यह तो मूलमार्ग है। भगवान आत्मा को अन्दर ज्ञान से ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होना उसे ज्ञान कहते हैं – ऐसा यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब प्रभु का इसे ज्ञान से ज्ञान होना, सीधा स्वसंवेदन होना, उसे आत्मा का ज्ञान कहा जाता है।

मुमुक्षु – सीधा कहा अर्थात् टेढ़ा नहीं।

उत्तर – टेढ़ा (अर्थात्) इस राग से किया और विकल्प से किया, शास्त्र से किया, वह कहीं ज्ञान नहीं है, वह टेढ़ा कहलाता है। आहा...हा... ! यहाँ तो निराला प्रभु, अत्यन्त निराला है न? आहा...हा... ! वस्तु तो वस्तु परमात्मस्वरूप ही स्वयं है। कल तो आया नहीं था? परमात्मस्वरूप में स्थित आत्मा है। स्थित है। परमात्मस्वरूप में स्थित है, वह राग में पुण्य में अल्पज्ञान में भी नहीं। आहा...हा... ! ओ...हो... ! सन्तों की कथनी (ने) मार्ग को सरल करके ऐसा जगत को समझाया है! भाई! तू तो तेरी हथेली में-हाथ में ऐसा है न! पूर्ण सत्ता। कहा नहीं था? '**सततम् सुलभं**' आया था या नहीं? भगवान! तू तुझे सुलभ न हो तो तुझे कौन सी चीज सुलभ होगी? आहा...हा... !

भाई! ज्ञानानन्द की ज्योत है न! अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रगट... प्रगट... प्रगट... प्रगट है न! अस्तिरूप से प्रगट है, उसे नास्तिरूप कैसे कहना? आहा...हा... ! इस सब व्यवहार से मुक्त भगवान आत्मा है। आहा...हा... ! देखो, तो सही! यह आ गया है। सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है – ऐसा इसमें आ गया है। समझ में आया? हो भले... जैसे परद्रव्य है, ऐसे हो भले – दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा (का) भाव-शुभभाव होता है परन्तु सम्यक् आत्मा ज्ञायकमूर्ति का जिसने सीधा ज्ञान करके जाना, वह धर्मी तो व्यवहार से

मुक्त है। आहा...हा... ! माँगीरामजी ! व्यवहार से लाभ तो नहीं परन्तु व्यवहार से मुक्त है। व्यवहार भेद, विकल्प, राग है।

भगवान आत्मा अभेद चैतन्य के अनुभव में, उसकी अभेददृष्टि में धर्मी व्यवहार से मुक्त है। समझ में आया ? व्यवहार करना पड़े और होना चाहिए – ऐसा नहीं, यह कहते हैं। हो, परन्तु करना पड़े और होवे तो ठीक – ऐसा सम्यग्दृष्टि के आत्मा के ज्ञान में नहीं है। उसके बाद यह बात लेंगे। अन्य व्यवहार कहा न ? समझ में आया ? अन्य सर्व व्यवहार... कहाँ तक ले गये, देखो न ! वस्तु जैसे सर्व से अन्य – ऐसी अभेददृष्टि जहाँ हुई, उसमें वह सर्व व्यवहार से भिन्न है। समझ में आया ? यह व्यवहार का पूंछड़ा निश्चय को लागू नहीं पड़ता – ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! यह प्रभु अकेला ज्ञान का सूर्य प्रभु भिन्न है। कहते हैं कि उसे जानना, तब कहते हैं कि जिसका (स्वरूप) अपने को प्रत्यक्ष हो। जिसने पर की सहायता, मन, वाणी, राग या पर का श्रवण करना, उससे आत्मा ज्ञात होता है ? (कहते हैं) नहीं। गुरु की वाणी में बोध रहा है आत्मा ? बोध तो बोध में रहा है; भगवान, आत्मा में रहा है। ए...ई... !

मुमुक्षु – तब तो जवाबदारी रह जाती है।

उत्तर – ऐसा इन्होंने कहीं डाला है। ऐसा वह कहीं आया था। नहीं ? ५३ तो आज चला, उसके पहले कहीं था, हाँ ! इन्होंने डाला है। गुरु के बोध में ज्ञान नहीं – ऐसा कहते हैं, यह तो आ गया है, यह कहीं आया था। नहीं आया गुरु ? निषेधकर्ता, ऐसा स्वयं ने कहीं लिखा था। ५६ चलती है न ? कहीं है अवश्य, इन्होंने एक जगह डाला था। (रेत में) तेल नहीं परन्तु तिल में है। इसी प्रकार शास्त्र में आत्मा नहीं परन्तु तन में है। जैसे मृगमरीचिका में जल नहीं परन्तु सरोवर में है; उसी प्रकार गुरुवचन में बोध नहीं परन्तु हृदय सरोवर में है – यह ५२ गाथा में है। ५२ गाथा है सही न ? '**सत्थ पढं जड़ अप्पा**' यह भाई, नहीं ? 'लालन'... यह पहले ५३ बोल पढ़ा न ? यहाँ ५२ है, उसमें जरा अन्तर है। '**सत्थ पढं तह ते वि जड़ अप्पा जेण मुणंति**।' ऐसा लिखा है, देखो ! गुरु वचन में बोध नहीं परन्तु हृदय सरोवर में है। बोध यहाँ है, कहते हैं। मैंने कहा, कहीं पढ़ा था। कहो, समझ में आया ? यह चन्द्रमा जगे, वहाँ आत्मसमुद्र अन्दर से उछलता है – ऐसा कहते हैं।

कहते हैं कि जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष जाना, उसने आत्मा को जाना कहलाता है। समझ में आया? '**जे णवि-मण्णहिं जीव फुडु**' वह संसार से नहीं छूटता – ऐसा जिननाथ कहते हैं। क्या कहते हैं? '**जिण णाहहं उत्तिया**' है न? जिननाथ... **ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।** भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर वीतरागदेव ऐसा फरमाते हैं – जिसने आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जाना, वह संसार से नहीं छूटेगा। समझ में आया? आहा...हा...! इस प्रकार ज्ञान से ज्ञान को जानकर वेदन करे.... राग नहीं, मन नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, गुरु नहीं, कोई नहीं। उसने शास्त्र के धारे हुए धारणा किये भावना के बोल, वे भी नहीं। समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा '**फुडु**' अर्थात् स्पष्ट स्वयं, स्वयं से नहीं जाने, स्वयं अपने से प्रत्यक्ष नहीं जाने.... '**जिण-णाहहँ उत्तिया णउ संसार मुचंति**' जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि वह संसार मिथ्यात्वादि से छूटेगा नहीं। संसार शब्द से मिथ्यात्व, हाँ! उस मिथ्यात्व से नहीं छूटेगा। आहा...हा...! ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। है या नहीं? ऐ... शशीभाई! आहा...हा...!

भगवान आत्मा....! देखो तो सही, योगसार! योगसार अर्थात् प्रभु आत्मा निर्विकल्पस्वरूप से, निर्विकल्प वेदन से अपने को न जाने तो कहते हैं कि, इस विकल्प से जाना और मन से जाना, शास्त्र से जाना वह जीव संसार से मुक्त नहीं होगा। आहा...हा...! क्या बात...! बात तो ऐसी ही होगी न? समझ में आया? ऐसा '**जिण उत्तिया**' अनन्त जिनेन्द्रों की वाणी में ऐसा आया है। इन्हें लिखना पड़ा – '**जिण उत्तिया**' आचार्य को लिखना पड़ा, भाई! ऐसा तो वीतरागदेव कहते हैं, हाँ! परमेश्वर केवलज्ञानी तीन लोक के नाथ की वाणी में इच्छा बिना ध्वनि आयी, उस ध्वनि में ऐसा आया था कि जो आत्मा को प्रत्यक्ष.... चौथे गुणस्थान से, हाँ! आहा...हा...! रागरहित भगवान आत्मा को प्रत्यक्ष न जाने, वह संसार-मिथ्यात्वादि से नहीं छूटेगा। समझ में आया? शशीभाई! आहा...हा...! संसार शब्द से मिथ्यात्व, वह संसार है, हाँ! मिथ्यात्व गया, संसार नहीं रहता। आहा...हा...!

जो स्पष्टरूप से अपने आत्मा को नहीं जानता.... एक बात। **और जो अपने आत्मा का अनुभव नहीं करता....** फिर स्थिरता की विशेष बात ली है। प्रत्यक्ष जानकर फिर बारम्बार आत्मा में अनुभव करना; प्रत्यक्ष जानकर फिर स्थिर होना। भगवान आत्मा

में अतीन्द्रिय आनन्द का बारम्बार स्पर्श होना, अतीन्द्रिय आनन्द का स्पर्श होना; प्रत्यक्ष ज्ञान और फिर अतीन्द्रिय आनन्द का विशेष वेदन, वह जिसे नहीं, वीतराग कहते हैं कि वह संसार से छूटता नहीं है। आहा...हा...! कठिन बात भाई!

वे तो ऐसा कहते हैं यह निश्चय... निश्चय... एकान्त... एकान्त (कहते हैं)। सुन न, भगवान! यह तेरा एकान्त स्व प्राप्त करने का यह उपाय है। दूसरा उपाय नहीं है भाई! तुझे लगता है कि यह परोक्ष ज्ञान और यह परज्ञान, बाहर का व्यवहार (इससे) आत्मा के आनन्द के अनुभव के बिना तुझे कल्याण और संवर-निर्जरा हो जाये – ऐसा है नहीं। इसका नाम एकान्त मिथ्यात्व है। समझ में आया? स्व-संवेदन ज्ञान बिना संवर-निर्जरा नहीं है और तू ऐसा माने कि इनके बिना, शास्त्र के पठन से संवर-निर्जरा (होते हैं)। यह तेरी एकान्त मान्यता है। अनुभव के बिना निर्जरा की उग्रता नहीं है और तू कहता है कि यह उपवास कुछ करें और यह भगवान के दर्शन से निर्जरा हो (यह तेरी एकान्त) मिथ्यात्व की मान्यता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु – ऐसा मँहगा, कितना ही खर्च करे तो भी नहीं मिले।

उत्तर – अन्य तो पच्चीस गुना भाव खर्च करे तो भी मँहगाई में मिलता है, कहते हैं परन्तु यह मँहगाई कैसी? ठीक, निकालते हैं न? यह तो ऐसी सस्ताई है कि किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती – ऐसी यह सस्ताई है। आहा...हा...! कहो! उसमें तो पैसा चाहिए, लेने जाना पड़े, वह फिर कुछ दे, न दे, उस समय फुर्सत में हो, न हो। इसमें तो किसी की जरूरत नहीं पड़ती। आहा...हा...! है? आहा...हा...! भगवान आत्मा ऐसा का ऐसा परमात्मस्वरूप विराजमान है, उसका अन्तरध्यान-एकाग्र करना वह तेरे समीप में है, कहीं बाहर से आवे ऐसा नहीं है। आहा...हा...! कठिन परन्तु लोगों को.... अपनी जाति को जानना, उसमें इसे मँहगा लगता है!

श्री जिनेन्द्र भगवान ने दिव्यध्वनि से यही उपदेश दिया है कि अपने आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान-ध्यान.... देखो! **अर्थात् निश्चयरत्नत्रयस्वरूप स्वात्मानुभव ही ऐसा मसाला है कि जिसके प्रयोग से वीतरागता की अग्नि भड़कती होती है और वह कर्मरूप ईंधन को जला डालती है। आत्मज्ञान के बिना कोई कभी कर्मों से**

मुक्त नहीं हो सकता। परपदार्थ के ध्यान से कहीं मुक्त होते हैं ? आहा...हा... ! **वास्तव में आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दृष्टि बाह्यचारित्र को, वेष को, आचरण को मोक्षमार्ग नहीं जानता....** कोई-कोई सार-सार लेते हैं, वहाँ कहाँ सब क्या लेना ? समझ में आया ? भगवान आत्मा... आहा... ! अरे... ! इसके गीत भी प्रीति से कभी सुने नहीं। हैं ? अध्यात्म की बात... आता है न ? '**तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।**' भगवान आत्मा अकेला अनाकुल सहजानन्द सीधा आत्मा अपना स्वामी... स्वयं अपने को प्रत्यक्ष करने की ताकत-शक्तिवाला.... उसमें एक गुण ऐसा है। समझ में आया ? अनादि एक प्रकाश नाम का गुण है, उसमें अनादि ऐसा गुण है कि जो प्रत्यक्ष होता है – ऐसा ही उसका गुण है। परोक्ष रहे – ऐसा उसमें गुण नहीं है। ऐसा गुण है, उससे मुक्ति होती है या उसके बिना भी मुक्ति होती है ? आहा...हा... ! क्या कहा ? ४७ शक्ति में एक बारहवीं शक्ति है, उस शक्ति का स्वभाव, आत्मा में गुण, उसका गुण प्रत्यक्ष होना है। पुण्य-पाप और राग से जानना, वह इसका गुण है नहीं। आहा...हा... ! इस भगवान आत्मा में ऐसा एक गुण पड़ा है कि जो सीधा प्रत्यक्ष होकर जाने – ऐसा इसमें गुण है। है ?

मुमुक्षु – फिर गाड़ी आगे चले।

उत्तर – फिर आगे चले। यह सब गले तक यहाँ पड़ गये थे, हाँ! उसके प्रमुख के घर कहलाते हैं न ? ...घर। दोनों गाँव के 'कामदार' प्रमुख दोनों गहरे पड़ गये। यह फिर कौन जाने, कहाँ से निकल गये! है ? कहो, समझ में आया इसमें ? वे कहे अर...र... ! यह 'कानजीस्वामी' कहाँ जायेंगे ? हमारे 'आनन्दजी' कहते हैं, यह तो मुक्ति में जानेवाले हैं। इतने-इतने मन्दिर बनावे, इतने-इतने पाप करावे, कहाँ जाना होगा ? तुम्हारा काका कहे – 'वीरचन्दभाई' हमारे 'आनन्दजी' हैं न ? जवाब देने में होशियार है। पता नहीं तुम्हें कि मोक्ष जानेवाले हैं! सुन न! बाहर का मन्दिर होना और अमुक होना, उसमें आत्मा को क्या ? वह तो हुआ, उसमें कहाँ पाप था ? वह तो जरा शुभभाव होता है। वह शुभभाव होता है, उसे देखता नहीं और वह पाप हुआ, उसे देखता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु – स्थावर की हिंसा होती है, इस अपेक्षा से कहते हैं।

उत्तर – ....कहाँ था आत्मा में ? हिंसा कौन कर सकता है ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं **सम्यग्दृष्टि बाह्य चारित्र को, द्वेष को, आचरण को, मोक्षमार्ग नहीं जानता, वही निश्चय आत्मा के अनुभव को मोक्षमार्ग जानता है।** कहो, समझ में आया ? **निज-आत्मा में ही रहना, वह ज्ञानी का घर है।** नीचे (लिखा) है। आत्मा का घर, निज-आत्मा में रहना, वह आत्मा का घर है। राग में रहना, वह आत्मा का घर नहीं है, बाहर का घर तो कहाँ आया ? आहा...हा... ! **आत्मा की शिला वही ज्ञानी का आसन है।** बाहर की शिला नहीं; उसका आसन अन्दर में है। समझ में आया ? **जिन आत्मिक तत्त्व ही ज्ञानी का वस्त्र है....** अपना ज्ञान वही अपना वस्त्र है। कारण कि ढँककर ऐसा का ऐसा पड़ा है। **निज आत्मिकरस ही ज्ञानी का खान-पान है।** आहार-पानी नहीं। यह प्रत्यक्ष वहाँ कहा अवश्य न ? आहा...हा... ! **निज आत्मिक शैय्या ही ज्ञानी की शैय्या है।** आत्मिक शैय्या ही ज्ञानी की शैय्या है। यह बाहर का सोने का था कब ? आत्मा सोता कब है ? आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसे भगवान आत्मा को जो प्रत्यक्ष जानकर अनुभव नहीं करता, वह संसार से मुक्त नहीं होता। गुलाँट खाकर बात करे तो आत्मा को प्रत्यक्ष जानकर जो वेदन करता है, वह मुक्त होता है; इसके अतिरिक्त दूसरी कोई मुक्ति की क्रिया है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

सर्वज्ञ के प्रतिनिधि वीतरागी सन्त

सन्त तो सर्वज्ञ के प्रतिनिधि हैं, वे जगत को सर्वज्ञ का सन्देश सुनाते हैं। अरे जीवों! प्रतीति तो करो कि तुम्हारे में ऐसा सर्वज्ञपद भरा है...। तुम जगत के पदार्थरहित ही स्वयं अपने स्वभाव से परिपूर्ण हो, मुझे अमुक वस्तु के बिना नहीं चलता – ऐसा तुमने पराधीनदृष्टि से माना है और इसी कारण पराश्रय से संसार में परिभ्रमण कर रहे हो। वस्तुत: तो तुम्हारा आत्मा पर के बिना ही अर्थात् पर के अभाव से ही, पर की नास्ति से ही स्वयं अपने से टिका हुआ है। प्रत्येक तत्त्व अपनी अस्ति से और पर की नास्ति से ही टिका हुआ है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

आत्मा के ज्ञान के लिए नौ दृष्टान्त हैं

रयण दीउ दिणयर दहिउ, दुद्धु घीव पाहाणु।
सुण्णउ रुउ फलिहउ अगिणि, णव दिट्ठंता जाणु॥५७॥

रत्न-हेम-रवि-दूध दधि, घी पत्थर अरु दीप।
स्फटिक रजत और अग्नि नव त्यों जानों यह जीव॥

अन्वयार्थ – रत्न, दीप, सूर्य, दही-दूध-घी, पाषाण, सुवर्ण, चाँदी, स्फटिक, आग – इन नौ दृष्टान्तों से जीव को जानना चाहिए।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल ११, मंगलवार, दिनाङ्क २८-०६-१९६६
गाथा ५७ से ५८ प्रवचन नं. २०

यह योगसार शास्त्र है, ५७ वीं गाथा। ५६ गाथा हो गयी – (गाथा) ५६ में ऐसा कहा कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस ज्ञान को ज्ञान से प्रत्यक्ष न जाने, तब तक उसे आत्मा का कुछ कार्य नहीं होता, क्योंकि जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञानस्वरूप, चैतन्यप्रकाशस्वरूप है। वह चैतन्य, चैतन्य को जाने तो उसे प्रत्यक्षपना होता है तो उसे मुक्ति होती है और प्रत्यक्ष जानकर वेदन में-अनुभव में विशेष ले तो कर्म-बन्धन से छूटता है। उस ज्ञान पर यहाँ दृष्टान्त दिया जाता है। चैतन्य ज्ञान का प्रकाश – ऐसा उसका स्वरूप है, उसका प्रत्यक्षपना होना – यह उसका स्वभाव है और यही उसे अनुभव करके मुक्ति देनेवाला है। इसमें दृष्टान्त दिये हैं।

– आत्मा के ज्ञान के लिए नौ दृष्टान्त हैं।

रयण दीउ दिणयर दहिउ, दुद्धु घीव पाहाणु।
सुण्णउ रुउ फलिहउ अगिणि, णव दिट्ठंता जाणु ॥५७॥

नौ दृष्टान्त दिये हैं। साधारण समझाया जाता है। आत्मा, रत्न-समान है। आत्मा, जैसे रत्न प्रकाशमय है, वैसे आत्मा ज्ञान प्रकाशमय है। जैसे रत्न नित्य और कायम रहनेवाला है, वैसे आत्मा ज्ञानस्वरूप से अविनाशी कायम रहनेवाला है। जैसे रत्न मूल्यवान चीज है, वैसे आत्मा भी अलौकिक अचिन्त्य सम्यग्ज्ञान से ख्याल में आवे – ऐसी कीमती चीज है। समझ में आया?

आत्मा, रत्न के समान एक अमूल्य द्रव्य है। जगत में आत्मा एक अमूल्य द्रव्य है। **परम धन....** आत्मज्ञान रत्न के स्वामी सम्यग्दृष्टि झवेरी हैं। जैसे, झवेरी को रत्न की परीक्षा होती है, वैसे ही भगवान आत्मा चैतन्य निर्मलरत्न है, उसकी कीमत (परीक्षा) सम्यग्दृष्टिरूपी झवेरी को होती है। समझ में आया? कैसा भी रत्न हो परन्तु उसकी कीमत करनेवाला न हो तो उसकी कीमत इसके ख्याल में नहीं आती; वैसे (ही) भगवान आत्मा रत्न – समान शाश्वत् हैं। रत्न बहुत थोड़े मिलते हैं, बहुत टिकते हैं, प्रकाशमय है; इस कारण उनकी कीमत की जाती है। इसी तरह भगवान ज्ञानरत्न किसी को स्वभाव में प्राप्त हो, नित्य टिकाऊ है और उसकी कीमत अनन्त आनन्द दे – ऐसी उसकी कीमत है; इसलिए उसे रत्न की उपमा (दी है)। यहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान को रत्न की उपमा (दी) है। समझ में आया?

झवेरी, सम्यक्त्वी झवेरी उसे परखता है। इन राग-द्वेष, शरीर की क्रिया के द्वारा उसकी परीक्षा नहीं हो सकती। उसकी परीक्षा तो सम्यग्ज्ञान की प्रतीति द्वारा हो सकती है। ऐसा वह चैतन्य रत्न, रत्न की उपमा से उसका दृष्टान्त दिया है।

तथा, तीन रत्न कहे है न? उन्हें प्राप्त करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र – तीन रत्न कहलाते हैं। पर्याय, तो कहते हैं। **सदा आत्मा ज्ञानज्योति से प्रकाशवान है, अविनाशी है, स्वयं सम्यग्दर्शन रत्नमय, सम्यग्ज्ञान रत्नमय और सम्यक्चारित्र रत्नमय....** स्वरूप ही ऐसा है – ऐसा कहते हैं। उसका स्थायी स्वरूप ही सम्यग्दर्शन रत्नस्वरूप है, सम्यग्ज्ञान रत्नस्वरूप है, सम्यक्चारित्र रत्नस्वरूप है। वस्तु, हाँ! वस्तु।

समझ में आया ? भगवान आत्मा सम्यग्दर्शनरत्न जो पर्याय में है – ऐसा ही यह सम्यग्दर्शनरत्न त्रिकाल उसके स्वभाव में है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें सम्यग्दर्शनरत्न, सम्यग्ज्ञानरत्न और सम्यक्‌चारित्ररत्न इस ज्ञानस्वभाव में पड़े हैं और तीन रत्न द्वारा उसकी परीक्षा हो सकती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु – स्वभाव में पड़े हैं फिर भी किसी-किसी को ही मिले ऐसे हैं।

उत्तर – जो साधन करे उसे मिले, ऐसा है। इसलिए किसी-किसी को कहा न ! वैसे तो अनन्त आत्माएँ पड़े हैं, अनन्तगुने हैं। पानेवाले को, समझनेवाले को उसकी कीमत करनेवाले को मिलते हैं। कीमत दे उसे मिलते हैं, कीमत दिये बिना मिलता होगा ? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की कीमत भरे तो उसे रत्न मिलें और उन रत्नों द्वारा मुक्ति की, -पूर्ण की प्राप्ति होती है। कहो ! ऐसा रत्न भी इसे अनन्त काल से परखना नहीं आया।

परखे माणिक-मोती परखे हेम-कपूर;
एक न परखा आत्मा वहाँ रहा दिग्मूढ़।

मूढ़.... समझ में आया ? सब की परीक्षा की – उसका यह और उसका यह और उसका यह.... आत्मा क्या चीज है ? उसकी परीक्षा नहीं की। सब लौकिक की बड़ी-बड़ी बातें की, यह... यह... यह... यह... रॉकेट ऐसे जाता है और अमुक ऐसे जाता है।

मुमुक्षु – कितनों को आधीन करता है।

उत्तर – धूल में भी किसी को आधीन नहीं करता है। समझता नहीं। चैतन्यरत्न जानने का काम करे या उसे जानते हुए राग करे। करे क्या दूसरा यह ? ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा भान करे तो जानने का काम करे। ज्ञानस्वरूप है – ऐसा भान न हो तो सामने देखकर राग से देखे तो यह मेरा और मैंने किया – ऐसा माने। दूसरा क्या करे ?

मुमुक्षु – इसके कारण तो सब मशीनें चलती हैं।

उत्तर – धूल में भी नहीं चलती। इसके कारण चलती है ? बिजली को आधीन की ऐसा कहता है। आकाश में से बिजली को आधीन की... गप्प ही गप्प मारता है, मूढ़ !

रत्न समान भगवान आत्मा की कीमत सम्यग्ज्ञानी, रत्न की कीमत करता है, कहते हैं। जिसकी नजर में कीमत है, वह नजर से उसे परखता है। आहा...हा... !

दीप समान है। आत्मा दीपक समान स्वपर प्रकाशवान है। भगवान आत्मा दीपक है। चैतन्य-दीपक – चैतन्य प्रदीप। समझ में आया? **दीपक के समान स्व-पर प्रकाशवान है। एक ही काल में यह आत्मा अपने को भी जानता है और सर्व द्रव्यों को, उनके गुण-पर्यायों को भी जानता है।** ऐसा प्रकाशवान चैतन्यसूर्य है – ऐसा कहते हैं। दीपक के समान... स्वयं को जाने, समस्त अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय को और पर के अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय को भिन्न रहकर जाने, इसका नाम प्रकाश (है)। दीपक पर को जानते हुए पररूप नहीं होता; वैसे ही आत्मा स्व को जानते हुए स्वरूप से रहता हुआ, पर को जानते हुए पररूप नहीं होता – ऐसा दीपक-समान आत्मा स्व-पर प्रकाश का अस्तित्व तत्त्व है। कहो, समझ में आया? वास्तव में आत्मा दीपक के समान, पुण्य-पाप के राग, शरीर, वाणी, सबको प्रकाशित करनेवाला तत्त्व है। समझ में आया? रागादि और पर को उत्पन्न करनेवाला तत्त्व नहीं है। स्व-पर को प्रकाशित करे – ऐसा वह तत्त्व है। इसलिए उसे दीपक की उपमा दी है। समझ में आया?

जानता है, तथापि परज्ञेयों से भिन्न है। देखो इसमें लिखा है। जाने, दीपक पर को जाने, दिखलावे परन्तु कहीं पररूप होता है? वैसे ही आत्मा पर को जाने, जानने से कहीं पररूप होता है? शरीर को जाने, राग को जाने, कर्म को जाने, पुद्गल को जाने... जानते हुए दीपक के समान, जैसे दीपक पर को प्रकाशित करे तो दीपक अपने में रहकर पर को प्रकाशित करता है; पररूप नहीं होता। इसी प्रकार चैतन्यदीपक देह में भगवान आत्मा स्वयं को और पर को प्रकाशित करते हुए पररूप हुए बिना प्रकाशित करता है – ऐसा उसका स्वरूप है। कहो, समझ में आया?

यह आत्मा कभी न बुझे ऐसा अनुपम दीपक है। अन्य दीपक तो बुझ जाता है – ऐसा कहते हैं। दीपक तो बुझ जाता है, यह तो बुझता नहीं। शाश्वत् रत्न, शाश्वत् दीपक, अनादि-अनन्त है, इसका बुझना क्या? शाश्वत् चीज का नाश क्या? **इस आत्मा दीपक को किसी तेल की आवश्यकता नहीं है।** उस दीपक को तो तेल की आवश्यकता (पड़ती है) बत्ती की आवश्यकता (पड़ती है) (जबकि) यह तो तेल और बत्ती के बिना जलहल ज्योति भगवान प्रज्वलित है अन्दर। आहा...हा...! चैतन्य दीपक, जिसे तेल

-बत्ती, मन, राग की पुष्टि की आवश्यकता नहीं है – ऐसा कहते हैं। जैसे (रत्न) दीपक को तेल-बत्ती की जरूरत नहीं है, वैसे ही चैतन्य दीपक को मन की और राग की अपेक्षा की जरूरत नहीं है। ऐसा यह चैतन्य दीपक स्वयं से प्रकाशित हो ऐसा है।

यह आत्मा किसी पवन से बुझे ऐसा नहीं है। जैसे वह दीपक है, वह पवन से बुझ जाता है। इस राग और शरीर से आत्मा का नाश हो – ऐसा यह नहीं है। अविनाशी वस्तु दीपक के समान ऐसी की ऐसी जलहल ज्योति अनादि-अनन्त देह-देवल में भिन्न विराजमान है। **सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को एकसाथ झलकानेवाला है।** समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को एक समय में प्रकाशित करे – ऐसा यह तत्त्व दीपक के समान है।

सूर्य का दृष्टान्त – **आत्मा के सूर्य के समान प्रकाशमान और प्रतापवान है।** कहो, समझ में आया? आत्मा प्रकाशवान्, प्रतापवान है। स्वयं से, प्रताप से शोभता है, अपने प्रकाश से शोभता है। प्रभुता के लक्षण से भरपूर है न तत्त्व? प्रभुता के लक्षण से स्वतन्त्र.... अपने अखण्ड प्रताप से शोभित हो ऐसा यह तत्त्व अनादि है। समझ में आया? **सर्व लोकालोक का ज्ञाता-दृष्टा है।** जैसे सूर्य सबको बतलाता है (प्रकाशित करता है) तो वह कहीं सबको नहीं बता सकता। यह तो (चैतन्यसूर्य तो) लोकालोक को जाननेवाला है। **परम वीर्यवान् है।** प्रतापवन्त कहा न? जैसे सूर्य का प्रकाश है, वैसे आत्मा में अनन्त वीर्य है। प्रकाश के साथ अनन्त वीर्य का सूर्य भगवान है। अनन्त बल का सूर्य भगवान आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया?

परम शान्त है.... वह सूर्य तो आतापवाला है। यह शान्त, अकषाय, वीतरागस्वभाव से भरपूर सत्त्व तत्त्व है। **यह एक अनुपम सूर्य है।** वह सूर्य तो साधारण है, ऐसे तो असंख्य सूर्य हैं। यह तो एक ही सूर्य अपना है, अपना हाँ! दूसरे का सबका अलग-अलग। अनुपम सूर्य! वह सूर्य तो शाम को ढँक जाता है; यह किसी दिन नहीं ढँकता। चैतन्यसूर्य प्रकाश का बिम्ब है, वह कब ढँकेगा? द्रव्यस्वभाव कब ढँकेगा? वस्तुस्वभाव कब आच्छादित होगा? ऐसा भगवान (आत्मा) सूर्यसमान चैतन्यबिम्ब, देह में विराजमान है।

कोई मेघ या राहु उसे ग्रस नहीं सकता। बादल अथवा राहु, सूर्य को पकड़े यह

ऐसा सूर्य नहीं है। कर्म से कुछ पकड़ा जाये ऐसा नहीं है। राग के विकल्प से पूरा आत्मा ग्रसित हो जाये – ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? चैतन्यसूर्य भगवान पर से ग्रसित हो ऐसा नहीं है। **स्वयं परमानन्दमय है। जो इस आत्मसूर्य का दर्शन करता है, उसे भी यह आनन्द देता है।** जो इसे देखे उसे आनन्द दे – ऐसा है। यह कहते हैं। जो इसे देखे, उसे आनन्द दे। कहो समझ में आया? आया था न? **नमः समयसाराय:** कलश टीका, नहीं? ज्ञान और आनन्द का दातार है। स्वयं शुद्धात्मा ज्ञान और आनन्द का दातार है। अशुद्ध आत्मा और पुद्‌गल वे कोई ज्ञानदाता इसमें नहीं है। पर का ज्ञान, उसमें ज्ञान नहीं है। पर में सुख नहीं है – पहले (कलश में) आया है। ज्ञान और आनन्द का वह दातार है, उसे जाननेवाले को आनन्द दे, उसे जाननेवाले को आनन्द दे। समझ में आया?

वह सदा निरावरण है। उसे कभी आवरण नहीं है। **एक नियमित स्वक्षेत्र में....** रहनेवाला है। यह सूर्य तो ऐसे से ऐसा उल्टा-सुल्टा घूमता है – ऐसा कहते हैं। सबेरे उगे, ऐसा फिरे... यह तो नियमित असंख्य प्रदेश में विराजमान है। सदा अपना क्षेत्र इतना रहे, यह शरीर का क्षेत्र तो बदलता है। नियमित अनादि-अनन्त असंख्य प्रदेश में विराजमान है, इसका क्षेत्र कभी नहीं बदलता। देह में रहने पर भी, देह के आकाररूप होने पर भी स्वयं अपना आकार नहीं छोड़ता, अपने आकार में रहता है।

अब, दूध-दही की उपमा (दी है)। पाठ में पहले दही-दूध और घी ऐसा रखा है। ये तीन होकर दृष्टान्त एक है, हाँ! तीन दृष्टान्त नहीं; तीन होकर एक है। दूध-दही और घी। **आत्मा के दूध जैसे शुद्धस्वभाव का मनन करने से आत्मा की भावना दृढ़ होती है।** जैसे दूध में से दही होता है न? ऐसे भगवान दूध के समान है, उसका एकाग्र ध्यान करने से उसे दही की मिठास प्रगट होती है और उसमें से जमकर घी होता है। कहो समझ में आया?

मुमुक्षु – दृष्टान्त में से निकले तो अच्छा....

उत्तर – दृष्टान्त में से क्या निकले? निहालभाई! यह तुम्हारे भाई का लड़का है, हाँ! ऐसे दृष्टान्त में से वह हाथ आ जाए.... दृष्टान्त तो उसके लिए है। दृष्टान्त, दृष्टान्त के लिए नहीं है।

भगवान... जैसे दूध को मथने से अथवा जमाने से जैसे दही होता है, वैसे भगवान आत्मा की एकाग्रता होने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दही प्रगट होता है। उसमें विशेष एकाग्रता से उसमें से इसे घी – मोक्ष की दशा प्रगट होता है। दूध, दही और घी – तीनों की उपमा आत्मा को है। कहो, समझ में आया इसमें? **आत्मा की जागृति ही दहीरूप होना है।** ऐसा कहते हैं। देखो! जागृति।

तत्पश्चात् जैसे दही को बिलोने से घी सहित मक्खन निकलता है, उसी प्रकार आत्मा की भावना करते-करते आत्मानुभव होता है, जो परमानन्द देकर आत्मा को घी-समान बतलाता है। अथवा केवलज्ञान हो जाता है, मूल तो ऐसा है। समझ में आया? कितना निकल जाए तो भी केवलज्ञान (कम नहीं होता)। दूध के समान उसका एकाग्र ध्यान करने से दही के समान मिठास (होती है) और विशेष एकाग्रता करने से दही में से घी निकलता है – ऐसा केवलज्ञान हो जाता है। कहो, यह दृष्टान्त अन्दर समझने के लिए है। दृष्टान्त में से आत्मा निकले ऐसा है? यह भी रचना अद्भुत है! कल्पना सही न!

स्वयं ही दूध है, स्वयं ही दही है, स्वयं ही घी है। मुमुक्षु को निज आत्मारूपी गोरस का ही निरन्तर पान करना चाहिए। लो! यह दूध, दही और घी भगवान आत्मा है। आहा...हा...! शुद्ध चैतन्य का सत्व, वह पूरा दूध समान, उसे प्राप्त करने से अर्थात् उसका मेल-एकाग्र करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का दही निकलता है और उसमें (विशेष) एकाग्र होने से केवलज्ञान का मक्खन अथवा घी निकलता है – ऐसा यह आत्मा दूध, दही और घी जैसा है। लो! यह तो सरल दृष्टान्त है। दूध, दही और घी में से आत्मा निकले ऐसा है? दूध, दही और घी तो उसकी उपमा है, वह तो आत्मा की उपमा है।

अब पाँचवाँ दृष्टान्त.... यह तीन होकर एक है, हाँ! समझ में आया? रत्न का, दीपक का, सूर्य का, और यह तीन होकर एक – ऐसे चार हुए। अब, इसमें पाषाण का है। उसमें पीपर का है, अपने अन्त में दिया है न? मूल पाठ में पाषाण है और मैं जो यह बारम्बार देता हूँ, उस पीपर का दृष्टान्त... पीपर! वह इसमें है। आत्मा पीपर के समान है। पीपर में जैसे चौंसठ पहरी चरपराहट भरी है न? पीपर का दाना होता है न? चौंसठ

पहरी समझते हो ? छोटी पीपर में चौंसठ पहरी तिखास / चरपराहट भरी है, वैसे ही आत्मा में पूरा केवलज्ञान, केवलदर्शन और आनन्द पड़ा है। कहो, समझ में आया ? और उसे ही आत्मा कहते हैं। जैसे चौंसठ पहरी चरपराहट को ही पीपर कहते हैं। वैसे यह आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, अनन्त-आनन्द को ही यहाँ आत्मा कहा गया है। उसमें एकाग्र होने पर... जैसे पीपर में से शक्ति प्रगट होती है, वैसे आत्मा में से शक्ति -केवलज्ञान, केवलदर्शन और मोक्ष की दशा प्रगट होती है। उस पीपर के समान भगवान आत्मा की उपमा दी जाती है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यहाँ पत्थर की उपमा दी है, मूल शब्द पत्थर है। **आत्मा पत्थर के समान दृढ़ और अमिट है।** जैसे मजबूत पत्थर दृढ़ होता है और एक कणी भी नहीं खिरती। संगमरमर का बहुत चिकना पत्थर होता है, बहुत चिकना, उससे भी चिकने पत्थर की जाति होती है। संगमरमर से भी बहुत चिकना, हाँ! बहुत चिकना... एक कणी भी नहीं खिरे। कणी खिरे नहीं ऐसा चिकना... चिकना... चिकना... चिकना... रजकण का स्कन्ध ऐसा चिकना, परिणमित होता है न ? कि उसमें से एक कणी नहीं खिरती; वैसे ही भगवान आत्मा, उसके असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण का पिण्ड, उसमें प्रदेश और गुण, एक अंश भी नहीं खिरता, नहीं घटता – ऐसा वह चिकना अनन्त गुण का पिण्ड भगवान है।

दृढ़ और अमिट है, अपने अन्दर अनन्त गुण रखता है। जैसे पत्थर में बहुत दृढ़ता की शक्तियाँ रहती हैं, वैसे आत्मा में अनन्तज्ञान-दर्शन आदि शक्तियाँ रहती हैं। **उन्हें कभी कम होने नहीं देता....** वह पत्थर उत्कृष्ट होता है और वह बहुत चिकना (होता है)। ऐसा का ऐसा सदा रहता है। उत्कृष्ट स्फटिक मणि है, देखो न यह लो! चन्द्र -सूर्य.... चन्द्र-सूर्य के पत्थर.... कभी एक कणी नहीं खिरती, कणी कम नहीं होती। अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा (रहता है)। चन्द्र-सूर्य का स्फटिक है न।

मुमुक्षु – वहाँ तो बँगले बनानेवाले हैं।

उत्तर – बँगले बनायेंगे। वह तो एक व्यक्ति ने इंकार किया है कि अब नहीं जा सकते – ऐसा आया है, सुना है ? यह सब गप्प, होने दो तो सही, वहाँ जाने के बाद आवे तो सही, अभी मरकर.... मुफ्त में गप्प ही गप्प... आकाश और पाताल एक करना चाहते

हैं। निगोद और सिद्ध मानो एक करते हों। भिन्न पदार्थ हैं। समझ में आया? आहा...हा...! सर्वज्ञ द्वारा कथित तत्त्व तीन काल में बदले ऐसा नहीं है। लोगों को शंका और सन्देह (रहता है)। वास्तविक परमात्मा ने क्या कहा है? उसका पता नहीं है।

न कभी अन्य गुण को स्थान देता है। पत्थर कहीं दूसरे को स्थान नहीं देता, वैसे ही आत्मा असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का कठिन पिण्ड, वह दूसरे को स्थान नहीं देता। इस विकल्प को भी वह स्थान नहीं देता – ऐसा आत्मा पत्थर के समान चिकना है। आहा...हा...! क्या कहलाता है? चिरोली निकलती है और बहुत ऊँची? क्या कहलाती है? तुम्हारे लड़के को प्रकाश... लो, वह प्रकाश और वह चिरोली.... चिरोली बहुत ऊँची। ऐसी मक्खन जैसी, नीचे ऐसी सफेद... सफेद... सफेद... नीचे जैसे जाते जाएँ न... आटा बनाकर सेना के व्यक्तियों को रोटियाँ खिलावे (तो) हड्डियाँ मजबूत हों। यह तो चिकना पत्थर... ऐसा आत्मा अनादि का है, उसमें से कुछ खिरे ऐसा नहीं है। अनन्त गुण का संग्रह करके पड़ा है, दूसरे को स्थान दे – ऐसा नहीं है। यह भगवान अनन्त गुण का पिण्ड, अनन्त गुण का पिण्ड – पत्थर किसी को स्थान दे – ऐसा नहीं। राग और कर्म और शरीर को स्थान दे – ऐसा आत्मा नहीं है। कहो, समझ में आया?

अगुरुलघु सामान्य गुण द्वारा यह अपनी मर्यादा में टिक रहा है। पत्थर की उपमा दी है न! **आठ कर्मों के संयोग से संसार-पर्याय में रहता है तो भी कभी अपना स्वभाव छोड़कर आत्मा में से अनात्मा नहीं हो जाता। निश्चल परम दृढ़ सदा रहता है।** विकार के पर्यायरूप भी वस्तु स्वयं-द्रव्य ज्ञायकभाव वह कभी नहीं हुआ – ऐसा दृढ़ है कि पानी की बिन्दु जैसे पत्थर में प्रविष्ट नहीं होती, मजबूत पत्थर में पानी प्रवेश नहीं पाता, मगसेलिया पत्थर ऐसे बारीक होते हैं। मगसेलिया, मगसेलिया समझते हो, मूँग के दाने जैसा। वहाँ रेत में बहुत होते हैं, हमने तो बहुत देखे हैं न! रेत के अन्दर ऐसा बारीक, चिकना... पानी छुए ही नहीं उसे। पानी रहे तो कैसा? परन्तु छुए ही नहीं। पड़ा साथ में ऐसा... बहुत चिकनाहट, मूँग के दाने जैसा। मगसेलिया पत्थर होता है, मगसेलिया। ऐसा यह पत्थर ऐसा है। रेत में बहुत होता है। राणपुर में बहुत दिखता है, वहाँ श्मशान है न? वहाँ जंगल जाते हैं न? वह क्या कहलाता है? पौहटी... वहाँ बहुत देखने को मिलते हैं, बहुत

दिखते हैं। आगे-आगे जाते हों कोई मनुष्य नहीं दिखता.... बारीक...बारीक मूँग के दाने जितने होते हैं, रेत में कोई-कोई जगह, हाँ! ऐसा चिकना... ऐसा चिकना, हाँ! इसलिए उसे मगसेलियो पत्थर कहते हैं। देखा है कभी? ख्याल नहीं?

इसी प्रकार यह भगवान मगसेलिया पत्थर जैसा है। राग को छूने नहीं दे, राग का पानी अन्दर प्रविष्ट न हो। समझ में आया? कहो, भगवानभाई! देखा है या नहीं मगसेलिया पत्थर? कोरा लगे, निकला तो ऐसा का ऐसा। मगसेलिया अर्थात् उस स्वभाववाला, ऐसा। ऐसा स्वभाव, बहुत चिकना स्वभाव। कहो, समझ में आया?

स्वर्ण की उपमा – **आत्मा शुद्ध स्वर्ण समान परम प्रकाशवान ज्ञानधातु से निर्मित....** लो! वह सोना धातु है, स्वर्ण धातु। यह आत्मा ज्ञानधातु, उस स्वर्ण समान अनादि विराजमान है। **अमूर्तिक एक अद्भुत मूर्ति है।** सोने को ऐसे देखो तो सोने की मूर्तियाँ आहा...हा...! लोग देखने निकलें, हाँ! समान मूर्ति हो, सोने की और पाँच सेर की मूर्ति हो, कारीगरी (हो).... आहा...हा...! यह आत्मा असंख्य प्रदेशी अकेली स्वर्णमयी मूर्ति है। समझ में आया? चैतन्यधातु है।

संसारी आत्मा खान में निकला हुआ धातु, पाषाण, स्वर्ण की तरह अनादि से कर्मरूपी कालिमा से मलिन है। पर्याय में, हाँ! **अग्नि आदि के प्रयोग से जैसे सोने की धातु, पाषाण से अलग करके शुद्ध कुन्दन की जाती है....** लो! सोने को जैसे अग्नि का निमित्त मिलने से अपने उपादान से जैसे सोना शुद्ध हो जाता है; इसी प्रकार **आत्मध्यानरूपी अग्नि द्वारा....** भगवान आत्मा अपने स्वरूप की एकाग्रतारूपी ध्यान की अग्नि से यह भगवान आत्मा, स्वर्ण की तरह सोलहवान... सौ प्रतिशत सोना... क्या कहलाता है? सौ कैरेट का, ऐसा आत्मा सौ प्रतिशत स्वर्ण स्वभाव से है, स्वभाव से है। सोलहवान ही स्वभाव से है। उसमें एकाग्र होवे तो पर्याय में सोलहवान (पूर्ण शुद्ध) हो जाता है – ऐसा स्वर्ण समान है।

चाँदी-समान। चाँदी-समान परमशुद्ध और निर्मल, ऐसा। एक क्षेत्र में साथ रहा होने पर भी उसकी सफेदी-वीतरागता जाती नहीं है। वीतरागतारूपी सफेद उसमें भरी है। कहो, यह तो सबके प्रिय चाँदी और स्वर्ण के दृष्टान्त हैं।

मुमुक्षु – देखा हो तब ऐसा कहे कि अनुपम है, फिर उपमा तो देते हैं।

उत्तर – उसे वास्तव में उपमा नहीं है। यह तो दृष्टान्त है, यह उपमा नहीं है। यह तो दृष्टान्त है कि इस प्रकार से यह जैसा है, ऐसी चीज ऐसी अलौकिक है, ऐसा। समझ में आया? ठीक कहते हैं यह, बीच में लकड़ा (विपरीतता) डालते हैं, हाँ!

मुमुक्षु – वहाँ नौ दृष्टान्त....

उत्तर – नौ क्या अनन्त दृष्टान्त हैं। जितने जगत् में उत्तम-उत्तम दृष्टान्त होते हैं, वे सब आत्मा को लागू पड़ते हैं। दृष्टान्तों का क्या? कहो, समझ में आया?

जैसे चाँदी अपनी सफेदाई को कभी नहीं छोड़ती; उसी प्रकार भगवान आत्मा अपनी निर्मलता की सफेदी, वीतरागता की सफेदी, निर्दोष आनन्द की सफेदी कभी नहीं छोड़ता। आहा...हा...! **ज्ञानी आत्मारूपी चाँदी का सदा व्यवहार करता है....** लो! वह चाँदी का व्यापार करते हैं न? चाँदी के व्यापारी नहीं कहते? वह चाँदी का व्यापारी है। यहाँ कहते हैं, ज्ञानी आत्मारूपी चाँदी का सदा व्यापार करता है। यह वीतरागता की सफेदाई को प्रगट करता है। आहा...हा...! चाँदी का व्यापारी है, नहीं कहते? यह सोने का व्यापारी है, यह रत्न का व्यापारी है। झवेरी कहते हैं न? अपने वे मूलचन्दजी आते हैं, वे चाँदी के व्यापारी हैं।

कहते हैं, चाँदी का व्यापार.... भगवान आत्मा तो सदा चाँदी का व्यापार, वीतरागता की सफेदाई से भरपूर तत्त्व, उस वीतरागता की सफेदी को प्रगट करने का ही ज्ञानी का व्यापार-धन्धा है। कहो, यह राग-वाग, पुण्य-पाप करना, यह उसका धन्धा नहीं है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! **आत्मा के अन्दर ही रमणता करता है, वह कभी परमानन्दरूपी धन से शून्य नहीं होता**। लो, चाँदी के साथ कहा। समझे न?

आठवाँ स्फटिकमणि का दृष्टान्त – **स्फटिक मणि के समान निर्मल और परिणमनशील है**। निर्मल और परिणमनशील इतनी, दो उपमा लेना, बाकी बहुत डाला है। **जैसे स्फटिकमणि लाल, पीली, नीली वस्तु के सम्पर्क से लाल, पीले-नीले रंगरूप परिणमन करती है तो भी अपनी निर्मलता को खो नहीं बैठती....** यह अवस्था में स्फटिक का लाल आदि रंग दिखता है, तथापि वह स्फटिकपने की स्वच्छता

को नहीं छोड़ता। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा रागादि दशा को धारण करने पर भी वस्तुस्वरूप से स्फटिकमणि जैसा है, वह स्फटिकमणि कभी राग-रूप नहीं होती। ज्ञानी कदापि.... यह आता है न? क्या कहा यह? स्फटिकमणि में कहा न? ज्ञानी, रागरूप परिणमति नहीं होता। ज्ञानी अर्थात् द्रव्य; ज्ञानी अर्थात् आत्मद्रव्य। वहाँ विवाद उठा न यह सब? देखो! दृष्टान्त देंगे। देखो!

'**जह फलियमणि विसुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं**' देखो, है न? स्फटिकमणि (जैसे) विशुद्ध (है वैसे) रागादि (रूप से) स्वयं नहीं परिणमती। वस्तु स्फटिकमणि का रागरूप / रंग-रूप परिणमित होना स्वभाव ही नहीं है। वैसे ही वस्तु का रागरूप होना – ऐसा स्वभाव ही नहीं है। बन्ध अधिकार है न? बन्धरूप होना – ऐसा अबन्धस्वभावी आत्मा का स्वभाव ही नहीं है, समझ में आया? ऐसा कहते हैं। तब वे कहें, देखो! परद्रव्य के कारण बन्ध है.... परन्तु इस स्वद्रव्यस्वरूपी अबन्धस्वरूप में बन्ध नहीं होता, इससे अबन्ध भगवान आत्मा, बन्धपने को परिणमित हो – ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। वह जब परलक्ष्य करके ममता करता है, तब पर्याय में बन्धभाव से परिणमता है। वह तो परद्रव्य के लक्ष्य से परिणमता है। स्वद्रव्य का स्वभाव बन्धरूप परिणमना – ऐसा है नहीं। समझ में आया? यह बड़ी विवाद की गाथा है। आहा...हा...!

यह कहते हैं देखो! द्रव्य का स्वभाव राग (रूप) होने का नहीं है, यह लिखा, देखो! '**राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादियेहिं दव्वेहिं।**' देखो! '**एवं णाणि सुद्धो ण सयं परिणमदि रागमादीहिं।**' देखो! वह द्रव्य स्वयं रागरूप परिणमित होने का उसका स्वरूप ही नहीं है। द्रव्य का स्वभाव होवे ऐसा? वह द्रव्य स्वयं जब पर का लक्ष्य करे, तब पर्याय में पर की ममता आदि (भाव से) पर्याय में रागरूप होता है। वस्तु स्वयं कब होती थी? समझ में आया? इस गाथा का विवाद ठेठ से चलता है, ए... वहाँ से – ईसरी से। विकार होता है, वह निरपेक्ष अपनी पर्याय से होता है। बस, पकड़े गये वे लोग, पकड़े गये।

भगवान आत्मा बन्धस्वभावी है ही नहीं। वह तो स्फटिकमणि जैसा है। देखा? स्फटिक मणि जैसे स्वयं लाल आदि (रूप) परिणमे, वह स्वयं परिणमता है। वह तो

पर्याय में निमित्त के संग से एक समय की दशा (है), बन्धस्वभावी भगवान न होने पर भी पर्याय में – एक अंश में बन्धपना हुआ, वह अबन्धद्रव्य का स्वभाव नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? वह तो पर्यायदृष्टि का परिणमन है, वह द्रव्यदृष्टि में द्रव्य का परिणमन है ही कहाँ? द्रव्यस्वभाव वैसा है ही कहाँ? ऐसा बतलाना है। ओ...हो...! ऐसा सीधा सत्... सत् स्वतः सहज सरल, सतत् सुलभ है।

भगवान आत्मा अकेला स्फटिक जैसा, तीन काल-तीन लोक, काल और क्षेत्र में अपना भाव छोड़कर विकाररूप होवे – ऐसा उसका स्वरूप है ही नहीं। समझ में आया? भाव अर्थात् गुण, शक्ति। वह फिर इन्होंने लिखा है.... ऐसा कुछ नहीं। (जयसेनाचार्य की गाथा का दृष्टान्त दिया है। ३०० से ३०१) २७८ में (अमृतचन्द्राचार्य की टीका में) है। उस स्फटिकमणि में से (उस दृष्टान्त से) आत्मा निकलता है। आहा...हा...! देह में चैतन्य स्फटिकमणिरत्न है। अनादि-अनन्त चैतन्यरत्न स्फटिकमणि है – ऐसी दृष्टि करने से उसे सम्यक् रत्न प्रगट होता है। वह रत्न स्फटिक रत्न है, उसकी दृष्टि करने से सम्यक् रत्न प्रगट होता है। राग की-पुण्य की दृष्टि करने से सम्यक्रत्न होगा? वे (कहाँ) रत्न हैं? रत्न तो यह है। आहा...हा...! समझ में आया?

नौवाँ अग्नि का दृष्टान्त.... **यह आत्मा अग्नि के समान सदा जलता रहता है।** सदा ज्वाजल्यमान ज्योति है। जैसे अग्नि में प्रकाश, दाहक और पाचक गुण है, वैसे ही आत्मा में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रिकाली गुण हैं। समझ में आया? अग्नि, प्रकाशक है; अनाज को पचाती है; ईंधन को जलाती है। दाहक-जलाती है; ऐसे ही भगवान अग्नि के समान हैं, जिसका त्रिकाल स्वभाव चैतन्य का, स्व-पर का प्रकाशित करने का है, पाचक का है, पूर्ण तत्त्व पचा सके – ऐसी ताकत उसमें त्रिकाल पड़ी है, पूर्णानन्द का नाथ मैं परमेश्वर पूरा एक समय में हूँ – ऐसी पचाने की शक्ति उसमें त्रिकाल पड़ी है और उसमें चारित्र नाम का त्रिकाल गुण है कि जो अज्ञान और राग-द्वेष को जलाकर राख करता है – ऐसा उसमें त्रिकाल गुण है। कहो, समझ में आया इसमें? कहो, यह तो दृष्टान्त में से तो समझ में आवे ऐसा है या नहीं? दृष्टान्त में से मिले – ऐसा नहीं भले। हैं? दृष्टान्त में से मिले? दृष्टान्त में से समझ में आये ऐसा है, मैंने ऐसा कहा। कहो, समझ में आया?

अग्नि **किसी भी विषय या पर का आक्रमण होने नहीं देती।** अग्नि (के ऊपर) आक्रमण होता है ? सूक्ष्म जीव आकर उसे दबा दें ? समझ में आया ? जलहल ज्योति... जलहल ज्योति, चैतन्यप्रकाशमय, पाचकमय और दाहकस्वभावमय, उसे कोई आक्रमण करके ढाँक दे – ऐसा वह तत्त्व नहीं है। **जब वह संसार-पर्याय में होता है, तब वह स्वयं ही अपने आत्मिक ध्यान की अग्नि जलाकर अपने कर्ममल को भस्म करके शुद्ध हो जाता है।** लो, ऐसी अनुपम अग्नि, कर्म ईंधन की दाहक। लो ! यहाँ कर्म ईंधन की दाहक (कहा)। जला देती है। **आत्मिक बल की पोषक है, और सदा ज्ञान द्वारा स्व-पर प्रकाशक है।** ऐसा लिया। आत्मबल की पोषक है, यह बल का डाला। **इन नौ दृष्टान्तों से आत्मा को समझकर....** देखो ! ऐसा लिया, दृष्टान्तों से समझकर... दृष्टान्तों में आत्मा नहीं है। **समझकर पूर्ण विश्वास प्राप्त करना चाहिए।** भगवान आत्मा को इन नौ दृष्टान्तों से पहचानकर अपने स्वभाव का पूर्ण विश्वास करना चाहिए। कहो, यह तो सरल बात है या नहीं ? यह दृष्टान्त सरल... समझ में आया या नहीं ? हैं ?

मुमुक्षु – दृष्टान्त भी आप समझाओ (तब समझ में आते हैं)।

उत्तर – लो, समझाओ, तब समझ में आते हैं.... यह ५७ गाथा (पूरी हुई)। यह तो दृष्टान्त थे इसलिए (लम्बी चली)। चालीस मिनिट हो गये।

☆ ★ ☆

देहादिरूप मैं नहीं हूँ – **यही ज्ञान, मोक्ष का बीज है**

देहादिउ जो परु मुणइ, जेहउ सुण्णु अयासु।
सो लहु पावइ बंभु परु, केवलु करइ पयासु॥५८॥

देहादिक को पर गिने, ज्यों शून्य आकाश।
लहे शीघ्र परब्रह्म को, केवल करे प्रकाश॥

अन्वयार्थ – **(जेहउ अयासु सुण्णु)** जैसे आकाश परपदार्थों के साथ सम्बन्धरहित है, असङ्ग अकेला है **(देहादिउ जो परू मुणइ)** वैसे ही शरीरादि को जो अपने आत्मा

से पर जानता है **(सो परू बंभु लहु पावइ)** वही परम ब्रह्मा स्वरूप का अनुभव करता है **(केवल पयासु करइ)** व केवलज्ञान का प्रकाश करता है।

☆ ★ ☆

अब कहते हैं – **देहादिरूप मैं नहीं हूँ – यही ज्ञान, मोक्ष का बीज है।** लो! यह ज्ञान, मोक्ष का बीज है, दुनिया का कोई ज्ञान, मोक्ष का बीज नहीं है। देहादि मैं नहीं – 'देहादि' शब्द है न? (अर्थात्) देह, वाणी, मन, राग, द्वेष, कल्पना – यह इत्यादि मैं नहीं हूँ।

देहादिउ जो परु मुणइ, जेहउ सुण्णु अयासु।
सो लहु पावइ बंभु परु, केवलु करइ पयासु॥५८॥

जैसे शून्य आकाश.... इस आकाश को किसी भी पदार्थ का सम्बन्ध दिखने पर भी, इसे सम्बन्ध नहीं है। उसी प्रकार भगवान आत्मा देह, वाणी, कर्म, यह माता-पिता, कुटुम्ब-कबीला, बाहर का क्षेत्र, काल का संयोग दिखता है परन्तु उस संयोग में आत्मा है ही नहीं, प्रत्येक संयोग से आत्मा निराला है। जैसे आकाश व्यापक है, निर्मल है; उसमें सभी पदार्थ इकट्ठे पड़े दिखते हैं, तथापि आकाश उससे भिन्न है। आकाश कभी उन परपदार्थरूप हुआ नहीं है और परपदार्थ, आकाशरूप हुए नहीं हैं। कहो, समझ में आया?

आकाश परपदार्थों के सम्बन्धरहित है, असंग.... अकेला है; वैसे ही भगवान आत्मा अभी और त्रिकाल, राग के सम्बन्ध में, माता-पिता, कुटुम्ब, स्वजन-बैरी-शत्रु.... समझ में आया? कर्म, उसके मध्य में रहा हुआ तत्त्व, तथापि उनके साथ से बिल्कुल भिन्न है, बिल्कुल भिन्न है। कुछ लेना या देना... पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। कहो, समझ में आया? आकाश में इतने-इतने बादल होते हैं, कितने पंच रंगी... मूसलधार वर्षा पड़े, आकाश को कुछ लेना-देना नहीं। इसी प्रकार भगवान आत्मा आकाश के समान निर्लेप असंग और भिन्न है, उसे भिन्न पदार्थ जितने-जितने कहे जाते हैं – दया, दान के विकल्प से लेकर जितने पर (पदार्थ), उन्हें और इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। ओहो...हो...! ऐसे आत्मा को अन्दर अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन और ज्ञान है।

मुमुक्षु – आकाश में कुछ विक्रिया होना सम्भव नहीं है।

उत्तर – परन्तु किसकी विक्रिया ? आकाश में होती है ? वैसे ही आत्मद्रव्य में नहीं। पर्याय भी एक समय की कृत्रिम अवस्था है, वह कहाँ त्रिकाली तत्त्व है ? वह तो आस्रवतत्त्व है, वह कहीं आत्मद्रव्य नहीं है।

मुमुक्षु – इसकी है।

उत्तर – नहीं, नहीं.... इसकी है ही नहीं – ऐसा है यह। विकृत अवस्था, वह आस्रवतत्त्व है; आत्मतत्त्व नहीं। कहो, समझ में आया ? पर्याय भले वह, परन्तु पर्याय अर्थात् आस्रवतत्त्व। भगवान ज्ञायकतत्त्व.... आकाश को और पर को कुछ सम्बन्ध नहीं है, अग्नि का भवका आकाश में हो, हड.... हड... हड... हड... हड... (होते) हों, आकाश को कुछ सम्बन्ध है ? अग्नि का और उसका कुछ सम्बन्ध है ? किसको ? आकाश को। पूरा बड़ा पर्वत जले, लगातार ऐसी श्रेणी, हाँ ! जलते हों। आकाश को कुछ सम्बन्ध नहीं है। भगवान-आकाश, अरूपी आकाश के समान असंख्य प्रदेशी निर्लेप, असंग है।

यह शरीर बड़ा फोड़ा पूरा है। लो यह.... शरीर स्वयं ही फोड़ा है। इस फोड़े में चाहे जैसा भभका हो तो आत्मा को कुछ स्पर्श करे – ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? कहते हैं न ? एक अंगुल में छियानवें रोग.... कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं न ? शरीर के एक अंगुल में छियानवें रोग.... परन्तु वे रोग शरीर में हैं, आत्मा को छूते ही नहीं न ! आकाश पड़ा है, वहाँ भड़का हो, वह भड़का आकाश को छूता ही नहीं न ! आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा चैतन्य ज्योत भड़का आकाश के समान अरूपी असंग, उसे यह देहादिक का शरीर आदि.... शरीर आदि (शब्द से) वाणी, मन, सब अपने आत्मा से पर जानता है, वह पर है, पर है। मुझे और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा हो परन्तु आकाश (के साथ) पर का एकपना नहीं होता। वैसे ही आत्मा को-सम्यग्ज्ञानी को – इसे और मुझे कुछ (लेना-देना नहीं)। पर, वह सब अलग, निराले रहे हैं, शामिल कभी हुए ही नहीं। छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा दिखे, हीरा-माणिक के ऐसे बड़े हार पहने हों....

चैतन्य-आकाश को वे चीजें, असंग को संग करती नहीं, वे असंग का संग करती नहीं। आहा...हा...! स्वयं असंग चीज, पर का संग नहीं करता और संगवाली चीज असंग को स्पर्श नहीं करती – ऐसा आकाश के समान भगवान आत्मा, असंग और निर्लेप – पर से भिन्न है, लो! बड़ी उपमा दे दी।

'सो परु बंभु लहु पावइ' अनेक संग के प्रसंग में रहा होने पर भी, स्वभाव (तो) संग-प्रसंग रहित है, असंग है। समझ में आया? ऐसी दृष्टि करनेवाले को परमब्रह्म परमात्मा प्राप्त होता है। समझ में आया? यह तो अकेला मक्खन है। योगसार है न? आहा...हा...!

मुमुक्षु – दृष्टान्त ऐसा है न कि प्रत्यक्ष तत्काल अनुभव हो परन्तु यह करता नहीं है।

उत्तर – यहाँ भी कितनी हौंश की है? ऐसा चुपड़ना और ऐसा फूलाफाला दिखे वहाँ, भाईयों को और लड़कों को हौंश दिखावे। मानो हमने कितने काम किये! कितने करते हैं? देखो! तुम्हें ऐसा करना, तब हमने बड़प्पन लिया है और तुम मुझे बड़प्पन देते हो.... बाहर में भी ऐसे फूले-फूले.... देखो, यह सब काम करते हैं। देखो, ऐसा करते हैं, हाँ! हम अकेले ऐसे नहीं निभते, तुम्हारे आश्रय से निभते नहीं। हम अपने उससे निभते हैं... ऐसा है, ऐसा है। धूल-धाणी और वाह पानी.... ऐ... मोहनभाई! इसमें जैसे हौंश है... ऐसा यहाँ कहना है। ऐसी अपनी हौंश दूसरे को बताकर स्वयं अधिक हूँ – ऐसा जो कहना चाहता है, ऐसा यहाँ रागादि से मेरी हौंश बताना? ज्ञानादिक से मैं अधिक हूँ, ज्ञानादिक से मैं अधिक हूँ, राग से अधिक हूँ नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

परमब्रह्म स्वरूप का अनुभव करता है.... केवलु पयासु वह **केवलज्ञान का प्रकाश करता है।** आकाश जैसा भगवान आत्मा.... अरे... दृष्टान्त भी कैसे! सिद्धान्त को सिद्ध करें वैसे! आहा...हा...! समझ में आया? कहो, समझ में आया?

जैसे आकाश में एक ही क्षेत्र में.... एक ही क्षेत्र में आत्मा आकाश है, वहाँ एक क्षेत्र में धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल दूसरे जीव, जड़, परमाणु, पुद्गल, नारकी, देव, तीव्रतम नारकी के दुःख, बाहर की अनुकूलता का पार नहीं – ऐसे स्वर्ग के सुख, ये आकाश को छुएँ या आ मिलें, (ऐसा) कुछ नहीं होता। इसी प्रकार भगवान सर्व व्यापक

जहाँ हो, वहाँ जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला.... ऐसा भगवान सर्व व्यापक आत्मा, वह चाहे नरक के संयोग की दशा में हो, स्वर्ग के अनुकूल की दशा में हो, शरीर का तीव्रतम (रोग) हो, रोग से शरीर सड़ता हो, उसे कुछ छूता या अड़ता नहीं है। आहा...हा...! ऐसा आकाश की तरह आत्मा पर से अत्यन्त असंग है – ऐसी दृष्टि, अनुभव करने से उसे परमब्रह्म परमात्मा अपना स्वरूप प्राप्त करता है और क्रम से केवलज्ञान पाता है, यह उसका उपाय है। कहो, समझ में आया इसमें ?

जिसमें अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल **उनकी परिणति से आकाश में कोई विकार या दोष नहीं होता....** आता है ? कोई गाली दे, तलवार से मार डाले, खून करे, उसमें आकाश को कुछ है ? **आकाश उससे बिल्कुल शून्य है....** उनसे बिल्कुल शून्य **निर्लेप, निर्विकार बना रहता है, कभी भी उनके साथ तन्मय नहीं होता**। छठी गाथा में कहा है न ? ज्ञायक तो ज्ञायकभाव ही रहा है, कभी जड़ नहीं हुआ। जड़ अर्थात् विकल्परूप नहीं हुआ, ऐसा। विकल्प, अचेतन है। चैतन्य के प्रकाश का तेज-सत्व, वह अचेतन विकल्परूप कब होगा ? अकेला चैतन्य का रसकन्द शाश्वत् सत्व, उसे विकल्प जो अचेतन जाति है, उसरूप ज्ञायक कभी नहीं होता। चैतन्य मिटकर तीन काल-तीन लोक में जड़ नहीं होता – ऐसे आत्मा को अन्तर्दृष्टि और ज्ञान में लेना, वह परमात्मपद प्राप्ति का उपाय है। यह योगसार है, देखो !

ऐसा हूँ, आकाश के समान। बाद की गाथा में यह कहेंगे, आकाश जड़ है और यह चैतन्य है – इतना अन्तर है, बाद की गाथा में कहते हैं। समझ में आया ? ५९ में कहते हैं न ? यहाँ तो आकाश की उपमा दी है न ?

जेहउ सुद्ध अयासु जिय, तेहउ अप्पा वुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिय, अप्पा चेयणुवंतु॥५९॥

यह बाद में आयेगी। इसके साथ सन्धि करते हैं न ? समझ में आया ? आकाश की सत्ता अलग और आकाश में रहनेवाले पदार्थ की सत्ता अलग है न ? या एक है ? यह स्त्री, पुत्र और राग की सत्ता तथा आत्मा की सत्ता एक होगी या अलग ? हैं ? सब इकट्ठे रहे होंगे

या एक (होकर रहे होंगे) ? यहाँ (अलग) कहते हैं, वहाँ घर जाये तो पता पड़े इसे। वह 'पूनमचन्द' कहे, बापूजी! मैं कुछ तुम्हारा धर्म छोड़ूँगा नहीं, हाँ! आहा...हा...!

ज्ञानी को समझना चाहिए कि आत्मा आकाश के समान अमूर्तिक है, आत्मा के सर्व असंख्यात प्रदेश अमूर्तिक है.... यह कुछ नहीं। आधार-आधार की बात नहीं, वे तो अलग रही हुई चीजें हैं। यहाँ अलग चीज भले तैजस और कार्माण (शरीर) रहे परन्तु वे अलग के अलग ही। आधार-फाधार आत्मा की पर्याय का भी उन्हें नहीं है। समझ में आया ? भिन्न-भिन्न है। लो!

कषाय की मन्दता, तीव्रता का भाव, उससे भी आत्मा अत्यन्त भिन्न है। **मेरा कोई सम्बन्ध मन-वचन-काया की क्रिया के साथ नहीं है।** लो, वे कहते हैं, मन -वचन और काया की क्रिया से आत्मा को बन्ध होता है और धर्म होता है। हैं ? आहा...हा...! मन, वचन और काया की क्रियाओं के साथ मुझे और उसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध नहीं इसलिए धर्म नहीं और सम्बन्ध नहीं उससे बन्ध भी नहीं। आहा...हा...! **मैं बिल्कुल पर के मोह से शून्य हूँ, मैं परम वीतरागी और निर्मल हूँ।** ऐसा ठीक लिखा है। **जगत् में मेरे आत्मा को कोई माता-पिता है न कोई पुत्र है, न मित्र है, न कोई स्त्री है, न बहिन है, न पुत्री है, न कोई मेरे आत्मा का स्वामी है, न मैं किसी का स्वामी हूँ, न मैं किसी का सेवक हूँ, नहीं मेरा कोई सेवक है, न मेरा कोई गाँव है, न धाम है....** गाँव भी नहीं और धाम भी नहीं। **न कोई वस्त्र है न आभूषण है।** लो!

मुझे परवस्तु के साथ किसी भी प्रकार का रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। आहा...हा...! देखो! यह भेदज्ञान है, यह भेदज्ञान है। है, वैसा ज्ञान, ऐसा। भेदज्ञान अर्थात् ? जैसी चीजें पृथक् है, वैसा उनका ज्ञान (होना), उसका नाम भेदज्ञान है। **मुझमें समस्त पर का अभाव है, समस्त पर में मेरा अभाव है।** मुझमें पर का अभाव और पर में मेरा अभाव है। **विश्व के अनन्त संसारी और सिद्धात्माओं....** जगत् के – संसार के अनन्त जीव या सिद्ध के **अपने मूल स्वभाव से मेरे आत्मा के स्वभाव जैसे ही हैं। तो भी मेरी सत्ता भिन्न ही है....** भले अनन्त सिद्ध और अनन्त संसारी मेरी सत्ता जैसे हैं, शुद्ध सत्ता

जैसे हैं, तथापि मेरी शुद्ध सत्ता से वे निराले हैं। एक नहीं कुछ, शुद्ध सत्ता एक नहीं हो जाती है। आहा...हा...! कहो, समझ में आया?

मेरे ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, चेतना आदि गुण, निराले है, मेरा परिणमन निराला है.... उनके गुण निराले उनका परिणमन निराला, मेरे गुण निराले, मेरी परिणति निराली... **समस्त आत्माओं का परिणमन निराला है। मैं अनादि काल से अकेला ही रहा हूँ और अनन्त काल तक अकेला ही रहनेवाला हूँ।**

अनादि संसार भ्रमण में मेरे साथ अनन्त पुद्‌गलों का संयोग हुआ परन्तु वे सब मुझसे दूर रहे हैं। लो! **जैसे सूर्य के ऊपर बादल आने पर भी सूर्य अपने तेज में प्रकाशवान रहता है....** सूर्य पर वर्षा बरसे तो सूर्य को कुछ होगा? बादल-बादल से (कुछ होता होगा) **संसार अवस्था में अनेक माता-पिता, भाई-पुत्र के साथ सम्बन्ध प्राप्त किया परन्तु वे सब मुझसे भिन्न ही रहे हैं....** लेना या देना कुछ नहीं था। **बहुत परपदार्थों का संग पाया परन्तु वे मेरे नहीं हुए....** एक रजकण भी अपना नहीं हुआ। दो भाई तो, 'डण्डे मारने से पानी अलग नहीं पड़ता' ऐसा लोग कहते हैं। कैसे होगा? पाँच भाई भिन्न हो गये, तुम्हारे लड़के भी अलग हो गये। अलग तो अलग ही होंगे न! अलग हों वे अलग ही होंगे। आहा...हा...! **मैं उनका नहीं हुआ।** लो! **'देहादिउ जो परु मुणइ'** देहादि पर का अनुभव कर, पररूप है, ऐसा। तू तेरा चैतन्यमूर्ति है – ऐसा अनुभव कर। **इसलिए मुझे ऐसी ही दृढ़ श्रद्धा रखनी चाहिए कि मैं सदा रागादि विकारों से शून्य रहा था, अभी भी हूँ और भविष्य में भी (शून्य) रहूँगा।** लो! फिर परमात्मप्रकाश का दृष्टान्त दिया है, तत्त्वानुशासन का दृष्टान्त दिया है। लो! समझ में आया? बस! दो हुए, ५९ वीं कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आकाश के समान होकर भी मैं सचेतन हूँ

जेहउ सुद्ध अयासु जिय, तेहउ अप्पा वुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिय, अप्पा चेयणुवंतु॥५९॥

जैसे शुद्ध आकाश है, वैसे ही शुद्ध जीव।
जड़रूप जानो व्योम को, चेतन लक्षण जीव॥

अन्वयार्थ – **(जिय)** हे जीव! **(जेहउ अयासु सुद्ध तेहउ अप्पा वुत्तु)** जैसा आकाश शुद्ध है वैसा ही आत्मा कहा गया है **(जिय आयासु वि जडु जाणि)** हे जीव! आकाश को जड़ अचेतन जान तथा **(अप्पा चेयणुवंतु)** आत्मा को सचेतन जान।

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल १२, बुधवार, दिनाङ्क २९-०६-१९६६
गाथा ५९ से ६२ प्रवचन नं. २१

यह योगसार शास्त्र है। ५८ गाथा हुई। ५८ गाथा में ऐसा कहा था – जैसे आकाश है, (वह) परपदार्थ से शून्य है, ऐसे यह आत्मा परपदार्थ से शून्य है। आकाश में अनेक पदार्थ रहते दिखते होने पर भी, वे अनेक पदार्थ, पदार्थ में रहे हैं, आकाश में नहीं; इसी प्रकार भगवान आत्मा के साथ राग-द्वेष, शरीर, कर्म आदि संयोगी चीजें, या संयोगी भाव दिखते हैं परन्तु जैसे, आकाश में पर नहीं है, वैसे ही आत्मा में वे परपदार्थ नहीं है। समझ में आया? मात्र अन्तर क्या है? – वह बात यहाँ करते हैं।

आकाश-समान होने पर भी मैं सचेतक हूँ। आकाश में पर नहीं है परन्तु वह आकाश अचेतन है और यह आत्मा ज्ञान, चैतन्यस्वभाव जीव है। उस आकाश में चैतन्यस्वभाव नहीं है – यह बात करते हैं।

जेहउ सुद्ध अयासु जिय, तेहउ अप्पा वुत्तु।
आयासु वि जडु जाणि जिय, अप्पा चेयणुवंतु॥५९॥

हे जीव! जैसा आकाश शुद्ध है, वैसा ही आत्मा शुद्ध है – ऐसा कहा है। आकाश अत्यन्त बादलों से... पंचरंगी बादल हो या पाँच अन्य द्रव्य उसमें हों, परन्तु उनके रंग से वह आकाश रंगा हुआ नहीं है; इसी तरह आत्मा, विकार या संयोग या परचीज से रंगा हुआ नहीं है। वह आकाश शुद्ध है, वैसे आत्मा शुद्ध है – उसका एकाग्र होकर ध्यान करना, इसे योगसार कहते हैं। समझ में आया?

हे जीव! आकाश को जड़-अचेतन जान। अन्तर इतना। शुद्ध तो दोनों हैं, कहते हैं। आकाश भी शुद्ध है, ऐसे आत्मा भी शुद्ध हैं। आकाश जड़ शुद्ध है; (आत्मा) चैतन्य शुद्ध है। ज्ञानमूर्ति परम ब्रह्म अनादि-अनन्त – ऐसा आत्मा शुद्ध, आकाश की तरह (शुद्ध है) परन्तु आकाश जड़ और यह चैतन्य है। आकाश, आकाश का ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, जड़ है। आकाश शुद्ध होने पर भी, आकाश, आकाश का ध्यान करे – ऐसा उसमें है नहीं; और आत्मा आकाश के समान शुद्ध होने पर भी, वह ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञान का ध्यान कर सकता है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु – शुद्ध को ध्यान करने की आवश्यकता ही कहाँ है?

उत्तर – शुद्ध को ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है, शुद्ध तो द्रव्य है। क्या कहा? शुद्ध तो द्रव्य हुआ, परन्तु पर्याय में शुद्धता के लिये?

मुमुक्षु – आकाश को ध्यान करना रहता ही नहीं।

उत्तर – आकाश को ध्यान करना नहीं रहता, जड़ है, इसलिए – ऐसा कहा। शुद्ध तो वह भी है; इसके लिए तो यह अन्तर कहा है। आकाश शुद्ध है और आत्मा भी शुद्ध है; दोनों में – शुद्ध में अन्तर है। उसे (आकाश को) शुद्धता का ध्यान करने का गुण नहीं है और यहाँ शुद्धता भरी हुई है, यह ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है; इसलिए उस शुद्धात्मा का ध्यान करने योग्य है – ऐसा कहना है। शुद्ध है, इसलिए ध्यान करे – ऐसा नहीं; चेतन नहीं है, इसलिए ध्यान करने के योग्य नहीं है। समझ में आया? देवानुप्रिया! ये तर्क अलग प्रकार के हैं।

ऐसा कहते हैं कि शुद्ध है, उसे क्या ध्यान (करने का है) ? शुद्ध है। ध्यान जड़ को नहीं (होता), इसीलिए तो दोनों का अलग किया है। आकाश शुद्ध है, चैतन्य शुद्ध है; चैतन्यजीव शुद्ध है परन्तु जीव शुद्ध है, वह चैतन्य है – चेतनेवाला है। क्या ? चेतनेवाला है, जाननेवाला है, एकाग्र होनेवाला है, चेतने के योग्य है – ऐसा कहते हैं। पाठ है न ? **'चेयण वंतु'** – वह चेतनवंत है। समझ में आया ? भगवान आत्मा (को) आकाश के समान शुद्ध कहा, परन्तु आकाश तो जड़ है। उसे कहाँ मैं शुद्ध हूँ – ऐसा समझना है ? यह तो चैतन्य है, वह शुद्ध है – ऐसा चैतन्य जागृत होकर शुद्ध का ध्यान करे, तब पर्याय में शुद्धता प्रगटती है – ऐसा जड़ और चैतन्य में अन्तर है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह चेत सकता है। जड़ में चेतना कहाँ है ? अपना चैतन्य शुद्धस्वरूप, उसे चेत सकता है, जान सकता है, जागृत होकर ध्यान कर सकता है, उसमें लीन हो सकता है; इसलिए चैतन्य, आकाश की शुद्धता की अपेक्षा से, इस अपेक्षा से पृथक् पड़ा। समझ में आया ?

आकाश भी द्रव्य है और आत्मा भी द्रव्य है, तथापि द्रव्यपने की अपेक्षा से भले समान हो... समझ में आया ? सर्व द्रव्यों में छह सामान्यगुण तो समान है। सामान्यगुण हैं। (वे) इसमें नहीं लिखे होंगे। अस्तित्वगुण आकाश में भी है और आत्मा में भी है – ऐसा कहते हैं। **सभी द्रव्य सदा हैं और सदा शाश्वत् रहेंगे।** आकाश भी सदा से है और सदा रहनेवाला है; आत्मा भी सदा से है और सदा रहनेवाला है; तथापि दोनों में अन्तर क्या है ? – वह यहाँ बतलाया है। समझ में आया ?

द्रव्यत्व है, स्वभाव और विभावदशा उसमें हुआ करती है। किसमें ? आत्मा में और पर में-सब में, जिसकी योग्यता हो उसमें। द्रवता, द्रवता है। समझ में आया ? परमाणु भी स्वभावरूप परिणमता है, पुद्गल विभावरूप परिणमता है, दूसरे चार (द्रव्य) तो स्वभावरूप (परिणमते हैं) परन्तु ऐसे द्रव्यत्वगुण के कारण परिणमित होना, प्रत्येक द्रव्य का सामान्य धर्म है परन्तु इसका (आत्मा का) धर्म अलग प्रकार का है – ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया ?

प्रमेयत्व.... **सभी द्रव्य सर्वज्ञ द्वारा जानने योग्य हैं।** सभी द्रव्य प्रमेयत्व हैं। सभी पदार्थ ज्ञात होने योग्य हैं परन्तु जाननेवाला यह चैतन्य अकेला है। समझ में आया ? आत्मा

को आकाश के समान कहा परन्तु आकाश सर्वज्ञ से ज्ञात होने योग्य है, इससे (स्वयं से) ज्ञात होने योग्य वह नहीं है। समझ में आया? समानता में अन्तर है, ऐसा। सर्वज्ञ से ज्ञात हो ऐसे आकाशादि हैं। आत्मा भी सर्वज्ञ में (सर्वज्ञ के ज्ञान में) ज्ञात होता है, परन्तु आत्मा को स्वयं, स्वयं से ज्ञात हो ऐसा है। समझ में आया? सर्वज्ञ से ज्ञात ऐसा आत्मा तो है, आकाश भी वैसा है। यह आत्मा तो सचेतन होने के कारण स्वयं अपने से ज्ञात होने योग्य है, यह (गुण) आकाश में नहीं है। समझ में आया?

वस्तुत्व रह गया, देखो! **सभी द्रव्य अपना-अपना कार्य स्वतन्त्ररूप से करते हैं।** आकाश आदि सभी द्रव्य अपनी पर्याय का कार्य वस्तुत्व गुण के कारण स्वतन्त्र करते हैं। लो, यह एक समझे तो इसमें सब समाहित हो जाता है। कोई किसी को करता नहीं है, वस्तुत्व गुण के कारण आकाश और आत्मा, पुद्गल और आत्मा – ऐसे सभी द्रव्य, अपनी-अपनी पर्याय का कार्य करते हैं। कार्य करते हैं, आकाश भी करता है, आत्मा भी करता है परन्तु आत्मा में अन्तर है। आत्मा सचेतन होकर करता है। समझ में आया? जानकर जानने का, ज्ञान-दर्शन आनन्द के काम को करता है, वह दूसरे में है नहीं। समझ में आया?

अगुरुलघुत्व.... **सभी द्रव्य अपने-अपने गुणपर्यायों को ही अपने में रखते हैं।** अपने-अपने गुणपर्यायों को रखते हैं। यह तो आकाश भी अपने गुणपर्यायों को रखता है, आत्मा भी अपने गुणपर्यायों को रखता है परन्तु यह जाननेवाला होकर रखता है, इतना अन्तर है। समझ में आया? सचेतन भगवान अपने गुणपर्याय को ज्ञान द्वारा साधकर अपने में रखता है, ऐसा एक स्वभाव चैतन्य में है, वह आकाश में नहीं है। देखो! आकाश बड़ा है, उसके साथ उपमा दी है। आकाश सर्व व्यापक है न? आकाश सर्व व्यापक है, उसके साथ (उपमा) दी है। आकाश जैसा आत्मा है, आकाश शुद्ध है ऐसा यह शुद्ध है। (आकाश) क्षेत्र से सर्व व्यापक है, यह चैतन्यभाव से सर्व को जाननेवाला सर्वव्यापी है। समझ में आया?

प्रदेशत्व.... प्रत्येक (द्रव्य) अपना कोई भी आकार रखता है, कोई जगह घेरता है या नहीं? कोई भी पदार्थ जगह घेरता है, तो आकाश भी जगह को घेरता है, आत्मा भी

जगह को घेरता है, परमाणु जगह को घेरता है, परन्तु अन्तर है। जगह घेरते हैं – इस अपेक्षा से समान है परन्तु जानने के-सचेतन अपेक्षा से अन्तर है – ऐसा सिद्ध करना है। घेरता है, वह ज्ञान अपने को जानता है; घेरते हैं, वे जड़ जानते नहीं – इतने क्षेत्र में असंख्यात प्रदेशी घेरे हुए हैं, वह चेतन जानता है। जड़ जानेगा जड़ को? शुद्ध की समानता एक अपेक्षा से होने पर भी उन दोनों में बड़ा सचेतनपने का अन्तर है। आहा...हा...! समझ में आया?

थोड़ी स्वभाव की बात की है। सभी द्रव्य भावपने का स्वभाव रखते हैं। आकाश भी अपने भावपने को रखता है न? आत्मा भी अपने भावपने को, अस्ति, अस्तिभावपने (को) रखता है न? भावपने को रखता है, तथापि अन्तर है – ऐसा है। भावपना रखने में अन्तर नहीं परन्तु दूसरे ज्ञान और आनन्द में अन्तर है इसमें। जानना, आनन्द को जानना और आनन्द का वेदन करना, यह तो आत्मा में ही है। समझ में आया? हैं? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु – इतने स्पष्टीकरण के बाद समझ में आया?

उत्तर – स्पष्टीकरण करो, पण्डितजी! यह क्या कहते हैं? इतना समझाने के बाद समझ में आया? ऐसा निमित्त से फिर समझ में आया, पहले नहीं समझ में आता था – ऐसा कहते हैं।

परद्रव्यों के स्वभावों का परस्पर में अभाव है। दूसरे की सत्ता दूसरे में नहीं है। आत्मा में दूसरे पदार्थ की सत्ता नहीं है, आकाश में भी दूसरे पदार्थ की सत्ता नहीं है, इस प्रकार समान है। इसमें भी दूसरे पदार्थ का अभाव है; भगवान आत्मा में भी परद्रव्यों का अभाव है, पर में परद्रव्य का अभाव है परन्तु अन्तर इतना कि यह (आत्मा) सचेतनपना (रखता है)। **'अप्पा चेयणु वंतु'** चेतनवन्त। यह चेतनवन्त जाननेवाला भगवान है। यह शक्तियाँ कही, स्वभाव कहा, सभी गुण कहे परन्तु उनका जाननेवाला एक आत्मा है। दूसरे गुणों को उन्हें (स्वयं को) पता नहीं – ऐसा आत्मा में भी दूसरे गुण भले हों परन्तु वे जाननेवाले नहीं। समझ में आया? चेतनवन्त यह एक ही गुण इसका है कि स्वयं जाननेवाला है।

कायम रहने की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य नित्य है। आत्मा भी नित्य है, वह भी नित्य

है परन्तु नित्य-नित्य में अन्तर है। यह जानकर नित्य है – ऐसा जानता है, वे जाने बिना (अचेतनरूप से) नित्य रहते हैं। समझ में आया?

अनित्य स्वभाव... प्रत्येक पदार्थ पलटता है। प्रत्येक पदार्थ पलटता है, यह आत्मा स्वयं भी पलटता है और पर भी पलटते हैं, पलटने-पलटने में अन्तर है। जाननेवाला ज्ञान जानकर ज्ञान में पलटता है। समझ में आया?

एक स्वभाव... अनेक गुण होने पर भी वस्तु एक है न? प्रत्येक आत्मा या प्रत्येक परमाणु.... गुण-पर्याय भले हो परन्तु वस्तु एक है। इस अपेक्षा से एक स्वभाव तो सबमें समान है। एक स्वभाव समान होने पर भी जानपने में (अन्तर है)।

अनेक स्वभाव समान हैं। **सर्व द्रव्य अनेक स्वभावोंवाले होने से अनेकरूप है।** गुण-पर्याय अनेक स्वभाव है या नहीं? आकाश में, परमाणु में अनेक स्वभाव है, गुण-पर्याय है। आत्मा में भी अनेक स्वभाव है, गुण-पर्याय है। अनेक स्वभाव होने पर भी अनेक स्वभाव से समान है, तथापि ज्ञानस्वभाव से अन्तर है। समझ में आया?

भेदस्वभाव.... गुण-गुणी संज्ञा, लक्षण, भेद इनका स्वभाव है। प्रत्येक में भेद स्वभाव है, आत्मा में भेदस्वभाव है, पर में भेदस्वभाव है तथापि ज्ञानस्वभाव से भेद है।

अभेदस्वभाव... **सर्व द्रव्यों में गुणस्वभाव सर्वांग, अखण्ड रहता है। एक-एक प्रदेश में सर्व गुण होते हैं। इसलिए अभेदस्वभाववान् है।** सभी प्रदेश कहीं भिन्न नहीं है; सभी प्रदेश अखण्ड है, इस अपेक्षा से अभेदस्वभाव है। इसी तरह आत्मा में भी अभेद स्वभाव है परन्तु वह अभेदस्वभाव जाननेवाला है। यह अभेद है – ऐसा जाननेवाला है। अन्य को अभेदस्वभाव है, इसका पता नहीं है। कहो, समझ में आया?

भव्यस्वभाव... **सभी द्रव्य अपने स्वभाव में ही परिणमने की योग्यता रखते हैं।** आकाश भी अपने स्वभाव में अपने स्वभाव से परिणमित होने की योग्यता रखता है, आत्मा भी अपने में स्वभाव से परिणमित होने की योग्यता रखता है। योग्यता रखने पर भी, एक समानता होने पर भी ज्ञान-दर्शन, आनन्द से अन्तर है। यहाँ सचेतन की एक बात की है, जाननेवाला, जाननेवाला... उसे भी जाननेवाला, यह मैं मुझरूप रहने योग्य हूँ – ऐसा ज्ञान जानता है। जड़ में वह स्वभाव नहीं है।

अभव्यस्वभाव... **समस्त द्रव्य परद्रव्य के स्वभावरूप कभी नहीं हो सकते।** कोई पदार्थ... सब अभव्य हैं। सब द्रव्य भव्य है और सब द्रव्य अभव्य है। भव्य अर्थात् अपने स्वभाव में रहने की योग्यतावाले हैं। अभव्य अर्थात् पररूप नहीं होने की योग्यता है, पररूप नहीं होने की योग्यता है।

परमस्वभाव... भगवान आत्मा और प्रत्येक में (प्रत्येक द्रव्य में) परमस्वभाव है। परमपारिणामिकभाव से परमस्वभावी सभी पदार्थ हैं। परमाणु भी परमस्वभावी हैं, आकाश भी परमस्वभावी-पारिणामिकभाव से परमस्वभावी है। यह परमस्वभावी होने पर भी ज्ञान वह स्वयं आत्मा को जाननेवाला परमस्वभाव, यह ज्ञान की विशेषता है। कहो, समझ में आया?

सामान्यगुण और स्वभावों की अपेक्षा से जीवादि छहों द्रव्य समान हैं परन्तु विशेषगुणों की अपेक्षा से उनमें अन्तर है। बड़ा अन्तर है, दूसरों में इसके जाति के गुण हैं। जीव द्रव्य में ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, चेतना, सम्यक्त्व चार विशेष गुण हैं, वे आत्मा में ही हैं। जानना, प्रतीति करना, स्थिरता करना, आनन्द। वीर्य तो दूसरे में भले हो। आकाशादि पाँच द्रव्यों में वह नहीं है। आकाश, यह पाँच द्रव्य जड़-अचेतन हैं, आत्मा सचेतन है। **मूलस्वभाव से सभी द्रव्य शुद्ध है।** लो, यह शुद्ध आया तुम्हारा। शुद्ध है, उसे क्या ध्यान करना रहा? परन्तु यह शुद्ध है, उसे ध्यान करना है – ऐसा कहते हैं। उसका ज्ञान करना है।

जैसे आकाश निर्मल है, वैसे ही यह आत्मा निर्मल है। धर्मी को उचित है कि **स्वानुभव प्राप्त करे....** लो, अपना स्वभाव शुद्ध है – ऐसा अनुभव से प्राप्त करे। जड़ को शुद्धता है, उसे क्या प्राप्त करना? वह तो प्राप्त है ही। यह तो शुद्ध चैतन्य आनन्द... मूल चैतन्य आनन्द को अपने ध्यान द्वारा प्राप्त करे। ऐसा स्वभाव आत्मा में है। कहो, समझ में आया? **यही निर्वाण का उपाय है।** लो, यह एक ही मोक्ष का उपाय है। कौन सा? स्वानुभव प्राप्त करे, वह निर्वाण का उपाय है। दूसरे में वह स्वानुभव है नहीं। मुक्ति का उपाय भगवान आत्मा चेतन होने से चेतनरूप जागृत होकर अपना अनुभव करे, वही अपनी मुक्ति का उपाय है। परद्रव्य भले उसमें नहीं, इस अपेक्षा से सब समान होने पर ही

उसमें ध्यान करके एकाग्र होकर केवलज्ञान हो सकता है। ऐसा यदि स्वरूप होवे तो वह चेतन में ही है। जड़ में, शरीर में, वाणी में है नहीं। कहो, समझ में आया?

☆ ★ ☆

अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है

णासग्गिँ अब्भिंतरहँ, जे जोवहिँ असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिँ, पिवहिँ ण जणणी-खीरु॥६०॥

ध्यान धरे अभ्यन्तरे, देखत जो अशरीर।
मिटे जन्म लज्जा जनक, पिये न जननी क्षीर॥

अन्वयार्थ – **(जे णासग्गि अब्भिंतरहं असरीरू जोवहिँ)** जो ज्ञानी नासिका पर दृष्टि रखकर भीतर शरीरों से रहित शुद्ध आत्मा को देखते हैं **(बाहुडि जम्मि णं संभवहिं)** वे फिर बारम्बार जन्म नहीं पाएँगे **(जणणी खीरू ण पिवहिं)** वे फिर माता का दूध नहीं पियेंगे।

☆ ★ ☆

६०.... **अपने भीतर ही मोक्षमार्ग है**। यह मोक्षमार्ग आत्मा में है।

णासग्गिँ अब्भिंतरहँ, जे जोवहिँ असरीरु।
बाहुडि जम्मि ण संभवहिँ, पिवहिँ ण जणणी-खीरु॥६०॥

जो ज्ञानी नासिका पर दृष्टि रखकर.... (नासिका पर अर्थात्) अन्तर्मुख दृष्टि रखकर... नासिका को एक बाहर का निमित्त लिया है। समझ में आया? **'णासग्गिं'** अर्थात् अन्तर उग्ररूप से ध्यान रखकर.... **दृष्टि रखकर अन्दर शरीररहित....** भगवान आत्मा आकाश के समान वहाँ गिना, तथापि चेतन कहा, उसे अब यहाँ ध्यान (करने का) कहते हैं। ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा, उसमें अभ्यन्तर मुख्य ज्ञानानन्द को अग्र बनाकर अन्तरध्यान करे तो उसका मोक्षमार्ग अन्तर में ही है। समझ में आया? धर्मी जीव नासिका पर दृष्टि अर्थात् अन्तर (स्वरूप) पर दृष्टि रखकर... मुख्य वस्तु जो है, उस पर दृष्टि

रखकर **अन्दर शरीररहित....** अर्थात् अन्दर में शरीररहित ऐसे आत्मा को शुद्ध कुन्दन समान बनाता है। लो, स्वर्ण समान बनाता है।

जो मोक्ष प्राप्ति के अनुकूल शरीर आदि सामग्री... यह कुछ नहीं। **तो वह साधक उसी भव में और नहीं तो....** जब तक ऐसे निमित्त नहीं, वहाँ तक ऐसा पुरुषार्थ भी नहीं, ऐसा लेना। कहो, समझ में आया? आत्मा को देखता है, लो! शरीररहित शुद्ध आत्मा को देखता है। **फिर बारम्बार जन्म धारण नहीं करता।** भगवान आत्मा ज्ञानमूर्ति होने से अपनी ज्ञान की पूर्ण निर्मलता प्रगट करने के लिए अभ्यन्तर मोक्ष का साधन करता है। अन्तर ध्यान करके... **फिर कभी माता का दूध नहीं पीता।** 'न पीवे जननी दूध...' दूसरी माता के गर्भ से अवतरित नहीं होंगे। समझ में आया? अपने आनन्द और ज्ञानस्वरूप का ध्यान... देखो! इसमें विकल्प, राग, निमित्त और व्यवहार की बात कहीं नहीं रही।

मुमुक्षु – कहाँ गयी?

उत्तर – उसके घर, उसमें। (निज) घर में नहीं – ऐसा कहते हैं।

भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब ज्ञायकस्वरूप का अग्र ध्यान, उसे मुख्य लक्ष्य में लेकर अन्तरध्यान करे तो मोक्ष का मार्ग अभ्यन्तर अपने पास है। समझ में आया? अन्दर मोक्षमार्ग है अर्थात् विकल्प में नहीं, निमित्त में नहीं, इस संहनन, मनुष्य देहादिक में मोक्षमार्ग नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु – नासिका पर अग्र दृष्टि रखे....

उत्तर – यह नासिका अर्थात् ऐसे रखे अर्थात् अन्दर जाये ऐसा। दूसरा क्या? इसका अर्थ कि तब ऐसा होता है। यह आँख फिराकर ऐसे जाये तो अन्दर जाये, ऐसा कहते हैं। नासिका पर (अर्थात्) ऐसे बाहर रखनी है? समझ में आया या नहीं? नासिका का अर्थ कि ऐसे जो आँख फिरती है, उसे अन्दर में लाना – ऐसा इसका अर्थ है। (दृष्टि को) अन्दर में लाना – ऐसा कहते हैं। नासिका की बातें व्यवहार की है। नासिका पर कहाँ आँख लानी है? वह तो ऐसे अन्दर लाने से अन्दर जाये, वस्तु के स्वभाव पर दृष्टि जाये, उसे यहाँ नासाग्र दृष्टि कहा जाता है – ऐसा कहते हैं। लो, समझ में आया?

आत्मा का नाक पूर्णानन्द का नाथ प्रभु यह उसका – आत्मा का नाक है। यह नाक

(जड़ नाक) आत्मा का है ? यह पूर्णानन्द उसका नाक है, उसके कारण निभ रहा है। ऐसे पूर्णानन्द के नाक पर नजर करे, उसे मोक्ष का मार्ग अभ्यन्तर में प्रगट होता है। मूल तो ऐसा है, समझ में आया ? बाहर के नाक का यहाँ क्या काम है ? वह तो निमित्त से बात की है। अन्दर में मुख्य वस्तु (निज स्वरूप है)। लोग नाक के लिए मरते हैं न ? देखो न ! बड़ी इज्जत वह नाक... आत्मा की बड़ी इज्जत अनन्त केवलज्ञान का स्वामी वह उसका नाक है।

भगवान आत्मा की प्रतिष्ठा कितनी ? आहा...हा... ! जो केवलज्ञानी की वाणी में न आवे – ऐसा उसका सर्वज्ञपन है। केवलज्ञान की वाणी में न आवे ऐसा अनन्त आनन्द है, केवलज्ञानी की वाणी में न आवे इतना तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... का बल है, बल। आहा...हा... ! वह अन्तर्बल पड़ा है, वह इसका नाक है, वह इसकी इज्जत है। समझ में आया ?

मुमुक्षु – अमुक भाई का क्या नाक ?

उत्तर – उसमें क्या भला ? वह मरकर फिर नरक जाये, लो ! अमुक भाई की क्या बात ? वहाँ नरक में धक्का खाये, वहाँ भी ऐसा कहलायेगा इसका ? आहा...हा... ! राजा, महाराजा, ऐसे पलंग पर सोते हों, आहा...हा... ! वे मरकर नरक गये। वे अभी चीख पुकार करते हैं। अरे... जिसे लम्बी दृष्टि नहीं, उसे देखने का द्रव्य का पर्यायकाल कैसा होगा ? समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसे चक्रवर्ती महाराज.... ! खम्मा अन्नदाता ! सोलह-सोलह हजार देव सेवा (करें)। छियानवें हजार पद्मिनी जैसी (रानियाँ) सेवा करें, वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मरकर सातवें नरक के पाताल में गया। क्या खम्मा... खम्मा... ! क्या बापू ! उसकी क्या बात !! यहाँ ऐसा था, वहाँ क्या था ? बापू ! उसके जैसे दुःख किसे हैं ? वहाँ ऐसा है।

आत्मा जैसी चीज किसकी, बापू ! उसकी क्या बात करना ! आहा...हा... ! जिसके आत्मा में... समझ में आया ? भगवान आत्मा वाणी को गम्य नहीं, विकल्प को गम्य नहीं, मन, वाणी, देहादि पर से वह गम्य नहीं। समझ में आया ? उसकी इज्जत क्या कहना ! उसकी इज्जत की क्या बात करना ! ऐसा जो भगवान आत्मा अपने अभ्यन्तर में अपना स्व

ध्यान करे तो अल्प काल में निर्वाण और केवलज्ञान को प्राप्त करे – ऐसा उसे अभ्यन्तर मोक्षमार्ग रहा है – ऐसा कहते हैं। वह बाहर ढूँढ़ने जाना पड़े – ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु – दुःखी होना रुचता है।

उत्तर – रुचता है; भान नहीं है इसलिए क्या करे? विष्टा का कीड़ा विष्टा में पड़े समझ में आया? कीड़े को विष्टा में से बाहर निकाले तो विष्टा में जाये – ऐसा है न उसे? चीज का पता नहीं। कसाई के बकरे को बाहर निकालो तो बकरा वापस वहाँ घर में जाता है। अनादि की टेव पड़ी है न?

भगवान आत्मा... बापू! तेरी कीर्ति तूने सुनी नहीं, तेरी कीर्ति की व्याख्या वीतराग की वाणी में पूरी नहीं आती। सर्वज्ञ परमेश्वर जो सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान की सम्पत्तिवाले कहलाते हैं और अनन्त बल वाले कहलाते हैं, उनकी वाणी में भी तेरी (बात पूरी नहीं आती)। उनके ज्ञान में बात आ गयी। उनके ज्ञान में जानते हैं कि ओहो...हो...! वाणी में, जाना उससे अनन्तवें भाग, अनन्तवे भाग वाणी में आता है। ऐसे आत्मा की क्या प्रतिष्ठा! ऐसे आत्मा का अन्दर ध्यान करना – ऐसा कहते हैं। वह फिर बारम्बार जन्म धारण नहीं करता। वस्तु में जन्म नहीं, उस वस्तु का ध्यान करने से उसे जन्म नहीं मिलेगा, फिर से माता का दूध नहीं पियेगा।

आत्मा, शरीररहित अमूर्तिक है। आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता मन भी केवल विचार कर सकता है.... मन विचार कर सकता है। **ग्रहण नहीं कर सकता। आत्मा का ग्रहण आत्मा द्वारा ही होता है।** पहले शुरुआत... आत्मा का ग्रहण आत्मा द्वारा ही होता है। **उसके ग्रहण का बाह्य साधन ध्यान का अभ्यास है।** लो, ठीक! बहुत तो ध्यान का अभ्यास बाह्य साधन होगा। एकाग्र होने का अभ्यास। बाह्य साधन का अर्थ -पर्याय को जरा एकाग्र करते हैं न। कहो, समझ में आया? आहा...हा...!

वीतरागभाव की शान्तरस से भरी हुई गंगा नदी बहने लगी.... अन्दर में... **केवल एक अपने ही शुद्ध अशरीरी आत्मा को शरीर प्रमाण विराजित अन्तर में सूक्ष्म भेदविज्ञान की दृष्टि से देखने का उद्यम करना।** शान्त... शान्त... विकल्परहित, रागरहित, निर्विकल्पतत्त्व को देखने को निर्मल गंगा बहावे... निर्मल परिणति को प्रगट

करे। **केवल एक अपने ही शुद्ध अशरीरी आत्मा को....** एक शरीररहित आत्मा को, **शरीर प्रमाण विराजित....** शरीर प्रमाण रहा हुआ (अर्थात्) इतने क्षेत्र में रहा हुआ – ऐसा कहते हैं। बड़ा महान है, इसलिए बड़े क्षेत्र में रहा है – ऐसा नहीं। बड़ा है भाव से; क्षेत्र से बड़ा, इसलिए बड़ा है – ऐसा नहीं है। ऐसा अन्तर सूक्ष्म भेदविज्ञान की दृष्टि, राग से रहित भिन्न देखने का उद्यम करता है।

अन्तर्मुख में जाने का बारम्बार उपाय करे। राग से, संयोग से, निमित्त से, आँखें मूँद करके.... विकल्प से आँखें मूँद कर... समझ में आया? यह (जड़) आँखें मूँदने से क्या हुआ? यह तो वैसे भी मुँदित है, मर जाए तब ऐसे मुँद जाती है। समझ में आया? यह तो विकल्प की वृत्तियों को मूँद कर अन्दर निर्विकल्प भगवान आत्मा में टकटकी लगाकर उसमें एकाग्र होना, यह अभ्यन्तर मोक्ष का उपाय है। कहो, समझ में आया? यह अभ्यन्तर मोक्ष का उपाय है, बाहर है नहीं। प्रवचनसार में कहा है न? बाह्य सामग्री किसलिए ढूँढ़ने जाता है? तेरा सब साधन अन्दर में पड़ा है (प्रवचनसार गाथा १६)। आहा...हा..! परन्तु मनुष्य को कुछ... कुछ... कुछ... सहारा, व्यवहार यह हो, यह हो, यह हो... और जहाँ व्यवहार की बात आवे, वहाँ सहायरूप है, व्यवहार आलम्बनरूप है, इसलिए भगवान ने बहुत कहा है। देखो, कहा है या नहीं? कहा क्या है? परन्तु उसका फल क्या कहा? वहीं का वहीं रहे तो उसका फल संसार है। समझ में आया?

एकाकी अपने आत्मा के गुणों का चिन्तवन करना, उसे ही आत्मा की भावना कहते हैं। भावना करते-करते जब एकाएक मन स्थिर होगा, यही आत्मिक अनुभूति ध्यानाग्नि है। लो, आत्मा का अनुभव ध्यान की अग्नि है, ज्वाला है, वह कर्म ईंधन को जलाती है। **आत्मा को स्वर्ण समान शुद्ध बनायेगी।** सोना होता है न? उसमें ताँबे की लालिमा होती है या नहीं? फूँक-फूँककर अग्नि से उजला करते हैं न? वैसे भगवान आत्मा में रागादि मैल (है)। उसे स्वरूप के ध्यान की फूँक मारते-मारते आत्मा को कुन्दन समान शुद्ध करे। अन्तरध्यान करे, वह उसकी अन्तरक्रिया है। आहा...हा...! समझ में आया? व्यवहारमोक्षमार्ग, वह मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा कहते हैं। निश्चयस्वरूप में एकाग्र होना, वही इसका मोक्ष का मार्ग है, वह अभ्यन्तर स्वयं के पास है, जरा भी दूर

नहीं है। विकल्प से तो दूर है, आत्मा से बाहर है; विकल्प तो आत्मा से बाहर है, वह कहीं अन्दर में नहीं है, फिर वह साधन-फाधन (कहाँ से आया)?

मुमुक्षु – गुरु दिखावे न?

उत्तर – दिखावें गुरु, आत्मा स्वयं गुरु अर्थात् बड़ा बैठा है (वह) इसे दिखाता है। यह तो आ गया नहीं? समाधिशतक में आ गया। पूज्यपादस्वामी के इष्टोपदेश में आ गया है। परमात्मप्रकाश में आ गया है, बहुत जगह आया है। जो जिसे समझावे, वह उसका गुरु। हे आत्मा! तू आनन्द है, तू ज्ञान है, तू पूर्ण है, तू शुद्ध है, तू अनादि से भटका है – ऐसा जो समझाकर अन्दर स्थिर हो, वह क्रिया करे, वह उसका गुरु।

मुमुक्षु – अभेद हुआ, उसमें गुरु सिद्ध किस प्रकार हुए?

उत्तर – कहते हैं, वह तो अभेद हो गया। उसमें गुरु सिद्ध कहाँ हुआ? एक हो गया, वह एक हुआ उसमें ही गुरु रहा। आत्मा गुरु, उसकी पर्याय – प्रजा उसका शिष्य.... बहुत वर्ष पहले, 'उत्तराध्ययन' का पहला अध्ययन है न? उसमें से कहते थे। पहले उसमें से निकालते थे। उत्तराध्ययन का पहला अध्ययन 'विनय अध्ययन' है। शिष्य है, वह विनय करता है। पर्याय, आत्मा की विनय करती है। आत्मा गुरु है, शिष्य विनय करता है। भगवान का मार्ग विनयमार्ग है, कहा। ए...ई...! आता है न? उत्तराध्ययन का पहला (अध्ययन) 'संयोगाविप्पमुक्त' आता है। उत्तराध्ययन का पहला (अध्ययन) शिष्य विनय करे, विनय। आत्मा की पर्याय अन्दर द्रव्य को बहुमान देती है, उस पर नजर करती है, वह आत्मा गुरु और पर्याय शिष्य है। लो, दो हो गये। ऐसे तो नामभेद से भेद है, लक्षणभेद से भेद है, भावभेद से भेद है, प्रदेशभेद से अभेद है।

भगवान आत्मा.... दो धर्म गिने हैं न? एक पर्याय धर्म और एक द्रव्यधर्म, दो धर्म गिने हैं। द्रव्यधर्म कायमी – असली तत्त्व है; पर्यायधर्म क्षणिक है क्योंकि जितना कार्य होता है, वह पर्याय से होता है, पर्याय से होता है, गुण-द्रव्य से नहीं होता परन्तु जिसका आश्रय लेते हैं, वह पर्याय नहीं; आश्रय लेते हैं, उस द्रव्य का। आधार उसका, इसलिए वह गुरु हुआ।

मुमुक्षु – गुरु के आधार बिना पर्याय होती है?

उत्तर – नहीं होती, गुरु के आधार बिना पर्याय कहाँ से होगी ? आत्मा के आधार बिना नहीं होती, ऐसा। कहो, समझ में आया इसमें ?

समाधिशतक में कहा है – मनुष्यों के साथ बात करने से मन की चंचलता होती है.... यह तो एकाग्रता कैसे करना ? उसका स्पष्टीकरण करते हैं। **फिर मन में भ्रमभाव होता है....** इसे क्या कहा ? इसे ऐसा कहा (ऐसा) वहाँ रुकना पड़ता है। **योगियों को मनुष्यों का संग छोड़ना चाहिए....** भगवान आत्मा को साधनेवाले एकान्त में जैसे बने वैसे अपने स्वरूप को साधें, दूसरे फिर कोई पूछे, फिर उसका जबाव ऐसा होता है या ऐसा नहीं होता, हाँ... न... (करने में) रुकना पड़े और अपनी एकाग्रता में व्यवधान पहुँचे... दूसरा समझे नहीं तो उसके घर रहा। यह व्यवहार, निश्चय का झगड़ा; निमित्त-उपादान का झगड़ा और क्रमबद्ध का झगड़ा-पाँच बोल का झगड़ा है। पाँच समझे तो वह परमेश्वर को समझे। लो, आहा...हा... ! झगड़ा खड़ा किया, उसमें रुकना पड़े, शरीर के लिए रुकना पड़े... कहो, समझ में आया ? कहते हैं कि यह सब परसंग के लिए... यह परसंग है न ? उसे खिलाना और पिलाना, दवा और चौपड़ना और.... कहो, समझ में आया ? यह विकल्प का परसंग है।

मुमुक्षु – एकान्त में जाये तो विकल्प टूट जाये।

उत्तर – एकान्त में जाये तब तो अन्दर में (विकल्प) टूट जाये। एकान्त अर्थात् आत्मा... दूसरा एकान्त कौन-सा था ? जंगल में क्या है ? जंगल में बहुत कौवे काँव... काँव... किया करते हैं। जंगल यहाँ अन्दर है, जंगल यहाँ पड़ा है, भगवान आत्मा शून्य है, राग से शून्य है, अन्तर गुफा में ध्यान कर, ऐसा शास्त्र में आता है। आता है न ४९ गाथा में ? जयसेनाचार्यदेव में (आता है)। वह यहाँ यह कहते हैं। समझ में आया ? लो।

☆ ★ ☆

निर्मोही होकर अपने अमूर्तिक आत्मा को देखे

असरीरु वि सुसरीरु मुणि, इहु सरीरु जडु जाणि।
मिच्छा-मोहु परिच्चयहि, मुत्ति णियं वि ण माणि॥६१॥

तन विरहित चैतन्य तन, पुद्गल तन जड़ जान।
मिथ्या मोह विनाश के, तन भी निज मत मान॥

अन्वयार्थ – **(असरीरू वि सुसरीरू मुणि)** अपने शरीररहित आत्मा को ही उत्तम ज्ञानशरीर समझे **(इहु सरीरू जडु जाणि)** इस पुद्गल रचित शरीर को जड़ व ज्ञानरहित जाने **(मिच्छा मोहु परिच्चयहि)** मिथ्या मोह का त्याग करे **(मुत्ति णियं वि ण माणि)** मूर्तिक इस शरीर को भी अपना नहीं माने।

☆ ★ ☆

अब, ६१। **निर्मोही होकर अपने अमूर्तिक आत्मा को देखे**। यहाँ तो सार में सार, बदल-बदलकर दूसरी बात लेते हैं।

असरीरु वि सुसरीरु मुणि, इहु सरीरु जडु जाणि।
मिच्छा-मोहु परिच्चयहि, मुत्ति णियं वि ण माणि॥६१॥

अपने शरीररहित आत्मा को ही उत्तम ज्ञानशरीरी समझो। देखा, अपने '**असरीरु**' आत्मा शरीररहित '**सुसरीरु**' परन्तु ज्ञानशरीरसहित... '**सुसरीरु**' है न? उत्तम ज्ञानशरीर, ऐसा।

मुमुक्षु – सुशरीर।

उत्तर – हाँ, सुशरीर है। वह शरीररहित परन्तु सुशरीरसहित (है)। सुशरीर अर्थात् उत्तम ज्ञान। चैतन्य परमभाव, चैतन्य का – आत्मा का परमभाव, वह उसका शरीर है।

'**इहु सरीरु जडु जाणि**' इस शरीर को जड़ जान। समझ में आया? **पुद्गल रचित शरीर को जड़ और ज्ञानरहित जानो। मिथ्या मोह का त्याग करो**। एक बात – जड़ (के ऊपर से) दृष्टि हटाकर और पर तरफ का मिथ्या मोह-भ्रम... कुछ पर में ठीक होवे तो (मुझे) ठीक पड़े। ऐसा होवे तो ऐसा पड़े, प्रतिकूलता टले तो ठीक पड़े, अनुकूल एकान्त जगह (होवे) संसार छोड़कर बाहर हों तो ठीक पड़े – यह सब मोह है। कहते हैं, समझ में आया? जहाँ बैठा वहाँ जंगल है, तुझे पता नहीं। **मिथ्या मोह का त्याग करना मूर्तिक ऐसे इस शरीर को भी अपना मत मानो....**

ऐसा। समझ में आया ? यह शरीर मूर्तिक है न ? भगवान अमूर्तिक है, यह (शरीर) जड़ है, यह (आत्मा) चेतन है।

आत्मध्यान के साधक के लिए उचित है कि वह अपने को केवल जड़ शरीर रहित एक ज्ञानशरीरी शुद्ध आत्मा समझे। कहो, उसे **पुद्गल परमाणुओं से रचित शरीर को एक पिंजरा अथवा कारागृह समझे।** यह शरीर तोते को रखने का पिंजरा है। समझ में आया ? यह कारागृह है। तोता भले चाहे जैसा चतुर, होशियार (होवे) परन्तु कारागृह में पड़ा हो तो उड़ नहीं सकता। स्वयं पड़ा है, हाँ! कारागृह उसे नहीं रखता। कारागृह समान है। उसकी पर्याय में स्वयं की योग्यता रोकने की है न ? उसे कारागृह समान जान। कहो, समझ में आया ? **अपना सर्वस्व श्रेय अपने ही आत्मा में जोड़े....** अपना सब श्रेय आत्मा में जोड़ दे। जितनी हित की क्रिया करनी हो, उसे अपने आत्मा में जोड़ने की है। **सर्व पर तरफ से प्रेम दूर करे।** लो, पर से प्रेम छोड़ दे – इत्यादि बहुत बात की है।

जब तक सम्यक्त्व नहीं होता, तब तक इस देह का और देह के सुख का अभिनन्दन करता है। जब तक आत्मा के शुद्ध चैतन्य की प्रतीति, आनन्दस्वरूप हूँ, आत्मा आनन्द और अतीन्द्रिय सुख से भरा हूँ – ऐसी श्रद्धा और ज्ञान जब तक नहीं होता, तब तक देह और देह के सुख का अभिनन्दन करता है। देह ठीक होवे तो ठीक और देह को अनुकूल होवे तो ठीक, इसकी यह बुद्धि नहीं जाती है। क्या कहा, समझ में आया ?

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द है – ऐसी सम्यग्दृष्टि न हो, तब तक शरीर और शरीर के साधन को अभिनन्दन-सहारा देता है। ऐसा होवे तो ठीक, यह होवे तो ठीक और यह होवे तो ठीक परन्तु मैं होऊँ तो ठीक – ऐसा नहीं मानता। सम्यग्दृष्टि अपने आत्मा के स्वभाव में आनन्द मानता है, देखता है, अनुभव करता है; इसलिए शरीर और शरीर के साधन में कहीं उसका पोषण (या) अभिनन्दन नहीं है। अभिनन्दन कहा है न ? शरीर निरोग रहे तो ठीक, यह देह का अभिनन्दन है। यह अभिनन्दन सम्यक्त्वी को नहीं होता, मिथ्यादृष्टि अभिनन्दन देता है। हाश... छह महीने से रोगी थे, अब मिटे... हाश... यह थे परन्तु रोग तो तेरा भ्रम था, वह मिटा, अब तुझे इसका क्या काम है ? है ? ऐसा कहते हैं, हाँ!

देह और देह के सुख का अभिनन्दन, ऐसा। अच्छा आहार-पानी, अच्छा पानी, अच्छा सोने का, अच्छा बैठने का, अच्छा पलंग, बिछाने के, अच्छे गलीचे यह होवे तो ठीक... ठीक... यह अभिनन्दन आत्मा में आनन्द है – ऐसा भान और प्रतीति नहीं हो तब तक इसे यह ठीक, ऐसा इसे हटता नहीं है। समझ में आया? स्वयं तो भगवान आत्मा है, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द पूरा पड़ा है, उसकी जहाँ दृष्टि हुई, (वहाँ) अब यह ठीक रहा कहाँ? अज्ञानी तो हाश (करता है) श्वाँस लेने का अब समय मिला। हवा -पानी मिले कुछ, हाश.... गर्मी... गर्मी... गर्मी थी... बाहर का साधन, सर्दी, बहुत सर्दी, बहुत सर्दी... आहा...हा...! तीन दिन से तो सर्दी... सर्दी... सर्दी... सर्दी... सर्दी... शरीर के बाहर के सुख में ठीक, ठीक.... यह सर्दी हुई तो ठीक हुआ.... अब सर्दी कम हो गयी, यह ठीक का – पर में सुख का अर्थात् अनुकूलता में ठीक का अभिनन्दन मिथ्यादृष्टि को होता है। समझ में आया?

मुमुक्षु – बोलने से पहले बहुत विचार करना पड़े ऐसा है।

उत्तर – बोलते पहले हो? भाव में (जागृति रहनी चाहिए) बोलने का क्या? बोले कौन?

परन्तु यह तो भाषा हुई, भाषा में क्या है? भाव में इसे यह ठीक (हुआ), तो यह (आत्मा) ठीक नहीं रहा। आत्मा आनन्दमूर्ति है – ऐसी दृष्टि हुई उसे बाहर में यह देह और देह के साधन में ठीक, अनुकूल होवे तो ठीक... अनुकूलता का अर्थ क्या? वे तो ज्ञेय हैं। समझ में आया? भूख लगी थी और अच्छा खाया, हाँ! ठीक खिलाया। ऐसा भाव अन्दर की बात है। बाहर की कहाँ (बात है)? यह बात तो अज्ञानी भी बोले, ऐसा है-वैसा है... भाव में वह घोलन हुआ है। यह (आत्मा) इस ओर है – ऐसा पता नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द परमात्मा हूँ – ऐसी दृष्टि हुई, उसे देह और देह के सुख-साधन में अभिनन्दन नहीं रहता है। मुबारक रहना ऐसा, ऐसा नहीं कहते? यह पास होवे तब अभिनन्दन देते हैं न? हैं? अभिनन्दन देते हैं न? क्या कहलाता है। सुधीरभाई! यह पढ़े तब क्या कहलाता है, पास होवे तब? मुबारकबाद। ऐसे अज्ञानी, शरीर और शरीर के सुख को मुबारकबाद देता है।

धर्मी (जिसे) आत्मा आनन्दमूर्ति है – ऐसी प्रतीति और भान हुआ है, वह बाहर के शरीर और शरीर के साधनों में मुबारकपना नहीं मानता। आहा...हा...! एक ओर राम और एक ओर गाँव। भगवान राम की – आत्मा की जहाँ दृष्टि हुई, वह तो सच्चिदानन्द प्रभु सिद्ध समान मैं हूँ, मैं तो ज्ञान और आनन्द का कन्द हूँ। मेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द की खान है। ऐसी श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, स्वभाव सन्मुख होकर हुआ (वह) बाह्य के किसी भी साधन को ठीक है – ऐसा मानने का अभ्यन्तर में नहीं रहा। आहा...हा...! समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि इन्द्रियों के विषय के भोग का लोलुपी है, ऐसा। समझ में आया? तीव्र लालसा रखता है, ऐसी सब बहुत बात करते हैं। **वह मिले तब हर्ष और न मिले तब विषाद करता है, वियोग होने पर शोक करता है। जैसे-जैसे मिलता है, वैसे-वैसे अधिक तृष्णा की जलन बढ़ा लेता है।** जैसे पैसा मिले, स्त्री मिले, पुत्र मिले, अनुकूल मिले, मकान मिले, ठीक मिले, कपड़ा मिले, सोने का-ओढ़ने का, हवा-पानी सब चारों ओर... ऐसा... ओ...हो...! वहाँ तो इसे अन्दर हाश (हो जाता है)। अभी अब बादशाही है। मूर्ख की बादशाही – ऐसा कहते हैं और ज्ञानी की बादशाही आत्मा में है – ऐसा कहते हैं। यह आनन्द है, आनन्द है, वही आत्मा है। दूसरा आनन्द कहीं है ही नहीं। उसे बाहर में अभिनन्दन-पोषण देना, यह नहीं रहा। अज्ञानी को अन्तर के आनन्द का पता नहीं है, इसलिए बाहर का पोषण दिये बिना नहीं रहेगा।

'शरीर से सुखी तो सुखी सब बातें' लो! आता है या नहीं? जयचन्दभाई! बहुत बोलते हैं हमारे। कैसे हुआ? अब कहाँ तक रहेगा यह? 'शरीर से सुखी तो सुखी सब बातें' – यह रट रखा है। इसका अर्थ कि 'शरीर दुःखी तो दुःखी सब बातें' – ऐसा। पैसा हो, पुत्र हो तो भी दुःखी हैं। धूल में भी बाहर में सुख-दुःख नहीं है, व्यर्थ में टेका देता है। रहने योग्य चीज नहीं उसे टेका देता है। समझ में आया? वह रहने योग्य चीज नहीं है, उसे अभिनन्दन देता है कि ठीक हुआ, रहना, रहना, रहना। मूढ़ अनित्य को रहना कहता है। अनित्य को रहना, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। आहा...हा...! समझ में आया?

मिथ्या, मोह, परिचय.... शब्द पड़ा है न। उसकी सब व्याख्या है, हाँ! मिथ्या, मोह

है न, उसकी व्याख्या है, हाँ! भगवान आत्मा का शरीर-ज्ञानशरीर है – ऐसा जहाँ भान हुआ, फिर मिथ्यामोह का त्याग हुआ। मिथ्यामोह का त्याग न हो तो इस प्रकार वह मानता है, आहा...हा...! अरे... एक राग की – शुभ की वृत्ति आवे, उसका भी अभिनन्दन उसे मिथ्यामोह है। आहा...हा...! क्योंकि भगवान तो ज्ञानशरीरी है, प्रभु तो चैतन्य शरीरी है उसके आनन्द और उसके ठीक को न मानकर, ठीक को माने, वह मिथ्यादृष्टि है। इसीलिए छोड़, मोह परिचयी। समझ में आया?

शरीर मूर्त है, रागादि सब मूर्त हैं, उसे अपना नहीं जाने – ऐसा है न? इस शरीर को भी अपना नहीं माने, जितना सब मूर्तस्वरूप है, उसे अपना नहीं जानता। चौथा बोल है न? श्लोक का चौथा बोल है। **वर्तमान जीवन की चिन्ता में ही उलझ जाता है, यदि कदाचित् दान, धर्म, जप, तप करता है तो भी उसके फल में वर्तमान में यश, धन, सन्तान और उचित विषय का लाभ चाहता है।** उस वस्तु को तो पता नहीं इसलिए भावना तो है नहीं। इसलिए मिथ्यादृष्टि दान दे, धर्म अर्थात् कोई पुण्य करे, तप करे-जप करे तो उसके फल में वर्तमान में यश (चाहता है)। दुनिया अच्छा कहती है या नहीं? दुनिया में कुछ मिलेगा या नहीं इसमें? सन्तान मिलेगी या नहीं? लड़का होगा या नहीं? इच्छित विषय का लाभ, चाहे अनुसार वेतन मिलेगा या नहीं? इतनी आमदनी होगी या नहीं? दुकान ठीक से चलेगी या नहीं? सब धर्म के बहाने ऐसी भावना होती है।

कदाचित् परलोक का विश्वास हुआ... लो न! इसे कहते हैं – ऐसे दानादि करता हो **तो देवगति के मनोज्ञ भोगों की तृष्णा रखता है।** वहाँ अच्छे भोग मिलें, अच्छा देव होऊँ, हल्का नहीं; व्यन्तर और ज्योतिष नहीं, बड़ा देव होऊँ – ऐसी तृष्णा रहती है। समझ में आया? **उसके मन-वचन-काया का सब वर्तन सांसारिक आत्मा के मोह पर आधार रखता है।** वह मिथ्यामोह परिचयी है न? उसकी व्याख्या की है।

अन्दर का प्रेम एक आत्मानन्द के प्रति ही रह जाता है। वही सम्यग्दृष्टि जीव निश्चिन्त होकर जब चाहे तब सरलता से आत्मा के अन्दर सर्व शरीरों से भिन्न ज्ञानाकार देख सकता है। भगवान आत्मा, उसकी जहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई... मिथ्यादर्शन में तो विकार और संयोग की प्राप्ति थी। समझ

में आया ? सम्यग्दर्शन में अन्तर्मुख की प्राप्ति हुई; इसलिए उसे निश्चिन्त होकर जब चाहे तब आत्मा का ध्यान कर सकता है। आत्मा को पकड़ा है कि यह आत्मा। शुद्ध चैतन्य अनुभव में आ गया है, जब सन्मुखता करना चाहे, तब सन्मुखता करके आत्मा का अनुभव कर सकता है।

उसे अपनापन अपने ही आत्मा में रहता है.... चारित्रमोह के उदय से रोगी समान कड़वी दवा पीता हो, वैसे लाचार होकर विषयभोग करता है.... लाचार होकर कड़वी दवा जैसे पीना पड़े, वैसे समकिती को विषय के विकल्प में जुड़ना पड़ता है। कड़वी दवा पीता हो, महा कड़वी... मुँह ऐसा (कड़वा) हो जाये। समझ में आया ? ऐसा मुँह अन्दर में से बदल जाये, कहते हैं। आहा...हा... ! भोग की वासना जहर जैसी लगती है। समझे न ? कड़वी दवा जैसी लगती है। **परन्तु भावना उसके त्याग की ही रहती है।** यह कब छूटे ? कब छूटे पुरुषार्थ से ? ऐसी भावना रखता है। कहो, समझ में आया ?

दृष्टि में ग्रहण योग्य एक निज स्वरूप ही रहता है, सम्यग्दर्शन का धारक ही आत्मा का दर्शन अन्दर कर सकता है। लो, अज्ञानी बारम्बार राग और पर का दर्शन किया करता है, पर को ही देखता है – ऐसा कहते हैं। मिथ्यादृष्टि राग को, विकार को, शरीर को, उसकी अनुकूलता बाहर में पर्याय की ही देखा करता है। सम्यग्दृष्टि (को) आत्मा को प्रतीति (हुई है), शुद्ध चिदानन्दस्वरूप दृष्टि में, अनुभव में आया – ऐसा ही आत्मा बारम्बार अनुभव में लेता है। ऐसी दृष्टि उसकी होती है। कहो, समझ में आया ? इसके बाद एक दृष्टान्त दिया है।

☆ ★ ☆

आत्मानुभव का फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है

अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ, किं णेहा फलु होइ।
केवल-णाणु वि परिणवइ, सासय-सुक्खु लहेइ ॥६२॥

निज को निज से जानकर, क्या फल प्राप्ति न पाय।
प्रगट केवलज्ञान औ, शाश्वत सौख्य लहाय॥

अन्वयार्थ – (**अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ**) आत्मा को आत्मा के द्वारा अनुभव करते हुए (**किं णेहा फलु होउ**) कौन सा फल है जो नहीं मिलता है ? और तो क्या (**केवलणाणु वि परिणवइ**) केवलज्ञान का प्रकाश हो जाता है (**सासय-सुक्ख लहेइ**) तब अविनाशी सुख को पा लेता है।

☆ ★ ☆

आत्मानुभव का फल केवलज्ञान व अविनाशी सुख है। लो, यह भगवान आत्मा के अनुभव का फल! महान चैतन्य भगवान... राग और विकार के अनुभव का फल चार गति का दुःख.... राग – पुण्य-पाप, विकारभाव, उपाधिभाव, विभावभाव के अनुभव का फल चार गति का दुःख है। चार गति का दुःख, हाँ! स्वर्ग भी दुःख है। आत्मानुभव का फल केवलज्ञान और आनन्द दो लिये। ज्ञान और आनन्द मुख्य तो दो ही लेना है न?

अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ, किं णेहा फलु होइ।
केवल-णाणु वि परिणवइ, सासय-सुक्खु लहेइ॥६२॥

क्या फल नहीं होगा? ऐसा कहते हैं। आत्मा, आत्मा को अनुभव करने पर कैसे फल नहीं होगा? आहा...हा...! महान प्रभु आत्मा का अन्तर में अनुभव करने पर, आत्मा को शान्तभाव से वेदन-अनुभव करने पर उसका क्या फल नहीं होगा? उसे क्या फल नहीं होगा? स्वर्गादि तो बीच में साधारण हैं परन्तु जिसका केवलज्ञान फल है।

'**केवल-णाणु वि परिणवइ**' भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप (है) – ऐसे आत्मा का अनुभव अर्थात् उसकी दृष्टि और ज्ञान में रमणता करे तो केवलज्ञानरूप परिणमित हो जाये – ऐसा कहते हैं। परिणमित हो जाये – ऐसा कहा है न? केवलज्ञानरूप हो जाये, आत्मा का अनुभव करने से आत्मा सर्वज्ञ शक्तिवाला है तो पर्याय में सर्वज्ञ परिणतिरूप हो जाता है। अवस्था में सर्वज्ञ केवलज्ञानरूप की अवस्था हो जाती है। '**सासय-सुक्ख लहेइ**' लो! साथ में शाश्वत् नित्य अविनाशी कायम टिके – ऐसे सुख को पाता है। ज्ञान को परिणमे और साथ में सुख को भी प्राप्त करे, यह आत्मा के अनुभव का फल है – ऐसा महा अनुभव, आत्मा का महा-मोक्ष का मार्ग है, उसका फल केवलज्ञान और अनन्त आनन्द है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल १३, गुरुवार, दिनाङ्क ३०-०६-१९६६
गाथा ६२ से ६४ प्रवचन नं. २२

६२ वीं गाथा –

अप्पइँ अप्पु मुणंतयहँ, किं णेहा फलु होइ।
केवल-णाणु वि परिणवइ, सासय-सुक्खु लहेइ॥६२॥

बहुत सार में सार बात है। योगसार है न? आत्मा को आत्मा के द्वारा.... पाठ में ऐसा शब्द है। '**अप्पई अप्पु**' – ऐसा है। आत्मा को.... आत्मा कौन है, उसे पहले इसे जानना चाहिए न? आत्मा ज्ञान, आनन्द का रूप, वह आत्मा है। उसमें पुण्य-पाप का विकार, शरीर, कर्म – वह आत्मा नहीं है।

मुमुक्षु – एकान्त नहीं हो जाता?

उत्तर – एकान्त ही है। आत्मा में विकार बिल्कुल नहीं। वस्तु में विकार है? द्रव्य में; वस्तु-आत्मा जिसे कहते हैं, (उसमें विकार नहीं है।) वह विकार तो आस्रवतत्त्व है; कर्म, अजीवतत्त्व है; शरीर, अजीवतत्त्व है; वरना नौ तत्त्व सिद्ध किस प्रकार होंगे? आस्रव है, वह पुण्य-पाप के विकार, व्यवहार, त्रिकाल-स्वभाव की अपेक्षा से, वह वस्तु में नहीं है तो इस वस्तु में क्या है? ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता आदि अनन्त शुद्ध गुण है। ऐसे **आत्मा को आत्मा द्वारा....** है न? **अप्पई अप्पु आत्मा को आत्मा द्वारा....** भावार्थ में भी यह कहा है, देखो! **आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है।** उसे ही मोक्षमार्ग कहते हैं; उसे कहते हैं और वह है।

आत्मा चैतन्यस्वरूप (है), पुण्य-पाप के राग से सर्वथा निराला है – ऐसा आत्मा अन्तर स्वरूप में उसे दृष्टि में लेकर आत्मा का आत्मा के द्वारा अनुभव करना अर्थात्

निर्विकल्पदशा द्वारा उसका अनुभव करना। योगसार है न? आत्मा को आत्मा के द्वारा, यह योगसार है। आत्मा द्वारा.... चैतन्य महासत्ता वस्तु है। चैतन्य महासत्ता अनादि-अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द सम्पन्न वस्तु है। विकार और शरीर, कर्म, ये इसमें नहीं हैं, वे तो परचीज हैं। ऐसे आत्मा द्वारा आत्मा का अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है। बहुत संक्षिप्त और सार में सार बात है!

भगवान आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्दधाम (है)। उसे आत्मा द्वारा अर्थात् उसकी – स्वभाव की परिणति – विकाररहित द्वारा, विकाररहित अवस्था द्वारा अनुभव करना, वह एक ही मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? **अनुभव करना, वह मोक्षमार्ग है।**

पाठ में तो यह है न? **क्या फल नहीं मिलता?** ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा अपना निजस्वरूप शुद्ध आनन्द, उसके द्वारा उसका अनुभव करने से क्या फल नहीं होगा? क्या फल नहीं होगा? बीच में मति-श्रुतज्ञान की विशेषता प्रगटे, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हो, क्रम-क्रम से आगे बढ़ते हुए अनुभव करने से केवलज्ञान होता है। क्या फल नहीं होता? कहो, इसमें कुछ कारण, यह संहनन होवे तो हो और यह राग, व्यवहार, विकल्प होवे तो हो, यह बात है या नहीं? दूसरे शास्त्र में ऐसा निमित्तपने का ज्ञान कराया है। उस समय दूसरी चीज पृथक् है, राग की मन्दता, संहनन आदि का ज्ञान कराया है कि एक ऐसी चीज है परन्तु साधन तो स्वभाव का स्वभाव द्वारा ही उसकी मुक्ति का साधन है, दूसरा कोई उपाय है नहीं। समझ में आया?

वीतरागस्वभावी आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा या वीतरागस्वभावी आत्मा, उसे वीतरागी पर्याय द्वारा ही अनुभव हो सकता है अर्थात् निश्चय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वह वीतरागी दशा है, उस वीतरागी दशा द्वारा आत्मा का अनुभव होता है। समझ में आया?

जब तक केवलज्ञान नहीं होता, तब तक यह आत्मज्ञानी ध्यान के समय चार फल पाता है। यह जरा थोड़ी बात की है। **आत्मिकसुख का वेदन होता है।** यह केवलज्ञान फल पाता है – ऐसा कहा है न! बीच में क्या फल नहीं पाता? सब पाता है। आत्मा अपने निजस्वरूप-परमानन्द उसका रूप, उसका अन्तर के आनन्द द्वारा अनुभव

करने से उसे पहले तो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। पहला फल तो अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है। कहो, समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन... स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द नित्यानन्दस्वरूप वस्तु है, उसे अन्तर की निर्मल-विकाररहित दशा द्वारा उसे आत्मा की सन्मुखता की दृष्टि से अनुभव करने पर पहले तो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। आत्मा के अनुभव का पहला फल आनन्द है। हैं?

मुमुक्षु – उससे बाहर में सुख का ढेर होता है?

उत्तर – बाहर में सुख का ढेर था कब? धूल में... सुख का ढेर तो यह स्वयं है, अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर, ढेर। समझें न? ढेर को क्या कहते हैं? ढेर... अतीन्द्रिय आनन्द का ढेर आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्दकुंज है, अतीन्द्रिय आनन्द, सिद्ध को जो आनन्द है ऐसे ही अतीन्द्रिय आनन्द का पुंज आत्मा है।

यहाँ तो सीधी बात है न! योगीन्द्रदेव योगसार (कहते हैं)। योगीन्द्रदेव हैं न? तो योगसार (कहा) स्वयं का नाम योगीन्द्र है। योगीन्द्रदेव का यह योगसार है – ऐसा। धर्मी आत्मा सम्यग्दर्शन से लेकर अपने चैतन्यशुद्ध आनन्द के अन्तर्मुख का अनुभव करने पर उसे क्या फल नहीं होता? तो कहते हैं कि पहले तो उसे आनन्द का फल होता है। समझ में आया? **वह अतीन्द्रिय सुख अरहन्त और सिद्ध परमात्मा के सुख की जाति का है।** लो, जो अरहन्त सिद्ध परमात्मा को अतीन्द्रिय आनन्द है, ऐसा ही अतीन्द्रिय (आनन्द) धर्मी को (आताा है)। आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप को सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा अनुभव करने पर उसे प्रथम आनन्द का ही अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र.... सम्यग्दर्शन ज्ञान और स्वरूपाचरण - ये तीनों पहले होते हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, आत्मा का अनुभव होने पर ये तीनों पहले होते हैं। अद्भुत बात भाई!

वस्तु अन्दर चैतन्य महाप्रभु, उसकी महान प्रभुता के निर्विकार द्वारा उसे प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान स्वरूपाचरण द्वारा अनुभव करते हुए उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में उसे आनन्द की दशा का अनुभव होता है। समझ में आया? कि जो आनन्द अरहन्त और सिद्ध को पूर्ण आनन्द है, उसी में का अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव का नमूना प्रगट होता

है। आहा...हा...! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा के अनुभव से जो आनन्द होता है, वह अरहन्त और सिद्ध की आनन्द की जाति का आनन्द है। आहा...हा...! और उस आनन्द के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन को भी सड़ा हुआ तिनका जैसा दिखता है। समझ में आया? छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, राजपाट, ऐसे बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा, खम्मा, अन्नदाता (कहते हों) खम्मा... खम्मा की पुकार ऐसे करोड़ों अरबों में (होती हो), वह नहीं वे... नहीं... वह आनन्द मेरा मेरे पास है। उस आनन्द की गन्ध नहीं मिलेगी।

धर्मी जीव को गृहस्थाश्रम में भी.... यह बाद में आगे कहेंगे। गृहस्थाश्रम और मुनि दोनों आत्मा में बसते हैं। आगे ६५वीं गाथा में कहेंगे, ६५ में। गृहस्थाश्रम में समकिती हो या मुनि होकर आत्मज्ञानी मुनि हो, दोनों को शुरुआत होने पर आत्मा के आनन्द का वेदन (होता है) क्योंकि समस्त शक्तियों की व्यक्तता पहले ही अनुभव काल में उन्हें प्रगट होती है। समझ में आया? '**उवगोऊ**' आता है न? निर्जरा अधिकार में। '**उवगोऊ सर्वधर्माणं**' सर्व धर्म का अर्थ ही किया है, सर्व गुणों की शक्तियों का बढ़ना। एक सिद्धान्त ही वहाँ बस है। भगवान आत्मा अनन्त... अननत... बेहद संख्या से गुणों का समूह है। बेहद अनन्त गुण का संख्या से समूह है। उसके गुण के भाव की अचिन्त्यता अपरिमितता तो अपार है परन्तु उसकी गुण की संख्या है, (वह भी) अनन्त अचिन्त्य अपार है। इतने अनन्त गुणों का धारक समुद्र भगवान, का अन्तर सम्यग्दर्शन आदि से अनुभव होने पर.... अनुभव होने पर उन अनन्त गुणों की शक्ति की वृद्धि, शक्ति में से पर्याय में व्यक्ति, अनन्त गुणों की पर्याय की शुद्धि की वृद्धि सम्यग्दर्शन होने पर समय-समय होती है। आहा...हा...! समझ में आया?

सम्पूर्ण आत्मा पूर्ण जहाँ अनन्त परमात्मा जिसके गर्भ में, ध्रुव में, पेट में बसते हैं। ऐसे परमात्मा, ऐसा परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा को अन्तर्मुख, अन्तर्मुख ऐसी दृष्टि और ज्ञान द्वारा अन्तर का वेदन और अनुभव (करने पर) क्या फल नहीं होगा? कहते हैं। ओ...हो...हो...! अनन्त गुणों की शक्ति का सत्व, उसका अनुभव करने पर एक समय में अनन्त शक्ति की व्यक्तता का अंश उस काल में प्रगट होता है। उसमें आनन्द का मुख्यपना है। समझ में आया? हैं?

मुमुक्षु – ऐसा कहकर क्या बतलाना है ?

उत्तर – कहते हैं न यह। यह बतलाने का क्या कहा ? परन्तु आँखें किसकी ? आँखें किसकी देखे ? देख ! यह लाख का हीरा ! देखो ! इसके एक-एक पासे की, एक -एक की इतनी कीमत ! देखो ! उसमें पीली गन्ध नहीं, देखो ! सफेदाई ! यह कौन देखता है ? आँखेंवाला या आँखें बिना का ?

यह आँखेंवाला न ? यह आँखें उसे कहते हैं, अन्य को आँखें कहा ही नहीं जाता। समझ में आया ?

जो वीर्य, आत्मा के स्वरूप की रचना करे, उसे ही वीर्य कहते हैं। क्या कहा ? उसे ही वीर्य कहते हैं और जो ज्ञान आत्मा को ज्ञेय बनावे, उसे ही ज्ञान कहते हैं। समझ में आया ? अगम्य को गम्य करनेवाली वस्तु है। भाई ! इसे मोक्षमार्ग.... स्वयं ही महा भगवान ऐसे मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय (होवे) – ऐसी तो असंख्य जो निर्मल पर्याय होती है, वह तो सब आत्मा में पड़ी है। क्या कहा ? मोक्षमार्ग की पर्याय – सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र से प्रगट होने पर पूर्ण केवल (ज्ञान) होवे, उसमें असंख्य प्रकार की मोक्षमार्ग की पर्याय सब भगवान आत्मा में अन्तर में-ध्रुव में पड़ी है और अनन्त केवलज्ञान जो फल प्राप्त हो – ऐसा अनन्त केवलज्ञानादि, अनन्त सिद्ध की पर्यायें (उसके) पेट में पड़ी है। समझ में आया ?

मोक्षमार्ग का साधकपना असंख्य समय में ही होता है और उसका फल अनन्त समय रहता है। क्या कहा, समझ में आया ? इसीलिए इसमें शब्द पड़ा है – **'अप्पई अप्पु मुणंदयहँ'**, **'अप्पई अप्पु मुणंदयहँ कि णेहा फलु होइ। केवल-णाणु वि परिणवइ'** जहाँ केवलज्ञान भी परिणमे, ऐसा कहते हैं और शाश्वत् सुख को पावे। ओहो...हो... ! एक ही श्लोक में (सब भर दिया है)। भगवान आत्मा की जाति को अनुभव करते हुए राग, दया, दान, विकल्प आदि पर के साथ कुछ धर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। समझ में आया ? यह योगीन्द्रदेव दिगम्बर सन्त वन में बसते थे। वे पुकार करते हैं कि अरे ! **'अप्पई अप्पु मुणंदयहँ कि णेहा फलु होइ।'** भगवान ! तेरी जाति के स्वरूप की जाति, सिद्ध की जाति का आत्मा, ऐसे आत्मा की जाति का अनुभव करने से क्या फल नहीं होगा ? समझ में

आया ? प्रत्यक्ष प्रतीति, ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, विभूता आदि अनेक शक्तियों की पर्याय में प्रगटता अनुभव करने से होती है। समझ में आया ? देखो!

दूसरा फल यह है कि अन्तराय कर्म का क्षयोपशम बढ़ने से आत्मबल बढ़ता है.... देखो! वीर्य की रचना... वीर्य-आत्मबल भगवान आत्मा के सन्मुख ढला और अनुभव में वीर्य झुका – इससे उस वीर्य में ऐसी स्वरूप रचना की कि वीर्य में उल्लास आया, वीर्य में उल्लास आया कि मैं अब काम पूरा कर सकूँगा। समझ में आया ? भगवान आत्मा स्वयं को निर्विकल्प दृष्टि और ज्ञान द्वारा अनुभव करने पर एक तो मुख्यरूप से आनन्द का वेदन हुआ और वीर्य की उत्साहता, वीर्य का उत्साह, उत्साह, प्रसन्नता, प्रसन्नता, प्रमोदता (आयी), वह वीर्य उछला, पूर्ण केवल (दशा के) कारण ऐसा उत्साहित वीर्य उसे जगे, वह उसका फल है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? ए... मांगीरामजी! यह किसकी बात चलती है ? मोक्ष की ? आत्मा की। मोक्ष तो उसका फल है। आहा...हा...!

यह खेत कोई कच्चा नहीं कि जिसके खेत में साधारण घास-फूस पके, यह तो असंख्य प्रदेशी अनन्त गुण का खेत, उसका अनुभव करने पर क्या फल नहीं होगा ? कहते हैं। क्या फल नहीं होगा ? आहा...हा...! आचार्य देखो न! उछला है न वीर्य! उल्लसित, उल्लसित वीर्य! उल्लसित वीर्यवान वह आत्मा के मोक्ष के मार्ग का अधिकारी है। समझ में आया ? पामर वीर्य का (धारक) वह आत्मा के मोक्षमार्ग का अधिकारी नहीं है। समझ में आया ?

अन्तराय कर्म का क्षयोपशम (उघाड़) बढ़ने से आत्मबल बढ़ता है.... देखो! इसमें अन्तराय कर्म डाला है। यहाँ तो आत्मा में जो अनन्त वीर्य-बल है, उसका यहाँ अनुभव होने पर वीर्य की व्यक्तता इतनी जगती है कि उस वीर्य में उल्लसितता (होती है कि) इस वीर्य से तो मैं केवलज्ञान लेनेवाला हूँ – ऐसा उल्लसित होता है। समझ में आया ? अरे...! ऐसा वह कैसा होगा ? ए...ई...! किसकी बात होगी यह ? यह दुनिया में भी कहते हैं कि 'धन रले (कमाये) तो ढगला थाय, पंड रले (कमाये) तो पेट भराय' ऐसा कहते हैं न ? बातें करते हैं, हाँ! पंड रले (कमाये) तो कितना हो ? पेट

मुश्किल से भरे। जहाँ धन पाँच-पचास लाख, दस लाख, करोड़, दिन की पाँच-पाँच हजार, दस हजार की आमदनी (होती है)। हैं ?

मुमुक्षु – यही सुख की धारा है।

उत्तर – यही सुख की धारा है, मूढ़ को। आहा...हा...! आहा...हा...!

मुमुक्षु – उल्लसित वीर्य में होता क्या होगा ?

उत्तर – हैं ? उल्लसित वीर्य अर्थात् जो वीर्य शक्तिरूप है, उसका अनुभव होने पर व्यक्त के वीर्य में जागृति होती है कि यह वीर्य उछला, वह केवलज्ञान को लेगा। उसका फल-यह सर्वज्ञपद को लेनेवाला मेरा वीर्य है। मैं आत्मा सर्वज्ञपद को लेनेवाला हूँ। सिद्धपद को अल्पकाल में शीघ्रता से लेनेवाला हूँ – ऐसा वह वीर्य जगता है। समझ में आया ? ऐसा नहीं होता कि अरे...रे...! क्या होगा ? कितने भव करने पड़ेंगे ? कहाँ होगा ? बीच में पड़ेगा ? अरे...! चल... चल...! भगवान वह द्रव्यस्वरूप कभी पड़ता होगा ? द्रव्य स्वरूप पड़ जाये तो अद्रव्य हो जायेगा ?

मुमुक्षु – अभी तो वीर्य की बात है न ?

उत्तर – नहीं, यह द्रव्य की बात है। वह द्रव्य स्वयं जो वीर्य का पिण्ड है, वह कभी कहीं अद्रव्य होता है ? ऐसा जहाँ प्रतीति और अनुभव में वीर्य आया कि यह द्रव्य ऐसा है, उसका वीर्य जगा, वह फिर गिरेगा ? समझ में आया ? वह क्षयोपशम होवे तो क्षायिक ले और क्षायिक होवे तो शुक्लध्यान ले और शुक्लध्यान होवे तो केवलज्ञान ले। 'झपट मारे तलवार' – ऐसा कहीं आता है। कषाय की झपट मारे – ऐसा सब कहीं सज्झाय में आता है। कहो !

जिससे प्रत्येक कार्य करने के लिये अन्तरंग में उत्साह और पुरुषार्थ बढ़ जाता है। देखो ! ठीक लिखा है यहाँ। आत्मा के शुद्ध भगवान स्वभाव को, आत्मा के शुद्ध महिमावन्त भगवान स्वभाव को अनुभव करने पर वीर्य में.... समझ में आया ? अनेक प्रकार का उत्साह, पुरुषार्थ बढ़ने से अन्दर क्या काम नहीं करे ? ज्ञान की वृद्धि, श्रद्धा की शुद्धता, आनन्द की वृद्धि, चारित्र की स्थिरता, स्वच्छता बढ़ने पर प्रभुता की उग्रता (होती

है)। समझ में आया? वह पामर नहीं। उस भगवान प्रभु को जिसने स्पर्श किया, उसकी पर्याय में वीर्य की जागृतता, वीर्यपना जागृत हुआ है। वीर्यपना जागा है। समझ में आया? अल्प काल में आस्रव के विकल्पों को तोड़कर निर्विकल्प परमात्मा को प्राप्त करे – ऐसा उसका वीर्य है, यह कहते हैं।

तीसरा फल थोड़ा लिया.... **पाप कर्म का अनुभाग घटावे....** पापकर्म का रस घट जाये, पुण्यकर्म का अनुभाग बढ़ जाये। लो! समझ में आया? चौथा फल **आयुकर्म के अतिरिक्त समस्त कर्मों की स्थिति....** घटती जाती है। सहज अनुभव होने पर भगवान आत्मा अपने अक्षय स्थितिवन्त भगवान आत्मा के अनुभव से अनुभव होने पर पुण्य का रस बढ़ता है, पाप रस घटता है, समझे न? और आयु की स्थिति भी कम बाँधता है, अधिक नहीं बाँधता यह नरक आदि की और स्वर्ग की भी अमुक बाँधता है। **आयु कर्म के अतिरिक्त समस्त कर्मों की स्थिति...** कम बाँधता है। आयु की एक अधिक बाँधता है परन्तु दूसरी स्थिति तो बहुत ही कम (बाँधता है) क्योंकि मोक्षमार्ग आया उसे संसार की स्थिति कैसे बढ़े? भगवान आत्मा अपना मोक्ष के, छूटने के मार्ग में चढ़ा, उसे छूटने की स्थिति कैसे बढ़े? वह कर्म तो अब छूटने योग्य है, उनकी स्थिति बहुत ही अल्प रहती है, विशेष नहीं होती है।

यदि केवलज्ञान उत्पन्न करने योग्य ध्यान न हो सके तो फिर मनुष्य, देवगति में जाकर उत्तम देव होता है। यदि सम्यग्दर्शन का प्रकाश टिक रहा हो तो.... यह टिक रहा हो, क्या? इसका यह बना, आत्मा है, और बना रहे वह कहाँ नहीं बने? समझ में आया? **यदि सम्यग्दर्शन का प्रकाश टिक रहा हो तो फिर प्रत्येक जन्म में आत्मानुभव करके अपनी योग्यता बढ़ाया करता है।** एकाध, दो भव करने पर भी, राग की मन्दता है, पुरुषार्थ की कमी है तो उसमें आगे बढ़ने से अनुभव बढ़ता जाता है। कहो, समझ में आया? अन्त में आठों कर्मों का क्षय करके, चार का (क्षय होने पर) अरहन्त परमात्मा होता है, ज्ञानावरणीयादि नाश होकर सर्वज्ञ होता है (और) अघाति का क्षय होने पर सिद्ध होता है। लो, क्या फल नहीं होता? यहाँ तक फल होता है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

उसी के प्रताप से श्रुतकेवली होता है। आत्मा के अनुभव से श्रुतकेवली होता है। आहा...हा...! पढ़ने से नहीं होता – ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा...हा...! क्या फल नहीं होता ? आत्मा आनन्दकन्द की जहाँ अनुभवदशा प्रगट हुई, कहते हैं कि (वह) श्रुतकेवली होता है। पढ़ना नहीं पड़ता और श्रुतकेवली होता है। आत्मा पढ़ा, वह श्रुतकेवली होता है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – बारह अंग, चौदहपूर्व धारी श्रुतकेवली ?

उत्तर – हाँ, यहाँ निश्चय भान हुआ, वह श्रुतकेवली हुआ, परन्तु यह श्रुतकेवली उसकी बात करते हैं, ज्ञान की उग्रता की बात करते हैं। समझ में आया ? श्रुतकेवली तो निश्चय से अनुभव हुआ, वह निश्चय श्रुतकेवली ही है। वह बारह अंग, चौदह पूर्वधारी श्रुतकेवली नहीं परन्तु यह अनुभव होने पर वह श्रुतकेवली होता है – ऐसा कहते हैं। उसके अनुभव की जाति ऐसी है कि वहाँ अन्दर से आगे बढ़ने पर श्रुतकेवली हो जाता है। यह शास्त्र पढ़ते... पढ़ते... पढ़ते... श्रुतकेवली होता है – ऐसा नहीं, ऐसा निषेध करते हैं। भगवान की खान में यहाँ जो पूर्ण ज्ञान पड़ा है, उसका अनुभव होने पर श्रुतकेवली होता है, अवधि होता है, मन:पर्यय होता है... समझ में आया ? और केवल (ज्ञान) भी होता है।

आत्मानुभवी का उद्देश्य केवल शुद्धात्मा का लाभ है। लो ! **परन्तु पुण्यकर्म बढ़ने से रिद्धि सम्पदायें स्वयं प्राप्त हो जाती हैं।** आता है, कहते हैं। दृष्टान्त दिया है आम्रफल, आम्रफल.... आम... आम बोया, आम बोया तो पहले तो उसे पत्तियाँ आदि होती हैं न ? पत्र, डाली, यह होने के बाद फल होता है। **जैसे आम के लिये ही माली आम का वृक्ष बोता है, फल आने के पहले वह माली वृक्ष के पत्ते, डाली, और फूल का अनुभव करता है।** बाद में आम का (अनुभव) होता है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा का अनुभव होने पर कितना ही पुण्य का भाग उसे बाहर आता है। स्वर्ग में सुख, चक्रवर्ती, तीर्थंकर इत्यादि.... आत्मा का सुख पूर्णानन्द की प्राप्ति (होता है)।

दूसरा दृष्टान्त दिया है। **जैसे राजमहल की तरफ जानेवाला मनुष्य सुन्दर मार्ग पर चलता है।** बड़ा चक्रवर्ती का बंगला हो, उसमें जाने पर मार्ग के रास्ते में ही उसकी दूसरी जाति होती है। वह कहीं दूसरे के घर जैसा मार्ग अन्दर नहीं होता।

मुमुक्षु – गली-कूची नहीं होती।

उत्तर – गली कूचे नहीं, मार्ग ही दूसरे प्रकार का होता है। जहाँ दिग्विजय रहता हो, वहाँ बंगले में अन्दर गया, वहाँ बड़ा बंगला... ओ...हो... ! देखो तो मार्ग ही सब ऐसा होता है। बड़ा बंगला हो उसका रास्ता (अलग प्रकार का होता है)। चक्रवर्ती के बंगले जाना हो तो उसका रास्ता ही सब (अलग प्रकार का होता है)। इसी प्रकार दरवाजे में प्रवेश करते ही चारों ओर उपवन होते हैं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

मनोहर उपवनों में रुकता है.... लो! विश्रान्ति लेना पड़े.... थोड़ा लम्बा मार्ग (होवे) तो बैठे, **शीतल जल पीता है....** बड़े राजा के बंगले बड़े, दो-दो, पाँच-पाँच, दस-दस, बीस-बीस गाँव में (होते हैं)। 'जापान' में बड़ा दरबार है न! बहुत बड़ा है, बहुत बड़ा। कितने मील में तो उसका बड़ा बंगला है। जापान कहा न? राजा की बात सुनी थी, कहीं लिखी हो, सुनी हो.... दिमाग में किसे याद होती है? समझ में आया? **पौष्टिक फल खाता है....** ऐसे फल हों, वे तोड़कर खाता है। समझे न? लो, ठीक!

उसी प्रकार **मोक्ष का अर्थी जीव निर्वाण पहुँचने के लिए आत्मा के अनुभव की सुखदायक सड़क पर चलता है।** आत्मा के अनुभवरूपी सुखदायक सड़क पर चलता है, वहाँ दु:ख नहीं है। आहा...हा... ! मोक्षरूपी महल में पहुँचने से पहले भी सुखदायक सड़क पर चलता है। अन्तर के ज्ञानानन्द की एकाग्रता द्वारा सुखरूपी सड़क पर चलता है। समझ में आया? ऐसा फल है। लो! (फिर) तत्त्वानुशासन का कुछ कहा है। यही कहा है।

मुमुक्षु – वस्तु में तो मिठास है परन्तु उसके वर्णन में भी मिठास है।

उत्तर – वर्णन में, वाणी में मिठास है, वह तो अमृत कहलाता है, उसको (आत्मा को) लेकर। समझ में आया? शक्कर की थैली हो, वह शक्कर में तोली जाती है। शक्कर होती है न? बड़ी-बड़ी डली! चार-चार मण के (वारदान होते हैं।) शक्कर का वारदान शक्कर में तुलता है। ढाई सेर का वारदान शक्कर में गिना जाता है। रुपये की थैली, यह रुपये की थैली रुपये में तुलती है। पहले रुपये की थैलियाँ भरती थीं, वह रुपये पहले नगद थे न! थैलियों की थैली भरते 'सायला' का सुना था न! सायला का नहीं? सायला है न,

सायला! वहाँ पहले सेठ था, अच्छा सेठ था, उसके पुत्र का विवाह था, पुत्र का विवाह, राजा को सेठ के प्रति प्रेम, सेठ को राजा के प्रति प्रेम, किसी का (किसी के साथ) कपट नहीं। स्पष्ट बतावे वह तो। बड़ा कमरा था, उसमें दाने की थप्पियाँ डाले वैसे रुपये के थैलों से भरी हुई थप्पियाँ थीं। राजकुमार साथ में (था), राजा का लड़का साथ में था। सेठ के पुत्र का विवाह हो, इसलिए राजा को बुलाया। लड़का ऐसे-ऐसे हाथ मारता है, वे चाँदी की थैलियाँ पड़ी थीं। रुपये की थैलियों की थैलियाँ भरी हुई, हाँ! पूरी लाइन... बापू! यह क्या है? राजा को कहे। भाई! अपने सेठ बहुत रुपयेवाले हैं और यह रुपये यहाँ रखे हैं। क्यों? कि उनका जाय तो अपने को भरना पड़े – ऐसा उन्हें अपने पर विश्वास है। राजा ऐसे मीठे थे, उनके पैसे खुले यहाँ रखे हैं। एक थैली जाये तो अपने को कहे, तो अपने को भरना पड़े। उन्हें अपने पर ऐसा विश्वास है, कोई ले नहीं, कोई इन्हें छुए नहीं। निहालभाई! उस समय राजा ऐसे (थे)। ऐसा नहीं कि इतना सब उनके पास? मेरे पास नहीं और उनके पास इतना सब – ऐसा नहीं था। (राजा के लड़के को ऐसा कि) यह क्या है? (पहले) छुआरे बँटते न? छुआरे... छुआरे बँटते तो राजा के कुँवर ने हाथ (लगाया कि) यह छुआरे भरे है? छुआरा नहीं, भाई! कुँवर! यह तो रुपये, सेठ के नगद रुपये हैं। इतने खुले? खुले कहाँ, यह तो अपने सेठ को अपने पर विश्वास है। हम राजा के पुत्र हैं, पुत्र की लक्ष्मी राज की है – ऐसा सोचकर उसे दरकार नहीं। कोई ले जायेगा या कोई लूटेगा – ऐसी दरकार नहीं। इसलिए खुला रखा है। ऐ...ई...!

एक व्यक्ति के घर में एक बड़े नेता को भोजन करने बैठाया और जहाँ खाने के लिए चाँदी की दस हजार की थाली रखी (तो कहता है) तुम्हारे ऐसे कहाँ से? स्वयं साधारण बेचारे को नेता बनाया है, घर में कुछ न हो, समझने जैसा होता है। उस साधारण गृहस्थ के घर में दस हजार के चाँदी के थाल हों, पाँच-दस लाख, पच्चीस लाख की पूँजी हो तो दस हजार के चाँदी के थाल (रखे हों) (तो वह कहे) तुम्हारे यह कहाँ से? अरे...! ऐसी तुम्हें ईर्ष्या! वह तो राजा की मीठी नजरें, समझें न? सब लाईन ही दूसरी थी। समझे, पुण्य भी अलग (थे)।

यहाँ परमात्मा स्वयं.... ओ...हो...! उसका लग्न शुरु करना... उसमें थैलियों की

थैलियाँ रत्नों की भरी हों, कहते हैं। यह क्या है ? यह तो रत्न से भरा भगवान चैतन्य रत्नाकर है। यह निर्भय से, अपने वीर्य से पूर्णानन्द को प्राप्त करेगा, भगवान को पूछे तो भगवान ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? पूर्ण को केवलज्ञान को पायेगा, भगवान को पूछा कौन है कुन्दकुन्दाचार्यदेव ? वहाँ पूछा, इतने चार हाथ के आचार्य वहाँ गये, चक्रवर्ती ने पूछा, चार हाथ का शरीर... वहाँ पाँच सौ धनुष की देह। वहाँ नीचे बैठे, नीचे बैठ गये। हाथ में उठाकर (पूछता है) महाराज! यह कौन है ? भरतक्षेत्र के धर्म धुरन्धर आचार्य हैं। भगवान के मुख से बात निकली। रतनलालजी! कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे। अभी विराजमान हैं वहाँ गये थे। आठ दिन रहे थे, भगवान को चक्रवर्ती ने पूछा – छोटा शरीर इसलिए ऐसे नन्हें से लगें, यह टिड्डी जैसा मनुष्य होता है न ? इतना छोटा नाक और यह सब.... पाँच सौ धनुष की देह और यह पाँच सौ का भाग चार हाथ और वे दो हजार (हाथ) कौन होगा ? नाक, कान, हाथ, पैर.... भरतक्षेत्र के धर्म -धुरन्धर आचार्य हैं। पहले नम्बर के आचार्य हैं, आहा...हा... ! भगवान के श्रीमुख से वाणी दिव्यध्वनि द्वारा (निकली) हाँ! उन्हें ऐसी कुछ वाणी नहीं निकलती, दिव्यध्वनि द्वारा कहा – यह भरतक्षेत्र के महा आचार्य हैं। आहा...हा... ! इनका केवलज्ञान निश्चित हो गया है। समझ में आया ? यह तो पंचम काल में अवतार है, इसलिए स्वर्ग में गये हैं। वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर केवल (ज्ञान) लेकर मोक्ष जानेवाले हैं। वे कुन्दकुन्दाचार्यदेव दिगम्बर सन्त (केवलज्ञान लेंगे)। भगवान की वाणी में निकला कि यह आचार्य है। आहा...हा... ! समझ में आया ? उस वाणी का योग उनके पास आया... केवलज्ञानी के पास इच्छा बिना वाणी का योग... देखो तो सही ! आहा...हा... ! ऐसे यह कहते हैं, आत्मा का ध्यान करने से वीर्य प्रस्फुटित होकर अनन्त स्वरूप की रचना करने की सामर्थ्य और उत्साह वहाँ उसे बढ़ता है, केवलज्ञान लेगा।

☆ ★ ☆

परभाव का त्याग संसारत्याग का कारण है

जे परभाव चएवि मुणि, अप्पा अप्प मुणंति।
केवल-णाण-सरुव लइ, ते संसारु मुचंति॥६३॥

यदि परभाव को तजि मुनि, जाने आप से आप।
केवलज्ञान स्वरूप लहि, नाश करे भवताप॥

अन्वयार्थ – **(जे मुणि परभाव चएवि अप्पा अप्प मुणंति)** जो मुनिराज परभावों का त्याग कर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं **(ते केवल-णाण-सरूव लइ (लहि) संसारू मुचंति)** वे केवलज्ञान सहित अपने स्वभाव को झलका कर संसार से छूट जाते हैं।

☆ ★ ☆

परभाव का त्याग संसारत्याग का कारण है।

जे परभाव चएवि मुणि, अप्पा अप्प मुणंति।
केवल-णाण-सरुव लइ, ते संसारु मुचंति॥६३॥

ओहो...हो... ! अकेला मक्खन ही डाला है। जो कोई धर्मात्मा **परभावों का त्याग करके....** विकल्प जो शुभाशुभराग, उस शुभ और अशुभराग को छोड़कर **आत्मा का अनुभव करता है....** देखो ! त्यागधर्म की आवश्यकता इसमें बतायी है। त्यागधर्म अर्थात् इस विकल्प का त्याग। परभाव विकार पुण्य और पाप दोनों परभाव हैं। शुभराग, वह परभाव है, उसका त्याग (और) स्वरूप का अन्तर ग्रहण.... है न ? **'अप्पा अप्प मुणंति'** आत्मा, आत्मा को जाने। विकारभाव को छोड़कर, भगवान आत्मा, आत्मा को जाने, कहते हैं। **वह केवलज्ञानसहित अपने स्वभाव को प्रगट करके संसार से छूट जाता है।** समझ में आया ?

उसका त्याग करके वीतरागभाव में रमणता करने से संवर और निर्जरा का लाभ होता है। लो ! इत्यादि बहुत बात की है। यहाँ तो फिर इन्होंने कहा है **साधक को पहले तो मिथ्यात्वभाव का त्याग करना चाहिए। उसके लिए बाह्य कारण ऐसे रागी, द्वेषी देव, परिग्रहधारी, आत्मज्ञानरहित साधु और एकान्त कथन करनेवाले शास्त्रों की भक्ति छोड़ना....** ऐसा कहते हैं। छोड़ने का आया न ? परभाव छोड़ने का... इसलिए यह डाला है। छोड़ने में पहले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़ो, उसकी

व्याख्या की, हाँ! रागी-द्वेषी देवों की श्रद्धा छोड़े, परिग्रहधारी और आत्मज्ञानरहित साधु, सच्चे सन्त और आत्मज्ञानरहित उन्हें छोड़े, उनकी श्रद्धा छोड़ दे, एकान्तनय कहनेवाले शास्त्र भी भक्ति छोड़ दे।

तीव्र पाप से बचना.... फिर सात व्यसन का त्याग (करता है)। यह त्याग आया सही न? '**परभाव चएवि**'। **द्युतरमण, मदिरापान, मांसाहार, चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री सेवन की रुचि को मन से दूर करे, नियमपूर्वक त्याग न कर सकने पर भी उनसे अरुचि पैदा करे,** अरुचि पैदा करे। **अन्याय सेवन से ग्लानि करे तथा वीतराग सर्वज्ञदेव निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु....** अब सुलटा लिया। **वीतराग सर्वज्ञदेव निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी साधु, अनेकान्त से कहनेवाले शास्त्रों की भक्ति करे। सात तत्त्व को जानकर मनन करे, तब अनन्तानुबन्धी कषाय व मिथ्यात्व भाव का विकार परिणामों से दूर होगा। सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान व स्वरूपाचरण चारित्र का लाभ होगा।** लो, इसमें इन्होंने दिया, अभी यह विवादित शब्द है।

मुमुक्षु – नया विवाद खड़ा किया है।

उत्तर – व्यर्थ में खड़ा किया है। स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में नहीं होता। अरे... ! यह तो तेरे इकाई बिना की शून्य जैसी बातें हैं। ऐसी बातों से कुछ भी (लाभ)? स्वरूप है, उसकी दृष्टि हुई और स्वरूपा का आचरण तथा स्थिरता न हो तो सामान्य का विशेष क्या प्रगट हुआ? सामान्य को विषय करनेवाली दृष्टि है। सामान्य को विषय किया इसलिए साथ में थोड़ी विशेषता, सामान्य और स्थिरता होती है तो वह स्वरूपाचरण है। आहा...हा... ! मानो स्व का आश्रय हो जायेगा तो शुभयोग से लाभ (मानना) उड़ जायेगा। अरे भगवान! शुभयोग से कुछ नहीं (होनेवाला है)। छोड़ न, वह स्थूल पर है। शुभयोग छोड़ और स्वभाव का आदर कर तो तुझे अन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होगी।

स्वरूपाचरणचारित्र का लाभ... देखो, चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर परभाव मिथ्यात्वादि का त्याग होकर, अनन्तानुबन्धी का त्याग होकर और स्वरूप की दृष्टि ज्ञान और स्वरूप आचरण का प्रगट होना होता है। यह त्याग और ग्रहण दोनों बातें हैं, फिर आगे बात ली है। अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय, संज्वलन कषाय, नौ

कषाय, राग-द्वेषभाव का नाश करता है। अन्तरंग का चौदह प्रकार का भाव परिग्रह छोड़ता है, यह सब छोड़कर एकान्त में ध्यान करता है – ऐसा कहते हैं।

जितने भाव कर्मों का निमित्त होते हैं, वे सब अनित्य हैं, उन सबके प्रति राग छोड़ता है.... भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु की शरण लेने से, उसका आश्रय लेने पर, उसका ध्यान अनुभव करने से, कर्म के संग से उत्पन्न हुआ विकार, फिर शुभराग दया, दान, व्रत हो या अशुभ हो सब अनित्य है, अनित्य हैं, क्षणिक हैं, उपाधि हैं, उन्हें छोड़े। नित्यानन्द का ध्यान करे और अनित्य राग को छोड़ता है, उसमें '**परभाव चएवि**' आया न? परभाव को छोड़े और '**अप्पा अप्प मुणंति**' उसमें से यह निकल सकता है। क्या कहा? विकारभाव पुण्य-पाप, शुभाशुभ, वह अनित्य है क्योंकि निमित्त के लक्ष्य से हुए क्षणिक (भाव) है। उन्हें छोड़कर '**अप्पा अप्प मुणंति**' नित्यानन्द भगवान आत्मा को निर्मलानन्द पर्याय से अनुभव करे। समझ में आया? कठिन डाला है, हाँ! संक्षिप्त शब्दों में बहुत रखा है।

औदयिक, क्षायोपशमिक और छूट जानेवाले ऐसे औपशमिक भावों के प्रति विरक्त होकर क्षायिक और पारिणामिक जीवत्वभाव को अपना स्वभाव मानकर एक शुद्ध आत्मा की बारम्बार भावना करता है। लो! ठीक। क्या कहते हैं? '**परभाव चएवि**' शब्द है न? पुण्य-पाप के विकल्प तो श्रद्धा में से छोड़े परन्तु उपशमभाव, क्षयोपशम भाव, और उदय; उदयभाव, क्षयोपशम और उपशम ये तीनों पर्याय छूटने लायक है। स्वभाव का आश्रय करने पर क्षायिक पर्याय प्रगट होती है। पारिणामिकभाव तो स्वयं है। समझ में आया? आहा...हा...!

मानो दूसरे देश में खेलते हों, उसकी यह बातें हैं। दूसरा देश है, दूसरा देश। समझ में आया? 'हम परदेसी पंखी साधु, आरे... देश के नाहिं रे.... हम परदेसी पंखी साधु, आरे.... देश के नाहिं रे.... आतम अनुभव करीने अमे उड़ी जासु सिद्ध स्वरूपे रे... हम परदेसी पंखी साधु,.... आरे.. देशना नाहिं रे....' परभाव विकल्प के देश के हम नहीं हैं। आहा...हा...! पुण्य और पाप के भाव के देश का आत्मा नहीं है, हाँ! प्रभु! आहा...हा...! यह भगवान अनन्त आनन्द का धाम स्वदेश-स्वधाम उसमें हम जायेंगे और यह हम छोड़ेंगे।

आहा..हा...! देखो! यह योगीन्द्रदेव दिगम्बर सन्त महामुनि जंगल में बसनेवाले! वन के बाघ-सिंह दहाड़ मारकर बात करते हैं कि मार्ग यह है। समझ में आया? पुण्य-पाप का भाव, अरे...! व्यवहाररत्नत्रय, दया, दान, भक्ति का भाव वह परदेशीभाव है, वह स्वदेश का नहीं। आहा...हा...! कान में सच्चा सुनना भी कठिन पड़ गया है, हैं? रतनलालजी! आहा...हा...!

ऐसे परमात्मा स्वयं शुद्ध चिदानन्द का धाम भगवान पड़ा है न! तेरे स्वरूप में तो अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। अनन्त सिद्ध की पर्यायों का पिण्ड तो तू है – ऐसा भगवान जिसकी श्रद्धा-ज्ञान में, अनुभव में आया, कहते हैं उसे क्या बाकी रहा? वह पुण्य-पाप के भाव परदेश भाव, परदेशी भाव हैं। श्वेताम्बर में परदेशी राजा आता है न? वह परदेशी राजा...। पुण्य-पाप के भाव को माननेवाला आत्मा वह परदेशी है। अकेला पुण्य-पापरहित भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसकी श्रद्धा-ज्ञानवाला, वह स्वदेश को माननेवाला है। आहा...हा...! समझ में आया?

एक पारिणामिकभाव आत्मा का त्रिकाली जीवत्वस्वरूप कारणप्रभु को अपना जानकर और उस ओर झुकाव करके अनुभव करे। कहो, समझ में आया? **वही मोक्षमार्ग है और सदा ही आनन्दामृत का पान कराता है**। वही आत्मा का मोक्षमार्ग है, जिसमें सदा मोक्षमार्ग में अतीन्द्रिय अमृत का पान करनेवाला मोक्षमार्ग है। वहाँ दु:ख और जहर उलझन नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? यह घानी में पिलने के काल में, भगवान आत्मा में अन्दर रमणता करता होता है। आहा...हा...! समझ में आया? जिसे पर का लक्ष्य छूट गया है और विकल्प का भाव जिसने छोड़ दिया है और स्वभाव की अन्तरक्रीड़ा में रमते अन्दर शरीर पिलता है। आहा...हा...! कितने ही साधु हो लवणसमुद्र में उठाकर डाल दे, डुबोवे, ऐसा पैर पकड़कर डुबोवे। शत्रु-देव हो, आहा...हा...! अन्दर श्रेणी (लगाकर) स्वरूप में चढ़ गये हैं, उपसर्ग मिट गया है, स्वरूप में चढ़ गये हैं, श्रेणी होकर केवलज्ञान (प्रगट होता है)। वह देह गिरे नीचे और स्वयं जाये ऊपर। आत्मा जिसके पास है, उसे अब क्या करना? कहते हैं। आहा...हा...! '**अप्पा अप्प मुणंति**' आत्मा, आत्मा को जहाँ अनुभव करता है, वहाँ क्या बाकी और कमी होगी? आहा...हा...! समझ में आया?

इसके बाद समयसार का श्लोक दिया है। **शुद्धभाव में चलनेवाले मोक्षार्थी महात्माओं को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्यमय परम ज्योतिस्वरूप हूँ।** यह इसका सार है। मैं तो एक शुद्ध परम चैतन्य ज्योति हूँ। सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव स्वयं को शुद्ध चैतन्यमय, ज्योतिमय मानता है। मैं विकल्पवाला और शरीरवाला यह तो ज्ञान करने के लिए दूसरी चीज रह गयी, आदर करने के लिए तो यह एक ही चीज है। ए... मोहनभाई! इस पैसे में सुख (नहीं होगा) ? कहते हैं कि वे पैसे कितने ? थैलियाँ देखकर उसे उस दिन कितना सुख होगा ? बरामदे में रुपये की थैलियाँ! धूल में सुख था ? सब आकुलता थी। ओहो...हो...! देखता नहीं नजर डालकर, पत्थर और चाँदी के लक्ष्य से देखता है कि यह सब चाँदी के पाट पड़े हैं। देखता है न उन्हें ? उस समय रुपये देखना है या नहीं ? कि यहाँ आ जाते हैं ? केवलज्ञानी देखते हैं, तीन लोक-तीन काल के रुपये, स्वर्ण मोहर सब देखते हैं। भगवान के ज्ञान में सब आता है। आहा...हा...! ऐसा चैतन्य रत्नाकर, जिसमें अनन्त रत्न पड़े हों, अब यह तो कब धूल के कंकर कितने हों, संख्यात हों, हैं खरब निखरब.... पहले बड़ा-बड़ा आता था न ? प्रारब्ध अन्तिम... क्या कहलाता है ? परार्ध खरब, निखरब, अन्तिम, मध्यम परार्ध ऐसा आता था। पहले शब्द आते थे, पाठशाला में पढ़ते तब। लो, उसका आँकड़ा बड़ा वहाँ तक आया।

यहाँ तो भगवान के अन्दर में तो अनन्त-अनन्त शुद्ध रत्नाकर का समुद्र प्रभु आत्मा है। एक समय का विकार-संसार का लक्ष्य छोड़ दे। भगवान पूर्णानन्द का नाथ का अनुभव करे तो तुझे क्या फल नहीं मिलेगा ? समझ में आया ? अल्प काल में सिद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करेगा।

☆ ★ ☆

त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य हैं

धण्णा ते भयवंत बुह, जे परभाव चयंति।
लोयालोय-पयासयरु, अप्पा विमल मुणंति ॥६४॥

धन्य अहो! भगवन्त बुध, जो त्यागे परभाव।
लोकालोक प्रकाश कर, जाने विमल स्वभाव॥

अन्वयार्थ – **(जे परभाव चयंति)** जो परभावों का त्याग करते हैं और **(लोयालोय पयासयरू अप्पा मुणंति)** लोकालोक प्रकाशक निर्मल अपने आत्मा का अनुभव करते हैं **(ते भवयंत बुह धण्णा)** वे भगवान ज्ञानी महात्मा धन्य हैं।

☆ ★ ☆

६४, **त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य हैं**। अब योगीन्द्रदेव स्वयं प्रमोद में आते हैं। आहा...हा...!

धण्णा ते भयवंत बुह, जे परभाव चयंति।
लोयालोय-पयासयरु, अप्पा विमल मुणंति॥६४॥

एक तो पहले आत्मा को लोकालोक का जाननेवाला सिद्ध किया। समझ में आया? लोकालोक को प्रकाशे – ऐसा नहीं। '**लोयालोय-पयासय अप्पा विमल मुणंति**' समझ में आया? लोकालोक का प्रकाश करनेवाला। यह सूर्य प्रकाशित करता है... सूर्य बहुत पदार्थों को प्रकाशित करता है, यह (ज्ञान) सूर्य, इस सूर्य और दूसरे सब पदार्थों को प्रकाशित करता है। लोकालोक प्रकाशक '**अप्पा विमल मुणंति**' लोकालोक प्रकाशक... प्रकाशक ऐसा शब्द है, हाँ! यह आत्मा, यह सब प्रकाश हैं, सूर्य है वह प्रकाश है और वह सूर्य इन सबको प्रकाशित करता है कि यह सब है, इन सबको प्रकाशित करनेवाला सूर्य और उसे प्रकाशित करनेवाला प्रकाश है। अर्थात् लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला आत्मा है – ऐसा कहते हैं। यह सूर्य तो कितने को प्रकाशित करेगा? समझ में आया? अर्धभाग को (प्रकाशित करता है)। दो सूर्य होकर आते हैं न?

कहते हैं, यह '**लोयालोय-पयासय**' समझ में आया? पहले तो आत्मा को सिद्ध किया कि आत्मा अर्थात् क्या? लोकालोक का प्रकाश करनेवाला आत्मा... लोकालोक का प्रकाश करनेवाला, वह आत्मा। किसी चीज को करनेवाला नहीं, किसी को छोड़नेवाला नहीं, किसी को ग्रहण करनेवाला नहीं। आहा...हा...! एक राग को ग्रहण करना या छोड़ना, वह उसके स्वरूप में नहीं है। रजकण को ग्रहण करना (नहीं) वह तो लोकालोक सब है, उसका प्रकाशक है। आहा...हा...! समझ में आया?

जो परभाव का त्याग करता है.... अन्तर में शुभाशुभराग को छोड़ता है और लोकालोक का प्रकाशक भगवान आत्मा को अनुभव करता है। लोकालोक का प्रकाश करनेवाला भगवान तू है। लोकालोक का करनेवाला नहीं, एक रजकण का करनेवाला नहीं, एक राग को रचनेवाला नहीं, व्यवहार विकल्प को रचनेवाला नहीं, परन्तु व्यवहार आदि सब लोकालोक में जाता है, उन सबका प्रकाशक भगवान आत्मा है। आहा...हा...!

वे भगवान, ज्ञानी... 'बुह' है न? **'बुह'** अर्थात् ज्ञानी महात्मा धन्य है। कहते हैं उन्हें धन्य है। आहा...हा...! यह उन्हें धन्य है। उसे धन है और उसे धन्य है। बाकी सब भिखारी और रंक है। भगवान आत्मा लोक और अलोक का प्रकाश (करनेवाला) है। चैतन्यबिम्ब – सूर्य निरालम्बी, राग और शरीर से भिन्न चैतन्यबिम्ब पड़ा है, ऐसा लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला, ऐसा जो चैतन्य का अनुभव रागादि विकल्प को छोड़कर इसे अनुभव करे, वे ज्ञानी जगत में धन्य हैं। स्वयं भी कहते हैं, आहा...हा...! तेरा अवतार तूने सफल किया, भाई! यह अवतार, अवतार के अभाव के लिये तेरा अवतार है। समझ में आया? हैं? इसलिए धन्य है। अवतार प्रगट करने के लिये अवतार नहीं है। वह अवतार क्या धन्य (कहना)?

जिस अवतार में लक्ष्मी प्राप्त की और धूल प्राप्त की और स्त्री-पुत्र मिले, इसलिए वह अवतार... वह अवतार होगा? बहुत प्राप्त किया, हमारे पिता कुछ नहीं छोड़ गये, हमने बाहुबल से सब इकट्ठा किया। चार भाई थे, हम चारों ने विवाह किया, पढ़े, मकान बनाये एक-एक को दो-दो लाख का मकान, पाँच-पाँच दस-दस लाख की पूँजी है। यह तो कम गिनी अपने पूनमचन्द की अपेक्षा से अपने को इतना तो बहुत कहलाता है। बापा कुछ छोड़ नहीं गये थे। सब हमने बड़ा होकर अपने आप और यह मकान बनाये हमारी शक्ति प्रमाण यह सब किया। दो-दो लाख के मकान, चार भाईयों के बंगले हैं, अच्छे सगे-सम्बन्धी हैं, लड़की का विवाह अच्छी जगह हुआ है। लड़कों की शादी अच्छी जगह हुई है, और भगवान की कृपा है...। यह भगवान की कृपा होगी?

मुमुक्षु – बहुत धीमे से और शान्ति से बात करते हैं?

उत्तर – बात धीमे से करे परन्तु अन्दर गलगलिया (रोमांच) होता है। ए.... निहालभाई!

यह तो कहते हैं, तेरा अवतार धन्य है, हाँ! आहा...हा...! जिसे परचीज तो नहीं परन्तु उसका जाननेवाला राग का जाननेवाला, लोकालोक का जाननेवाला, ऐसा चैतन्य सूर्य बिम्ब भगवान जिसे तूने पकड़ा... आहा...हा...! समझ में आया? और विमलं **'मुणंत्ति'** ऐसा। ऐसे आत्मा को लोकालोक के प्रकाशक की शक्तिवाला ऐसा भगवान आत्मा, उसे अनुभव करे, कहते हैं कि हम (मुनि) धन्य... धन्य...! मुनियों को धन्य कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? तुझे ऐसा धन्य कहते हैं, केवलज्ञान लेने की तेरी तैयारियाँ हो गयीं। केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी... धनतेरस... लो! समझ में आया?

आत्मा का स्वरूप निश्चय से परम शुद्ध है.... (आज) तेरस है। पता है न! **ज्ञान उसका मुख्य असाधारण लक्षण है।** भगवान आत्मा शुद्ध है परन्तु ज्ञान उसका असाधारण लक्षण है। असाधारण अर्थात् दूसरे गुण ऐसे कोई होते नहीं। **ज्ञान में ऐसी शक्ति है कि एक ही समय में सर्व लोक के छह द्रव्यों को उनके गुण-पर्यायों सहित तथा अलोक को एक साथ क्रमरहित ज्यों का त्यों जान सकता है।** ओहो...हो...! केवलज्ञान एक समय में तीन काल-तीन लोक व्यवस्थित जैसा पड़ा है, वैसा जानता है। अभी इसका विवाद है। केवलज्ञान ऐसा जाने... केवलज्ञानी, वहाँ निमित्त आवे तब ऐसा हो तब भगवान अनियत को जाने। अरे... प्रभु! तू क्या कहता है यह? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर जिन्हें एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक जाग उठे... जिस जगह-जिस समय भूत में, भविष्य में होनेवाली उस जगह वह होगा, वहाँ निमित्त कौन है – सब भगवान के ज्ञान में नियत / निश्चित हो गया है। केवलज्ञान किसे कहते हैं? यह तो (कहे) केवलज्ञानी पहले नियत को नियत जानते हैं, और अनियत जैसा निमित्त आयेगा, वहाँ क्या पर्याय होगी, उस अनियत को अनियत जानते हैं... अरे...! भगवान तूने सर्वज्ञ को माना ही नहीं। आहा...हा...! लोकालोक का प्रकाशक उसमें कौन सी पर्याय बाकी रह गयी कि वह नहीं होगी, यहाँ होगी तब जानेंगे? यहाँ केवलज्ञान हुआ और तीन काल-तीन लोक ऐसा एक साथ जाना है। समझ में आया? ऐसे आत्मा का निर्मल अनुभव करना, ऐसे आत्माओं को, मुनि स्वयं कहते हैं कि प्रमोद और सम्मत्ति, अनुमति देते हुए धन्य कहते हैं।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ शुक्ल १४, शुक्रवार, दिनाङ्क ०१-०७-१९६६
गाथा ६४ से ६६ प्रवचन नं. २३

योगसार अर्थात् आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञायकस्वरूप त्रिकाल शुद्ध है, उसके अन्दर एकाग्रता करना, इसका नाम योग कहते हैं। इसमें भी उसका सार। उग्र योग का सार। मुनि की योग्यता को सार विशेष कहते हैं। आत्मा अन्तर शुद्ध भाव से भरपूर पदार्थ है, उसे पुण्य-पाप के भाव से रहित, अपने त्रिकाल स्वभाव में एकाग्र होकर और उसमें श्रद्धा ज्ञान व रमणता प्रगट करने का नाम योगसार कहा जाता है। इसमें यह ६४ वीं गाथा चलती है।

त्यागी आत्मध्यानी महात्मा ही धन्य है। जिसने रागादिक छोड़कर आत्मा के स्वरूप को साधा है, शुद्ध चिदानन्द-सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा का उसने साधकपने साधन करके साधा है – ऐसे धर्मात्मा को कहते हैं कि धन्य है। वह पैसेवाला हो या धूल का स्वामी हो, उसे धन्य नहीं है – ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु – वह तो दान दे, वह धन्य कहलाता है।

उत्तर – तब भी धन्य नहीं है। धूल में दान दे तो क्या वहाँ? ऐ...ई... रमणीकभाई! यहाँ पचास लाख हों, उसमें पाँच हजार-दस हजार दे, उसमें क्या धन्य कहलाये? पचास लाख दे तो भी धन्य नहीं है। शुभभाव होवे, राग की मन्दता करे तो शुभभाव हो, वह कहीं आत्मा को धन्य कर दे और आत्मा लक्ष्मी का दान दे, यह है नहीं, हाँ! ऐ...ई... रमणीकभाई! ऐसा होना मुश्किल... पचास लाख में दस लाख खर्च करना भी मुश्किल है - ऐसा कहते हैं.... परन्तु ऐसा भी निकले, लो न! परन्तु उसमें क्या है अब? वह कोई धन्य चीज नहीं है।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द की लक्ष्मी सम्पन्न प्रभु (है)। आत्मा में – अन्दर में शुद्ध आनन्द, ज्ञानादि लक्ष्मी अन्दर में पड़ी है, उसमें अन्तर योग अर्थात् जुड़ान करके शुद्धता के निर्मल भाव प्रगट करे, उसे लक्ष्मी और उसे धन्य कहा जाता है। कहो, समझ में आया? यहाँ आया न? '**धण्णा ते भयवंत बुह जे परभाव चयंति**' वह ज्ञानी धन्य है कि जो परभाव अर्थात् पुण्य-पाप का विकार-मैल है, उसे छोड़ता है और '**लोयालोय-पयासयरु अप्पा**' आत्मा कैसा है? कि लोकालोक का प्रकाशक है। यहाँ तो आत्मा की व्याख्या ही ऐसी की है। भगवान आत्मा, लोक-चौदह ब्रह्माण्ड और अलोक-खाली, उसका वह प्रकाशक है। ऐसे प्रकाशक आत्मा को निर्मलरूप से निर्मल अनुभव करता है। भगवान आत्मा निर्मल है, शुद्ध है, पवित्र है – ऐसा जो अन्तर में स्वभावसन्मुख होकर; विभावविमुख होकर आत्मा का अनुभव करता है, उसे यहाँ धन्य कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

भावार्थ में है **आत्मा का स्वरूप निश्चय से परम शुद्ध है, ज्ञान उसका मुख्य असाधारण लक्षण है**। लोकालोक प्रकाशक कहा है न? ज्ञान, यह तो इसका लोकालोक प्रकाश का इसका मुख्य लक्षण है, यह ज्ञान असाधारण लक्षण है, लो! समझ में आया? ज्ञान में शक्ति है कि एक समय में सर्व लोक – तीन काल-तीन लोक जान सके – ऐसा भगवान आत्मा में असाधारण, दूसरों में न हो ऐसा; दूसरों में न हो और दूसरे गुणों में न हो ऐसा – ऐसा आत्मा का ज्ञानस्वभाव, उसे अन्तर में अनुभव करे, उसमें एकाकार होकर आनन्दसहित उस ज्ञान का अनुभव करे, उसे धन्य कहा जाता है। वह प्रशंसनीय है, वह हितकर साधन करता है, सन्तों को भी वह प्रशंस अर्थात् सम्मत होता है – ऐसा कहते हैं।

स्वभाव से आत्मा सिद्ध समान है। तत्त्वज्ञानी महात्मा जो पद प्राप्त करने की रुचि धरते हैं, उसी पद का ध्यान करते हैं। भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप को रुचि से साधता है, तो वह उसकी रुचिवाला हो जाता है। तब **वह समस्त परपदार्थों से विरक्त हो जाता है**। भगवान आत्मा की आनन्द की परम सम्पत्ति साधते हुए जगत् के दूसरे पदार्थों के प्रति उसे उदासीनता-वैराग्य हो जाता है। **पुण्योदय से प्राप्त होनेवाले....** कदाचित् पुण्य के कारण से **नारायण....** वासुदेव की पदवी **बलभद्र, प्रतिनारायण,**

चक्रवर्ती, कामदेव, इन्द्र, धरणेन्द्र, अहमिन्द्र आदि पदों को कर्मजनित नाशवन्त आत्मा के शुद्धस्वरूप से बाह्य जानकर उन सबकी महिमा छोड़ता है.... भगवान आत्मा, अपना परमानन्दस्वभाव अनादि-अनन्त पड़ा है, उसे साधते हुए बड़ी पदवियों की ममता भी छोड़ देता है। आत्मपद निजानन्द का पद, उसे साधते हुए वासुदेव, बलदेव आदि इन्द्रपद को भी नहीं गिनता है, कहो समझ में आया?

इसी प्रकार जिन शुभभावों से लौकिक उच्च पदों की प्राप्ति योग्य पुण्य का बंध होता है.... लौकिक में सेठपना मिले या बड़े-बड़े पद मिलें। पचास-पचास हजार का वेतन मिले **उन्हें भी नहीं चाहता।** दुनिया की लौकिक बड़ी पदवी भी वह नहीं चाहता। लोकोत्तर चैतन्य भगवान आत्मा की रुचिवाला, वह अपने निजपद की पूर्णता के पद को चाहता है, दूसरी चाहना धर्मी को नहीं होती है। आहा...हा...!

धर्मानुराग, पंच परमेष्ठी की भक्ति.... पंच परमेष्ठी की भक्ति **अनुकम्पा, परोपकार, शास्त्र पठन आदि शुभभावों में वर्तता है....** इन शुभभावों में वर्तता है, फिर भी उनका आदर नहीं करता। **क्योंकि शुद्धोपयोग में अधिक नहीं स्थिर हो सकता।** शुद्ध में स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए ऐसे शुभभाव में आता है, तथापि उसके फल का और उसके भाव का वह आदर नहीं करता है। कहो, समझ में आया?

एक शुद्धोपयोग को ग्रहण करने का उत्सुक होकर धर्म प्रचार के विचार भी छोड़ता है। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा शुद्ध पूर्णानन्द का नाथ प्रभु को अन्तर्मुख में साधन की उग्रता साधते हुए जो धर्म प्रचार का विचार भी रोक देता है। धर्म प्रचार का विकल्प भी आत्मा को क्या लाभ करता है? कहो, छगनभाई! क्या कहा? धर्म प्रचार होवे ऐसे विकल्प से आत्मा को क्या लाभ है?

मुमुक्षु – धर्म प्रचार का विकल्प करे तो सुखी होता है।

उत्तर – कौन होता है? यह धर्म करे तो इसे हो, इसमें उसे क्या? विकल्प उठता है – ऐसा कहते हैं। धर्म प्रचार का भी विकल्प है, वह विकल्प भी छोड़ने योग्य है।

मुमुक्षु – कब?

उत्तर – अभी.... कब क्या ? समझ में आया ? ऐ... रतिभाई ! यह पैसे बढ़ाने का विकल्प तो छोड़ दे परन्तु धर्म प्रचार का विकल्प छोड़ दे – ऐसा कहते हैं। ठीक ! आत्मा को.... नित्य प्रभु आत्मा, ध्रुव अनादि-अनन्त आत्मस्वरूप के साधन में जुड़ने से धर्म के प्रचार का विकल्प भी जिसे नहीं होता क्योंकि उस विकल्प से पुण्य बँधता है, आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। दूसरा समझे तो उससे उसे कुछ लाभ है, इसका लाभ वहाँ नहीं होता है। आहा...हा... ! दूसरे थोड़ा धर्म पावें तो इसका कुछ ब्याज मिलता होगा या नहीं, धर्म प्राप्त करानेवाले को ? पर (जीव) समझें वे तो उनके कारण से समझते हैं। उसमें इसका लाभ यहाँ कहाँ से आया ? स्वयं अपना शुद्धस्वरूप में जितनी दृष्टि और एकाग्रता करे, उसका लाभ इसे है, बाकी कुछ है नहीं। आहा...हा... ! कहो, ज्ञानचन्दजी ! यह तो कहते हैं (कि) धर्म प्रचार का विकल्प भी बंध का कारण है। वीतरागस्वरूप परमात्मा आत्मा है, शुद्ध चिदानन्द महाराजा आत्मा है। उसके अन्तर साधन में इस विकल्प का क्या काम है ? कहते हैं। समझ में आया ?

सात तत्त्व है, नौ पदार्थ है – इत्यादि सर्व विकल्पों को बंध करनेवाला जानकार छोड़ देता है। थोड़ा-थोड़ा अर्थ लेते हैं (दूसरा) तो लम्बा बहुत किया है। समझ में में आया ? **इस प्रकार जो ज्ञानी और विरक्त पुरुष संसार के सर्व प्रपंचों से पूर्ण विरक्त होकर आत्मध्यान करता है....** अपने आत्मा का... दुनिया, दुनिया के घर रही। कहो, समझ में आया ? दुनिया समझे तो उसे लाभ, न समझे तो उसे नुकसान। यह आत्मा समझे तो यहाँ थोड़ा-बहुत मिले – ऐसा है नहीं। ऐसा होगा या नहीं ? रतिभाई !

मुमुक्षु – अभी तक मिलता था।

उत्तर – अभी तक मिलता था, कहते हैं। दूसरे में से कुछ मिलता होगा या नहीं ? धूल भी नहीं मिलता। कदाचित् ऐसा विकल्प होवे तो अन्दर पुण्य बँधे परन्तु वह तो बँधता है न ? उसमें अबन्धपरिणाम कहाँ आये ? आहा...हा... ! समझ में आया ?

परमानन्द के अमृत का पान करता है.... धर्मात्मा अकेला आत्मा में परम आनन्दस्वरूप को पीता है, अन्तर सुधारस को पीता है, उसे यहाँ धन्य कहा जाता है। वह प्रशंसनीय है। समझ में आया ? धर्म प्रचार का विकल्प है, इसलिए वह प्रशंसनीय है,

ओ...हो...हो... ! तुमने बहुत अच्छा किया... कि नहीं, वह प्रशंसनीय है ही नहीं। कठिन बात भाई वीतरागमार्ग की ! ऐ... रतिभाई ! है ? अब तो बना दिया है, कहते हैं।

मुमुक्षु – एक धर्मशाला बाकी है।

उत्तर – वह भी होने आयी है। कौन जाने.... वहाँ तो सब गृहस्थ लोग हैं, यहाँ तो मानस्तम्भ बनाया, समवसरण बनाया, मन्दिर बनाया, हॉल बनाया, अब धर्मशाला (बनायी)। अभी यहाँ आये थे न ? दीपचन्दजी – तुम्हारे यहाँ आये थे, प्रसन्न हो गये। राजकोट के सेठ हैं, उन्होंने (दान में) एक लाख रुपये निकाले हैं, मानस्तम्भ के लिए... धूल में लाख निकाले, उसमें क्या हो गया.... ? दो लड़कों के लिए कैसे पचास लाख-पचास लाख (निकालकर) दो भाग कर देते हैं ? ऐ... मलूकचन्दभाई ! कहो समझ में आया ? आहा...हा... !

भाई ! यहाँ तो कहते हैं, जहाँ आत्मा के स्वभाव में भी स्थिर न रह सके और धर्म प्रचार का विकल्प आता है, वह भी बन्ध का कारण है। आत्मा को लाभदायक नहीं है। आहा...हा... ! ऐसा वीतरागमार्ग है। विकल्परहित निर्विकल्प चैतन्य का साधन, यह स्वयं कर सकता है, इसमें किसी बाह्य पढ़ाई की आवश्यकता नहीं है और बाहरवालों को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है तथा दूसरों से पढ़ने की भी इसमें आवश्यकता नहीं है। ऐ... निहालभाई ! आहा...हा... !

वही महाविवेकी पण्डित है.... लो ! जो कोई आत्मा आनन्दस्वरूप आत्मा, सच्चिदानन्द प्रभु है, सत्, शाश्वत् आनन्द अतीन्द्रिय है, उसे जो अन्दर में एकाग्र होकर निर्विकल्परूप से वेदन करे, उसे विवेकी पण्डित, बड़ा विवेकी पण्डित है। समझ में आया ? **वही परम ऐश्वर्यवान है....** आहा...हा... ! लो रतिभाई ! यह सब पैसेवाले बड़े ऐश्वर्यवान् ऐसा नहीं। बड़ी पचास-पचास हजार, लाख-लाख, दो-दो लाख की बड़ी पदवी मिली हो, बारह महीने में पाँच लाख आमदनी करता है, दस लाख कमाता है, क्या हुआ ईश्वर.... ? यह तो....

मुमुक्षु – यह पैसे का ईश्वर, यह आत्मा का ईश्वर।

उत्तर – पैसे का ईश्वर कब था ? मूढ़ है, जड़ का ईश्वर कोई होगा ? अभिमान करे, वह अभिमान करता है। हम पैसेवाले हैं, पैसेवाले हैं, धूलवाले हैं।

यह ईश्वर तो उसे कहते हैं, भगवान आत्मा शान्तरस का भण्डार अन्दर पड़ा है, शान्ति से... शान्ति से... शान्ति से.... शान्ति का वेदन करे, आहा...हा... ! एक तरफ कौने में बैठकर, किसी को पता नहीं पड़े – ऐसा आत्मा का अन्दर शुद्ध चिदानन्दस्वरूप की अन्तर दृष्टि करके साधन करे, वह परम ऐश्वर्यवान है, वह बड़ा ऐश्वर्यवान है, वह बड़ा अधिक है। आहा...हा... ! पुण्य बड़ा अधिक करे और पुण्य का बड़ा फल बाहर में मिले, वह बड़ा नहीं है। आहा...हा... !

रत्नत्रय से अपूर्व सम्पत्ति का स्वामी है.... एक शब्द डाला है। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्धभाव का भण्डार, उसकी अन्तर में अनुभवपूर्वक प्रतीति और उसमें रमणता (होना), वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रय का वह स्वामी है, वह इस रत्नत्रय का स्वामी है। आहा...हा... ! समझ में आया ? पुण्य का मालिक और धूल का मालिक और.... सब भटकने का मालिक है – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – अभी तो सुख लगता है।

उत्तर – कहाँ सुख था ? धूल में। सब होली सुलगती है।

मुमुक्षु – किसी को छोटी होली हो....

उत्तर – दूसरे को बड़ी होती है। बड़े पैसेवाले को बड़ी होती है। हर्ष आवे नहीं यह करना है और यह करना है और यह कहना है.... पाँच लाख यहाँ डालना है, दस लाख यहाँ डालना है, पच्चीस लाख यहाँ डालना है, पाँच करोड़-दस करोड़ डालना कहाँ ? कहो ? एक फिल्म में डालना, फिर उसमें थोड़ा डालना, फिर थोड़ा मकान बनाना, फिर थोड़ा दीवार चिनाने में डालना।

मुमुक्षु – अब पैसेवालों को करना क्या ?

उत्तर – पैसेवाले को ममता छोड़ना। (आत्मा) पैसेवाला था कब ? पैसे इसके पिता के हैं ? इसके हैं ? वह तो धूल के हैं। यह तो चैतन्य लक्ष्मीवाला आत्मा है।

अन्दर केवलज्ञान-महाभण्डार पड़ा है। उसे अनुभवे, वह तीन रत्न का स्वामी है। यह अपूर्व रत्न, देखो ! रत्नत्रय की अपूर्व सम्पदा का स्वामी **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र**

की एकता में लवलीन है। अपने स्वरूप में श्रद्धासहित, ज्ञानसहित लीनता होना, वही सच्ची उत्कृष्ट बात है। **वही भाग्यवान है....** वही भाग्यवान है। **वही भगवान है....** आहा...हा... ! **अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख का स्वामी है...** वह अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख का स्वामी है। **वह शीघ्र मोक्ष की प्राप्ति करेगा।** वह अल्प काल में केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। कहो! यह भगवान आत्मा सच्चिदानन्दप्रभु का जो अन्तर एकाग्र होकर ध्यान करता है, उसे ही यहाँ धन्य कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

फिर आत्मानुशासन का एक दृष्टान्त दिया है **जिन महात्माओं का आभूषण उनके शरीर पर चिपटी हुई रज है....** अब मुनि की उत्कृष्ट बात लेते हैं। महात्मा दिगम्बर सन्त आत्मध्यान में इतने मस्त होते हैं कि जिन्हें वस्त्र का धागा भी नहीं होता। आत्मा के आनन्द में अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त हों, उन्हें मुनि कहते हैं। जिन्हें शरीर का गहना क्या? गहना... गहना... इस शरीर में लगी हुई रज। शरीर में रज लगी, वह उनका गहना (है)। पूर्णानन्द का नाथ जिसमें स्वसंवेदन की उग्रता में पड़े हैं – ऐसे सन्तों को रज, वह गहना है। कहते हैं। शरीर में मैल चढ़ा हो और रज पड़े, वह उनका गहना।

जिनके बैठने का स्थान पाषाण की शिला है.... आहा...हा... ! बादशाही करते हैं। शिला पर बैठकर अन्दर में ध्यान (करते हैं)।

मुमुक्षु – आरामकुर्सी चाहिए न?

उत्तर – आरामकुर्सी.... मर गये, आरामकुर्सी में – ऐसे पड़े वहाँ दरबार मर गये, कृष्णकुमार! ऐ... मुझे यहाँ कुछ होता है, असुख होता है, असुख होता है – ऐसा कहा। रानी को बुलाओ, जहाँ रानी आयी, वहाँ तो ऐसा हो गया.... समाप्त! डाक्टर आये, धूल में क्या हो? आरामकुर्सी.... आरामकुर्सी में आराम ले लिया....लो! अन्तिम। आत्मा के भान बिना सब व्यर्थ है।

आत्मज्ञान की लक्ष्मी जिसने प्राप्त की है और उसमें विशेष लीन है, वह तो कहते हैं कि उसके बैठने का स्थान शिला है। **जिनकी शैय्या कंकड़वाली भूमि है,....** कंकड़वाली भूमि वह उनकी शैय्या। आहा...हा... ! दिगम्बर मुनि वस्त्ररहित, जंगल में आत्मा के ध्यान में रहते हों.... कंकड़... कंकड़ हों, इतने-इतने कंकड़ (हो) ऐसे चुभते

हो, हाँ! वह शैय्या है कहते हैं। उसमें आत्मा के आनन्द में रहते हैं। कहो, समझ में आया? यहाँ मखमल की शैय्या पर सोता हो (परन्तु) दु:खी है (मुनि) आनन्द में है, कहते हैं। आहा...हा...!

जिनका सुन्दर घर बाघ की गुफा है.... जिसमें बाघ बसते हों, वह सुन्दर घर। बाघ निकल गया हो तो बैठें। अन्दर में लगनी लग गयी है, आनन्द की.... आनन्द की... आनन्द की... आनन्द की.... गिरिगुफा अनुभूति। अनुभूतिरूपी गिरिगुफा में प्रवेश किया है। अन्तर आनन्द के कन्द में अन्दर प्रवेश करना, वही उनकी लक्ष्मी है। कहो, समझ में आया?

जिन्होंने अपने अन्दर से सर्व विकल्प मिटा दिये हैं और जिन्होंने अज्ञान की गाँठे तोड़ दी हैं। अज्ञान की गाँठ, ग्रन्थिभेद (करके) तोड़ डाला है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द का खजाना जिसने खोल दिया है। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द का खजाना, स्वभाव में एकत्व बुद्धि करके खोल दिया है। अज्ञान की गाँठ तोड़ डाली है। राग और आत्मा के स्वभाव की एकता – ऐसा अज्ञान तोड़ डाला है।

जिनके पास सम्यग्ज्ञानरूपी धन है, जो मुक्ति के प्रेमी हैं, दूसरी समस्त इच्छाओं से दूर हैं, ऐसे योगी हमारा मन पवित्र करो। लो, मुनि स्वयं भी आत्मानुशासन में कहते हैं, हाँ!

☆ ★ ☆

गृहस्थ या मुनि, दोनों के लिए आत्मरमणता सिद्ध-सुख का उपाय है

सागारु वि णागारु कु वि, जो अप्पाणि वसेइ।
सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु, जिणवरु एम भणेइ॥६५॥

मुनि जन या कोई गृही, जो रहे आतम लीन।
शीघ्र सिद्धि सुख को लहे, कहते यह प्रभु जिन॥

अन्वयार्थ – (सागारू वि णागारू कुवि) गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो **(जो अप्पाणि वसेइ)** जो अपने आत्मा के भीतर वास करता है **(सो सिद्धि-सुहु**

लहु पावइ) वह शीघ्र ही सिद्धि के सुख को पाता है **(जिणवरू एम भणेइ)** जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है।

☆ ★ ☆

अब, **गृहस्थ हो या मुनि, दोनों के लिए आत्मलीनता सिद्धि के सुख का उपाय है।** अब ऐसी गाथा। अभी कोई कहते हैं न कि गृहस्थाश्रम में आत्मा का ध्यान, ज्ञान नहीं होता। आठवें (गुणस्थान में) होता है। अभी तो शुभोपयोग होता है – (ऐसा कोई कहते हैं।)

सागारु वि णागारु कु वि, जो अप्पाणि वसेइ।
सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु, जिणवरु एम भणेइ॥६५॥

जिनवर सर्वज्ञदेव परमेश्वर परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव धर्मस्वभाव में सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, भगवान की वाणी में ऐसा हुकम आया, ऐसा सन्देश आया कि गृहस्थाश्रम में रहनेवाला कुटुम्ब में पड़ा होने पर भी इस आत्मा का अन्तर में ज्ञान दर्शन करके बस सकता है। समझ में आया?

गृहस्थ हो या मुनि कोई भी हो, जो अपने आत्मा में वास करता है। यह तो योगीन्द्रदेव कहते हैं। भगवान की साक्षी (देते हैं)। दूसरे (लोग) कहते हैं, भगवान की साक्षी से ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! भगवान परमेश्वर सर्वज्ञदेव जिनवर ऐसा कहते हैं न, भाई! वीतराग का बिम्ब जिसने पूर्णानन्द का प्रगट किया है, उसे इच्छा बिना वाणी में ऐसा आया है न कि गृहस्थ भी पाँचवें गुणस्थान, चौथे (गुणस्थान) आदि में अपने आत्मा को शुद्ध निर्विकल्प का अनुभव करने पर उस आत्मा में बसता है, बस सकता है। समझ में आया? वे कहें, गृहस्थाश्रम में ध्यान नहीं होता, उसे अनुभव नहीं होता, उसे स्वरूपाचरण नहीं होता.... आहा...हा...!

अप्पाणि वसेइ है, लो, आत्मा में बसता है। गृहस्थाश्रम में राग हो परन्तु उससे भिन्न पड़कर स्वयं निवृत्ति के काल में भगवान आत्मा (में) निर्विकल्पदशा द्वारा, शुद्ध उपयोग द्वारा बसता है और यह बसना हो सकता है – ऐसा जिनवर कहते हैं। कहो, इसमें

समझ में आया ? मुनि को ही ऐसा हो सके – ऐसा नहीं है। मुनि उग्ररूप से बसते हैं। मुनि अर्थात् सच्चे, हाँ! सच्चे मुनि; वे उग्ररूप से आत्मा में बसते हैं; आत्मा में बसते हैं। आहा...हा...!

समकिती ज्ञानी श्रावक हो, तो भी वह आत्मा में बसता है। एक न्याय क्या देते हैं ? उसमें उसे अशुभ आदि राग होता है, तथापि उसका उसमें वास्तव में बसना नहीं होता। एक बात यह है। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि को तीन कषाय है, श्रावक को दो कषाय, मुनि को एक (कषाय है) फिर भी निश्चय से तो वे आत्मा में ही बसे हुए हैं – ऐसा एक न्याय से कहते हैं। समझ में में आया ?

वह राग में बसता ही नहीं, दृष्टि ही नहीं – ऐसा कहते हैं। सम्यक् आत्मा का, शुद्ध चैतन्य का भान, निर्विकल्प वेदन हुआ और थोड़ी शुद्धि बड़ी तथा उससे शुद्धि बड़ी मुनि को, परन्तु इन सबका वास्तव में तो आत्मा में ही बसना है। रागादि बाकी हैं, वे तो ज्ञान में जाननेयोग्य वस्तु है। आहा...हा...! समझ में आया ?

अपने आत्मा में वास करते हैं, वे शीघ्र ही सिद्धि का सुख पाते हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। समझ में आया ? उसका श्लोक भी है ? गुजराती क्या किया है अन्दर ? '**मुनिजन के कोई ग्रही जो होय आतमलीन**' – देखो! गृहस्थाश्रम में भी पुण्य-पाप के विकल्प होने पर भी, उनसे भगवान आत्मा को ज्ञानस्वरूप से अधिक अनुभव करके और विकार से भिन्न करके, निर्विकल्पस्वभाव में एकत्व होकर उसमें बसते हैं, वे अल्पकाल में मुक्ति के सुख को पाते हैं। वे गृहस्थ में हो या मुनिपने में; दोनों आत्मा में बसे हुए मुक्तिपने को पाते हैं – ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया ?

एक तो ऐसा कहा कि गृहस्थाश्रम हो या मुनि-आश्रम हो, त्याग-आश्रम, परन्तु भगवान आत्मा का शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और रमणता का भाव प्रगट गृहस्थाश्रम में भी होता है। इससे वह आत्मा में बसता है। मुनि को विशेष उग्रतारूप से पुरुषार्थ है तो वे आत्मा में बसते हैं। दूसरा, ये दोनों – गृहस्थ या मुनि को रागादि बाकी हैं, उसमें उनकी खास दृष्टि नहीं है, इसलिए वहाँ वास्तव में नहीं रहते हैं, वास्तव में वे रहे ही नहीं। आहा...हा...! इसमें समझ में आया ?

आत्मा अर्थात् अकेला अनन्त शुद्धभाव का भण्डार.... आत्मा अर्थात् अकेले अनन्त शुद्धभाव का भण्डार, यह भण्डार जिसने राग की एकता तोड़कर खोला है, कहते हैं कि उसके स्वभाव में वह जितना बसा है, वह स्वभाव में ही बसा है। रागादि होने पर भी उसमें उसका बसना नहीं है। उन्हें भी छोड़कर स्थिर होऊँ, स्थिर होऊँ – ऐसा उसे है। आहा...हा...! समझ में आया ? परमार्थ से देखें तो एक न्याय से मुनि और गृहस्थ तो आत्मा में बसे हुए हैं। आहा...हा...! बात तो गम्भीर कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में या आगे बढ़कर मुनि हुआ हो, दोनों व्यवहार से तो मुक्त हैं और बसे हैं स्वभाव में। आहा...हा...! समझ में आया ? भले पाँच (में) व्यवहार आदि के शुभविकल्प विशेष हों, छठवें (गुणस्थान में) शुभ आदि के थोड़े हों, तथापि धर्मी का वास तो चैतन्य भगवान शुद्ध परमानन्द की मूर्ति है, वहाँ उसका बसना-आत्मा में बसना है। यह अनात्मा ऐसे पुण्य-पाप के भाव और उनके फल तथा उनके फल संयोग, यह इसमें रहा हुआ – बसा हुआ वह धर्मात्मा नहीं है। समझ में आया ? प्रेम की प्रीति करके जिसमें पड़ा है, उसमें वह बसा है। इस पुण्य-पाप में प्रेम नहीं, रुचि नहीं, उसे जहररूप जानता है; इसलिए उनसे मुक्त है। अत: उनमें बसा है – ऐसा नहीं कहा जाता है। कहो, रतिभाई ! आहा...हा...!

आत्मा में बसता है ऐसा कहा है न हैं ? **अप्पाणि वसेइ** शब्द है न ? **अप्पाणि वसेइ** गृहस्थाश्रम में हो या मुनि हो, भगवान आत्मा अनन्त शुद्ध गुण सम्पन्न प्रभु, उसे जिसने दृष्टि में, ज्ञान में ज्ञेय करके बनाया है, उसमें जितने अंश में स्थिर हुआ, वह स्थिर होने का स्थान ही उसे मानता है। अर्थात् धर्मी को बसने का वास आत्मा ही है। आहा...हा...! पुण्य-पाप का विकल्प आदि जो व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प है, वह भी समकिती श्रावक या मुनि को बसने का वास-यह उसका घर नहीं है। समझ में आया ? अन्तर्मुख प्रभु विराजमान है, स्वयं परमात्मस्वरूप विराजता है – ऐसा जहाँ अन्तर में वास – दृष्टि, ज्ञान लीनता हुई, कहते हैं कि वह आत्मा में ही बसता है। एक सिद्ध ऐसे किया।

दूसरा ऐसा कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में आत्मा में बसना नहीं हो, उसका निषेध किया। समझ में आया ? तीसरा कि उसका व्यवहार होता है, उसका वह स्वामी है, उसमें

वह बसता है – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? गृहस्थ में हो या मुनि हो, भगवान आत्मा जहाँ राग से निराला श्रद्धा-ज्ञान में, अनुभव में आया, तो कहते हैं कि उसका बसना तो उसमें ही प्रेम से बसा है। समझ में आया ? गृहस्थ या मुनि यह तो फिर स्थिरता के अंश में भेद है परन्तु वास और बसना तो और रुचि की जमावट जमी है आत्मा में; उसे राग होने पर भी (वह उसमें) नहीं बसता है। श्रावक या मुनि, राग में नहीं बसा है। इस व्यवहार के राग से ही समकिती गृहस्थ हो या मुनि, (वह) मुक्त ही है। जिससे मुक्त है, उसमें बसा कैसे ? आहा...हा...! समझ में आया ?

कहा न ? मीराबाई ने नहीं कहा ? हैं ? 'परणी मारा पियूजी नी साथ, बीजा न मिंढोल नहीं बाँधू.... नहीं रे बाँधू राणा नहीं रे बाँधू.... ऐ परणी मारा पियूजी नी साथ, बीजा न मिंढोल नहीं रे बाँधू....' इसी प्रकार सम्यक्त्वी (कहता है)। 'लगनी लागी चैतन्य के साथ, दूसरे के भाव नहीं रे आदरूँ....'

उसमें कहा है न ? 'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सू, भंग मा पड़सो प्रीत जिनेश्वर, बीजो मन मन्दिर आणो नहीं....' यह किसकी बात चलती है ? **अप्पाणि वसेइ** की (बात) चलती है। धर्म जिनेश्वर गाऊँ.... मेरा स्वभाव पूर्णानन्द प्रभु अखण्ड ज्ञायक आनन्दकन्द के मैं गुणगान गाता हूँ। 'धर्म जिनेश्वर गाऊँ रंग सू....' मैं इस पुण्य-पाप का गुणगान नहीं गाता – ऐसा कहते हैं। 'भंग में पड़ सो प्रीत जिनेश्वर, बीजो मन मन्दिर आणो नहीं....' यह प्रभु हमारे चैतन्य के प्रेम में भगवान पूर्णानन्द का नाथ जहाँ हमारी दृष्टि में बसा, 'बीजो मन मन्दिर आणो नहीं....' मेरे मन के मन्दिर में विकल्प को स्थान नहीं दूँ कि यह मेरा स्थान है – ऐसा नहीं दूँ। समझ में आया ? 'ए अम कुलवट रीत जिनेश्वर, ए अम कुलवट रीत जिनेश्वर...' – अनन्त सन्तों के, सिद्धों के कुल की हमारी यह रीत है। समझ में आया ? 'ए अम कुलवट रीत जिनेश्वर, धर्म जिनेश्वर गाऊँ रे... रंग सू' - आनन्दघनजी (कहते हैं)।

यहाँ कहते हैं आत्मा पुण्य और पाप के रागरहित आनन्दस्वरूप जहाँ भासित हुआ और रुचि में जमा तथा परिणमित हुआ – ऐसा धर्मात्मा गृहस्थ हो या मुनि हो। **अप्पाणि वसेइ**। समझ में आया ? जहाँ जिसकी रुचि, वहाँ उसका निवास। जिसकी रुचि उठी,

वहाँ उसका निवास नहीं होता। कहो इसमें समझ में आया ? यह... सामने बहुत पड़ा है परन्तु ऐसा निकला।

सागारु वि णागारु कु वि, जो अप्पाणि वसेइ।
सो लहु पावइ सिद्धि-सुहु, जिणवरु एम भणेइ॥६५॥

यह तीन लोक के नाथ जिनवरदेव की वाणी में, यह ध्वनि इन्द्रों की उपस्थिति में आयी (कि) जो कोई गृहस्थाश्रम में या मुनिपने में हो; जिसने भगवान आत्मा की रुचि में, आत्मा में वास किया, वह गृहस्थ हो या मुनि हो, दोनों अल्प काल में मुक्ति पायेंगे। आहा...हा...! कहो, समझ में आया ? (लोग) चिल्लाहट मचाते हैं... अर...र...! हे भगवान! गृहस्थाश्रम में आत्मा नहीं, ऐसा। आत्मानुभव नहीं अर्थात् कि आत्मा नहीं। अरे...! तू क्या कहता है ? प्रभु! आहा...हा...! समझ में आया ?

गृहस्थाश्रम हो या मुनिपना हो; जहाँ आत्मा जिसे दृष्टि में अनुभव में बसा है, उसका वास राग में नहीं है, उसका वास आत्मा में है। उसके बदले यहाँ तो समकिती को और श्रावक को पूरा आत्मा में वास है – ऐसा सिद्ध करना है। अन्य कहते हैं, बिल्कुल नहीं.... तब कहते हैं (हैं) अकेला आत्मा में ही वास है, सुन! तेरा कलेजा कायर हो गया, पामर! जिसे आत्मा की प्रभुता प्रगटी – ऐसी प्रभुता की जहाँ झंकार बजी, वहाँ उसका वास तो आत्मा में है। गृहस्थ है, स्त्री-पुत्र, परिवार है, इसलिए राग है (और) राग में बसा है (– ऐसा) जिनवर नहीं कहते हैं। समझ में आया ?

जहाँ जिसकी प्रीति जमी, वहीं वह स्थित है। यह अन्यत्र ठहरना उसे नहीं रुचता है – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! इसमें समझ में आया ? **जिणवर एम भणेइ** – गुरु को आधार देना पड़ता है। योगीन्द्रदेव मुनि दिगम्बर सन्त, महालक्ष्मी के स्वामी हैं। नग्न दिगम्बर वनवासी, वे भगवान का आधार लेकर (कहते हैं) अरे...! भगवान ऐसा कहते हैं। यह मैं कहनेवाला कौन ? समझ में आया ? जिसके नाम से तू बात करता है, वे भगवान ऐसा कहते हैं। हैं ? परमेश्वर... परमेश्वर... परमेश्वर... त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर का बिम्ब पूरा प्रगट हुआ, अन्दर पूर्ण मूर्ति प्रगट हुई, उन भगवान की वाणी में **जिणवरु एम भणेइ** ऐसा वे कहते हैं। गृहस्थाश्रम में आत्मा का ज्ञान, श्रद्धा और अनुभव हुआ, वह

आत्मा में बसता है – ऐसा भगवान कहते हैं। दूसरे कहें, जरा भी नहीं बसता। अरे... ! क्या किया तूने ? आत्मा नहीं ? राग में बसे, पुण्य-पाप में बसे और वह समकिती व श्रावक ? समझ में आया ? आहा...हा... ! कहते हैं कि, भगवान जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? कहीं रस नहीं पड़ता – ऐसा धर्मी को लगता है। कहीं रस नहीं पड़ता। आत्मा के रस के समक्ष कहीं सूझ नहीं पड़ती। समझ में आया ? संसार में भी जब कोई लत (व्यसन) चढ़े, तब उसे नहीं होता ? जो लत चढ़े, उसमें दूसरी सूझ नहीं पड़ती। यह एक ही पूरे दिन धन्धा, धन्धा, धन्धा। ऐ...ई... ! धन्धा, दूसरी सूझ नहीं पड़ती। मर जाएँगे तो इसमें मरेंगे, कहते हैं। हैं ? आहा...हा... !

गृहस्थाश्रम में आत्मा है या नहीं ? या राग ने सारा आत्मा ले लिया ? विकार ने पूरा आत्मा ले लिया ? लूट गया ? आहा... हा... ! परमात्मा शुद्ध चैतन्य प्रभु की जहाँ अन्तर रुचि, दृष्टि और एकाग्रता हुई (तो) गृहस्थ हो.... कम-ज्यादा रमणता का प्रश्न नहीं.... आत्मा में ही बसता है – ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई ! देखो ! भाषा ऐसी है यह। ना मत कर, ना मत कर। ना करने से आत्मा नहीं रहता। समझ में आया ?

भगवान सत्चिदानन्द प्रभु – जिसे अन्तर में, रुचि में जमा, परिणमन हुआ कहते हैं कि वह तो आत्मा में बसा है – ऐसा जिनवर कहते हैं। तू कौन कहनेवाला ? कि गृहस्थाश्रम में आत्मा का ज्ञान और आत्मा में बसना नहीं होता। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह जिनवर के सामने बड़ा शत्रु जगा है, अर्थात् कि आत्मा का शत्रु है कि आत्मा नहीं हो। सम्यग्दृष्टि आत्मा में नहीं होवे (तो) वह कहाँ होगा ? विकार में होगा ? विकार में तो अनादि का था, तब बदला क्या ? समझ में आया ? शुभ और अशुभराग में तो अनादि का था, वह तो बहिर्बुद्धि थी। अब, अन्तर्बुद्धि हुई तो हुआ क्या ? कुछ हुआ या फेरफार हुआ या नहीं ? बहिरात्मा में पुण्य-पाप के भाव मेरे और उनमें पड़ा हुआ यह मैं; आत्मा और वे मुझे लाभदायक – यह बहिर्बुद्धि तो अनादि की थी। अब इसमें बसा है और अन्तरात्मा भी इसमें बसा है – तो अन्तरात्मा हुआ किस प्रकार ? समझ में आया ? कहो, रतिभाई ! आहा...हा... !

कहते हैं कि **सागारु वि अ णागारु कुदि** समझे न ? गृहस्थ हो या कोई भी मुनि

हो, **जो अपने आत्मा में बसता है.... जो अप्पाणि वसेइ** जो कोई आत्मा में बसता है, **वह शीघ्र... लहु... लहु** अल्प काल में केवलज्ञान लक्ष्मी को पानेवाला है, पानेवाला और पानेवाला (है) – जिनवर ऐसा कहते हैं, बापू! यह दूसरी बात (कहे कि) ऐसा पढ़ा हुआ है और ऐसा उघाड़ है और ऐसे समझाना आता है, हमने बहुत शास्त्र वाँचे हैं और पढ़े हैं.... शून्य रख उसमें। यह एक पढ़ा, वह आत्मा में बसा है, कहते हैं। समझ में आया? आहा...हा...! और उसका बसना सादि-अनन्त सिद्धरूप हो जाएगा – ऐसा कहते हैं। ऐसा कहते हैं मूल तो। बात (ऐसी है कि) यहाँ जहाँ बसा है, वह बसा है, वहाँ स्थिर होकर वह सिद्धपद की पूर्णदशा में बस जाएगा। आहा...हा...! योगीन्द्रदेव! देखो! दिगम्बर सन्त तो देखो! मुनि, जंगल में रहनेवाले दहाड़ मारकर (कहते हैं) सिंह (की तरह) दहाड़ मारी है, कहते हैं। गृहस्थाश्रम में होवे तो क्या? अन्दर आत्मा है या नहीं? आत्मा है या नहीं? या अकेला विकार ही है? अकेला विकार है तो अनादि का है, नया क्या किया तूने? समझ में आया?

प्रश्न – मुनि, आत्मा में लीन है; सम्यक्चारित्र से लीन है।

उत्तर – आत्मा में ही है, चाहे तो विकल्प आदि हो तो भी दृष्टि आत्मा में है, इसलिए आत्मा में ही बसा हुआ है। उसमें (विकल्प में) बसा ही नहीं। आहा...हा...!

आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्द को सिद्धि सुख अथवा सिद्धों का सुख कहते हैं। जैसा शुद्धात्मा का अनुभव सिद्ध भगवान को है, वैसा ही शुद्धात्मा का अनुभव जब होता है, तब जैसा सुख सिद्ध वेदते हैं, वैसा ही सुख शुद्धात्मा का वेदन करनेवालों को होता है। अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दृष्टि को अनुभव (होता है) और सिद्ध को अनुभव (होता है), उस आनन्द की जाति एक है। समझ में आया? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान नित्यानन्द का नाथ, उसकी विकल्पदशा में दुःख, उसे तोड़कर जिसने अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का तल लिया है, उस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लेनेवाला, सिद्ध (का) अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद और यह स्वाद, स्वाद की जाति में अन्तर नहीं है।

अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद जिस साधन से हो, वही मोक्ष का उपाय है।

देखो, भाषा! आत्मा के आनन्द का स्वाद जिस साधन (से होता है), वह मोक्ष का उपाय और वह आनन्द, सुख का साधन (है), वह आनन्द, सुख का साधन। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान आत्मा.... जो आत्मिक आनन्द का स्वाद जिस साधन से... साधन अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान, वह स्वयं आनन्द है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वही मोक्ष का उपाय अथवा अनन्त सुख का साधन है। वही आनन्द के सुख का (साधन है), पूर्ण आनन्द के सुख का, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, पूर्ण आनन्द के सुख का साधन (है)। अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन (होता है) वह अतीन्द्रिय आनन्द, पूर्णानन्द का साधक है। राग-बाग, व्यवहार-फ्यावहार, निमित्त-फिमित्त, साधक-फादक है नहीं। कहो, इसमें समझ में आया? आहा...हा...!

क्योंकि स्वानुभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र – ये तीनों गर्भित हैं। स्वानुभव ही निश्चय रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग है। आहा...हा...! ठीक लिखा है। स्वानुभव ही निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। राग के क्रियाकाण्ड में स्वानुभव है? वह निश्चयरत्नत्रय है – स्व-अनुभव। भगवान आत्मा स्वयं को अनुसरकर आनन्द से वेदन में आया, उसमें तीनों समाहित हो जाते हैं, कहते हैं। निश्चय – सत्य सम्यग्दर्शन, सत्य सम्यग्ज्ञान और सत्यचारित्र तीनों इसे आ गये। वह पढ़ा-गुना कम, उसे केवलज्ञान का मूल (हाथ में) आ गया। समझ में आया? स्वानुभव ही निश्चय मोक्षमार्ग है।

यही एक सीधी सड़क मोक्षमहल की तरफ गयी है। यह सड़क कहाँ जाएगी? चक्रवर्ती के महल में। यह सड़क कहाँ जाएगी? चक्रवर्ती के महल में। वैसे (ही) आनन्द के अनुभव की सड़क कहाँ जाएगी? सिद्धि के पूर्ण आनन्द में। आहा...हा...! **यही एक सीधी सड़क मोक्षमहल की तरफ गयी है।** आ...हा...! विकल्प-फिकल्प, व्यवहार -फ्यवहार का तो यहाँ भुक्का उड़ाया है। **अप्पाणि वसेइ** है न? जो आत्मा में बसा है, वही पूर्ण आत्मा में बसने का महल-सिद्ध, उसके सन्मुख यह सड़क गयी है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कहो, दरबार! मुम्बई में तुमने ऐसा सुना नहीं होगा। पैसा... पैसा... पैसा... पूरे दिन, धूल... धूल... और धूल। यह तो कहते हैं, आनन्द... आनन्द... और आनन्द... आहा...हा...! **इसके अतिरिक्त कोई दूसरी सड़क नहीं है।** दूसरी सड़क ही नहीं है।

मुमुक्षु – दो रास्ते हैं न ?

उत्तर – दो रास्ते ही नहीं, एक ही रास्ता है। आत्मा का – आनन्दस्वरूप प्रभु का अतीन्द्रिय आनन्द(रूप होना, यह) एक ही (सड़क) अतीन्द्रिय पूर्णानन्द (की तरफ जाती है)। इस सड़क से जाकर पूर्णानन्द को पायेगा, दूसरी कोई सड़क-फड़क है नहीं; दूसरा कोई मार्ग-फार्ग व्यवहार बीच में आवे, वह मार्ग ही नहीं। बीच में आता अवश्य है – दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत के विकल्प (आते अवश्य हैं) परन्तु वह मार्ग नहीं है, वह मोक्षमहल में जाने की सड़क नहीं है; वह तो बन्ध में जाने की सड़क है। आहा...हा...! समझ में आया ? फिर इन्होंने ग्यारह प्रतिमाओं के नाम लिये हैं। ठीक है, ग्यारह प्रतिमायें होती हैं। फिर अन्त में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का थोड़ा लिया है।

सर्व पापबन्ध के कारणरूप मन, वचन, काया की प्रवृत्ति का त्याग करना, वह व्यवहारचारित्र है। सर्व कषाय की कालिमारहित, निर्मल, उदासीन, आत्मानुभवरूप निश्चयचारित्र है। आत्मारूप है न इसमें ? यह है न ? **विशदमुदासीन-मात्मरूपं** है न ? यह, क्या कहते हैं ? पाप का त्याग करके शुभ में वर्तना, वह तो व्यवहारचारित्र है परन्तु पुण्य-पाप के विकल्प छोड़कर, कषायरहित होकर आत्मा के अन्तर में अनुभवरूप चारित्र, आत्मा के आनन्द का अनुभव करना चारित्र, वह निश्चयचारित्र है। समझ में आया ?

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह – इन पाँच पापों से पूर्ण विरक्त होना, वह साधु का व्यवहारचारित्र है और उपर्युक्त पाँच पापों से एकदेश विरक्त होना, वह श्रावक का व्यवहारचारित्र है। व्यवहारचारित्र है, इतना स्पष्टीकरण यह भी बकहर है, उनको नहीं जमता।

☆ ★ ☆

तत्त्वज्ञानी विरले होते हैं

विरला जाणहिँ तत्तु बुह, विरला णिसुणहिँ तत्तु।
विरला झायहिँ तत्तु जिय, विरला धारहिँ तत्तु॥६६॥

विरला जाने तत्त्व को, श्रवण करे अरु कोई।
विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोई॥

अन्वयार्थ – (**बिरला बुह तत्तु जाणहिं**) विरले ही पण्डित आत्मतत्त्व को जानते हैं (**विरला तत्तु णिसुणहिं**) विरले ही श्रोता तत्त्व को सुनते हैं (**विरला जिय तत्तु झायहिं**) विरले जीव ही तत्त्व को ध्याते हैं (**विरला तत्तु धारहिं**) विरले ही तत्त्व को धारण करके स्वानुभवी होते हैं।

☆ ★ ☆

अब, ६६ में कहते हैं –

विरला जाणहिँ तत्तु बुह, विरला णिसुणहिँ तत्तु।
विरला झायहिँ तत्तु जिय, विरला धारहिँ तत्तु॥६६॥

विरले पण्डित ही आत्मतत्त्व को जानते हैं। कोई विरल ज्ञानी (ही) आत्मा के तत्त्व को जाननेवाले होते हैं, उन्हें पण्डित कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया? **विरला बुह तत्तु बुह** अर्थात् पण्डित है न? **बुह** पण्डित है न? विरले ही **बुह** अर्थात् पण्डित आत्मतत्त्व को जानते हैं। भगवान आत्मतत्त्व निराकुल शान्तरस का पिण्ड प्रभु (है), उसे तो विरले पण्डित ही जानते हैं। वे विरले पण्डित अथवा विरल (ही) उसे जाने, वे पण्डित कहे जाते हैं। आत्मा का अनुभव (किया) और जाना, वह पण्डित है। आहा...हा...! लोकालोक का प्रकाश करनेवाला भगवान जिसके अनुभव में, ज्ञान में आया, कहते हैं कि वही बड़ा पण्डित है, परन्तु ऐसे जीव विरले होते हैं। समझ में आया?

विरला तत्तु णिसुणहि विरले (ही) तत्त्व को सुनते हैं। ऐसे तत्त्व की बात सुननेवाले भी विरल है। तत्त्व के समझनेवाले विरल... परन्तु समझनेवाले के पास ऐसे सुननेवाले विरल – ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! निर्विकल्प चैतन्यतत्त्व की दृष्टि-ज्ञान और रमणता करो – यह बात सुननेवाले (विरल हैं)। व्यवहार के रसिया, पुण्य के रसिया, विकल्प के रसिया को यह बात सुनना मुश्किल पड़ती है, कहते हैं। समझ में आया? **विरले श्रोता ही तत्त्व को सुनते हैं।** ऐसे श्रोता (मिलना) मुश्किल है, कहते हैं। तत्त्व

के जाननेवाले ज्ञानी विरल होते हैं। उसमें (भी) उनके पास ऐसी बातें सुननेवाले जीव विरल होते हैं। बात रुचती नहीं... समझ में आया?

विरले ही इस तत्त्व को ध्याते हैं। विरले जीव, आत्मा का ध्यान (धरते हैं)। ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्ध प्रभु, उसका ध्यान करें, वे तो विरल जीव हैं, विरल जीव हैं, विरल हैं। ओ...हो...! समझ में आया? यह विरला कहा। बहुत पैसेवाले हैं और बड़ी पदवीवाले हैं और बहुत सुन्दर हैं, बहुत परिवारवाले हैं... समझ में आया? स्थायी आमदनीवाला है। इसे पाँच-दस लाख की स्थायी आमदनी है... यह... स्थायी आमदनी। क्या कहते हैं? उसे विरला नहीं कहा। वे सब भटकनेवाले हैं। (लोग) बातें करते हैं, इसे तो स्थायी आमदनी, बापा! घर बैठे आमदनी, पाँच लाख-दस लाख-बारह महीने स्थायी आमदनी है। स्थायी आमदनी अर्थात् क्या? यह बैठा कहाँ है? ऐसा कहते हैं। लोग बातें करते हैं। यहाँ तो कहते हैं, विरले ही इस तत्त्व का ध्यान करें। उसे अन्दर में आनन्द की स्थायी आमदनी है। आहा...हा...! कहीं बाहर जाना पड़े नहीं और अन्दर ही अन्दर में बैठे (-बैठे) आमदनी मिले। आहा...हा...! समझ में आया? वे विरले जीव, तत्त्व को ध्याते हैं।

विरले ही तत्त्व को धारण करके स्वानुभवी होते हैं। ऐसी बात – निर्विकल्प भगवान आत्मा की बात, विरले सुनकर, धारण कर स्वानुभव करते हैं। यह बहुत-विरल -विरल, लाखों-करोड़ों में विरल विरल (होते हैं)। ऐसी उनकी दुर्लभता बताकर, उनकी महिमा की है। दुर्लभता कहकर उनकी महिमा की है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

वीर संवत २४९२, आषाढ़ कृष्णा १, रविवार, दिनाङ्क ०३-०७-१९६६
गाथा ६६ से ६८ प्रवचन नं. २४

यह योगसार शास्त्र है। योगीन्द्रदेव मुनि, दिगम्बर मुनि! आज से ७००-८०० वर्ष पहले हो गये हैं। उनका यह योगसार है। आज भगवान की दिव्यध्वनि का दिन है, उसमें यह गाथा ठीक आयी है। विरल, विरल बात है। भगवान महावीर परमात्मा को केवलज्ञान तो वैशाख शुक्ल १० को हुआ था, परन्तु छियासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी। व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि वहाँ वाणी को झेलनेवाले गणधर की उपस्थिति का अभाव था। वस्तुत: तो वह वाणी खिरना ही नहीं थी। वह वाणी.... ६६ दिन बाद इन्द्र को विचार हुआ कि यह वाणी क्यों नहीं खिरती? तो अवधिज्ञान से देखा कि इसमें कोई पात्र – गणधर आदि नहीं है, इस कारण वाणी नहीं खिरती। वाणी खिरने का तो योग था ही नहीं परन्तु शास्त्र में निमित्त से ऐसे कथन आते हैं।

'गौतमस्वामी' गणधर के योग्य थे। इन्द्र उनके पास ब्राह्मण का रूप धारण कर गया (और कहा कि) इसका कुछ अर्थ करो – छह द्रव्य, नौ तत्त्व – सात क्या है? वह (गौतम) कहे – भाई! मुझे नहीं आता; तुम्हारे गुरु के पास चलते हैं। उनमें छह द्रव्य के नाम नहीं होते हैं। फिर (वे) भगवान के पास आये। वहाँ तो उनकी योग्यता थी; क्षण में जहाँ (भगवान को) देखा, समवसरण देखा, वहाँ उनका मान गल गया। अन्दर गये वहाँ तो उन्हें आत्मज्ञान – सम्यग्दर्शन हुआ और भगवान की वाणी खिरी। छियासठ दिन में दिव्यध्वनि विपुलाचल पर्वत पर 'राजगृही' नगरी के बाहर वन में वहाँ भगवान की वाणी छियासठ दिन में खिरी और वह श्रावण कृष्ण एकम का – योग का पहला दिन था। योग का पहला नववर्ष था। श्रावण कृष्ण एकम को (दिव्यध्वनि) खिरी। उस दिन गणधर ने वह वाणी झेली। वाणी खिरी उस दिन झेली; उस दिन गणधरदेव, भावश्रुत ज्ञानरूप गणधर परिणत (हुए)।

भगवान ने भावश्रुत कहा.... भगवान के पास भावश्रुत है नहीं; उनके पास तो केवलज्ञान है परन्तु केवलज्ञान कहा – ऐसा शास्त्र में नहीं कहा। उन्होंने भावश्रुत का वर्णन किया। भाई! भगवान की वाणी में अकेले अर्थ आये, अर्थ आये; इस कारण भगवान ने भावश्रुत कहा – ऐसा कहा जाता है। उसे गणधरदेव ने सूत्ररूप से गूँथा। अर्थरूप से भगवान की वाणी में आया, सूत्ररूप से गणधर ने गूँथा – वह दिन आज है। वाणी खिरने का और बारह अंग चौदह पूर्व की रचना अन्तर्मुहूर्त में क्रमसर की। अन्तर्मुहूर्त है न? असंख्य समय है। गणधरदेव ने आज बारह अंग की रचना की। उन बारह अंग में सार में सार क्या कहा गया – यह उसका कथन है।

योगसार....। बारह अंग में संयोग, विकल्प और एक समय की अवस्था की उपेक्षा करके, त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा करना – ऐसा सार, योगसाररूप से भगवान की वाणी में आया है। योगसार अर्थात् भगवान पूर्णानन्दस्वरूप ध्रुव, शाश्वत्, एकरूप, अनादि-अनन्त है। ऐसी चीज में एकाकार होकर, स्वरूप के आनन्द का वेदन होना, उसे योगसार कहते हैं। स्वरूप में एकाकार होकर आनन्द का अनुभव-वेदन करना, इसका नाम योगसार कहते हैं, जो कि मोक्ष का मार्ग है। कहो, समझ में आया इसमें? कैसा योगसार?

कहते हैं – **तत्त्वज्ञानी विरले होते हैं**। देखो! यह कहते हैं।

विरला जाणहिँ तत्तु बुह, विरला णिसुणहिँ तत्तु।
विरला झायहिँ तत्तु जिय, विरला धारहिँ तत्तु॥६६॥

भगवान आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मज्ञानरूपी तत्त्व कहा, उसे **अब विरले पण्डित ही आत्मतत्त्व को जानते हैं**। विरले प्राणी। आत्मज्ञान प्राप्त करना महा कठिन है, उसे **थोड़े से प्राणी इस अनुपम तत्त्व का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। 'विरला जाणहिं तत्तु विरला तत्तु णिसुणहि'**। सुननेवाले विरले हैं। आत्मज्ञान शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति, उसमें अन्तर में एकाकार होना – ऐसी बात सुननेवाले भी विरले हैं। समझ में आया? कहनेवाले तो दुर्लभ हैं परन्तु सुननेवाले ऐसे दुर्लभ हैं।

जो आत्मा परमानन्दरूप ध्रुव सच्चिदानन्दस्वरूप, उसमें एकाग्र होना, वह मोक्ष का

मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं। ऐसी बात सुननेवाले सभा में भी दुर्लभ है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिसे निमित्त रुचता हो, राग रुचता हो, व्यवहार रुचता हो, उसे यह बात सुनना कठिन है। सुनना मुश्किल है। नहीं, ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता – ऐसा कहते हैं। इसलिए कहते हैं कि '**विरला तत्तु णिसुणहि**' विरल प्राणी... भगवान आत्मा की त्रिकाल शुद्ध चैतन्यधातु में एकाकार होना ही मोक्ष का मार्ग है, यही योगसार, यही कल्याण का मार्ग है, यही मोक्ष का उपाय है। यह बात सुननेवाले भी जगत में बहुत विरल हैं। समझ में आया? पुण्य की बातें, निमित्त की बातें, व्यवहार की बातें सुननेवाले थोक के थोक पड़े हैं – ऐसा कहते हैं। परन्तु यह आत्मा शुद्ध अखण्डानन्द का कन्द है, ध्रुव अखण्डानन्द प्रभु की अन्तर में दृष्टि करके रमना, ऐसा योग, उसका भी सार यह सुननेवाले दुर्लभ हैं। कहो, समझ में आया?

'**विरला झायहि तत्तु**' और विरल जीव, उसका ध्यान करते हैं। भगवान आत्मा की ओर का अन्तर में झुकाव (होना) और उस स्वरूप को ध्येय करके उसमें एकाकार का ध्यान करना, वह जीव विरल होते हैं। समझ में आया? कोई पदवी इन्द्र की मिलना या राजपाट मिलना या वे जीव विरल हैं – ऐसा यहाँ नहीं कहा है और पुण्य प्राप्त करना, या पुण्य का फल मिलना, वे जीव विरल हैं – ऐसा नहीं कहा है। भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु है। उसका अन्तर-ध्यान करनेवाले जगत् में विरल अर्थात् दुर्लभ हैं। समझ में आया? शास्त्र के पढ़नेवाले भी बहुत होते हैं, कहनेवाले भी बहुत होते हैं परन्तु भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप अभेद की बात सुननेवाले दुर्लभ और उसका ध्यान करनेवाले तो बहुत दुर्लभ हैं। समझ में आया?

'**विरला झायहि तत्तु**' विरला जीव। '**धारहि**'। '**विरला धारहिं तत्तु**' धारहि का अर्थ विरल जीव, भगवान आत्मा निर्विकल्प रागरहित चीज है और रागरहित निर्मल परिणति द्वारा वह अनुभव की जा सकती है – ऐसा अनुभव होकर धारणा होना, ऐसे (जीव) जगत् में दुर्लभ है। समझ में आया? यह धारणा, हाँ! आहा...हा...! ऐसे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, बाहर की तो बहुत है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यप्रभु का अन्दर ध्यान करके यह चीज है – ऐसा जिसने अनुभव करके धारण किया है कि चीज यह है

और इस धारणा में से बारम्बार स्मृति करके आत्मा का ध्यान करता है – ऐसे जीव जगत् में (दुर्लभ हैं)। दिव्यध्वनि में ऐसा आया था। भगवान की दिव्यध्वनि में, बारह अंग में ऐसा आया था। विपुलाचल पर्वत पर भगवान की वाणी खिरी, उसमें यह आया था कि यह आत्मा शुद्ध अनन्त आनन्दस्वरूप है। इसका एकाग्र होकर (ध्यान करे) और यह आत्मा ऐसा है, ऐसी धारणा (करनेवाले विरल हैं)। समझ में आया?

'विरला जिय तत्तु धारहिं' क्या कहते हैं? दूसरी धारणा करनेवाले तो बहुत होते हैं। शास्त्र की धारणा, बोलचाल की धारणा, कहने-बोलने की धारणा, इसका यह प्रश्न और इसका यह उत्तर और ऐसी धारणा करनेवाले भी बहुत होते हैं। परन्तु यह भगवान आत्मा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जो अनुभव में आत्मा पूर्णानन्द आया, अनुभव होकर उसकी धारणा करनेवाले जीव विरल और थोड़े हैं। समझ में आया?

भाई ने इसका अर्थ जरा लिखा है कि **आत्मज्ञान का मिलना बड़ा कठिन है, थोड़े ही प्राणी इस अनुपम तत्त्व का लाभ पाते हैं। मनरहित पंचेन्द्रिय तक के प्राणी विचार करने की शक्ति बिना....** मनरहित प्राणी हैं, उन्हें विचार करने की शक्ति नहीं है कि मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ? **संज्ञी पंचेन्द्रियों में नारकी जीव रात-दिन कषाय के कार्यों में लगे रहते हैं।** संज्ञी पंचेन्द्रिय कदाचित् मनवाले हुए – ऐसा कहते हैं। मनरहित प्राणी को विचार तो है नहीं; मनवाले हुए तो नारकी में उत्पन्न हुआ, नारकी रात-दिन कषाय... कषाय... कषाय... के कार्यों में लगे हैं (उसमें) **किन्हीं को आत्मज्ञान होता है।** बाकी इससे अनन्त गुने, सम्यक्त्वी की संख्या से अनन्त गुने मिथ्यादृष्टियों की संख्या नारकी में ऐसी है कि उसे आत्मज्ञान क्या है? ऐसा सुना भी नहीं होता।

पशुओं में भी आत्मज्ञान पाने का साधन अल्प है। पशु में भी विरल है। **देवों में विषयभोगों की अतितीव्रता है, वैराग्यभाव की दुर्लभता है, किसी को ही आत्मज्ञान होता है। मनुष्यों के लिए साधन सुगम हैं।** सार ठीक लिखा है। **तो भी बहुत दुर्लभ है।** मनुष्यपने में आत्मज्ञान की सम्यग्दर्शन की, अनुभव की बात सुनना दुर्लभ और प्राप्त करना मनुष्यपने में भी दुर्लभ है। समझ में आया? कितने ही तो रात-दिन शरीर की क्रिया में तल्लीन रहते हैं कि **उन्हें आत्मा की बात सुनने का अवसर ही नहीं**

मिलता। मनुष्यों को... यह मनुष्यों की बात की है। कितने ही ऐसे होते हैं कि **व्यवहार में इतने फंसे होते हैं कि व्यवहार धर्म के ग्रन्थ पढ़ते हैं, सुनते हैं...** अब मनुष्य आये... मनुष्य। धर्म को सुनने के लिए तैयार हुए, सुने परन्तु वे व्यवहार के ग्रन्थों में इतने फँसे कि व्यवहार-धर्म के ग्रन्थों को पढ़ते और सुनते हैं। निश्चय अध्यात्म ग्रन्थ क्या है ? उसे समझने का और सुनने का समय नहीं मिलता।

मुमुक्षु – निषेध करनेवाले भी निकले।

उत्तर – निषेध करनेवाले (इंकार करे)। नहीं... नहीं... नहीं... यह अध्यात्म नहीं, अध्यात्म नहीं। यह व्यवहार सुनो, व्यवहार पढ़ो। ज्ञानचन्दजी! ऐसा चलता है न ? भाई! नहीं... नहीं... नहीं...।

अनेक **महान विद्वान (पण्डित) बन जाते हैं; न्याय, व्याकरण, काव्य, पुराण, वैद्यक, ज्योतिष की और पाप-पुण्य का बन्ध करनेवाली क्रियाओं की विशेष चर्चा करते हैं**। व्याकरण की करे, शब्दकोश की करे, पुण्य-पाप की चर्चा करे। यह पुण्य ऐसा होता है और यह पुण्य ऐसे होता है परन्तु यह बात तो अनन्त बार की, अब सुन न! नयी बात क्या है, अनन्त काल के जन्म-मरण मिटने की चर्चा नहीं करते, चर्चा करनेवाले नहीं – ऐसा कहते हैं। हैं ?

अध्यात्म ग्रन्थों का सूक्ष्मदृष्टि से अभ्यास या विचार नहीं करते। विमलचन्दजी! यह ठीक है ? ऐ...ई...! राजमलजी! दोनों व्यक्ति... बदले हैं या नहीं ? देखा है या नहीं इन्होंने ? अध्यात्म ग्रन्थ को पढ़ने का समय भी नहीं। नहीं... नहीं... नहीं... व्यवहार करो... व्यवहार करो... व्यवहार पढ़ो... व्यवहार पढ़ो... यह करते-करते हो जायेगा। (व्यवहार) करते-करते धूल में भी नहीं होगा, सुन न! भगवान आत्मा अध्यात्म की अन्तर की बातों को समझे बिना, अन्तरदृष्टि किये बिना कल्याण तीन काल में है नहीं। उसका निर्विकल्प पता लिये बिना.... आत्मा वस्तु ही निर्विकल्प है, रागरहित -पुण्यरहित-क्रियारहित-मनरहित-संगरहित – ऐसा भगवान आत्मा राग से और विकल्प से असंग ऐसे असंग तत्त्व को अध्यात्मग्रन्थ से सुनकर मनन करनेवाले जीव बहुत दुर्लभ हैं।

आनन्दघनजी भी कहते हैं – अध्यात्मग्रन्थ मनन करो, उनके स्तवन में कहते हैं अध्यात्म के शास्त्र जो आत्मा को बतलानेवाले हैं, उनका मनन करके अनुभव करना – यह जगत् में मनुष्य में सार है परन्तु कहते हैं कि कितने ही विद्वान् इसमें फँसे हैं कि अध्यात्म की सूक्ष्म दृष्टि से (पढ़ते नहीं हैं) कोई अध्यात्म पढ़े परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से उसका अर्थ, भावार्थ क्या है, उसे नहीं समझते हैं।

मुमुक्षु – व्यवहार धर्म से हो....

उत्तर – हाँ, यह लिखा, समयसार में लिखा, लो! गोम्मटसार में ऐसा लिखा – ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है। समयसार में ऐसा लिखा कि कर्म के कारण विकार होता है, आत्मा के कारण नहीं। 'कर्म विपाकी.... कर्म का विपाक, वह राग, देखो! इसमें लिखा है। कर्म का विपाक, वह राग... परन्तु वह किस अपेक्षा से? भगवान आत्मा का पाक, वह राग नहीं। भगवान आत्मा....! उसे बताने को ऐसा कहा कि कर्म का पाक, वह राग। (तो कहते हैं) – देखो! कर्म के कारण राग होता है या नहीं? देखो! अध्यात्म ग्रन्थ निकाले (और कहे) कर्म के कारण राग होता है, उसमें से निकाले कि ज्ञानावरणीय के कारण ज्ञान रूक जाता है – अर्थात् व्यवहार ग्रन्थ में से भी यह निकाला और परमार्थ ग्रन्थ में से भी यह निकाला। आहा...हा...! समझ में आया? यह पुण्य-पाप अधिकार में लिखा है। लो! यह बड़ी चर्चा आयी है। 'सम्मतपडिणिबध्धं मिच्छतं जिणवरेहि परिकहियं (१६१ वीं गाथा है)।' है न? मिथ्यात्व के उदय से आत्मा मिथ्यात्व को पाता है, समकित का नाश करता है। अरे...! वहाँ किस अपेक्षा से बात है? भाई! आत्मा का शुद्ध आनन्दस्वभाव में विकारी परिणाम (हों), वह तो कर्म के संग से हुआ विकार है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं है – यह बतलाने के लिए ऐसा कहा है। कर्म के कारण विकार हुआ है – ऐसा वहाँ नहीं बताना है। विकार अपने स्वभाव से नहीं होता।

भगवान आत्मा, जिसकी गाँठ में तो अकेली वीतरागता पड़ी है। आहा...हा...! जिसकी गठरी में अकेले वीतरागता के रत्न पड़े हैं। उनमें कोई राग-द्वेष, पुण्य-पाप नहीं पड़े हैं। वह तो एक समय की दशा में कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न किया कार्य है, वह आत्मा का नहीं है – ऐसा बतलाने के लिए अध्यात्म ग्रन्थ में (विकार) 'कर्म का कार्य है' –

ऐसा कहा है। व्यवहार के ग्रन्थ में ऐसा आता है कि आठ कर्म के कारण होता है। इसमें ऐसा आता है कि कर्म के कारण राग होता है; इसलिए दोनों समान दोनों में है।

कहते हैं – सूक्ष्म दृष्टि से नहीं पढ़ते। उसमें कहने का तात्पर्य क्या है – यह विचार नहीं करते। **निश्चयनय से अपना ही आत्मा आराध्यदेव है – ऐसा दृढ़ निश्चय नहीं कर सकते।** आराध्य अर्थात् सेवन करने योग्य तो भगवान यह आत्मा है। परमेश्वर वीतरागदेव, वे व्यवहार आराध्य है। समझ में आया? यह प्रभु – आत्मा, यह शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति – यही सेवन करने योग्य, आराधन करने योग्य, आराधने के योग्य एक ही है। ऐसा दृढ़ निश्चय, अकेले व्यवहार के शास्त्र पढ़कर अथवा अध्यात्म शास्त्र भी पढ़कर सूक्ष्म दृष्टि से यह सार निकालना चाहिए – वह सार नहीं निकालते। कहो, समझ में आया?

अनेक पण्डित आत्मज्ञान के बिना केवल विद्या के घमण्ड में.... विमलचन्दजी! लिखनेवाले हैं, शीतलप्रसाद। लिखनेवाले लिखें, परन्तु उसका अर्थ उस प्रकार है या नहीं? वह पाठ में है या नहीं? और यहाँ दृष्टान्त भी देंगे – **सुद परिचिदाणुभूदा** – यह स्वयं कहेंगे। भगवान, समयसार में कहते हैं कि यह राग की कथा करके राग का वेदन करके यह तो अननत बार सुनी है। इससे तो स्वयं आधार है... परन्तु पर से, राग से भिन्न और अन्तर अपने पूर्ण शुद्ध स्वभाव से आत्मा अभिन्न है – यह बात इसने सुनी नहीं। समझ में आया? 'धवल' ग्रन्थ – विमलचन्दजी ने नहीं पढ़े। इन्होंने बहुत पढ़े हैं। वे कहें – इसमें यह लिखा है; ये कहें कि यह तो निमित्तप्रधान कथन है। राजमलजी!

मुमुक्षु – वे तो बड़े व्यक्ति हैं।

उत्तर – बड़ा किसे कहना? धवल, जयधवल और महाधवल विमलचन्दजी ने बहुत पढ़ा है, बहुत पढ़ा है; फिर भी पहले आये तब अपने आप कहा कि वे तो निमित्त प्रधान कथन हैं, वस्तु तो यह है। समझ में आया? कथन व्यवहार प्रधान आया, इसलिए वस्तु वह हो गयी? कहा था न? भाई! पहले 'बड़ोदरा' से आये थे। क्या कहलाता है? टोली घूमने निकली थी। पहले आये थे, तब कहा था, सत्य बात है। धवल में सब कथन हैं, वे निमित्त प्रधान कथन हैं। इन्होंने पढ़ा है और उन्होंने भी पढ़ा है। पढ़ने में, किस अपेक्षा से कथन है – यह जानना चाहिए या नहीं?

यहाँ यही दृष्टान्त दिया है – **एयत्तस्सुवलम्भो** निमित्त और राग से भिन्न भगवान आत्मा (है)। यह बात सुनना दुर्लभ है। समझ में आया? उससे लाभ होता है (– ऐसा माने उसे) उससे भिन्न सुनना तो दुर्लभ हुआ। व्यवहार, निमित्त, राग से, विकल्प से आत्मा को लाभ होता है – इसका अर्थ हुआ कि (आत्मा) राग से भिन्न है – यह उसे सुनना रुचता नहीं है; उसे दुर्लभ हो गया है, नहीं... नहीं... नहीं...।

पहली बात तो यह है कि जगत में भगवान आत्मा अकेला वीतरागी पिण्डप्रभु, उसकी वीतरागी परिणति द्वारा ज्ञात हो – ऐसा है; राग द्वारा वह ज्ञात नहीं होता, व्यवहार द्वारा ज्ञात नहीं होता। निमित्त द्वारा ज्ञात नहीं होता। अब जिसे, निमित्त और राग द्वारा ज्ञात होता है (– ऐसा लगता है), उसे कहते हैं कि ऐसी बात सुनना रुचेगी नहीं। समझ में आया?

अकेला प्रभु वीतरागस्वभाव से विराजमान अनादि-अनन्त वीतराग स्वभाव से विराजमान है। समझ में आया? ऐसी बात! **एयत्तस्सुवलम्भो, णवरि ण सुलभो विभत्तस्स** एकत्व-स्वभाव का एकत्व और पर से विभक्त, यह बात सुनना जगत को दुर्लभ है, परिचय में आना दुर्लभ है और अनुभव में आना उससे (भी अधिक) दुर्लभ है। कहो, समझ में आया?

कहते हैं – कितने ही **पण्डित आत्मज्ञान बिना केवल विद्या के...** घमण्ड से, अध्ययन के घमण्ड से.... लो! राजमल्लजी! ठीक लिखा है। **क्रियाकाण्ड के पोषण में ही जन्म गँवा देते हैं....** राग का पोषण, राग का पोषण। व्यवहार करो, व्यवहार करो, व्यवहार करो – इसमें पूरा जीवन (गँवा देते हैं।) बस! यह हमारा धर्म है, यह हमारा धर्म है। आहा...हा...! शरीर की क्रिया से धर्म होता है, कहो! ऐसे प्रश्न (करते हैं।) आहा...हा...! अब यहाँ तो कहते हैं, विकल्प से धर्म नहीं होता; शरीर की क्रिया तो कहाँ रही गयी! भेद से धर्म नहीं होता। गुणी भगवान और यह आनन्द उसमें रहता है, यह आनन्द का धारक – ऐसा भेद, उससे भी धर्म नहीं होता। आहा...हा...! इसलिए कहते हैं कि भाई! जीवों को अनन्त काल में यह बात महा दुर्लभ है। समझ में आया?

जिनका मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायों का बल ढ़ीला पड़ता.... तब

कहते हैं कि **तत्त्व की रुचि होती है। अध्यात्मज्ञान के विद्वान बहुत थोड़े मिलते हैं। जब तक ऐसे उपदेशक न मिले, तब तक श्रोताओं को आत्मज्ञान का लाभ होना कठिन है।** मिलता नहीं, उपदेश ही मिलता नहीं। फिर (कहते हैं) **कहीं आत्मज्ञानी पण्डित देखने में भी आते हैं तो आत्मा के हित की गाढ़ रुचि रखनेवाले श्रोताओं की कमी दिखती है।** नवरंगभाई! वे कहें, यह बात नहीं; हमें दूसरा बताओ, हमें दूसरा सुनाओ, हमें दूसरा सुनाओ। यह है, सुनना हो तो सुन। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है न! अरे... ! तू जो निर्दोषदशा प्रगट करना चाहता है, उन समस्त दशाओं का पिण्ड ही स्वयं आत्मा है। समझ में आया? जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना चाहता है; उन सब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का पिण्ड आत्मा है। अब उसे छोड़कर तुझे किसे लेना है? समझ में आया?

जिनके भीतर संसार के मोहजाल से कुछ उदासी होती है, वे ही आत्मीक तत्त्व की बातों को ध्यान से सुनते हैं, सुनकर धारण करते हैं, विचार करते हैं। जिनके भीतर गाढ़ रुचि होती है, वे ही निरन्तर आत्मीक तत्त्व का चिन्तवन करते हैं। आत्मध्यानी बहुत थोड़े हैं, इनमें भी निर्विकल्प समाधि पानेवाले, स्वानुभव करनेवाले दुर्लभ हैं। यह तो ध्यानी अर्थात् आत्म-सन्मुख के झुकाववाले थोड़े (हैं) ऐसा। और फिर निर्विकल्प अनुभव करनेवाले थोड़े हैं, ऐसा। नहीं तो ध्यानी हो गया, इसलिए एक ही है, परन्तु आत्मा का ऐसा झुकाव करनेवाले वे दुर्लभ हैं, फिर भी उनमें निर्विकल्प वेदन करनेवाले, स्वसंवेदन ज्ञानानुभूति – आत्मानुभूति करनेवाले विरल, विरल, विरल प्राणी है। कहो, इसमें ऐसा नहीं कहा कि इतने शास्त्र पढ़नेवाले दुर्लभ हैं, इतने जगत को समझानेवाले (दुर्लभ हैं) और दुनिया को समझानेवाले दुर्लभ हैं। उसे तो घमण्ड कहा। आहा...हा... !

आत्मज्ञान अमूल्य पदार्थ है, मानव जन्म पाकर इसके लाभ का प्रयत्न करना जरूरी है। जिसने आत्मज्ञान की रुचि पायी उसने ही निर्वाण जाने का मार्ग पा लिया। भगवान आत्मा की दृष्टि हो गयी, आत्मा पवित्र आनन्द – यह पंथ मिला (तो) सीधी मोक्ष की सड़क चली गयी। उसे सीधा मोक्ष की तरफ पंथ गया। टेढ़ा,

आड़ा-अवला उसमें कुछ है नहीं। कहो, समझ में आया? एक (समयसार की) गाथा दी है, फिर सार-समुच्चय का कहा है।

इस भयानक व नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुए संसार में रुलते हुए जीव ने आत्मज्ञानरूपी महान् रत्न को कहीं नहीं पाया। सारसमुच्चय शास्त्र है। **अब तूने इस उत्तम सम्यग्दर्शन को पा लिया है।** भगवान आत्मा शुद्ध आत्म पवित्र का वेदन होकर यह सम्यग्दर्शन तुझे मिला; अब कहते हैं, प्रमाद नहीं करना। इस रत्न को सँभालना। समझ में आया? **विषयों के स्वाद का लोभी होकर इस अपूर्व तत्त्व को खो मत बैठना।** विषयों के स्वाद में रहकर आत्मा के आनन्द का स्वाद खोना नहीं। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसके आनन्द में रहना।

देखो न! कल उसमें आया था न? अनुभव करना। टोडरमलजी की चिट्ठी। स्वानुभव में रहना... कहो! टोडरमल (जी) ने चिट्ठी में लिखा है, हाँ! उन्हें खोटा सिद्ध करते हैं। हैं? अरे! भगवान, बापू! इनने बात की है, वह वस्तु की है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी.... रहस्यपूर्ण चिट्ठी। ऐसी चिट्ठी यदि विदेश में होती.... उस दिन सुना था। लेख में आया था कि यदि ऐसी चिट्ठी विदेश में होती तो उसका मूल्य हजारों का होता। एक-एक चिट्ठी का! उस समय दो आने में मिलती थी। (संवत्) १९८४ में पहली (बार) हाथ में आयी थी। (संवत्) १९८४ 'अमरेली'। उसमें लेख आया था कि यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी यदि अंग्रेजी में या ऐसे में होती तो इसकी कीमत हजारों की देते तो भी इसको कीमत नहीं होती – ऐसी अमूल्य है। इस हिन्दुस्तान में तो इसकी कीमत है नहीं। ऐसी यह चिट्ठी। इस चिट्ठी को मिथ्या कहनेवाले हैं। समझ में आया? वहाँ तो लिखा है, व्यवहार देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, वह समकित-बमकित नहीं हो सकता। लिखा है न? भाई! विमलचन्दजी! तब यह कहे होता है, देव-शास्त्र-गुरु (की श्रद्धा) वही चौथे, पाँचवें और छठवें (गुणस्थान में) समकित है। वह नहीं; व्यवहार समकित (तो) समकित कहलाता ही नहीं। आत्मा के अनुभव की प्रतीति और दर्शन के बिना समकित नहीं हो सकता। आहा...हा...! व्यवहार देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा, वह समकित है नहीं। यह रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है। अब, ६७ (गाथा) इस ६६ (गाथा में) विरल, विरल की बात हुई।

☆ ★ ☆

कुटुम्ब मोह त्यागने योग्य है

इहु परियण ण हु महुतणउ, इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ।
इम चिंतंतहँ किं करइ, लहु संसारहँ छेउ॥६७॥

गृह परिवार मम है नहीं, है सुख-दुःख की खान।
यों ज्ञानी चिन्तन करि, शीघ्र करें भव हानि॥

अन्वयार्थ – **(इह परियण महतणउ ण हु)** यह कुटुम्ब-परिवार मेरा निश्चय से नहीं है **(इहु सुहु दुक्खहँ हेउ)** यह भाव सुख-दुःख का ही कारण है **(इम किं चिंततहँ)** इस प्रकार कुछ विचार करने से **(संसारहँ छेउ लहु करइ)** संसार को छेद शीघ्र ही कर दिया जाता है।

☆ ★ ☆

कुटुम्ब का मोह त्यागने योग्य है। आत्मानुभव करने के लिए।

इहु परियण ण हु महुतणउ, इहु सुहु-दुक्खहँ हेउ।
इम चिंतंतहँ किं करइ, लहु संसारहँ छेउ॥६७॥

यह कुटुम्ब-परिवार मेरा नहीं है। धर्मात्मा अपने आत्मा का योग, योग अर्थात् जुड़ान.... जुड़ान कहते हैं न हिन्दी भाषा में? जोड़ना, आत्मस्वभाव में जुड़ान। युज, युज धातु है न? युज, जोड़ना। ऐसे आत्मा के अन्तर स्वरूप में एकाग्र होने के लिए धर्मात्मा को कुटुम्ब-परिवार, मेरा निश्चय से नहीं है, यह परिवार मेरा है नहीं, उसके लिए रुककर आत्मध्यान छोड़ना नहीं – ऐसा कहते हैं। है? देखो न! कितने वर्ष हुए? संसार ऐसा है या वैसा?

यह भाव सुख-दुःख का ही कारण है। देखो! यह कुटुम्ब-परिवार लुटेरों की टोली मिली है, कहते हैं। नियमसार में आ गया है न? नियमसार में आ गया है – उनके पेट भरने के लिए टोली मिली है। यदि ठीक होवे तो ठीक और यदि शरीर में कुछ (हुआ होवे) तो हाय... खिलाना-पिलाना और सेवा (करनी पड़ती है) समझ में

आया? **यह भाव सुख दु:ख का ही कारण है।** सुख-दु:ख अर्थात् लौकिक सुख -दु:ख, हाँ! यह सब सुख-दु:ख अर्थात् दु:ख का ही निमित्त है। पूरा परिवार, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब दु:ख का ही निमित्त है। उसके पालन-पोषण में समय गँवा मत; आत्मा में रहना – ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु – उन्हें भूखों मरने दिया जाए?

उत्तर – भूखा कौन मरता था? उनके पुण्य प्रमाण उन्हें मिला रहेगा। भगवानजी भाई! क्या करना इसमें? कहते हैं। लो! योगसार है न! आत्मा में एकाग्र होने के लिए इस वस्तु का – परिवार का मोह छोड़ना, अन्दर में से यह मेरे हैं – ऐसा निकाल डालना। समझ में आया? वे तो उनके कारण आये और उनके कारण रह कर उनके कारण चले जाते हैं। मेरा और उनका कुछ सम्बन्ध नहीं है – ऐसा दृष्टि में एकाकार नहीं होवे तो एकाकार योगसार नहीं हो सकता। हैं? क्या करना परन्तु? अच्छा लड़का हो तो उसके लिए थोड़ा काल व्यतीत करना या नहीं?

इस प्रकार कुछ विचार करने से.... देखो! **'इम किं चिंततह' संसार का छेद शीघ्र ही किया जाता है।** बारम्बार विचार.... अरे! शरीर मेरा नहीं तो शरीर को पहचाननेवाले ये सब मेरे कहाँ से (होंगे)? वे तो बेचारे इसे पहचानते हैं। मुझे कहाँ पहचानते हैं वे? मैं कौन हूँ? यह कहाँ जानते हैं? वे तो (जानते हैं कि) यह शरीर मेरा पिता, और यह मेरी माँ, और यह मेरी स्त्री, यह मेरा पति... शरीर को देखकर कहते हैं। यह शरीर, यह मेरा पुत्र; यह शरीर, मेरा पिता; यह शरीर, मेरी स्त्री; यह शरीर.... उसका आत्मा है, उसे कौन कहता है? रवाणी?

मुमुक्षु – सेवाभावी है।

उत्तर – सेवाभावी है, लो, ठीक! अपना छोड़कर भी वहाँ भाईयों की सेवा में रुका है।' आंकड़िया' सेवाभावी सही न! परन्तु सेवाभावी का अर्थ हुआ या नहीं, अपनी सेवा छोड़कर पर की सेवा करने का भावी... ऐसा।

यह प्राणी इन्द्रिय सुख का लोलुपी होता है। अपने सुख की प्राप्ति में सहकारी प्राणियों के प्रति मोह करता है। ऐसा कहते हैं। स्वयं जिन इन्द्रियों के सुख

का कामी है न? उसके जो साधन देखे, उनका मोह नहीं छोड़ता। यह सब निमित्त हैं, यह सब साधन हैं। ये सब स्त्री, पुत्र, पैसा, इज्जत, मकान, धूल-धाणी, यह सब साधन हैं – ऐसा माननेवाला इनका मोह नहीं छोड़ता और इन्द्रियों के विषयों में सुखबुद्धि है और उस सुखबुद्धि में सहकारी कारण को देखकर उसमें से रुचि नहीं छोड़ता। कहो, चन्दुभाई!

मुमुक्षु – भागीदार अलग न करे तो क्या करना?

उत्तर – कौन अलग नहीं करता? ठीक! सब अलग ही है, कौन अलग नहीं करता? ऐ... निहालभाई! भागीदार अलग नहीं करता, लड़के अलग नहीं करते, स्त्री अलग नहीं करती... परन्तु करना क्या? तू अलग हो न, सब अलग ही है। हैं?

मुमुक्षु – मुवक्किल भी अलग नहीं करता।

उत्तर – मुवक्किल कोई अलग नहीं करता। वह एक ओर बैठ गया, कौन असील वहाँ पकड़ने आता है? आता है कोई?

बाल्यावस्था में माता-पिता के द्वारा उसका पालन-पोषण होता है.... वहाँ इन्द्रियों का सुख माना है न? साधन से वहाँ माना है। **लाड़-प्यार से रखा जाता है....** समझ में आया? **इसलिए उनके प्रति जीव तीव्र मोह रखता है। युवावय में स्त्री से और पुत्र-पुत्रियों से इन्द्रिय सुख पाता है....** युवावस्था में इन्द्रियाँ, स्त्री, और पुत्र -पुत्री का मोह नहीं छोड़ता। इस ओर करना नहीं और वहीं का वहीं फँसा रहता है, कहते हैं। इसके पुत्र, स्त्री, और लड़के... इनका करूँ... इनका करूँ.... इनका कुछ ठीक करूँ.... स्वयं मरकर चाहे जहाँ जाये। कहाँ गये? वासुदेवभाई! आये हैं या नहीं? उन्हें संसार की थोड़ी अनुकूलता हो गयी लगती है; इसलिए निवृत्ति ली है। कहो, समझ में आया?

जिन मित्र और नौकरों-चाकरों द्वारा इन्द्रिय के सुखभोग में मदद मिलती है.... ठीक लिखा है। जिन मित्रों से और... समझ में आया? नौकर-चाकरों से इन्द्रियों के सुख में सहकारी होते हैं, उनका मोह नहीं छोड़ता। स्वयं मूढ़ है न! अपने सुख के निमित्त देखता है, इसलिए उसमें से हटना नहीं रुचता परन्तु सुख आत्मा में है – ऐसा निर्णय करे तो उस सुख के निमित्त के प्रति इसका मोह छूट जाये। समझ में आया? **और जिनसे**

इन्द्रिय सुख में बाधा पहुँचती है, उनका शत्रु बन जाता है। इन्द्रिय सुख में विघ्न करनेवाले को शत्रु मानता है। इन्द्रिय सुख में अनुकूल माने और मित्र माने परन्तु इन्द्रियसुख ही तेरा खोटा है। ठीक कहा है।

सर्व प्राणी अपने सुख के स्वार्थ में दूसरों के प्रति मोह करते हैं। सभी प्राणी अपने सुख के लिए (मोह करते हैं)। कहीं-कहीं अण्डरलाईन की है। इतना सब पढ़ने का समय कहाँ है ? सब प्राणी सुख के स्वार्थ में दूसरों के प्रति मोह करते हैं। सुख के स्वार्थ के लिए.... यदि आत्मा का सुख इसे भासित हो तो बाहर में सुख भासित नहीं हो तो उनके निमित्तों में भी उन्हें सुख का सहकारी नहीं माने। कहो, ठीक होगा, दरबार ? हमारा दरबार है यह। कहो, समझ में आया ? **स्वार्थ न सधे तो स्नेह छोड़ देता है।** स्वार्थ न सधे, शरीर में खून न देखे या पैसा न देखे, कमाता न देखे तो (ऐसा कहता है) यह तो साधारण व्यक्ति हो गया है। घर में एक कमजोर व्यक्ति है, कमजोर। यह सब इन्द्रिय सुख के लोलुपी होते हैं, और निमित्तों में मोह करते हैं तो वहाँ ऐसा है, कहते हैं। मनसुखभाई ! तुम तो अब निवृत्त हो गये है। कुछ अब दोनों लड़कों को सामने देखना ? बापू वहाँ मरते हैं या जीते हैं ? आहा...हा... !

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव को जल में कमल की तरह घर में रहना चाहिए। कमल और जल को जैसे स्पर्श नहीं होता, वैसे धर्मात्मा को अपने अतीन्द्रिय आनन्द के सुख का साधक अपने आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। उस आनन्द के सुख का साधक, जल में कमल को लेप नहीं लगता, उस प्रकार गृहस्थाश्रम में सम्यक्त्वी रहता है। समझ में आया ?

बड़ी सामायिक में कहा है – **यह स्त्री, धन, पुत्र सर्वथा ही अपने आत्मा से भिन्न हैं, बाहरी रहनेवाले हैं, कर्म के उदय में प्राप्त हैं, वायु के समान उनका संयोग चंचल है।** समीर... समीर शब्द है न ? जैसे वायु क्षण में वायु आवे – ऐसे ये सब पत्ते वायु के कारण जैसे फिरा करते हैं – ऐसे क्षण में आवें और क्षण में जावें। पूर्व का पुण्य होवे तो मिलान खाता है। जहाँ पुण्य (समाप्त हुआ वहाँ) फू... होकर सब उड़ जाते हैं। लो, समझ में आया ? **जो मूढ़ बुद्धि जीव उनके संयोग से सुखदायक सम्पत्ति मिलना मानते हैं, वे ऐसे मूर्ख हैं जो अपने मन के संकल्प से ही स्वर्ग की सम्पत्ति प्राप्त**

करना चाहते हैं। क्या कहते हैं? इन्द्रिय के सुख के लोलुपी और अतीन्द्रिय सुख के अभिलाषी नहीं... अतीन्द्रिय सुख जो भगवान आत्मा की जिसे रुचि नहीं और इस इन्द्रियसुख का लोलुपी है, (वह) मन की कल्पना ऐसी करता है, मानो मुझे सुख स्वर्ग मिल गया हो – ऐसा मान लेता है। यह भी हम बड़े सेठ हैं, पैसेवाले... देखो न! इनके समक्ष तो बात पूछते हैं। भले इनके लड़के पैसेवाले हैं, परन्तु ये पैसेवाले कहलाते हैं न? 'पूनमचन्द मलूकचन्द'... 'पूनमचन्द मलूकचन्द' कहलाते हैं या वहाँ 'पूनमचन्द' बिना पिता का कहलाता होगा। बापू! समझने जैसे, बापू की माने नहीं, कहते हैं। आहा...हा...! कहते हैं, अतीन्द्रिय सुख की रुचिवाले (जीव) को इन्द्रिय सुख की रुचि नहीं है, इसलिए इन्द्रिय सुख के सहकारी निमित्तों में उसे मोह नहीं होता है परन्तु इन्द्रिय सुख के जो लोलुपी हैं, उनकी कल्पना में जो अनुकूल लगे हों (उनमें) – ऐसी कल्पना खड़ी करते हैं कि मानो हमने स्वर्ग को प्राप्त किया, इन्द्रपद को (प्राप्त किया) – ऐसा संकल्प से खड़ा करते हैं, परन्तु भगवान आत्मा में आनन्द है, उसकी दृष्टि नहीं करते। इस संकल्प से बड़ा स्वर्ग खड़ा करते हैं। **अपने मन के संकल्प से ही स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त कर लेना चाहते हैं।** मानो कि अपने को स्वर्ग की लक्ष्मी मिल गयी। ओ...हो...! स्त्री, पुत्र, पैसा... परन्तु इस ओर दृष्टि नहीं देता। यहाँ आत्मा में केवलज्ञान की लक्ष्मी मिले – ऐसी है। इस प्रकार दृढ़ता करके आत्मा अल्पकाल में केवलज्ञान का स्वामी होगा – ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा में रुचिवाले – ऐसी भावना करते हैं परन्तु इस विषय की रुचिवाले को जहाँ सुखबुद्धि पड़ी है, पर में सुखबुद्धि है, उसे आत्मा में सुखबुद्धि कभी होती ही नहीं।

शरीर की अनुकूलता, परिवार की अनुकूलता, पैसे की अनुकूलता, कीर्ति की अनुकूलता माननेवाले को आत्मा की सुखबुद्धि नहीं हो सकती। समझ में आया? ऐसा कहना चाहते हैं। मुझे बाहर की यह अनुकूलता है, बहुत अनुकूलता है। अनुकूलता अर्थात् उसका अर्थ यह कि उसमें सुख माना है, मूढ़ है, वहाँ कहाँ पर में अनुकूलता थी? जो पर की अनुकूलता की रुचि में पड़ा है, उसे अतीन्द्रिय सुख की रुचि नहीं होती है। महा भगवान आत्मा अतीन्द्रियस्वरूप है, उसके प्रेम में यह पर का प्रेम और मोह उसे नहीं होता है। अस्थिरता का जरा होता है, उसकी यहाँ बात नहीं है।

मुमुक्षु – बाहर लाठी मारता है न?

उत्तर – लाठी मारता है। ठीक! विकल्प खड़ा करता है, यह अच्छा, हाँ! यह अच्छा। दूसरे के लड़के होंगे परन्तु मेरा लड़का अलग प्रकार का – ऐसा मानता है। दूसरों के लड़के होंगे परन्तु मेरा लड़का 'महासुख'! ओहो...हो...! आज्ञाकारी... बापूजी... बापूजी... बापूजी... बापूजी... करे वहाँ (उत्साह चढ़ता है)। दूसरों के लड़के होंगे परन्तु मेरे (दूसरे प्रकार के हैं)। दूसरों की स्त्री भले होगी परन्तु मेरे घर में सीधी-सादी स्त्री... एक कहता था, यह सब सुनी हुई बात है कि दूसरे भले कहते हों मेरे घर में पत्नी सीधी-सादी है, उसके विरुद्ध होकर मैं कुछ दूसरा करूँ? बेचारी ऐसे ऊँची (आँख नहीं) करे, ऐसी पत्नी है। कहा, अद्भुत यह तो...! मेरे घर की स्त्री ऐसी नरम... ऐसी नरम... ऐसी सीधी-सादी कि किसी दिन ऊँची आवाज नहीं, इसलिए उसकी अनुकूलता छोड़कर मैं कुछ प्रतिकूल करूँ? चन्दुभाई! अरे! परन्तु यह आत्मा महा अनुकूल पड़ा है इसे छोड़कर तू (बाहर में) अनुकूलता माने तो तेरा भ्रम है। अन्दर कहना तो यह चाहते हैं। परिवार का मोह छोड़ – इसका अर्थ वह दृष्टि छोड़ दे। आसक्ति तो होती है परन्तु अन्दर रुचि तो छोड़ दे और यह मुझे विषय के सहकारी कारण हैं, इसलिए मोह करना, यह छोड़ दे। ये सहकारी सुख के नहीं, दुःख के हैं। आत्मा के आनन्द के कोई सहकारी नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...!

☆ ★ ☆

संसार में कोई अपना नहीं है

इंद फणिंद णरिंद य वि, जीवहँ सरणु ण होंति।
असरणु जाणिवि मुणि-धवल, अप्पा अप्प मुणंति ॥६८॥

इन्द्र, फणीन्द्र, नरेन्द्र भी, नहीं शरण दातार।
मुनिवर 'अशरण' जानके, निज रूप वेदत सार॥

अन्वयार्थ – (**इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति**) इन्द्र, धरणेन्द्र, व चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियों के रक्षक नहीं हो सकते (**मुणि-धवला असरणु**

जाणिवि) उत्तम मुनि अपने को अशरण जानकर **(अप्पा अप्प मुणंति)** अपने आत्मा द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं।

☆ ★ ☆

संसार में कोई अपना नहीं है। लो, ६८!

इंद फणिंद णरिंद य वि, जीवहँ सरणु ण होंति।
असरणु जाणिवि मुणि-धवल, अप्पा अप्प मुणंति॥६८॥

योगीन्द्रदेव! दिगम्बर सन्त ८०० वर्ष पहले इस भरतक्षेत्र में हुए। महामुनि सन्त आत्मध्यानी, आत्मज्ञानी, आनन्द में लीन (मुनि) पुकार करते हैं, वाणी द्वारा जगत को आवाज करके कहते हैं। अरे... जीवों! **'इंद-फणिदं-णरिंदय' इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती कोई भी संसारी प्राणियों का रक्षक नहीं हो सकता।** कोई रक्षक है नहीं। तेरा रक्षक तो अन्दर आनन्दस्वरूप आत्मा तेरा रक्षक है। भगवान आत्मा रक्षक है। भाई! स्त्री होवे तो अच्छे-बुरे (समय में) काम आवे। नंगे, भूखे, ढँके, (घर की नाजुक स्थिति) ढँके यह सब स्त्रियाँ ही करती हैं – ऐसा लोग बातें करते हैं। घर की स्त्री हो तो उघाड़े वस्त्र ढाँके (अर्थात् घर की खराब स्थिति बाहर में प्रगट न होने दे।) दूसरा कोई ऐसा करे? परन्तु पचास वर्ष में भी विवाह किया तो क्या करना तब, लो एक व्यक्ति ऐसा कहता है परन्तु क्या करना तब हमें? घर के लड़के मानते नहीं, लड़कों की बहुएँ देखती नहीं, नजदीक आ नहीं सकती, घर की स्त्री हो तो नंगे, भूखे ढंके.... विषय का लोलुपी होकर ऐसा कहता है – ऐसा कह न! समझ में आया? विषय का लोलुपी है, उसके लिए तू यह बचाव करता है। पचास वर्ष में अभी स्त्री करना है (विवाह करना है) फिर बचाव करता है। नौकर अच्छा होवे तो स्त्री से भी अच्छा काम करता है, तुझे भान कहाँ है? समझ में आया? पैसा खर्च करना नहीं और स्त्री के भोग की रुचि (तुझे) छोड़ना नहीं है।

यहाँ भोग की रुचि की बात है, हाँ! आत्मा के आनन्द की रुचि के समक्ष इन्द्रिय के विषय की रुचि ज्ञानी को नहीं होती है और इसलिए विषय की रुचि में निमित्तकारण है, उनके प्रति भी एकत्वबुद्धि धर्मी को नहीं होती है – ऐसा कहना है। समझ में आया?

'इंद-फणिंद-णरिंदय वि जीवहं सरणु ण होंति' आहा...हा... ! **'मुणि-धवला'** इसलिए उत्तम मुनि.... **'धवला'** (अर्थात्) उत्तम मुनि **अपने को अशरण जानकर....** बाहर से कोई शरण है नहीं।

'अप्पा मुणंति' आहा...हा... ! मरते समय देह में रोग होवे, दवायें लानेवाले भी बहुत हों, परन्तु क्या शरण ? शरण क्या ? समझ में आया ? यह चिदानन्द प्रभु आनन्दस्वरूप है, वहाँ विश्राम का स्थान लेने योग्य तो आत्मा है, वह आत्मा शरण है, उस समय कोई शरण नहीं है। कोई भी शरण नहीं है। रोग आवे, पैरों में तड़फड़ाहट होवे, ऐसा हो, उल्टी हो, खून निकले... अर...र... ! अब ? अब क्या ? परन्तु अन्दर वह (भगवान आत्मा) है या नहीं ? बाहर का कोई शरण है नहीं। भगवान आत्मा, उत्तम मुनि अपने आत्मा को अनुभव करके अपनी शरण अपने में जानते हैं।

'अप्पा मुणंति' आत्मा द्वारा आत्मा को... क्या कहते हैं ? **'अप्पा अप्प मुणंति'** स्वयं को स्वयं के द्वारा अनुभव करते हैं – ऐसा कहकर क्या कहते हैं ? व्यवहार द्वारा, निमित्त द्वारा अनुभव नहीं हो सकता – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **'अप्पा अप्प मुणंति'** भगवान शुद्ध वीतरागस्वरूप ऐसा आत्मा, वह शुद्ध वीतराग परिणति द्वारा अनुभव हो सकता है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई इसका रास्ता और उपाय नहीं है – ऐसा इसे निर्णय करना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

कोई उसे मिटा नहीं सकता। कर्म का उदय भोगता है (उसे) कोई (मिटा सकता है) ? ऐसा कहते हैं। **ज्योतिषियों में ऐसी शक्ति नहीं है कि मरण से एक क्षण भी रोक सके।** ज्योतिषी-व्योतिषी रख सकते हैं या नहीं ? **स्वयं सर्व प्रकार से भोग -भोगनेवाले चक्रवर्ती को भी शरीर त्यागना पड़ता है।** चक्रवर्ती को छह खण्ड छोड़ना पड़ते हैं। आहा...हा... ! ब्रह्मदत्त ७०० वर्ष की आयु भोगकर, मरण के समय, एक-एक समय का असंख्य गुना नरक का दु:ख, असंख्य गुना काल का, भाव का, अनन्त गुना सातवें नरक में तैंतीस सागर (आयु की स्थिति में) गया। हीरे के पलंग पर सोता था, पलंग में! हीरे के पलंग में (सोता था); सोलह हजार देव सेवा करते थे, छियानवें हजार रानियाँ पुकार... पुकार... (करती हैं।) अरे... ! मुझे कोई शरण नहीं

मिलता ! कौन शरण मिले ? भाई ! तूने आत्मा को तो सम्हाला नहीं। बाहर में विकल्प भी जहाँ शरण नहीं तो उसके संयोग साधन, सहकारी तो शरण कहाँ से होंगे ?

भगवान आत्मा अन्तरस्वरूप की सामर्थ्यवाला प्रभु कौन है ? उसकी तो कभी दृष्टि की नहीं और उसके अतिरिक्त इस जगत में (कोई) शरण नहीं है, भगवान भी शरण नहीं है। भगवान क्या करे ? अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं.... चार शरण.... दे देंगे ? भगवान शरण देने आते हैं ? अरिहंता शरणं... अरिहंत भगवान आत्मा है। अपना स्वरूप ही अरिहंत है, अपना स्वरूप सिद्ध समान है, अपना स्वरूप आचार्य की वीतरागी पर्याय जैसा है, उपाध्याय और साधु (को) वीतरागी पर्याय हुई, वे वीतरागी दशावाले (हुए)। वीतरागी दशा होवे तो उसे पाँच पद कहते हैं – ऐसी दशावाला आत्मा है। आत्मा तू ही पाँच पदरूप है। समझ में आया ?

कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने अष्टपाहुड़ में लिया है। यह पाँचों ही पर्याय आत्मा की है। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय की दशा वह आत्मा की है। आत्मा स्वयं ही पाँच पदरूप है। समझ में आया ? सिद्ध की या अरिहंत की केवलज्ञान की पर्याय, उस पर्याय का पद तो अन्दर आत्मा में पड़ा है। स्वयं ही आत्मपद ऐसा है। शरण अपना आत्मा है। कोई अरिहंत शरण देने नहीं आते, सिद्ध भगवान भी कहीं शरण देने नहीं आते।

मुमुक्षु – ऐसी प्रतीति आ जाये ?

उत्तर – ऐसा अनुभव आ जाये। कहो, समझ में आया ?

कोई जीव किसी का रक्षक नहीं है। **सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को अशरण भावना का विचार करके कर्मों के क्षय का उपाय करना योग्य है.... कर्म का संयोग एक क्षण के लिए भी आत्मा को गुणकारी नहीं है। कर्मभूमि के मनुष्य को आयुष्य के क्षय का नियम नहीं है....** वहाँ आगे उसकी स्थितिप्रमाण आयु पूर्ण होती है, यहाँ भी होती है स्थिति प्रमाण परन्तु अकाल कोई ऐसे निमित्त हों (तो) छूट जाये, उसे अकाल कहा जाता है। देखो ! समयसार का कहा है। **जो कोई ऐसा अहंकार करता है कि मैं परजीवों को दुःखी और सुखी कर सकता हूँ, वह मूर्ख और अज्ञानी है।**

मुमुक्षु – यह न माने उसे अज्ञानी कहते हैं।

उत्तर – माने उसे ऐसा कहा। वे ऐसा कहते हैं, परजीव का कर नहीं सकता ऐसा न माने.... कर सकता है – ऐसा न माने, वह अज्ञानी है – ऐसा कहते हैं। यहाँ कहते हैं, परजीव को सुखी-दुःखी कर सकता हूँ – यह मान्यता मूढ़ और अज्ञानी की है। आत्मा परजीव को सुखी-दुःखी कर नहीं सकता। किसका कौन करे? कितने प्रतिशत? मूढ़! सौ में सौ प्रतिशत।

भगवान आत्मा पर का क्या करे? स्वतन्त्र स्त्री, पुत्र के आयुष्य को दे सकता है? उनका जीवन बढ़ा सकता है, उन्हें सुख-दुःख दे सकता है? उनके संयोग प्रमाण संयोग पूर्व के कारण आते हैं। कल्पना से मानता है कि मुझे सुख-दुःख होता है। दूसरा कोई दे सके ऐसी तीन काल में ताकत नहीं है। कहो, समझ में आया? **सभी जीव अपने-अपने पाप-पुण्य कर्म के उदय से दुःखी अथवा सुखी होते हैं। ज्ञानी जीव इस अहंकार से दूर रहता है।** धर्मात्मा पर का कार्य मैं कर सकता हूँ – ऐसा नहीं मानता। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा हूँ, मेरे ज्ञान-दर्शन और आनन्द की क्रिया का करनेवाला हूँ। राग भी मेरा काम नहीं है तो पर के कार्य (मेरे कहाँ से होंगे) ? समझ में आया?

वृहद् सामायिक में कहा है – **जब मरण आ जाता है तब न वैद्य, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न अपनी स्त्री, न माता, न नौकर, न राजा - कोई भी बचा नहीं सकते हैं।** आयु पूर्ण हुआ वहाँ भगवान आत्मा शरणभूत तो अन्दर आत्मा आनन्दकन्द है। बाहर में कोई शरणभूत नहीं है। बँगला-बँगला ठीक हो, पैसा-वैसा अच्छा हो, तो कुछ होगा या नहीं? रतिभाई! हैं... प्रभुभाई! क्या होगा? **ऐसा विचार करके सज्जनों को आत्मा का काम कर लेना योग्य है....** है अन्दर में, हाँ! '**कार्य निजं कार्यभायैं**' वृहद सामायिक में पाठ है। बड़ी सामायिक में पाठ है न? आत्मार्थी को अपना काम करना, मेरा काम (करूँ)।

सज्जनों को आत्मा का काम कर लेना योग्य है, विलम्ब नहीं करना चाहिए। ओहो... ! यह आत्मा... मनुष्य देह मिला, पाँच इन्द्रियाँ मिली, सुनने को मिला, तब आत्मा के स्वभाव का कार्य कर लेना चाहिए। देर नहीं लगानी चाहिए। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रवचनसार में – इस क्षण आज ही करना – ऐसा लिखा है। पीछे

आता है न ? पीछे दो गाथाएँ हैं, आज ही करना, विलम्ब नहीं करना। पैसेवाले करते हैं न ? क्या कहलाता है ? किस्त... पाँच हजार दूँगा परन्तु महीने में पाँच सौ-पाँच सौ, बारह महीने दूँगा – ऐसे किस्त मत करना।

मुमुक्षु – किस्त भी रह जाती है।

उत्तर – परन्तु यहाँ तो यह तो बात है यहाँ तो कहते हैं, वायदा रह ही नहीं जाये। आहा...हा... ! भगवान चैतन्यरत्न पड़ा है न ? भगवान ! पूर्णानन्द का नाथ अनन्त गुण का भण्डार चैतन्यरत्नाकर में तेरी नजर करने से निधान फटे (प्रगटे) ऐसा है। आहा...हा... ! कहाँ इसमें किस्त-फिस्त थी ? समझ में आया ? बाहर नजर करने से होली सुलगे ऐसा है, यह कहते हैं। जहाँ-जहाँ परद्रव्य पर नजर करेगा, वहाँ विकल्प उठेंगे, विकल्प उठेंगे तो आकुलता होगी और भगवान आत्मा अनाकुल का स्थान है। अनाकुल पर दृष्टि देने से उसे विलम्ब नहीं करना चाहिए। लो, यह बात पूरी हुई।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

वीतरागता की साधकदशा

मुनिदशा, आत्मा की पूर्ण परमात्मदशा प्राप्त करने की साधकरूप दशा है। वीतरागता की साधक होने से उस दशा में तीव्र राग होता ही नहीं। अशरीरी सिद्धदशा की साधकरूप अवस्था में शरीर के प्रति तीव्र राग हो ही नहीं सकता और तीव्र राग के अभाव में वस्त्र, पात्र इत्यादि तीव्र राग के निमित्त भी अवश्य ही नहीं होते। इस प्रकार जिस जीव को मुनिदशा प्रगट होती है। उस जीव को वस्त्रादि का राग अथवा संयोग नहीं होता। वस्त्रादिक का तीव्र राग होने पर भी जो उसे मुनिदशा मानता है, वह पवित्र साधक मुनिदशा के स्वरूप को नहीं जानता। जो साधकदशा के स्वरूप को नहीं जानता, वह साध्यदशा के स्वरूप को भी नहीं जानता और त्रिकाल आत्मस्वरूप को भी नहीं जानता। आचार्य भगवान कहते हैं कि जो जीव ऐसे जीवों को धर्मात्मा के रूप में मानते हैं, वन्दन करते हैं, वे तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*